प्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला २,७

जैनदर्शन

[उत्तरप्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत]

प्राक्कथन

डॉ० मङ्गलदेव शास्त्री

एम० ए०, डी० फिल० (ऑक्सन)

लेखक

डॉ० महेन्द्रकुमार जैन

एम० ए०, न्यायाचार्य, न्यायदिवाकर, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ

पादक—न्यायकुमुदचन्द्र, न्यायविनिश्चयविवरण, प्रमेयक ...र्तण्ड,

वृत्ति, तत्त्वार्थवार्त्तिक, अकलङ्कग्रन्थत्रय, सिद्धिविनिश्चयटीका आदि)

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

श्री गणेश वर्णी दि० जैन संस्थान

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

सम्पादक और नियामक

पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

डॉ० दरबारीलाल कोठिया

प्रकाशक

मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

१।१२८, डुमरावबाग-वसति

अस्सी, वाराणसी-५

तीर्थङ्कर महावीरकी निर्वाण-रजतशतीके सन्दर्भमें

प्रथम संस्करण : ११०० : विजयादशमी

वीरनि० सं० २४८१, अक्टूबर १९५५

द्वितीय संस्करण : ११०० : महावीर-जयन्ती

वीरनि० सं० २४९२, अप्रैल १९६६

तृतीय संस्करण : १५०० : दशलक्षणपर्व

द्वितीय भाद्रपद शुक्ला ५, वी० नि० सं० २५००, सितम्बर १'

मूल्य : पन्द्रह रुपए

मुद्रक

स्वस्तिक मुद्रणालय

गोलघर, वाराणसी-१
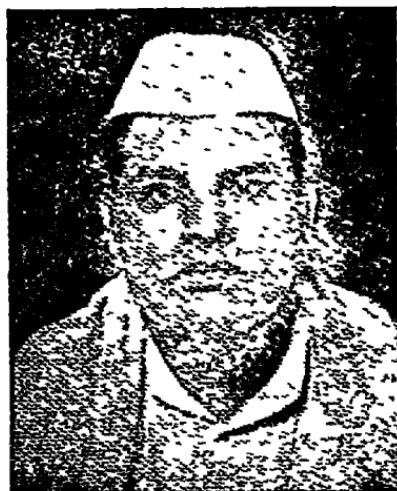
डॉ. महेन्द्रकुमार जी जैन, एम ए., न्यायाचार्य

जन्म : सन् १९११ : स्वर्गवास : सन् १९५९

जन्म स्थान : खुरई (म प्र.)

शिक्षा : ना. दि. जैन पाठशाला, बीना (म. प्र.),
शास्त्री : हु. दि. जैन महाविद्यालय, इन्दौर (म. प्र.)
न्यायाचार्य : स्याद्वाद जैन महाविद्यालय, काशी
एम. ए. : आगरा वि. वि., पी-एच. डी. : (का. हि. वि. वि.)।

अध्यापन : स्याद्वाद जैन महाविद्यालय काशी (१९३२-१९४३)
महावीर जैन महाविद्यालय बम्बई (१९४४)
संस्कृत महाविद्यालय, का. हि. वि. वि. (१९४७-१९५९)

सम्पादन-कृतियाँ : न्यायकुमुदचन्द्र (दो भाग), न्यायविनिश्चयविवरण (दो भाग), अकलङ्कग्रन्थत्रय, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थवार्तिक, तत्त्वार्थवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय-टीका (दो भाग) आदि।

अन्य प्रवृत्तियाँ : आद्य व्यवस्थापक भारतीय ज्ञानपीठ काशी (१९४४-१९४९)।
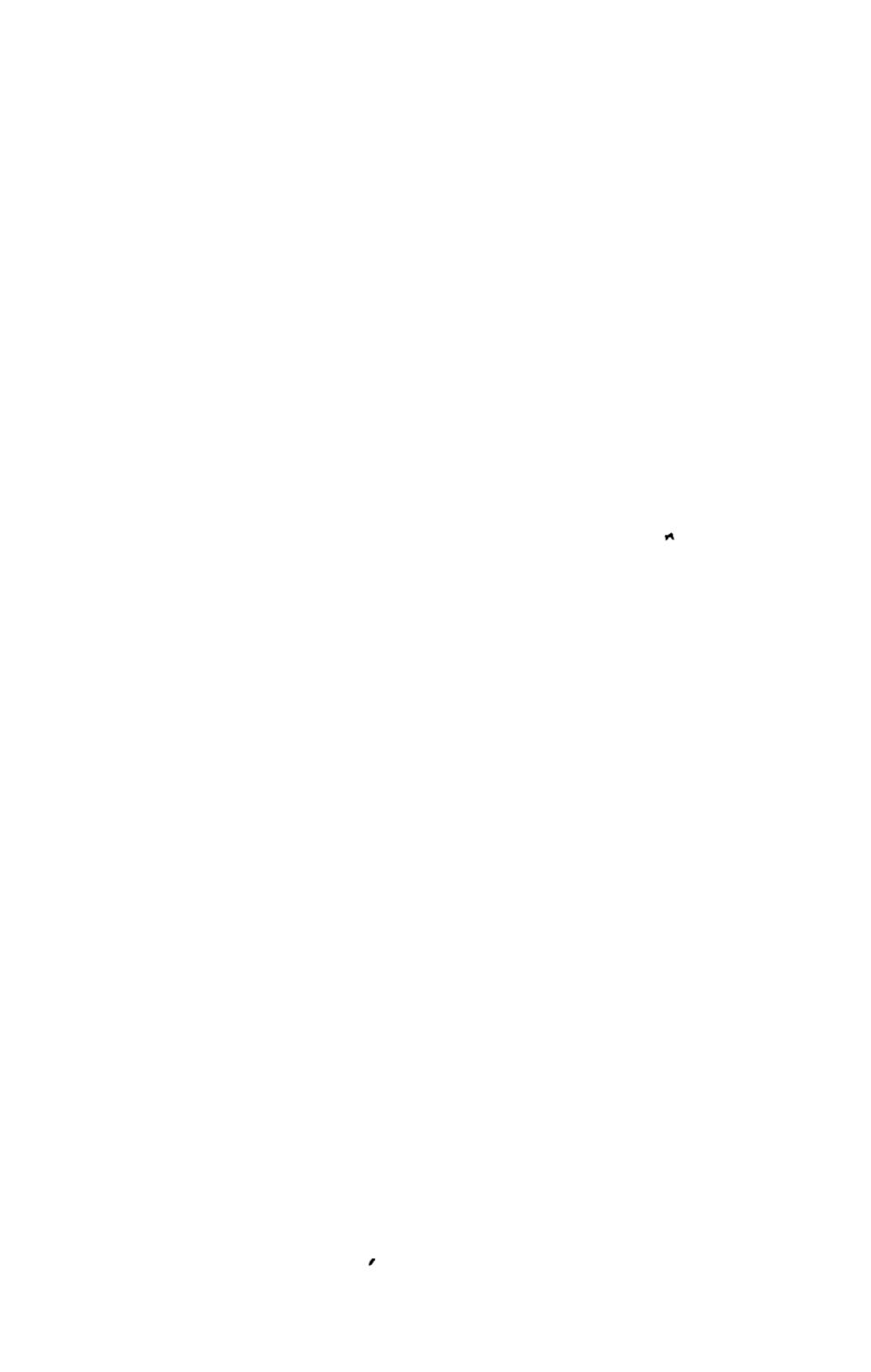
अपनी बात

(प्रथम संस्करणका प्रकाशकीय)

श्री ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालासे श्रीयुक्त प० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यकी 'जैनदर्शन' जैसी स्वतन्त्र कृतिको प्रकाशित करते हुए जहाँ हमे हर्ष होता है वहाँ आश्चर्य भी। हर्ष तो इसलिये होता है कि समाजके माने हुए विद्वानोका ध्यान अब उत्तरोत्तर श्री० ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाकी ओर आकृष्ट हो रहा है। आदरणीय विद्वान् प० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीकी श्रावकधर्मप्रदीप-टीकाको प्रकाशित हुए अभी कुछ ही दिन हुए है कि अनायास ही यह कृति ग्रन्थमालाको प्रकाशनके लिए उपलब्ध हो गई। और आश्चर्य इसलिए होता है कि ग्रन्थमालाके पास पर्याप्त साधन न होते हुए भी यह सब चल कैसे रहा है।

यह तो समाजका प्रत्येक विचारक अनुभव करता है कि जिसे 'स्वतन्त्र कृति' सज्ञा दी जा सकती है, ऐसे सास्कृतिक साहित्यके निर्माणकी इस समय बडी आवश्यकता है। किन्तु इस माँगको पूरा किया कैसे जाय, यह प्रश्न सबके सामने है। एक तो जैन समाज अनेक भागोमें विभक्त होनेके कारण उसकी शक्तिका पर्याप्त मात्रामें अपव्यय यो ही हो जाता है। कोई यदि किसी कार्यको सार्वजनिक बनानेके उद्देश्यसे सहयोग देता भी है, तो सहयोग लेनेवालोके द्वारा प्रस्तुत किये गये साम्प्रदायिक प्रश्न व दूसरे व्यामोह उसे बीचमें ही छोडनेके लिए बाध्य कर देते है और तथ्य पिछडने लगता है। तथ्यके अपलापकी यह खीचतान कहाँ समाप्त होगी, कह नही सकते। दूसरे, जैन समाजका आकार छोटा होनेके कारण इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए न तो उतने साधन ही उपलब्ध होते है और न उतनी उदार भूमिका ही अभी निष्पन्न हो सकी है। ये अडचनें तो है ही। फिर भी अबतक जहाँ, जिसके द्वारा भी प्रयत्न हुए है उनकी हमें सराहना ही करनी चाहिए। ऐसे ही प्रयत्नोका फल प्रस्तुत कृति है। इसके निर्माण करानेमे श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम बनारस व दूसरे महानुभावोका जो भी सहयोग मिला है उसके लिए वे सब धन्यवादके पात्र है। ग० वर्णी जैन ग्रन्थमालाको यदि कुछ श्रेय है तो इतना ही कि उसने इसे मात्र प्रकाशमें ला दिया है।

न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीके विषयमे हम क्या लिखें। इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि जैन समाजमें दर्शनशास्त्रके जो भी इने-गिने विद्वान् है उनमें ये

प्रथम हैं। इन्होंने जैनदर्शनके साथ सब भारतीय दर्शनोका साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया है और इस समय हिन्दू विश्वविद्यालयके संस्कृत महाविद्यालयमें बौद्धदर्शनकी गद्दीको सुशोभित कर रहे हैं।

इन्होंने ही बडे परिश्रम और अध्ययनपूर्वक स्वतन्त्र कृतिके रूपमें इस ग्रथका निर्माण किया है। ग्रन्थ सामान्यत. १२ अधिकारो और अनेक उपअधिकारोमें समाप्त हुआ है। उन्हे देखते हुए इसे हम मुख्यरूपसे तीन भागोमें विभाजित कर सकते है—पृष्ठभूमि, जैनदर्शनके सब मन्तव्योका साङ्गोपाङ्ग ऊहापोह और जैन-दर्शनके विरोधमे की गई टीका-टिप्पणियोकी साधार मीमासा। ग्रन्थके अन्तमें जैनदार्शनिक साहित्यका साङ्गोपाङ्ग परिचय भी दिया गया है। इसलिए सब दृष्टियोसे इस कृतिका महत्त्व बढ गया है।

इस विषयपर 'जैनदर्शन' इस नामसे अबतक दो कृतियाँ हमारे देखनेमें आई है। प्रथम श्रीयुक्त प० बेचरदासजी दोशीकी और दूसरी श्वे० मुनि श्रीन्याय-विजयजीकी। पहली कृति षड्दर्शनसमुच्चयके जैनदर्शन-भागका रूपान्तरमात्र है और दूसरी कृति स्वतन्त्रभावसे लिखी गई है। किन्तु इसमे तत्त्वज्ञानका दार्शनिक दृष्टिसे विशेष ऊहापोह नही किया गया है। पुस्तकके अन्तमें ही कुछ अध्याय है, जिनमे स्याद्वाद, सप्तभगी और नय जैसे कुछ चुने हुए विषयोंपर प्रकाश डाला गया है। शेष पूरी पुस्तक तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे लिखी गई है। इसलिए एक ऐसी मौलिक कृतिकी आवश्यकता तो थी ही, जिसमें जैनदर्शनके सभी दार्शनिक मन्तव्योका ऊहापोहके साथ विचार किया गया हो। हम समझते है कि इस सर्वांगपूर्ण कृति द्वारा उस आवश्यकताकी पूर्ति हो जाती है। अतएव इस प्रयत्नके लिए हम श्रीयुक्त पं० महेन्द्रकुमारजी न्यायाचार्यका जितना आभार मानें, थोड़ा है।

प्रस्तुत पुस्तक पर आद्य वक्तव्य राजकीय संस्कृत महाविद्यालय (ग० सं० कालेज) के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्रीमान् डॉ० मंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० ने लिखा है। भारतीय विचारधाराका प्रतिनिधित्व करनेवाले जो अधिकारी विद्वान् है उनमें आपकी प्रमुख रूपसे परिगणना की जाती है, इससे न केवल प्रस्तुत पुस्तक की उपयोगिता बढ जाती है, अपितु जैनदर्शनका भारतीय विचार-धारामें क्या स्थान है, इसके निश्चय करनेमे बड़ी सहायता मिलती है। इस सेवाके लिए हम उनके भी अत्यन्त आभारी है।

यहाँ हमे सर्व प्रथम गुरुवर्य्य पूज्य श्री १०५ क्षु० गणेशप्रसादजी वर्णीका स्मरण कर लेना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि ग्रन्थमालाकी जो भी प्रगति हो रही है वह सब उनके पुनीत शुभाशीर्वादका ही फल है। तथा और भी ऐसे अनेक उदार महानुभाव हैं जिनसे हमें इस कार्यको प्रगति देनेमें सक्रिय

ब्रह्मसूत्र शाकरभाष्यमे कापिल—साख्य दर्शनके लिये स्पष्टत. अवैदिक कहा है।[1] इस कथनमें हमें तो कुछ ऐसी ध्वनि प्रतीत होती है कि उसकी परम्परा प्राग्वैदिक या वैदिकेतर हो सकती है। जो कुछ भी हो, ऋग्वेद-सहितामें जो उत्कृष्ट दार्शनिक विचार अंकित है, उनकी स्वय परम्परा और भी प्राचीनतर होना ही चाहिये।

जैन दर्शनकी सारी दार्शनिक दृष्टि वैदिक दार्शनिक दृष्टिसे स्वतन्त्र ही नही, भिन्न भी है, इसमें किसीको सन्देह नही हो सकता। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि उपर्युक्त दार्शनिक धाराको हमने ऊपर जिस प्राग्वैदिक परम्परासे जोड़ा है, मूलत. जैन दर्शन भी उसीके स्वतन्त्र विकासकी एक शाखा हो सकता है। उसकी सारी दृष्टिसे तथा उसके कुछ पुद्गल जैसे विशिष्ट पारिभाषिक शब्दोसे इसी बातकी पुष्टि होती है।

जैन दर्शनका विशेष महत्त्व :

परन्तु जैन दर्शनका अपना विशेष महत्त्व उसकी प्राचीन परम्पराको छोडकर अन्य महत्त्वके आधारो पर भी है। किसी भी तात्त्विक विमर्शका विशेपत दार्शनिक विचारका महत्त्व इस बातमें होना चाहिये कि वह प्रकृत वास्तविक समस्याओपर वस्तुत उन्हीकी दृष्टिसे किसी प्रकारके पूर्वाग्रहके विना विचार करें। भारतीय अन्य दर्शनोमे शब्दप्रमाणका जो प्रामुख्य है वह एक प्रकारसे उनके महत्त्वको कुछ कम ही कर देता है। उन दर्शनोमें ऐसा प्रतीत होता है कि विचारधाराकी स्थूल रूपरेखाका अङ्कन तो शब्द-प्रमाण कर देता है और तत्तद्दर्शन केवल उसमें अपने-अपने रङ्गोको ही भरना चाहते है। इसके विपरीत जैनदर्शनमें ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कोई विलकुल साफ स्लेट (Tabula Rasa) पर लिखना शुरू करता है। विशुद्ध दार्शनिक दृष्टिमें इस बातका बडा महत्त्व है। किसी भी व्यक्तिमें दार्शनिक दृष्टिके विकासके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र विचार-धाराकी भित्तिपर अपने विचारोका निर्माण करे और परम्परा-निर्मित पूर्वाग्रहोसे अपनेको बचा सके।

उपर्युक्त दृष्टिसे इस दृष्टिमे मौलिक अन्तर है। पूर्वोक्त दृष्टिमें दार्शनिक दृष्टि शब्दप्रमाणके पीछे-पीछे चलती है, और जैन दृष्टिमें शब्दप्रमाणको दार्शनिक दृष्टिका अनुगामी होना [illegible] है।

[1] 'मतं श्रद्धातु शक्यम्'।
—ब्र० सू० शा० भा० २।१।१।

जैनदर्शन नास्तिक नहीं :

इसी प्रसङ्गमे भारतीय दर्शनके विषयमे एक परम्परागत मिथ्या भ्रमका उल्लेख करना भी हमे आवश्यक प्रतीत होता है। कुछ कालसे लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शनकी आस्तिक और नास्तिक नामसे दो शाखाएँ है। तथाकथित 'वैदिक' दर्शनोको आस्तिक दर्शन और जैन, बौद्ध जैसे दर्शनोको 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नही, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द "अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः" (पा० ४।४।३०) इस पाणिनिसूत्रके अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दोमें इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ताको माननेवाला 'आस्तिक' और न माननेवाला 'नास्तिक' कहलाता है। स्पष्टत इस अर्थमे जैन और बौद्ध जैसे दर्शनोको नास्तिक कहा ही नही जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते हैं कि शब्द-प्रमाणकी निरपेक्षतासे वस्तुतत्त्वपर विचार करनेके कारण दूसरे दर्शनोंकी अपेक्षा उनका अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।

जैनदर्शनकी देन :

भारतीय दर्शनके इतिहासमे जैनदर्शनकी अपनी अनोखी देन है। दर्शन शब्दका फिलासफीके अर्थमें कबसे प्रयोग होने लगा है, इसका तत्काल निर्णय करना कठिन है, तो भी इस शब्दकी इस अर्थमें प्राचीनताके विषयमें सन्देह नही हो सकता। तत्तद् दर्शनोके लिये दर्शन शब्दका प्रयोग मूलमें इसी अर्थसे हुआ होगा कि किसी भी इन्द्रियातीत तत्त्वके परीक्षणमें तत्तद् व्यक्तिकी स्वाभाविक रुचि, परिस्थिति या अधिकारिताके भेदसे जो तात्त्विक दृष्टिभेद होता है उसीको दर्शन शब्दसे व्यक्त किया जाय। ऐसी अवस्थामें यह स्पष्ट है कि किसी तत्त्वके विषयमें कोई भी तात्त्विक दृष्टि ऐकान्तिक नही हो सकती। प्रत्येक तत्त्वमे अनेकरूपता स्वभावत होनी चाहिये और कोई भी दृष्टि उन सबका एक साथ तात्त्विक प्रतिपादन नही कर सकती। इसी सिद्धान्तको जैनदर्शनकी परिभाषामें 'अनेकान्तदर्शन' कहा गया है। जैनदर्शनका तो यह आधारस्तम्भ है ही, परन्तु वास्तवमें प्रत्येक दार्शनिक विचारधाराके लिये भी इसको आवश्यक मानना चाहिये।

बौद्धिक स्तरमें इस सिद्धान्तके मान लेनेसे मनुष्यके नैतिक और लौकिक व्यवहारमें एक महत्त्वका परिवर्तन आ जाता है। चारित्र ही मानवके जीवनका सार है। चारित्रके लिये मौलिक आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य एक ओर तो अभिमानसे अपनेको पृथक् रखे, साथ ही हीन भावनासे भी अपनेको बचाये। स्पष्टत. यह मार्ग अत्यन्त कठिन है। वास्तविक अर्थोंमे जो अपने स्वरूपको समझता

है, दूसरे शब्दोमे आत्मसम्मान करता है, और साथ ही दूसरेके व्यक्तित्वको भी उतना ही सम्मान देता है, वही उपर्युक्त दुष्कर मार्गका अनुगामी बन सकता है। इसीलिये सारे नैतिक समुत्थानमें व्यक्तित्वका समादर एक मौलिक महत्त्व रखता है। जैन-दर्शनके उपर्युक्त अनेकान्तदर्शनका अत्यन्त महत्त्व इसी सिद्धान्तके आधारपर है कि उसमे व्यक्तित्वका सम्मान निहित है।

जहाँ व्यक्तित्वका समादर होता है वहाँ स्वभावत साम्प्रदायिक संकीर्णता, सघर्ष या किसी भी छल, जाति, जल्प, वितण्डा आदि जैसे असदुपायसे वादि-पराजयकी प्रवृत्ति नही रह सकती। व्यावहारिक जीवनमे भी खण्डनके स्थानमें समन्वयात्मक निर्माणकी प्रवृत्ति ही वहाँ रहती है। साध्यकी पवित्रताके साथ साधनकी पवित्रताका महान् आदर्श भी उक्त सिद्धान्तके साथ ही रह सकता है। इस प्रकार अनेकान्तदर्शन नैतिक उत्कर्षके साथ-साथ व्यवहारशुद्धिके लिये भी जैनदर्शनकी एक महान् देन है।

विचार-जगत्का अनेकान्तदर्शन ही नैतिक जगत्में आकर अहिंसाके व्यापक सिद्धान्तका रूप धारण कर लेता है। इसीलिये जहाँ अन्य दर्शनोमें परमतखण्डनपर बडा बल दिया गया है, वहाँ जैनदर्शनका मुख्य ध्येय अनेकान्त-सिद्धान्तके आधार-पर वस्तुस्थितिमूलक विभिन्न मतोका समन्वय रहा है। वर्तमान जगत्की विचार-धाराकी दृष्टिसे भी जैनदर्शनके व्यापक अहिंसामूलक सिद्धान्तका अत्यन्त महत्त्व है। आजकलके जगत्की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि अपने-अपने परम्परागत वैशिष्ट्यको रखते हुए भी विभिन्न मनुष्यजातियाँ एक-दूसरेके समीप आवें और उनमें एक व्यापक मानवताकी दृष्टिका विकास हो। अनेकान्तसिद्धान्तमूलक समन्वयकी दृष्टिसे ही यह हो सकता है।

इसमें सन्देह नही कि न केवल भारतीय दर्शनके विकासका अनुगम करनेके लिये, अपितु भारतीय संस्कृतिके उत्तरोत्तर विकासको समझनेके लिये भी जैनदर्शन-का अत्यन्त महत्त्व है। भारतीय विचारधारामें अहिंसावादके रूपमें अथवा परमत-सहिष्णुताके रूपमें अथवा समन्वयात्मक भावनाके रूपमे जैनदर्शन और जैन विचार-धाराकी जो देन है उसको समझे बिना वास्तवमें भारतीय सस्कृतिके विकासको नही समझा जा सकता।

प्रस्तुत ग्रन्थ :

अभी तक राष्ट्रभाषा हिन्दीमे कोई ऐसी पुस्तक नही थी, जिसमें व्यापक और तुलनात्मक दृष्टिसे जैनदर्शनके स्वरूपको स्पष्ट किया गया हो। बडी प्रसन्नताका विषय है कि इस बडी भारी कमीको प्रकृत पुस्तकके द्वारा उसके सुयोग्य विद्वान्

दो शब्द

जब भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित न्यायविनिश्चयविवरण और तत्त्वार्थ-वृत्तिकी प्रस्तावनामें मैंने सुहृद्वर महापंडित राहुल सांकृत्यायनके 'स्याद्वाद' विषयक विचारोंकी आलोचना की, तो उन्होंने मुझे उलाहना दिया कि "क्यों नहीं आप स्याद्वादपर दो ग्रन्थ लिखते—एक गम्भीर और विद्वद्भोग्य और दूसरा स्याद्वाद-प्रवेशिका"। उनके इस उलाहनेने इस ग्रन्थके लिखनेका संकल्प कराया और उक्त दोनो प्रयोजनोको साधनेके हेतु इस ग्रन्थका जन्म हुआ।

ग्रन्थके लिखनेके संकल्पके बाद लिखनेसे लेकर प्रकाशन तककी इसकी विचित्र कथा है। उसमें न जाकर उन सब अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियोके फलस्वरूप निर्मित अपनी इस कृतिको मूर्तरूपमें देखकर सन्तोषका अनुभव करता हूँ।

जैन धर्म और दर्शनके सम्बन्धमे बहुत प्राचीन कालसे ही विभिन्न साम्प्रदायिक और संकुचित सांस्कृतिक कारणोसे एक प्रकारका उपेक्षाका भाव ही नही, उसे विपर्यास करके प्रचारित करनेकी प्रवृत्ति भी जान-बूझकर चालू रही है। इसके लिये पुराकालमें जो भी प्रचारके साधन—ग्रन्थ, शास्त्रार्थ और रीति-रिवाज आदि थे, उन प्रत्येकका उपयोग किया गया। जहाँ तक विशुद्ध दार्शनिक मतभेदकी बात है, वहाँ तक दर्शनके क्षेत्रमें दृष्टिकोणोका भेद होना स्वाभाविक है। पर जब वे ही मतभेद साम्प्रदायिक वृत्तियोकी जड़में चले जाते है तब वे दर्शनको दूषित तो कर ही देते है, साथ ही स्वस्थ समाजके निर्माणमें बाधक बन देशकी एकताको छिन्न-भिन्न कर विश्वशान्तिके विघातक हो जाते हैं। भारतीय दर्शनोके विकासका इतिहास इस बातका पूरी तरह साक्षी है। दर्शन ऐसी ओषधि है कि यदि इसका उचित रूपमें और उचित मात्रामें उपयोग नही किया गया, तो यह समाज-शरीरको सडा देगी और उसे विस्फोटके पास पहुँचा देगी।

जैन तीर्थङ्करोने मनुष्यकी अहङ्कारमूलक प्रवृत्ति और उसके स्वार्थी वासनामय मानसका स्पष्ट दर्शन कर उन तत्त्वोकी ओर प्रारम्भसे ध्यान दिलाया है, जिनसे इसकी दृष्टिकी एकाङ्गिता निकलकर उसमे अनेकाङ्गिता आती है और वह अपनी दृष्टिकी तरह सामनेवाले व्यक्तिकी दृष्टिका भी सम्मान करना सीखती है, उसके प्रति सहिष्णु होती है, अपनी तरह उसे भी जीवित रहने और परमार्थ होनेकी अधिकारिणी मानती है। दृष्टिमें इस आत्मौपम्य भावके आ जाने पर उसकी भाषा बदल जाती है, उसमें स्वमतका दुर्दान्त अभिनिवेश हटकर समन्वयशीलता आती

है। उसकी भाषामें परका तिरस्कार न होकर उसके अभिप्राय, विवक्षा और अपेक्षा दृष्टिको समझनेकी सरल वृत्ति आ जाती है। और इस तरह भाषामेंसे आग्रह यानी एकान्तका विष दूर होते ही उसकी स्याद्वादामृतगर्भिणी वाक्सुधासे चारो ओर संवाद, सुख और शान्तिकी सुषमा सरसने लगती है, सब ओर सवाद ही संवाद होता है, विसवाद, विवाद और कलह-कण्टक उन्मूल हो जाते है। इस मन शुद्धि यानी अनेकान्तदृष्टि और वचनशुद्धि अर्थात् स्याद्वादमय वाणीके होते ही उसके जीवन-व्यवहारका नकशा ही बदल जाता है, उसका कोई भी आचरण या व्यवहार ऐसा नही होता, जिससे कि दूसरेके स्वातन्त्र्यपर आँच पहुँचे। तात्पर्य यह कि वह ऐसे महात्मत्वकी[1] ओर चलने लगता है, जहाँ मन, वचन और कर्मकी एकसूत्रता होकर स्वस्थ व्यक्तित्वका निर्माण होने लगता है। ऐसे स्वस्थ स्वोदयी व्यक्तियोसे ही वस्तुत सर्वोदयी नव समाजका निर्माण हो सकता है और तभी विश्वशान्तिकी स्थायी भूमिका आ सकती है।

भ० महावीर तीर्थङ्कर थे, दर्शनङ्कर नही। वे उस तीर्थ अर्थात् तरनेका उपाय बताना चाहते थे, जिससे व्यक्ति निराकुल और स्वस्थ बनकर समाज, देश और विश्वकी सुन्दर इकाई हो सकता है। अत. उनके उपदेशकी धारा वस्तु-स्वरूपकी अनेकान्तरूपता तथा व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी चरम प्रतिष्ठापर आधारित थी। इसीका फल है कि जैनदर्शनका प्रवाह मन.शुद्धि और वचनशुद्धि मूलक अहिंसक आचारकी पूर्णताको पानेकी ओर है। उसने परमतमें दूषण दिखाकर भी उनका वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वयका मार्ग भी दिखाया है। इस तरह जैनदर्शनकी व्यावहारिक उपयोगिता जीवनको यथार्थ वस्तुस्थितिके आधारसे बुद्धिपूर्वक संवादी बनानेमें है और किसी भी सच्चे दार्शनिकका यही उद्देश्य होना भी चाहिये।

प्रस्तुत ग्रन्थमे मैंने इसी भावसे 'जैनदर्शन'की मौलिक दृष्टि समझानेका प्रयत्न किया है। इसके प्रमाण, प्रमेय और नयकी मीमासा तथा स्याद्वाद-विचार आदि प्रकरणोंमें इतर दर्शनोकी समालोचना तथा आधुनिक भौतिकवाद और विज्ञानकी मूल धाराओका भी यथासभव आलोचन-प्रत्यालोचन करनेका प्रयत्न किया है। जहाँ तक परमत-खण्डनका प्रश्न है, मैंने उन-उन मतोके मूल ग्रन्थोसे वे अवतरण दिये है या उनके स्थलका निर्देश किया है, जिससे समालोच्य पूर्वपक्षके सम्बन्धमे भ्रान्ति न हो।

इस ग्रन्थमे १२ प्रकरण है। इनमें संक्षेपरूपसे उन ऐतिहासिक और तुलनात्मक विकास-बीजोको बतानेकी चेष्टा की गई है, जिनसे यह सहज समझमे आ सके कि

---

[1] "मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"।

तीर्थङ्करकी वाणीके वीज किन-किन परिस्थितियोमें कैसे-कैसे अङ्कुरित, पल्लवित, पुष्पित और सफल हुए ।

१ प्रथम प्रकरण—'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन'में इस कर्मभूमिके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेवसे लेकर अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर तक तथा उनसे आगेके आचार्यो तक जैन तत्त्वकी धारा किस रूपमे प्रवाहित हुई है, इसका सामान्य विचार किया गया है । इसीमे जैनदर्शनका युग-विभाजनकर उन-उन युगोमें उसका क्रमिक विकास वताया है ।

२ द्वितीय प्रकरण—'विपय प्रवेश'मे दर्शनकी उद्भूति, दर्शनका वास्तविक अर्थ, भारतीय दर्शनोका अन्तिम लक्ष्य, जैनदर्शनके मूल मुद्दे आदि शीर्पकोसे इस ग्रन्थके विपय-प्रवेशका सिलसिला जमाया गया है ।

३ तृतीय—'जैनदर्शनकी देन' प्रकरणमे जैनदर्शनकी महत्त्वपूर्ण विरासत—अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद-भापा, अनेकान्तात्मक वस्तुस्वरूप, धर्मज्ञता-सर्वज्ञताविवेक, पुरुषप्रामाण्य, निरीश्वरवाद, कर्मणा वर्णव्यवस्था, अनुभवकी प्रमाणता और साध्यकी तरह सावनकी पवित्रताका आग्रह आदिका सक्षिप्त दिग्दर्शन कराया गया है ।

४ चतुर्थ—'लोक-व्यवस्था' प्रकरणमें इस विश्वकी व्यवस्था जिस उत्पादादादि त्रयात्मक परिणामी स्वभावके कारण स्वयमेव है उस परिणामवादका, सत्के स्वरूपका और निमित्त, उपादान आदिका विवेचन है । साथ ही विश्वकी व्यवस्थाके सम्वन्धमें जो कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, पुरुषवाद, कर्मवाद, भूतवाद, यदृच्छावाद और अव्याकृतवाद आदि प्रचलित थे, उनकी आलोचना करके उत्पादादित्रयात्मक परिणामवादका स्थापन किया गया है । आधुनिक भौतिकवाद, विरोधी समागम और द्वन्द्ववादकी तुलना और मीमांसा भी परिणामवादसे की गई है ।

५ पञ्चम—'पदार्थस्वरूप' प्रकरणमें पदार्थके त्रयात्मक स्वरूप, गुण और धर्मकी व्याख्या आदि करके सामान्यविशेपात्मकत्वका समर्थन किया गया है ।

६ छठे—'पट् द्रव्यविवेचन' प्रकरणमें जीवद्रव्यके विवेचनमें व्यापक आत्मवाद, अणुआत्मवाद, भूतचैतन्यवाद आदिकी मीमासा करके आत्माको कर्त्ता, भोक्ता, स्वदेहपरिमाण और परिणामी सिद्ध किया गया है । पुद्गल द्रव्यके विवेचनमें पुद्गलोके अणु-स्कन्ध भेद, स्कन्धकी प्रक्रिया, शब्द, वन्ध आदिका पुद्गलपर्यायत्व आदि सिद्ध किया है । इसी तरह धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और कालद्रव्यका विविध मान्यताओंका उल्लेख करके स्वरूप वताया है । साथ ही वैशेपिक आदिकी द्रव्य-व्यवस्था और पदार्थ-व्यवस्थाका अन्तर्भाव दिखाया है । इसी प्रकरणमें कार्योत्पत्तिविचारमें सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद आदिकी आलोचना करके सदसत्कार्यवादका समर्थन किया है ।

७. सातवें—'सप्ततत्त्वनिरूपण' प्रकरणमें मुमुक्षुओंको अवश्य ज्ञातव्य जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका विस्तृत विवेचन है। बौद्धोंके चार आर्यसत्योंकी तुलना, निर्वाण और मोक्षका भेद, नैरात्म्यवादकी मीमांसा, आत्माकी अनादिबद्धता आदि विषयोंकी चर्चा भी प्रसङ्गत आई है। शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशद विवेचन तुलनात्मक ढंगसे किया है।

८. आठवें—'प्रमाणमीमांसा' प्रकरणमें प्रमाणके स्वरूप, भेद, विषय और फल इन चारों मुद्दों पर खूब विस्तारसे परपक्षकी मीमांसा करके विवेचन किया गया है। प्रमाणाभास, सख्याभास, विषयाभास और फलाभास शीर्षकोंमें साख्य, वेदान्त, शब्दाद्वैत, क्षणिकवाद आदिकी मीमांसा की गई है। आगम प्रकरणमें वेदके अपौरुषेयत्वका विचार, शब्दकी अर्थवाचकता, अपोहवादकी परीक्षा, प्राकृत-अपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकता, आगमवाद तथा हेतुवादका क्षेत्र आदि सभी प्रमुख विषय चर्चित हैं। मुख्य प्रत्यक्षके निरूपणमें सर्वज्ञसिद्धि और सर्वज्ञताके इतिहासका निरूपण है। अनुमानप्रकरणमें जय-पराजयव्यवस्था और पत्रवाक्य आदिका विशद विवेचन है। विपर्ययज्ञानके प्रकरणमें अख्याति, असत्ख्याति आदिकी मीमांसा करके विपरीतख्याति स्थापित की गई है।

९. नवें—'नयविचार' प्रकरणमें नयोंका स्वरूप, द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक भेद, सातों नयोंका तथा तदाभासोंका विवेचन, निक्षेप-प्रक्रिया और निश्चय-व्यवहारनय आदिका खुलासा किया गया है।

१०. दसवें—'स्याद्वाद और सप्तभंगी' प्रकरणमें स्याद्वादकी निरुक्ति, आवश्यकता, उपयोगिता और स्वरूप बताकर 'स्याद्वाद'के सम्बन्धमें महापण्डित राहुल साकृत्यायन, सर राधाकृष्णन्, प्रो० बलदेवजी उपाध्याय, डॉ० देवराजजी, श्री हनुमन्तरावजी आदि आधुनिक दर्शन-लेखकोंके मतकी आलोचना करके स्याद्वादके सम्बन्धमें प्राचीन आ० धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर, कर्णकगोमि, शान्तरक्षित, अर्चट आदि बौद्धदार्शनिक, शंकराचार्य, भास्कराचार्य, नीलकण्ठाचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, व्योमशिवाचार्य आदि वैदिक तथा तत्त्वोपप्लववादी आदिके भ्रान्त मतोंकी विस्तृत समीक्षा की गई है। सप्तभङ्गीका स्वरूप, सकलादेश-विकलादेशकी रेखा तथा इस सम्बन्धमें आ० मलयगिरि आदिके मतोंकी मीमांसा करके स्याद्वादकी जीवनोपयोगिता सिद्ध की है। इसीमें संशयादि दूषणोंका उद्धार करके वस्तुको भावाभावात्मक, नित्यानित्यात्मक, सदसदात्मक, एकानेकात्मक और भेदाभेदात्मक सिद्ध किया है।

११ ग्यारहवें—'जैनदर्शन और विश्वशान्ति' प्रकरणमें ...दर्शनकी अनेकान्तदृष्टि और समन्वयकी भावना, व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वीकृति और सर्व समानाधिकार-

की भूमिपर सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वशान्तिकी सम्भावनाका समर्थन किया है।

१२ बारहवे—'जैनदार्शनिक साहित्य' प्रकरणमे दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों परम्पराओके प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थोका शताब्दीवार नामोल्लेख करके सूची प्रस्तुत की गई है।

इस तरह इस ग्रन्थमे 'जैनदर्शन' के सभी अङ्गोपर समूल पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

अन्तमें मैं उन सभी उपकारकोका आभार मानना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनके सहयोगसे यह ग्रन्थ इस रूपमें प्रकाशमे आ गया है। सुप्रसिद्ध अध्यात्मवेत्ता गुरुवर्य श्री १०५ क्षुल्लक पूज्य प० गणेशप्रसादजी वर्णीका सहज स्नेह और आशीर्वाद इस जनको सदा प्राप्त रहा है।

भारतीय संस्कृतिके तटस्थ विवेचक डॉ० मङ्गलदेवजी शास्त्री पूर्व प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेजने अपना अमूल्य समय लगाकर 'प्राक्कथन' लिखनेकी कृपा की है। पार्श्वनाथ विद्याश्रमकी लाइब्रेरीमें बैठकर ही इस ग्रन्थका लेखन कार्य हुआ है और उसकी बहुमूल्य ग्रथराशिका इसमें उपयोग हुआ है। भाई प० फुलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीने, जो जैन समाजके खरे विचारक विद्वान् हैं, आडे समयमें इस ग्रन्थको जिस कसक-आत्मीयता और तत्परतासे श्रीगणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालासे प्रकाशित करानेका प्रबन्ध किया है उसे मैं नही भुला सकता। मैं इन सबका हार्दिक आभार मानता हूँ। और इस आशासे इस राष्ट्रभाषा हिन्दीमे लिखे गये प्रथम 'जैनदर्शन' ग्रन्थको पाठकोके सन्मुख रख रहा हूँ कि वे इस प्रयासको सद्भावकी दृष्टिसे देखेंगे और इसकी त्रुटियोकी सूचना देनेकी कृपा करेंगे, ताकि आगे उनका सुधार किया जा सके।

विजयादशमी
वि० स० २०१२
ता० २६।१०।५५

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य
प्राध्यापक संस्कृत महाविद्यालय
हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विषयानुक्रम

४. लोकव्यवस्था ५३–१००

५. पदार्थका स्वरूप

६. षट्द्रव्य विवेचन

७. तत्त्व-निरूपण

प्रमाणमीमांसा १८७—३३१

९. नयविचार ३३२–३६०

१०. स्याद्वाद और सप्तभंगी ३६१–४३०

११. जैनदर्शन और विश्वशान्ति ४३१–४३४

१२. जैन दार्शनिक साहित्य ४३५–४४६

ग्रन्थसंकेत-विवरण ४४८–४५३

जैनदर्शन

—.०.—

१. पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन

कर्मभूमिका प्रारम्भ :

जैन अनुश्रुतिके अनुसार इस कल्पकालमें पहले भोगभूमि थी। यहाँके निवासी अपनी जीवनयात्रा कल्पवृक्षोसे चलाते थे। उनके खाने-पीने, पहिरने-ओढने, भूषण, मकान, सजावट, प्रकाश और आनन्द-विलासकी सब आवश्यकताएँ इन वृक्षोसे ही पूर्ण हो जाती थी। इस समय न शिक्षा थी और न दीक्षा। सब अपने प्राकृत भोगमें ही मग्न थे। जनसख्या कम थी। युगल उत्पन्न होते थे और दोनो ही जीवन-सहचर बनकर साथ रहते थे और मरते भी साथ ही थे। जब धीरे-धीरे यह भोगभूमिकी व्यवस्था क्षीण हुई, जनसंख्या बढी और कल्पवृक्षोकी शक्ति प्रजाकी आवश्यकताओकी पूर्ति नही कर सकी, तब कर्मभूमिका प्रारम्भ हुआ। भोगभूमिमें सन्तान-युगलके उत्पन्न होते ही माँ-बापयुगल मर जाते थे। अत कुटुम्ब-रचना और समाज-रचनाका प्रश्न ही नही था। प्रत्येक युगल स्वाभाविक क्रमसे बढता था और स्वाभाविक रीतिसे ही भोग भोगकर अपनी जीवनलीला प्रकृतिकी गोदमें ही सवृत कर देता था। किन्तु जब सन्तान अपने जीवनकालमें ही उत्पन्न होने लगी और उनके लालन-पालन, शिक्षा-दीक्षा आदिकी समस्याएँ सामने आई, तब वस्तुत. भोगजीवनसे कर्मजीवन प्रारम्भ हुआ। इसी समय क्रमश. चौदह कुलकर या मनु उत्पन्न होते है। वे इन्हें भोजन बनाना, खेती करना, जगली पशुओसे अपनी और सन्तानकी रक्षा करना, उनका सवारी आदिमें उपयोग करना, चन्द्र, सूर्य आदिसे निर्भय रहना तथा समाज-रचनाके मूलभूत अनुशासनके नियम आदि सभी कुछ सिखाते है। वे ही कुलके लिये उपयोगी मकान बनाना, गाँव बसाना आदि सभी व्यवस्थाएँ जमाते है, इसीलिये उन्हें कुलकर या मनु कहते है। अन्तिम कुलकर श्रीनाभिरायने जन्मके समय बच्चोकी नाभिका नाल

काटना सिखाया था, इसीलिये इनका नाम नाभिराय पडा था। इनकी युगलसह-चरीका नाम मरुदेवी था।

आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव :

इनके ऋषभदेव नामक पुत्र हुए। वस्तुत कर्मभूमिका प्रारम्भ इनके समयसे होता है। गाँव, नगर आदि इन्हीके कालमे बसे थे। इन्होने अपनी पुत्री ब्राह्मी और सुन्दरीको अक्षराभ्यासके लिये लिपि बनाई थी, जो ब्राह्मी लिपिके नामसे प्रसिद्ध हुई। इसी लिपिका विकसित रूप वर्तमान नागरी लिपि है। भरत इन्हीके पुत्र थे, जिनके नामसे इस देशका नाम भारत पडा। भरत बडे ज्ञानी और विवेकी थे। ये राजकाज करते हुए भी सम्यग्दृष्टि थे, इसीलिये ये 'विदेह भरत' के नामसे प्रसिद्ध थे। ये प्रथम पट्खडाधिपति चक्रवर्ती थे। ऋषभदेवने अपने राज्यकालमे समाज-व्यवस्थाकी स्थिरताके लिये प्रजाका कर्मके अनुसार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके रूपमें विभाजन कर त्रिवर्णकी स्थापना की। जो व्यक्ति रक्षा करनेमें कटिबद्ध और वीर प्रकृतिके थे, उन्हें क्षत्रिय, व्यापार और कृषिप्रधान वृत्तिवालोको वैश्य और शिल्प तथा नृत्य आदि कलाओसे आजीविका चलानेवालो-को शूद्र वर्णमे स्थान दिया। ऋषभदेवके मुनि हो जानेके बाद भरत चक्रवर्तीने इन्ही तीन वर्णोमेसे व्रत और चारित्र धारण करनेवाले सुशील व्यक्तियोका ब्राह्मण वर्ण बनाया। इसका आधार केवल व्रत-सस्कार था। अर्थात् जो व्यक्ति अहिंसा आदि व्रतोसे सुसस्कृत थे, वे ब्राह्मणवर्णमें परिगणित किये गए। इस तरह गुण और कर्मके अनुसार चातुर्वर्ण्य व्यवस्था स्थापित हुई। ऋषभदेव ही प्रमुख रूपसे कर्मभूमि-व्यवस्थाके अग्र सूत्रधार थे, अत इन्हे आदिब्रह्मा या आदिनाथ कहते है। प्रजाकी रक्षा और व्यवस्थामे तत्पर इन प्रजापति ऋषभदेवने अपने राज्यकालमें जिस प्रकार व्यवहारार्थ राज्यव्यवस्था और समाज-रचनाका प्रवर्तन किया, उसी तरह तीर्थकालमें व्यक्तिकी शुद्धि और समाजमे शान्ति स्थापनके लिये 'धर्मतीर्थ' का भी प्रवर्तन किया। अहिंसाको धर्मकी मूल धुरा मानकर इसी अहिंसाका समाज-रचनाके लिए आधार बनानेके हेतुसे सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह आदिके रूपमें अवतार किया। साधनाकालमें इनने राज्यका परित्याग कर बाहर-भीतरकी सभी गाँठें खोल परम निर्ग्रन्थ मार्गका अवलम्बन कर आत्मसाधना की और क्रमश कैवल्य प्राप्त किया। यही धर्मतीर्थके आदि प्रवर्तक थे।

इनको ऐतिहासिकताको सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० हर्मन जैकोबी और सर राधाकृष्णन् आदि स्वीकार करते है। भागवत (५। २-६) में जो ऋषभदेवका वर्णन मिलता है वह जैन परम्पराके वर्णनसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भागवत-

में जैनधर्मके संस्थापकके रूपमें ऋषभदेवका उल्लेख होना और आठवें अवतारके रूपमें उनका स्वीकार किया जाना इस बातका साक्षी है कि ऋषभके जैनधर्मके संस्थापक होनेकी अनुश्रुति निर्मूल[1] नही है।

बौद्धदर्शनके ग्रन्थोमे[2] दृष्टान्ताभास या पूर्वपक्षके रूपमें जैनधर्मके प्रवर्तक और स्याद्वादके उपदेशकके रूपमें ऋषभ और वर्धमानका ही नामोल्लेख पाया जाता है। धर्मोत्तर आचार्य[3] तो ऋषभ, वर्धमानादिको दिगम्बरोका शास्ता लिखते है।

इन्होने मूल अहिंसा धर्मका आद्य उपदेश दिया और इसी अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठाके लिये उसके आधारभूत तत्त्वज्ञानका भी निरूपण किया। इनने समस्त आत्माओको स्वतन्त्र, परिपूर्ण और अखण्ड मौलिक द्रव्य मानकर अपनी तरह समस्त जगत्के प्राणियोको जीवित रहनेके समान अधिकारको स्वीकार किया और अहिंसाके सर्वोदयी स्वरूपकी सजीवनी जगत्को दी। विचार-क्षेत्रमें अहिंसाके मानस रूपकी प्रतिष्ठा स्थापित करनेके लिये आदिप्रभुने जगत्के अनेकान्त स्वरूपका उपदेश दिया। उनने बताया कि विश्वका प्रत्येक जड-चेतन, अणु-परमाणु और जीवराशि अनन्त गुण-पर्यायोंका आकर है। उसके विराट् रूपको पूर्ण ज्ञान स्पर्श भी कर ले, पर वह शब्दोके द्वारा कहा नही जा सकता। वह अनन्त ही दृष्टि-कोणोसे अनन्त रूपमें देखा जाता और कहा जाता है। अत. इस अनेकान्तमहा-सागरको शान्ति और गम्भीतासे देखो। दूसरेके दृष्टिकोणोका भी आदर करो; क्योंकि वे भी तुम्हारी ही तरह वस्तुके स्वरूपांशोंको ग्रहण करनेवाले हैं। अने-कान्तदर्शन वस्तुविचारके क्षेत्रमें दृष्टिकी एकाङ्गिता और सकुचिततासे होनेवाले मतभेदोको उखाडकर मानस-समताकी सृष्टि करता है और वीतराग चित्तकी सृष्टिके लिए उर्वर भूमि बनाता है। मानस अहिंसाके लिए जहाँ विचारशुद्धि करनेवाले अनेकान्तदर्शनकी उपयोगिता है वहाँ वचनकी निर्दोष पद्धति भी उपादेय है, क्योंकि अनेकान्तको व्यक्त करनेके लिये 'ऐसा ही है' इस प्रकारकी अवधारिणी भाषा माध्यम नही बन सकती। इसलिये उस परम अनेकान्त तत्त्वका प्रतिपादन

---

1 खडगिरि-उदयगिरिकी हाथीगुफाके २१०० वर्ष पुराने लेखसे ऋषभदेवकी प्रतिमाकी कुलक्रमागतता और प्राचीनता स्पष्ट है। यह लेख कलिंगाधिपति खारवेलने लिखाया था। इस प्रतिमाको नन्द ले गया था। पीछे खारवेलने इसे नन्दके ३०० वर्ष बाद पुष्यमित्रसे प्राप्त किया था।

2 देखो, न्यायवि० ३।१४२-५१। तत्त्वसंग्रह (स्याद्वादपरीक्षा)।

3. "यथा ऋषभो वर्धमानश्च, तावादी यस्य स ऋषभवर्धमानादि. दिगम्बराणा शास्ता सर्वज्ञ आप्तश्चेति।"—न्यायबि० टीका ३।१४२।

करनेके लिये 'स्याद्वाद' रूप वचनपद्धतिका उपदेश दिया गया। इससे प्रत्येक वाक्य अपनेमें सापेक्ष रहकर स्ववाच्यको प्रधानता देता हुआ भी अन्य अंशोका लोप नही करता, उनका तिरस्कार नही करता और उनकी सत्तासे इनकार नही करता। वह उनका गौण अस्तित्व स्वीकार करता है। इसीलिये इन धर्मतीर्थकरोकी 'स्याद्वादी' के रूपमे स्तुति की जाती है[1], जो इनके तत्त्वस्वरूपके प्रकाशनकी विशिष्ट प्रणालीका वर्णन है।

इनने प्रमेयका स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण बताया है। प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, त्रिलक्षणयुक्त परिणामी है। प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण अपनी पूर्वपर्यायको छोडता हुआ नवीन उत्तरपर्यायको धारण करता जाता है और इस अनादिप्रवाहको अनन्तकाल तक चलाता जाता है, कभी भी समाप्त नही होता। तात्पर्य यह कि तीर्थंकर ऋषभदेवने अहिंसा मूल-धर्मके साथ ही साथ त्रिलक्षण प्रमेय, अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद भाषाका भी उपदेश दिया। नय, सप्तभगी आदि इन्हीके परिवारभूत है। अत जैनदर्शनके आधारभूत मुख्य मुद्दे है—त्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वाद। आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता तो एक ऐसी आधारभूत शिला है जिसके माने बिना बन्ध-मोक्षकी प्रक्रिया ही नही बन सकती। प्रमेयका षट् द्रव्य, सात तत्त्व आदिके रूपमे विवेचन तो विवरणकी बात है।

भगवान् ऋषभदेवके बाद अजितनाथ आदि २३ तीर्थंकर और हुए है और इन सब तीर्थंकरोने अपने-अपने युगमें इसी सत्यका उद्घाटन किया है।

तीर्थंकर नेमिनाथ :

बाईसवे तीर्थकर नेमिनाथ नारायण कृष्णके चचेरे भाई थे। इनका जन्म-स्थान द्वारिका था और पिता थे महाराज समुद्रविजय। जब इनके विवाहका जुलूस नगरमे घूम रहा था और युवक कुमार नेमिनाथ अपनी भावी सगिनी राजुलकी सुखसुषमाके स्वप्नमें झूमते हुए दूल्हा बनकर रथमें सवार थे उसी समय बारातमे आये हुए मासाहारी राजाओके स्वागतार्थ इकट्ठे किये गये विविध पशुओ-की भयङ्कर चीत्कार कानोमें पडी। इस एक चीत्कारने नेमिनाथके हृदयमें अहिंसाका सोता फोड दिया और उन दयामूर्तिने उसी समय रथसे उतरकर उन पशुओंके बन्धन अपने हाथो खोले। विवाहकी वेषभूषा और विलासके स्वप्नोको

---

१ "धर्मतीर्थंकरेभ्योऽस्तु स्याद्वादिभ्यो नमो नमः।
ऋषभादिमहावीरान्तेभ्यः स्वात्मोपलब्धये॥"—लघी० श्लो० १।

असार समझ भोगसे योगकी ओर अपने चित्तको मोड दिया और वाहर-भीतरकी समस्त गाँठोको खोल ग्रन्थि भेदकर परम निर्ग्रन्थ हो साधनामें लीन हुए। इन्हीका अरिष्टनेमिके रूपमें उल्लेख यजुर्वेदमे भी आता है।

२३ वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ :

तेईसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ इसी वनारसमें उत्पन्न हुए थे। वर्तमान भेलूपुर उनका जन्मस्थान माना जाता है। ये राजा अश्वसेन और महारानी वामादेवीके नयनोके तारे थे। जब ये आठ वर्षके थे, तब एक दिन अपने सगी-साथियोके साथ गगाके किनारे घूमने जा रहे थे। गगातट पर कमठ नामका तपस्वी पंचाग्नि तप कर रहा था। दयामूर्ति कुमार पार्श्वने एक जलते हुए लक्कडसे अघजले नाग-नागिनको वाहर निकालकर प्रतिवोध दिया और उन मृतप्राय नागयुगल पर अपनी दया-ममता उडेल दी। वे नागयुगल धरणेन्द्र और पद्मावतीके रूपमें इनके भक्त हुए। कुमार पार्श्वका चित्त इस प्रकारके वालतप तथा जगत्की विषम हिंसापूर्ण परिस्थितियोसे विरक्त हो उठा, अत इस युवा कुमारने सादी-विवाहके वन्धनमें न बँधकर जगत्के कल्याणके लिये योगसाधनाका मार्ग ग्रहण किया। पाली पिटकोंमें वुद्धका जो प्राक् जीवन मिलता है और छह वर्ष तक वुद्धने जो कृच्छ्र साधनाएँ की थी उससे निश्चित होता है कि उस कालमें वुद्ध पार्श्वनाथकी परम्पराके तपयोगमे भी दीक्षित हुए थे। इनके चातुर्याम संवरका उल्लेख वार-वार आता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इस चातुर्याम धर्मके प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ थे, यह श्वेताम्वर आगम ग्रन्थोके उल्लेखोंसे भी स्पष्ट है। उस समय स्त्री परिग्रहमें शामिल थी और उसका त्याग अपरिग्रह व्रतमें आ जाता था। इनने भी अहिंसा आदि मूल तत्त्वोंका ही उपदेश दिया।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर :

इस युगके अंतिम तीर्थंकर थे भगवान् महावीर। ईसासे लगभग ६०० वर्ष पूर्व इनका जन्म कुण्डग्राममे हुआ था। वैशालीके पश्चिममें गण्डकी नदी है। उसके पश्चिम तटपर ब्राह्मण कुण्डपुर, क्षत्रिय कुण्डपुर, वाणिज्य ग्राम, करमार ग्राम और कोल्लाक सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखा ग्राम थे। भगवान् महावीरका जन्मस्थान वैशाली माना जाता है, क्योंकि कुण्डग्राम वैशालीका ही उपनगर था। इनके पिता सिद्धार्थ काश्यप गोत्रिय ज्ञातृक्षत्रिय थे और ये उस प्रदेशके राजा थे। रानी त्रिशलाकी कुक्षिसे चैत्र शुक्ला त्रयोदशीकी रात्रिमें कुमार वर्द्धमानका जन्म हुआ। इनने अपने वाल्यकालमें संजय-विजय (संभवत सजय-

वेलट्ठिपुत्त)के तत्त्वविषयक संशयका समाधान किया था, इसलिए लोग इन्हे सन्मति भी कहते थे। ३० वर्ष तक ये कुमार रहे। उस समयकी विषम परिस्थितिने इनके चित्तको स्वार्थसे जन-कल्याणकी ओर फेरा। उस समयकी राजनीतिका आधार धर्म बना हुआ था। वर्ग-स्वार्थियोने धर्मकी आडमें धर्मग्रन्थोके हवाले दे-देकर अपने वर्गके संरक्षणकी चक्कीमें बहुसख्यक प्रजाको पीस डाला था। ईश्वरके नामपर अभिजात वर्ग विशेष प्रभु-सत्ता लेकर ही उत्पन्न होता था। इसके जन्मजात उच्चत्वका अभिमान स्ववर्गके सरक्षण तक ही नही फैला था, किन्तु शूद्र आदि वर्णोके मानवोचित अधिकारोका अपहरण कर चुका था और यह सब हो रहा था धर्मके नामपर। स्वर्गलाभके लिए अजमेधसे लेकर नरमेध तक धर्म-वेदी पर होते थे। जो धर्म प्राणिमात्रके सुख-शान्ति और उद्धारके लिए था, वही हिंसा, विषमता, प्रताडन और निर्दलनका अस्त्र बना हुआ था। कुमार वर्द्धमानका मानस इस हिंसा और विषमतासे होनेवाली मानवताके उत्पीडनसे दिन-रात बेचैन रहता था। वे व्यक्तिकी निराकुलता और समाज-शान्तिका सरल मार्ग ढूँढना चाहते थे और चाहते थे मनुष्यमात्रकी समभूमिका निर्माण करना। सर्वोदयकी इस प्रेरणाने उन्हें ३० वर्षकी भरी जवानीमे राजपाटको छोडकर योगसाधनकी ओर प्रवृत्त किया। जिस परिग्रहके अर्जन, रक्षण, संग्रह और भोगके लिए वर्ग-स्वार्थियोनें धर्मको राजनीतिमे दाखिल किया था उस परिग्रहकी बाहर-भीतरकी दोनो गाँठें खोलकर वे परम निर्ग्रन्थ हो अपनी मौन साधनामें लीन हो गये। १२ वर्ष तक कठोर साधना करनेके बाद ४२ वर्षकी अवस्थामे इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। ये वीतराग और सर्वज्ञ बने। ३० वर्ष तक इन्होने धर्मतीर्थका प्रवर्तन कर ७२ वर्षकी अवस्थामे पावा नगरीसे निर्वाण लाभ किया।

सत्य एक और त्रिकालाबाधित :

निर्ग्रन्थ नाथपुत्त भगवान् महावीरको कुल-परम्परासे यद्यपि पार्श्वनाथके तत्त्वज्ञानकी धारा प्राप्त थी, पर ये उस तत्त्वज्ञानके मात्र प्रचारक नही थे, किन्तु अपने जीवनमें अहिंसाकी पूर्ण साधना करके सर्वोदय मार्गके निर्माता थे। मैं पहले बता आया हूँ कि इस कर्मभूमिमे आद्य तीर्थंकर ऋषभदेवके बाद तेईस तीर्थङ्कर और हुए हैं। ये सभी वीतरागी और सर्वज्ञ थे। इन्होंने अहिंसाकी परम ज्योतिसे मानवताके विकासका मार्ग आलोकित किया था। व्यक्तिकी निराकुलता और समाजमे शान्ति स्थापन करनेके लिये जो मूलभूत तत्त्वज्ञान और सत्य साक्षात्कार अपेक्षित होता हैं, उसको ये तीर्थङ्कर युगरूपता देते हैं। सत्य त्रिकालाबाधित और

एक होता है[1]। उसकी आत्मा देश, काल और उपाधियोंसे परे सदा एकरस होती है। देश और काल उसकी व्याख्याओंमें यानी उसके शरीरमे भेद अवश्य लाते है, पर उसकी मूलधारा सदा एकरसवाहिनी होती है। इसीलिये जगत्के असंख्य श्रमण-सन्तोंने व्यक्तिकी मुक्ति और जगत्की शान्तिके लिये एक ही प्रकारके सत्य-का साक्षात्कार किया है और वह व्यापक मूल सत्य है 'अहिंसा'।

जैनधर्म और दर्शनके मूल मुद्दे :

इसी अहिंसाकी दिव्य ज्योति विचारके क्षेत्रमे अनेकान्तके रूपमें प्रकट होती है तो वचन-व्यवहारके क्षेत्रमें स्याद्वादके रूपमे जगमगाती है और समाज-शान्तिके लिये अपरिग्रहके रूपमें स्थिर आधार बनती है, यानी आचारमें अहिंसा, विचारमें अनेकान्त, वाणीमें स्याद्वाद और समाजमे अपरिग्रह ये वे चार महान् स्तम्भ हैं, जिनपर जैनधर्मका सर्वोदयी भव्य प्रासाद खडा हुआ है। युग-युगमें तीर्थङ्करोंने इसी प्रासादका जीर्णोद्धार किया है और इसे युगानुरूपता देकर इसके समीचीन स्वरूपको स्थिर किया है।

जगत्का प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समूल नष्ट नही होता। वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य इस प्रकार त्रिलक्षण है। कोई भी पदार्थ चेतन हो या अचेतन, इस नियमका अपवाद नही है। यह 'त्रिलक्षण परिणामवाद' जैन-दर्शनके मण्डपकी आधारभूमि है। इस त्रिलक्षण परिणामवादकी भूमिपर अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादपद्धतिके खम्भोंसे जैन-दर्शनका तोरण बाँधा गया है। विविध नय, सप्तभङ्गी, निक्षेप आदि इसकी झिलमिलाती हुई झालरें है।

भगवान् महावीरने धर्मके क्षेत्रमे मानव मात्रको समान अधिकार दिये थे। जाति, कुल, शरीर, आकारके बंधन धर्माधिकारमें बाधक नही थे। धर्म आत्माके सद्गुणोंके विकासका नाम है। सद्गुणोके विकास अर्थात् सदाचरण धारण करनेमें किसी प्रकारका बन्धन स्वीकार्य नही हो सकता। राजनीति व्यवहारके लिये कैसी भी चले, किन्तु धर्मकी शीतल छाया प्रत्येकके लिये समान भावसे सुलभ हो, यही उनकी अहिंसा और समताका लक्ष्य था। इसी लक्ष्यनिष्ठाने धर्मके नामपर किये जानेवाले पशुयज्ञोको निरर्थक ही नही, अनर्थक भी सिद्ध कर दिया था। अहिंसाका झरना एक बार हृदयसे जब झरता है तो वह मनुष्यो तक ही नही, प्राणिमात्रके संरक्षण और पोषण तक जा पहुँचता है। अहिंसक सन्तकी प्रवृत्ति तो इतनी

---

१. "जे य अतीता पडुप्पन्ना अनागता य भगवंतो अरिहंता ते सव्वे एयमेव धम्म" —आचारांग सू०।

स्वावलम्बिनी तथा निर्दोष हो जाती है कि उसमे प्राणिघातकी कम-से-कम सम्भावना रहती है।

जैन श्रुत :

वर्तमानमे जो श्रुत उपलब्ध हो रहा है वह इन्ही महावीर भगवान्के द्वारा उपदिष्ट है। इन्होने जो कुछ अपनी दिव्य ध्वनिसे कहा उसको इनके शिष्य गणधरोने ग्रन्थरूपमें गूँथा। अर्थागम तीर्थकरोका होता है और शब्द-शरीरकी रचना गणधर करते है। वस्तुत तीर्थकरोका प्रवचन दिनमे तीन बार या चार बार होता था। प्रत्येक प्रवचनमे कथानुयोग, द्रव्यचर्चा, चारित्र-निरूपण और तात्त्विक विवेचन सभी कुछ होता था। यह तो उन गणधरोकी कुशल पद्धति है, जिससे वे उनके सर्वात्मक प्रवचनको द्वादशागमें विभाजित कर देते है—चरित्र-विषयक वार्ताएँ आचारागमें, कथाश ज्ञातृधर्मकथा और उपासकाध्ययन आदिमें, प्रश्नोत्तर व्याख्याप्रज्ञप्ति और प्रश्नव्याकरण आदिमे। यह सही है कि जो गाथाएँ और वाक्य दोनो परम्पराके आगमोमें है उनमे कुछ वही हो जो भगवान् महावीर-के मुखारविन्दसे निकले हो। जैसे समय-समयपर बुद्धने जो मार्मिक गाथाएँ कही, उनका सकलन 'उदान' में पाया जाता है। ऐसे ही अनेक गाथाएँ और वाक्य उन प्रसगोपर जो तीर्थकरोनें कहे वे सब मूल अर्थ ही नही, शब्दरूपमे भी इन गणधरो-ने द्वादशागमे गूँथे होगे। यह श्रुत अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य रूपमें विभाजित है। अङ्गप्रविष्ट श्रुत ही द्वादशाग श्रुत है। यथा आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानांग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकदश, अन्तकृद्दश, अनुत्तरौप-पादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद श्रुतके पाँच भेद है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, और चूलिका। पूर्वगत श्रुतके चौदह भेद है—उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यानप्रवाद, विद्यानुप्रवाद, कल्याणप्रवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार।

तीर्थङ्करोके साक्षात् शिष्य, बुद्धि और ऋद्धिके अतिशय निधान, श्रुतकेवली गणधरोके द्वारा ग्रन्थबद्ध किया गया वह अङ्ग-पूर्वरूप श्रुत इसलिए प्रमाण है कि इसके मूल वक्ता परम अचिन्त्य केवलज्ञानविभूतिवाले परम ऋषि सर्वज्ञदेव हैं। आरातीय आचार्योके द्वारा अल्पमति शिष्योके अनुग्रहके लिए जो दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि रूपमें रचा गया अङ्गबाह्य श्रुत है वह भी प्रमाण है, क्योकि अर्थरूपमें यह श्रुत तीर्थङ्कर प्रणीत अङ्गप्रविष्टसे जुदा नही है। यानी इस अङ्गबाह्य श्रुतकी परम्परा चूँकि अङ्गप्रविष्ट श्रुतसे बँधी हुई है, अत उसीकी तरह प्रमाण

है। जैसे क्षीरसमुद्रका जल घड़ेमें भर लेने पर मूलरूपमें वह समुद्रजल ही रहता है[1]।

दोनों परंपराओंका आगमश्रुत :

वर्तमानमें जो आगमश्रुत श्वेताम्बर परम्पराको मान्य है उसका अंतिम संस्करण वलभीमें वीर निर्वाण संवत् ९८० में हुआ था। विक्रमकी छठी शताब्दीमें यह संकलन देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमणने किया था। इस समय जो त्रुटित-अत्रुटित आगम-वाक्य उपलब्ध थे, उन्हें पुस्तकारूढ़ किया गया। उनमें अनेक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन हुए। एक बात खास ध्यान देनेकी है कि महावीरके प्रधान गणधर गौतमके होते हुए भी इन आगमोंकी परम्परा द्वितीय गणधर सुधर्मा स्वामीसे जुड़ी हुई है। जब कि दिगम्बर परम्पराके सिद्धान्त-ग्रन्थोंका सम्बन्ध गौतम स्वामीसे है। यह भी एक विचारणीय बात है कि श्वेताम्बर परम्परा जिस दृष्टिवाद श्रुतका उच्छेद मानती है उसी दृष्टिवाद श्रुतके अग्रायणीय और ज्ञानप्रवाद पूर्वसे षट्खंडागम, महाबन्ध, कसायपाहुड आदि दिगम्बर सिद्धान्त-ग्रन्थोंकी रचना हुई है। यानि जिस श्रुतका श्वेताम्बर परम्परामें लोप हुआ उस श्रुतकी धारा दिगम्बर परम्परामें सुरक्षित है और दिगम्बर परम्परा जिस अङ्गश्रुतका लोप मानती है, उसका संकलन श्वेताम्बर परम्परामें प्रचलित है।

श्रुतविच्छेदका मूल कारण :

इस श्रुत-विच्छेदका एक ही कारण है—वस्त्र। महावीर स्वयं निर्वस्त्र परम निर्ग्रन्थ थे, यह दोनों परम्पराओंको मान्य है। उनके अचेलक-धर्मकी सङ्गति आपवादिक वस्त्रको औत्सर्गिक मानकर नहीं बैठायी जा सकती। जिनकल्प आदर्श मार्ग था, इसकी स्वीकृति श्वेताम्बर परम्परा मान्य दशवैकालिक, आचाराङ्ग आदिमें होनेपर भी जब किसी भी कारणसे एक बार आपवादिक वस्त्र घुस गया तो उसका निकलना कठिन हो गया। जम्बूस्वामीके बाद श्वेताम्बर परम्परा द्वारा

---

१ "तदेतत् श्रुतं द्विभेदमनेकभेदं द्वादशभेदमिति। किंकृतोऽयं विशेषः? वक्तृविशेषकृतः। त्रयो वक्तारः—सर्वज्ञस्तीर्थंकर इतरो वा श्रुतकेवली, आरातीयश्चेति। तत्र सर्वज्ञेन परमर्षिणा परमाचिन्त्यकेवलज्ञानविभूतिविशेषेण अर्थत आगम उपदिष्टः। तस्य प्रत्यक्षदर्शित्वात्प्रक्षीणदोषत्वाच्च प्रामाण्यम्। तस्य साक्षाच्छिष्यैर्बुद्ध्यतिशयर्द्धियुक्तैर्गणधरैः श्रुतकेवलिभिरनुस्मृतग्रन्थरचनमङ्गपूर्वलक्षणम्, तत्प्रमाणं, तत्प्रामाण्यात्। आरातीयैः पुनराचार्यैः कालदोषात्संक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्, तत्प्रमाणमर्थतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णवजलं घटगृहीतमिव।"—सर्वार्थसिद्धि १।२०।

जिनकल्पका उच्छेद माननेसे[1] तो दिगम्बर-श्वेताम्बर मतभेदको पूरा-पूरा बल मिला है। इस मतभेदके कारण श्वेताम्बर परम्परामें वस्त्रके साथ-ही-साथ उपधियोंकी सख्या चौदह तक हो गई। यह वस्त्र ही श्रुतविच्छेदका मूल कारण हुआ।

सुप्रसिद्ध विद्वान् प० बेचरदासजीने अपनी 'जैन साहित्यमें विकार' पुस्तक (पृष्ट ४०) में ठीक ही लिखा है कि—"किसी वैद्यने संग्रहणीके रोगीको दवाके रूपमे अफीम सेवन करनेकी सलाह दी थी, किन्तु रोग दूर होनेपर भी जैसे उसे अफीमकी लत पड जाती है और वह उसे नही छोडना चाहता वैसी ही दशा इस आपवादिक वस्त्र की हुई।"

यह निश्चित है कि भगवान् महावीरको कुलाम्नायसे अपने पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथकी आचार-परम्परा प्राप्त थी। यदि पार्श्वनाथ स्वयं सचेल होते और उनकी परम्परामें साधुओके लिए वस्त्रकी स्वीकृति होती तो महावीर स्वय न तो नग्न दिगम्बर रहकर साधना करते और न नग्नताको साधुत्वका अनिवार्य अंग मानकर उसे व्यावहारिक रूप देते। यह सम्भव है कि पार्श्वनाथकी परम्पराके साधु मृदुमार्गको स्वीकार कर आखिरमें वस्त्र धारण करने लगे हो और आपवादिक वस्त्रको उत्सर्ग मार्गमें दाखिल करने लगे हो, जिसकी प्रतिध्वनि उत्तराध्ययनके केशीगौतम सवादमें आई है। यही कारण है कि ऐसे साधुओको 'पासत्थ' शब्दसे विकत्थना की गई है।

भगवान् महावीरने जब सर्वप्रथम सर्वसावद्य योगका त्यागकर समस्त परिग्रहको छोड दीक्षा ली तब उनने लेशमात्र भी परिग्रह अपने पास नही रखा था। वे परम दिगम्बर होकर ही अपनी साधनामें लीन हुए थे। यदि पार्श्वनाथके सिद्धान्तमें वस्त्रकी गुन्जाइश होती और उसका अपरिग्रह महाव्रतसे मेल होता तो सर्वप्रथम दीक्षाके समय ही साधक अवस्थामें न तो वस्त्रत्यागकी तुक थी और न आवश्यकता ही। महावीरके देवदूष्यकी कल्पना करके वस्त्रकी अनिवार्यता और औचित्यकी सगति बैठाना आदर्श-मार्गको नीचे ढकेलना है। पार्श्वनाथके चातुर्याममें अपरिग्रहकी पूर्णता तो स्वीकृत थी ही। इसी कारणसे सचेलत्व समर्थक श्रुतको दिगम्बर परम्पराने मान्यता नही दी और न उनकी वाचनाओमें वे शामिल ही हुए। अस्तु,

---

१ "मण-परमोहि-पुलाए आहारग-खवग-उवसमे कप्पे।
संजमतिय-केवलि-सिज्झणा य जम्बुम्मि वुच्छिण्णा ॥ २६६३ ॥"–विशेषा०।

काल-विभाग :

हमें तो यहाँ यह देखना है कि दिगम्बर परम्पराके सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें और श्वेताम्बर परम्परासम्मत आगमोंमें जैनदर्शनके क्या बीज मौजूद है ?

मैं पहिले बता आया हूँ कि—उत्पादादित्रिलक्षण परिणामवाद, अनेकान्तदृष्टि, स्याद्वाद-भाषा तथा आत्मद्रव्यकी स्वतन्त्र सत्ता इन चार महान् स्तम्भोंपर जैन-दर्शनका भव्य प्रासाद खडा हुआ है। इन चारोंके समर्थक, विवेचक और व्याख्या करनेवाले प्रचुर उल्लेख दोनो परम्पराके आगमोमे पाये जाते है। हमें जैन दार्शनिक साहित्यका सामान्यावलोकन करते समय आजतक उपलब्ध समग्र साहित्यको ध्यानमें रखकर ही कालविभाग इस प्रकार करना होगा[1]।

१ सिद्धान्त-आगमकाल	.	वि० ६वी शती तक
२ अनेकान्त-स्थापनकाल	.	वि० ३री से ८वी तक
३ प्रमाणव्यवस्था-युग	.	वि० ८वी से १७वीं तक
४ नवीनन्याय-युग	:	वि० १८वी से

१. सिद्धान्त-आगमकाल

दिगम्बर सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें षट्खडागम, महाबंध, कषायप्राभृत और कुन्द-कुन्दाचार्यके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि मुख्य है। षट्खंडागमके कर्ता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि है और कषायप्राभृतके रचयिता गुणधर आचार्य। आचार्य यतिवृषभने त्रिलोकप्रज्ञप्ति (गाथा ६६ से ८२) में भगवान् महावीरके निर्वाणके बादकी आचार्य-परम्परा और उसकी ६८३ वर्षकी काल-गणना दी है[2]।

---

१ युगोंका इसी प्रकारका विभाजन दार्शनिकप्रवर प० सुखलालजीने भी किया है, जो विवेचनके लिए सर्वथा उपयुक्त है।

२ जिस दिन भगवान् महावीरको मोक्ष हुआ, उसी दिन गौतम गणधरने केवलज्ञान पद पाया। जब गौतम स्वामी सिद्ध हो गये, तब सुधर्मा स्वामी केवली हुए। सुधर्मा स्वामीके मोक्ष हो जानेके बाद जम्बूस्वामी अन्तिम केवली हुए। इन केवलियोंका काल ६२ वर्ष है। इनके बाद नन्दी, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हुए। इन पाँचोंका काल १०० वर्ष होता है। इनके बाद विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय, बुद्धिल, गंगदेव और सुधर्म ये ११ आचार्य क्रमसे दशपूर्वके धारियोंमें विख्यात हुए। इनका काल १८३ वर्ष है। इनके बाद नक्षत्र, जयपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य ११ ग्यारह अंगके धारी हुए। इनके बाद भरत क्षेत्रमें कोई ११ अंगका धारी नहीं हुआ। तदनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु

इस ६८३ वर्षके बाद ही धवला और जयधवलाके उल्लेखानुसार धरसेनाचार्यको सभी अंगों और पूर्वोके एक देशका ज्ञान आचार्य परम्परासे प्राप्त हुआ था। किन्तु नन्दिसघकी प्राकृत पट्टावलीसे इस बातका समर्थन नही होता। उसमें लोहाचार्य तकका काल ५६५ वर्ष दिया है। इसके बाद एक अगके धारियोमे अर्हद्बलि, माघनन्दि, धरसेन, भूतबलि और पुष्पदन्त इन पाँच आचार्योको गिनाकर उनका काल क्रमश. २८, २१, १९, ३० और २० वर्ष दिया है। इस हिसाबसे पुष्पदन्त और भूतबलिका समय ६८३ वर्षके भीतर ही आ जाता है। विक्रम सवत् १५५६ मे लिखी गई बृहत् टिप्पणिका[1] नामकी सूचीमें धरसेन द्वारा वीर निर्वाण सवत् ६०० में बनाये गये "जोणिपाहुड" ग्रन्थका उल्लेख है। इससे भी उक्त समयका समर्थन होता है[2]। यह स्मरणीय है कि पुष्पदन्त-भूतबलि ने दृष्टिवादके अन्तर्गत द्वितीय अग्रायणी पूर्वसे षट्खण्डागमकी रचना की है और गुणधराचार्यने ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवे पूर्वकी दशम वस्तु-अधिकारके अन्तर्गत तीसरे पेज्ज-दोषप्राभृतसे कसायप्राभृतकी रचना की है। इन सिद्धान्त-ग्रन्थोमे जैनदर्शनके उक्त मूल मुद्दोके सूक्ष्म बीज बिखरे हुए है। स्थूल रूपसे इनका समय वीर निर्वाण सवत् ६१४ यानी विक्रमकी दूसरी शताब्दी (वि० सं० १४४) और ईसाकी प्रथम (सन् ८७) शताब्दी सिद्ध होता है[3]।

युगप्रधान आचार्य कुन्दकुन्दका समय विक्रमकी ३री शताब्दीके बाद तो किसी भी तरह नही लाया जा सकता, क्योकि मरकराके ताम्रपत्रमें कुन्द-

---

और लोह ये चार आचार्य आचाराङ्गके धारी हुए। ये सभी आचार्य शेष ग्यारह अग और १४ पूर्वके एकदेशके ज्ञाता थे। इनका समय ११८ वर्ष होता है अर्थात् गौतम गणधरसे लेकर लोहाचार्य पर्यन्त कुल कालका परिमाण ६८३ वर्ष होता है।

तीन केवलज्ञानी ६२ बासठ वर्ष,
पांच श्रुतकेवली १०० सौ वर्ष,
ग्यारह ग्यारह अग और दश पूर्वके धारी १८३ वर्ष,
पाँच, ग्यारह अगके धारी २२० वर्ष,
चार आचारागके धारी ११४ वर्ष,
कुल ६८३ वर्ष।

हरिवशपुराण, धवला, जयधवला, आदिपुराण तथा श्रुतावतार आदिमें भी लोहाचार्य तकके आचार्योका काल यही ६८३ वर्ष दिया गया है। देखो, जयधवला प्रथम भाग, प्रस्तावना पृष्ठ ४७-५०।

१. "योनिप्राभृतम् वीरात् ६०० धारसेनम्"—बृहट्टिप्पणिका, जैन सा० स० १-२ परिशिष्ट

२ देखो, धवला प्रथम भाग, प्रस्तावना पृष्ठ २३-३०।

३ धवला प्र० भा०, प्र० पृष्ठ ३५ और जयधवला, प्रस्तावना पृष्ठ ६४।

कुन्दान्वयके छह आचार्योंका उल्लेख है। यह ताम्रपत्र शकसंवत् ३८८ में लिखा गया था। उन छह आचार्योंका समय यदि १५० वर्ष भी मान लिया जाय तो शक संवत् २३८ में कुन्दकुन्दान्वयके गुणनन्दि आचार्य मौजूद थे। कुन्दकुन्दान्वय प्रारम्भ होनेका समय स्थूल रूपसे यदि १५० वर्ष पूर्व मान लिया जाता है तो लगभग विक्रमकी पहली और दूसरी शताब्दी कुन्दकुन्दका समय निश्चित होता है। डॉक्टर उपाध्येने इनका समय विक्रमकी प्रथम शताब्दी ही अनुमान किया है[1]। आचार्य कुन्दकुन्दके पचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार आदि ग्रन्थोंमें जैनदर्शनके उक्त चार मुद्दोंके न केवल बीज ही मिलते है, किन्तु उनका विस्तृत विवेचन और साङ्गोपाङ्ग व्याख्यान भी उपलब्ध होता है, जैसा कि इस ग्रन्थके उन-उन प्रकरणोसे स्पष्ट होगा। सप्तभगी, नय, निश्चय व्यवहार, पदार्थ, तत्त्व, अस्तिकाय आदि सभी विषयो पर आ० कुन्दकुन्दकी सफल लेखनी चली है। अध्यात्मवादका अनूठा विवेचन तो इन्होंकी देन है।

श्वेताम्बर आगम-ग्रन्थोंमें भी उक्त चार मुद्दोंके पर्याप्त बीज यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं[2]। इसके लिए विशेषरूपसे भगवती, सूत्रकृताग, प्रज्ञापना, राजप्रश्नीय, नन्दी, स्थानांग, समवायाग और अनुयोगद्वार द्रष्टव्य हैं।

भगवतीसूत्रके अनेक प्रश्नोत्तरोंमें नय, प्रमाण, सप्तभगी, अनेकान्तवाद आदिके दार्शनिक विचार हैं।

सूत्रकृतागमें भूतवाद और ब्रह्मवादका निराकरण करके पृथक् आत्मा तथा उसका नानात्व सिद्ध किया है। जीव और शरीरका पृथक् अस्तित्व बताकर कर्म और कर्मफलकी सत्ता सिद्ध की है। जगत्को अकृत्रिम और अनादि-अनन्त प्रतिष्ठित किया है। तत्कालीन क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवादका निराकरण कर विशिष्ट क्रियावादकी स्थापना की गई है। प्रज्ञापनामें जीवके विविध भावोंका निरूपण है।

राजप्रश्नीयमें श्रमण केशीके द्वारा राजा प्रदेशीके नास्तिकवादका निराकरण अनेक युक्तियो और दृष्टान्तोंसे किया गया है।

नन्दीसूत्र जैनदृष्टिसे ज्ञानचर्चा करनेवाली अच्छी रचना है। स्थानाग और समवायागकी रचना बौद्धोके अगुत्तरनिकायके ढगकी है। इन दोनोंमें आत्मा, पुद्गल, ज्ञान, नय और प्रमाण आदि विषयोकी चर्चा आई है। "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" यह मातृका-त्रिपदी स्थानागमें उल्लिखित है, जो उत्पादा-

---

१ देखो, प्रवचनसारकी प्रस्तावना।

२, देखो, जैनदार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन, पृष्ठ ४।

त्रियात्मकताके सिद्धान्तका निरपवाद प्रतिपादन करती है। अनुयोगद्वारमें प्रमाण और नय तथा तत्त्वोका शब्दार्थप्रक्रियापूर्वक अच्छा वर्णन है। तात्पर्य यह कि जैनदर्शनके मुख्य स्तम्भोके न केवल बीज ही, किन्तु विवेचन भी इन आगमोमें मिलते है।

पहले मैंने जिन चार मुद्दोकी चर्चा की है उन्हे सक्षेपमे ज्ञापकतत्त्व या उपाय-तत्त्व और उपेयतत्त्व इन दो भागोमें बाटा जा सकता है। सामान्यावलोकनके इस प्रकरणमें इन दोनोकी दृष्टिसे भी जैनदर्शनका लेखा-जोखा कर लेना उचित है।

ज्ञापकतत्त्व :

सिद्धान्त-आगमकालमें मति, श्रुत, अवधि, मन.पर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान मुख्यतया ज्ञेयके जाननेके साधन माने गये है। इनके साथ ही नयोका स्थान भी अधिगमके उपायोमें है। आगमिक कालमें ज्ञानकी सत्यता और असत्यता (सम्यक्त्व और मिथ्यात्व) बाह्य पदार्थोको यथार्थ जानने या न जाननेके ऊपर निर्भर नही थी। किन्तु जो ज्ञान आत्मसशोधन और अन्तत मोक्षमार्गमे उपयोगी सिद्ध होते थे वे सच्चे और जो मोक्षमार्गोपयोगी नही थे वे झूठे कहे जाते थे। लौकिक दृष्टिसे शत-प्रतिशत सच्चा भी ज्ञान यदि मोक्षमार्गोपयोगी नही है तो वह झूठा है और लौकिक दृष्टिसे मिथ्याज्ञान भी यदि मोक्षमार्गोपयोगी है तो वह सच्चा कहा जाता था। इस तरह सत्यता और असत्यताकी कसौटी बाह्य पदार्थोके अधीन न होकर मोक्षमार्गोपयोगितापर निर्भर थी। इसीलिये सम्यग्दृष्टिके सभी ज्ञान सच्चे और मिथ्यादृष्टिके सभी ज्ञान झूठे कहलाते थे। वैशेषिकसूत्रमे विद्या और अविद्या शब्दके प्रयोग बहुत कुछ इसी भूमिकापर है।

इन पाँच ज्ञानोका प्रत्यक्ष और परोक्षरूपमें विभाजन भी पूर्व युगमें एक भिन्न ही आधारसे था। वह आधार था आत्ममात्रसापेक्षत्व। अर्थात् जो ज्ञान आत्ममात्रसापेक्ष थे वे प्रत्यक्ष तथा जिनमे इन्द्रिय और मनकी सहायता अपेक्षित होती थी वे परोक्ष थे। लोकमे जिन इन्द्रियजन्य ज्ञानोको प्रत्यक्ष कहते है वे ज्ञान आगमिक परम्परामें परोक्ष थे।

कुन्दकुन्द और उमास्वाति :

आ० उमास्वाति या उमास्वामी (गृद्धपिच्छ)का तत्त्वार्थसूत्र जैनधर्मका आदि संस्कृत सूत्रग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव आदि सात तत्त्वोका विस्तारसे विवेचन है। जैनदर्शनके सभी मुख्य मुद्दे इसमें सूत्रित है। इनके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी तीसरी शताब्दी है। इनके तत्त्वार्थसूत्र और आ० कुन्दकुन्दके प्रवचन-

सारमें ज्ञानका प्रत्यक्ष और परोक्षभेदोंमें विभाजन स्पष्ट होनेपर भी उनकी सत्यता और असत्यताका आधार तथा लौकिक प्रत्यक्षको परोक्ष कहनेकी परम्परा जैसीकी तैसी चालू थी। यद्यपि कुन्दकुन्दके पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार और समयसार ग्रन्थ तर्कगर्भ आगमिक शैलीमें लिखे गये हैं, फिर भी इनकी भूमिका दार्शनिककी अपेक्षा आध्यात्मिक ही अधिक है।

पूज्यपाद :

श्वेताम्बर विद्वान् तत्त्वार्थसूत्रके तत्त्वार्थाधिगम भाष्यको स्वोपज्ञ मानते हैं। इसमें भी दर्शनान्तरीय चर्चाएँ नहीके बराबर है। आ० पूज्यपादने तत्त्वार्थसूत्रपर सर्वार्थसिद्धि नामकी सारगर्भ टीका लिखी है। इसमें तत्त्वार्थके सभी प्रमेयोंका विवेचन है। इनके इष्टोपदेश, समाधितन्त्र आदि ग्रन्थ आध्यात्मिक दृष्टिसे ही लिखे गये है। हाँ, जैनेन्द्रव्याकरणका आदिसूत्र इनने "सिद्धिरनेकान्तात्" ही बनाया है।

२. अनेकान्त-स्थापनकाल

समन्तभद्र और सिद्धसेन :

जब बौद्धदर्शनमें नागार्जुन, वसुबंधु, असंग तथा बौद्धन्यायके पिता दिग्नागका युग आया और दर्शनशास्त्रियोंमें इन बौद्धदार्शनिकोंके प्रबल तर्कप्रहारोंसे बेचैनी उत्पन्न हो रही थी, एक तरहसे दर्शनशास्त्रके तार्किक अंश और परपक्ष खंडनका प्रारम्भ हो चुका था, उस समय जैनपरम्परामें युगप्रधान स्वामी समन्तभद्र और न्यायावतारी सिद्धसेनका उदय हुआ। इनके सामने सैद्धान्तिक और आगमिक परिभाषाओं और शब्दोंको दर्शनके चौखटेमें बैठानेका महान् कार्य था। इस युगमें जो धर्मसंस्था प्रतिवादियोंके आक्षेपोंका निराकरण कर स्वदर्शनकी प्रभावना नहीं कर सकती थी उसका अस्तित्व ही खतरेमें था। अत. परचक्रसे रक्षा करनेके लिये अपना दुर्ग स्वत. संवृत करनेके महत्त्वपूर्ण कार्यका प्रारम्भ इन दो महान् आचार्योंने किया।

स्वामी समन्तभद्र प्रसिद्ध स्तुतिकार थे। इनने आप्तकी स्तुति करनेके प्रसंगसे आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन और बृहत्स्वयम्भूस्तोत्रमें एकान्तवादोंकी आलोचनाके साथ-ही-साथ अनेकान्तका स्थापन, स्याद्वादका लक्षण, सुनय-दुर्नयकी व्याख्या और अनेकान्तमें अनेकान्त लगानेकी प्रक्रिया बताई। इनने बुद्धि और शब्दकी सत्यता और असत्यताका आधार मोक्षमार्गोपयोगिताकी जगह बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिको बताया[1]। 'स्वपरावभासक बुद्धि प्रमाण है' यह प्रमाणका लक्षण स्थिर

१. आप्तमी० श्लो० ८७।

किया[1], तथा अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षाको प्रमाणका फल बताया[2]। इनका समय २री, ३री शताब्दी है।

आ० सिद्धसेनने सन्मतितर्कसूत्रमें नय और अनेकान्तका गम्भीर, विशद और मौलिक विवेचन तो किया ही है, पर उनकी विशेषता है न्यायके अवतार करने की। इनने प्रमाणके स्वपरावभासक लक्षणमे 'बाधवर्जित'[3] विशेषण देकर उसे विशेष समृद्ध किया, ज्ञानकी प्रमाणता और प्रमाणताका आधार मोक्षमार्गोपयोगिताकी जगह धर्मकीर्तिकी तरह 'मेयविनिश्चय'को रखा। यानी इन आचार्योंके युगसे 'ज्ञान' दार्शनिक क्षेत्रमे अपनी प्रमाणता बाह्यार्थकी प्राप्ति या मेयविनिश्चयसे ही साबित कर सकता था। आ० सिद्धसेनने न्यायावतारमें प्रमाणके प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम ये तीन भेद किये है। इस प्रमाणत्रित्ववादकी परम्परा आगे नही चली। इनने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनोके स्वार्थ और परार्थ भेद किये है। अनुमान और हेतुका लक्षण करके दृष्टान्त, दूषण आदि परार्थानुमानके समस्त परिकरका निरूपण किया है।

पात्रकेसरी और श्रीदत्त :

जब दिग्नागने हेतुका लक्षण 'त्रिलक्षण' स्थापित किया और हेतुके लक्षण तथा शास्त्रार्थकी पद्धतिपर ही शास्त्रार्थ होने लगे तब पात्रस्वामी (पात्रकेसरी)ने त्रिलक्षणकदर्शन और श्रीदत्तने जल्पनिर्णय ग्रन्थोमे हेतुका अन्यथानुपपत्ति-रूपसे एकलक्षण स्थापित किया और 'वाद'का सागोपाग विवेचन किया।

३. प्रमाणव्यवस्था-युग

जिनभद्र और अकलंक :

आ० जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण (ई० ७वी सदी) अनेकान्त और नय आदिका विवेचन करते है तथा प्रत्येक प्रमेयमें उसे लगानेकी पद्धति भी बताते है। इनने लौकिक इन्द्रियप्रत्यक्षको, जो अभी तक परोक्ष कहा जाता था और इसके कारण लोक व्यवहारमें असमजसता आती थी, 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' संज्ञा दी[4]। अर्थात् आगमिक परिभाषाके अनुसार यद्यपि इन्द्रियजन्य ज्ञान परोक्ष ही है, पर लोकव्यवहारके निर्वाहार्थ उसे सव्यवहारप्रत्यक्ष कहा जाता है। यह 'संव्यवहार' शब्द विज्ञानवादी बौद्धोके यहाँ प्रसिद्ध रहा है। भट्ट अकलंकदेव (ई० ७ वी) सचमुच जैन प्रमाणशास्त्रके सजीव प्रतिष्ठापक है। इनने अपने लघीयस्त्रय (का० ३, १०)में प्रथमत

१. बृहत्स्वय० श्लो० ६३।
२ आप्तमी० श्लो० १०२।
३. न्यायावतार० श्लो० १।
४ विशेषा० भाष्य गा० ९५।

प्रमाणके दो भेद करके फिर प्रत्यक्षके स्पष्ट रूपसे मुख्यप्रत्यक्ष और साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ये दो भेद किये है। परोक्षप्रमाणके भेदोमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगमको अविशद ज्ञान होनेके कारण स्थान दिया। इस तरह प्रमाणशास्त्रकी व्यवस्थित रूपरेखा यहाँसे प्रारम्भ होती है।

अनुयोगद्वार, स्थानाग और भगवतीसूत्रमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम इन चार प्रमाणोंका निर्देश मिलता है। यह परम्परा न्यायसूत्रकी है। तत्त्वार्थभाष्यमें इस परम्पराको 'नयवादान्तरेण' रूपसे निर्देश करके भी इसको स्वपरम्परामें स्थान नही दिया है और न उत्तरकालीन किसी जैन ग्रंथमें इनका कुछ विवरण या निर्देश ही है। समस्त उत्तरकालीन जैनदार्शनिकोने अकलकद्वारा प्रतिष्ठापित प्रमाणपद्धतिको ही पल्लवित और पुष्पित करके जैन न्यायोद्यानको सुवासित किया है।

उपायतत्त्व :

उपाय तत्त्वोमें महत्त्वपूर्ण स्थान नय और स्याद्वादका है। नय सापेक्ष दृष्टिका नामान्तर है। स्याद्वाद भाषाका वह निर्दोष प्रकार है, जिसके द्वारा अनेकान्तवस्तुके परिपूर्ण और यथार्थ रूपके अधिक-से-अधिक समीप पहुँचा जा सकता है। आ० कुन्दकुन्दके पचास्तिकायमें सप्तभंगीका हमें स्पष्ट रूपसे उल्लेख मिलता है। भगवतीसूत्रमें जिन अनेक भंगजालोका वर्णन है, उनमेंसे प्रकृत सात भंग भी छाँटे जा सकते है[1]। स्वामी समन्तभद्रकी आप्तमीमासामें इसी सप्तभंगीका अनेक दृष्टियोसे विवेचन है। उसमें सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, द्वैत-अद्वैत, दैव-पुरुषार्थ, पुण्य-पाप आदि अनेक प्रमेयोपर इस सप्तभंगीको लगाया गया है। सिद्धसेनके सन्मतितर्कमें अनेकान्त और नयका विशद वर्णन है। आ० समन्तभद्रने[2] "विधेयं वार्यं" आदि रूपसे सात प्रकारके पदार्थ ही निरूपित किये हैं। दैव और पुरुषार्थका जो विवाद उस समय दृढमूल था उसके विषयमें स्वामी समन्तभद्रने स्पष्ट लिखा है[3] कि न तो कोई कार्य केवल दैवसे होता है और न केवल पुरुषार्थसे। जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्नके अभावमें फलप्राप्ति हो वहाँ दैवकी प्रधानता माननी चाहिये और पुरुषार्थको गौण, तथा जहाँ बुद्धिपूर्वक प्रयत्नसे कार्यसिद्धि हो वहाँ पुरुषार्थको प्रधान और दैवको गौण मानना चाहिए।

इस तरह आ० समन्तभद्र और सिद्धसेनने नय, सप्तभंगी, अनेकान्त आदि जैनदर्शनके आधारभूत पदार्थोका सांगोपांग विवेचन किया है। इन्होने उस समयके

१. देखो, जैनतर्कवार्तिक प्रस्तावना पृ० ४४–४८।
२. बृहत्स्वय० श्लो० ११८। [illegible]

प्रचलित सभी वादोका नयदृष्टिसे जैनदर्शनमे समन्वय किया और सभी वादियोमें परस्पर विचारसहिष्णुता और समता लानेका प्रयत्न किया। इसी युगमें न्याय-भाष्य, योगभाष्य और शावरभाष्य आदि भाष्य रचे गये है। यह युग भारतीय तर्कशास्त्रके विकासका प्रारम्भ युग था। इसमें सभी दर्शन अपनी-अपनी तैयारियाँ कर रहे थे। अपने तर्क-शस्त्र पैना रहे थे। दर्शन-क्षेत्रमें सबसे पहला आक्रमण बौद्धोकी ओरसे हुआ, जिसके सेनापति थे नागार्जुन और दिग्नाग। तभी वैदिक दार्शनिक परम्परामे न्यायवार्तिककार उद्योतकर, मीमासाश्लोकवार्तिककार कुमारिलभट्ट आदिने वैदिकदर्शनके सरक्षणमे पर्याप्त प्रयत्न किये। आ० मल्लवादिने द्वादशारनयचक्र ग्रन्थमें विविध भगो द्वारा जैनेतर दृष्टियोके समन्वयका सफल प्रयत्न किया। यह ग्रन्थ आज मूलरूपमें उपलब्ध नही है। इसकी सिंहगणिक्षमा-श्रमणकृत वृत्ति उपलब्ध है। इसी युगमे सुमति, श्रीदत्त, पात्रस्वामी आदि आचार्योने जैनन्यायके विविध अगोपर स्वतन्त्र और व्याख्या ग्रन्थोका निर्माण प्रारम्भ किया।

वि० की ७ वी और ८ वी शताब्दी दर्शनशास्त्रके इतिहासमे विप्लवका युग था। इस समय नालन्दा विश्वविद्यालयके आचार्य धर्मपालके शिष्य धर्मकीर्तिका सपरिवार उदय हुआ। शास्त्रार्थोकी धूम मची हुई थी। धर्मकीर्तिने सदलवल प्रबल तर्कबलसे वैदिक दर्शनोपर प्रचड प्रहार किये। जैनदर्शन भी इनके आक्षेपोसे नही बचा था। यद्यपि अनेक मुद्दोमें जैनदर्शन और बौद्धदर्शन समानतन्त्रीय थे, पर क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि बौद्ध वादोका दृष्टिकोण ऐकान्तिक होनेके कारण दोनोमे स्पष्ट विरोध था और इसीलिये इनका प्रबल खंडन जैनन्यायके ग्रन्थोमें पाया जाता है। धर्मकीर्तिके आक्षेपोके उद्धारार्थ इसी समय प्रभाकर, व्योमशिव, मडनमिश्र, शकराचार्य, भट्ट जयन्त, वाचस्पतिमिश्र, शालिकनाथ आदि वैदिक दार्शनिकोका प्रादुर्भाव हुआ। इन्होने वैदिकदर्शनके सरक्षणके लिये भरसक प्रयत्न किये। इसी सघर्पयुगमे जैनन्यायके प्रस्थापक दो महान् आचार्य हुए। वे है अकलक और हरिभद्र। इनके बौद्धोसे जमकर शास्त्रार्थ हुए। इनके ग्रन्थोका बहुभाग बौद्धदर्शनके खंडनसे भरा हुआ है। धर्मकीर्तिके प्रमाणवार्तिक और प्रमाणविनिश्चय आदिका खंडन अकलंकके सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चय, प्रमाणसंग्रह और अष्टशती आदि प्रकरणोमें पाया जाता है। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, अनेकान्तजयपताका और अनेकान्तवादप्रवेश आदिमें बौद्धदर्शनकी प्रखर आलोचना है। एक बात विशेप ध्यान देने योग्य है कि जहाँ वैदिकदर्शनके ग्रन्थोमें इतर मतोका मात्र खंडन ही खंडन है वहाँ जैनदर्शनग्रन्थोमें इतर मतोका नय और स्याद्वाद-पद्धतिसे विशिष्ट समन्वय भी किया गया है। इस

तरह मानस अहिंसाकी उसी उदार दृष्टिका परिपोषण किया गया है। हरिभद्रके शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और धर्मसंग्रहणी आदि इसके विशिष्ट उदाहरण हैं। यहाँ यह लिखना अप्रासंगिक नही होगा कि चार्वाक, नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमासक आदि मतोके खंडनमें धर्मकीर्तिने जो अथक श्रम किया है उससे इन आचार्योका उक्त मतोंके खंडनका कार्य बहुत कुछ सरल बन गया था।

जब धर्मकीर्तिके शिष्य देवेन्द्रमति, प्रज्ञाकरगुप्त, कर्णकगोमि, शांतरक्षित और अर्चट आदि अपने प्रमाणवार्तिकटीका, प्रमाणवार्तिकालंकार, प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका, तत्त्वसंग्रह, वादन्यायटीका और हेतुबिन्दुटीका आदि ग्रन्थ रच चुके और उनमें कुमारिल, ईश्वरसेन और मंडनमिश्र आदिके मतोका खंडन कर चुके तथा वाचस्पति, जयन्त आदि उस खंडनोद्धारके कार्यमें व्यस्त थे तब इसी युगमें अनन्तवीर्यने बौद्धदर्शनके खंडनमें सिद्धिविनिश्चयटीका बनाई। आचार्य सिद्धसेनके सन्मतिसूत्र और अकलंकदेवके सिद्धिविनिश्चयको जैनदर्शनप्रभावक ग्रन्थोमें स्थान प्राप्त है। आ० विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा और युक्त्यनुशासनटीका जैसे जैनन्यायके मूर्धन्य ग्रन्थोको बनाकर अपना नाम सार्थक किया। इसी समय उदयनाचार्य, भट्ट श्रीधर आदि वैदिक दार्शनिकोने वाचस्पति मिश्रके अवशिष्ट कार्यको पूरा किया। यह युग विक्रमकी ८वी, ९वी सदीका था। इसी समय आचार्य माणिक्यनन्दिने परीक्षामुखसूत्रकी रचना की। यह जैन न्यायका आद्य सूत्रग्रन्थ है जो आगेके सूत्रग्रन्थोके लिये आधारभूत आदर्श सिद्ध हुआ।

वि० की दसवी सदीमे आ० सिद्धर्षिसूरिने न्यायावतारपर टीका रची।

वि० ११–१२ वी सदीको एक प्रकारसे जैनदर्शनका मध्याह्नोत्तर समझना चाहिए। इसमें वादिराजसूरिने न्यायविनिश्चयविवरण और प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड तथा न्यायकुमुदचन्द्र जैसे बृहत्काय टीकाग्रन्थोका निर्माण किया। शान्तिसूरिका जैनतर्कवार्तिक, अभयदेवसूरिकी सन्मतितर्कटीका, जिनेश्वरसूरिका प्रमाणलक्षण, अनन्तवीर्यकी प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्रसूरिकी प्रमाणमीमांसा, वादिदेवसूरिका प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार और स्याद्वादरत्नाकर, चन्द्रप्रभसूरिका प्रमेयरत्नकोष, मुनिचन्द्र सूरिका अनेकान्तजयपताकाका टिप्पण आदि ग्रन्थ इसी युगकी कृतियाँ हैं।

तेरहवी शताब्दीमें मलयगिरि आचार्य एक समर्थ टीकाकार हुए। इसी युगमें मल्लिषेणकी स्याद्वादमंजरी, रत्नप्रभसूरिकी रत्नाकरावतारिका, चन्द्रसेनकी उत्पादादिसिद्धि, रामचन्द्र गुणचन्द्रका द्रव्यालंकार आदि ग्रन्थ लिखे गये।

१४वी सदीमें सोमतिलककी षड्दर्शनसमुच्चयटीका, १५वी सदीमें गुणरत्नकं षड्दर्शनसमुच्चयबृहद्वृत्ति, राजशेखरकी स्याद्वादकलिका आदि, भावसेन त्रैविद्यदेव का विश्वतत्त्वप्रकाश आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये। धर्मभूषणकी न्यायदीपिक भी इसी युगकी महत्त्वकी कृति है।

४. नवीन न्याययुग

विक्रमकी तेरहवी सदीमें गगेशोपाध्यायने नव्यन्यायकी नीव डाली औ प्रमाण-प्रमेयको अवच्छेदकावच्छिन्नकी भाषामें जकड दिया। सत्रहवी शताब्दीं उपाध्याय यशोविजयजीने नव्यन्यायकी परिष्कृत शैलीमें खंडन-खंडखाद्य आि अनेक ग्रन्थोका निर्माण किया और उस युग तकके विचारोका समन्वय तथा उन नव्यढगसे परिष्कृत करनेका आद्य और महान् प्रयत्न किया। विमलदासकी सप्त भंगितरंगिणी नव्य शैलीकी अकेली और अनूठी रचना है। अठारहवी सदीं यशस्वतसागरने सप्तपदार्थी आदि ग्रन्थोकी रचना की।

अकलकदेवके प्रतिष्ठापित प्रमाणशास्त्रपर अनेको विद्वच्छिरोमणि आचार्यों ग्रन्थ लिखकर जैनदर्शनके विकासमें जो भगीरथ प्रयत्न किये है उनकी यह एव झलक मात्र है।

इसी तरह उपेयके उत्पादादित्रयात्मक स्वरूप तथा आत्माके स्वतन्त्र तथ अनेक द्रव्यत्वकी सिद्धि उक्त आचार्योके ग्रन्थोमें बराबर पाई जाती है।

उपसंहार

मूलत जैनधर्म आचारप्रधान है। इसमें तत्त्वज्ञानका उपयोग भी आचार-शुद्धिके लिए ही है। यही कारण है कि तर्क जैसे शुष्क शास्त्रका उपयोग भी जैनाचार्योने समन्वय और समताके स्थापनमें किया है। दार्शनिक कटाकटीके युगमें भी इस प्रकारकी समता और उदारता तथा एकताके लिये प्रयोजक समन्वय-दृष्टिका कायम रखना अहिंसाके पुजारियोका ही कार्य था। स्याद्वादके स्वरूप तथा उसके प्रयोगकी विधियोके विवेचनमें ही जैनाचार्योने अनेक ग्रन्थ लिखे है। इस तरह दार्शनिक एकता स्थापित करनेमें जैनदर्शनका अकेला और स्थायी प्रयत्न रहा है। इस जैसी उदार सूक्तियाँ अन्यत्र कम मिलती है। यथा—

"भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै॥"—हेमचन्द्र।

अर्थात् जिसके ससारको पुष्ट करनेवाले रागादि दोष विनष्ट हो गये है, चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, शिव हो, या जिन हो उसे नमस्कार है।

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।

युक्तिमद्वचन यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥"—लोकतत्त्वनिर्णय।

अर्थात् मुझे महावीरमे राग नही है और न कपिल आदिमे द्वेष। जिसके भी वचन युक्तियुक्त हो, उसकी शरण जाना चाहिये।

२. विषय प्रवेश

दर्शनकी उद्भूति :

भारत धर्मप्रधान देश है। इसने सदासे 'मैं' और 'विश्व' तथा उनके परस्पर सम्बन्धको लेकर चिन्तन और मनन किया है। द्रष्टा ऋषियोने ऐहिक चिन्तासे मुक्त हो उस आत्मतत्त्वके गवेषणमें अपनी शक्ति लगाई है जिसकी धुरीपर यह संसारचक्र घूमता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नही रह सकता। उसे अपने आसपासके प्राणियोसे सम्बन्ध स्थापित करना ही पडता है। आत्मसाधनाके लिए भी चारो ओरके वातावरणकी शान्ति अपेक्षित होती है। व्यक्ति चाहता है कि मैं स्वय निराकुल कैसे होऊँ? राग-द्वेष आदि द्वन्द्वोसे परे होकर निर्द्वन्द्व दशामे किस प्रकार पहुँचूँ? और समाज तथा विश्वमे सुख-शान्तिका राज कैसे हो? इन्ही दो चिन्ताओमेंसे समाज-रचनाके अनेक प्रयोग निष्पन्न हुए तथा होते जा रहे हैं। व्यक्तिकी निराकुल होनेकी प्रबल इच्छाने यह सोचनेको बाध्य किया कि आखिर 'व्यक्ति' है क्या? यह जन्मसे मरण तक चलनेवाला भौतिक पिण्ड ही है या मृत्युके बाद भी इसका स्वतन्त्र रूपसे अस्तित्व रह जाता है? उपनिषद्के ऋषियोको जब आत्मतत्त्वके विवादके बाद सोना, गायें और दासियों-का परिग्रह करते हुए देखते है तब ऐसा लगता है कि यह आत्म-चर्चा क्या केवल लौकिक प्रतिष्ठाका साधनमात्र ही है? क्या इसीलिये बुद्धने आत्माके पुनर्जन्मको 'अव्याकरणीय' बताया? ये सब ऐसे प्रश्न है जिनने 'आत्मजिज्ञासा' उत्पन्न की और जीवन-सघर्षने सामाजिक-रचनाके आधारभूत तत्त्वोकी खोजकी ओर प्रवृत्त किया। पुनर्जन्मकी अनेक घटनाओने कौतूहल उत्पन्न किये। अन्तत भारतीय दर्शन आत्मतत्त्व, पुनर्जन्म और उसकी प्रक्रियाके विवेचनमे प्रवृत्त हुए। बौद्ध-दर्शनमे आत्माकी अभौतिकताका समर्थन तथा शास्त्रार्थ पीछे आये अवश्य, पर मूलमें बुद्धने इसके स्वरूपके सम्बन्धमे मौन ही रखा। इसका विवेचन उनने दो 'न' के सहारे किया और कहा—कि आत्मा न तो भौतिक है और न शाश्वत ही है। न वह भूतपिण्डकी तरह उच्छिन्न होता है और न उपनिषद्वादियोके अनुसार शाश्वत होकर सदा काल एक रहता है। फिर है क्या? इसको उनने अनुपयोगी (इसका जानना न निर्वाणके लिए आवश्यक है और न ब्रह्मचर्यके लिए ही) कहकर टाल दिया। अन्य भारतीय दर्शन 'आत्मा' के स्वरूपके सम्बन्धमें चुप नही रहे, किन्तु उन्होने अपने-अपने ग्रंथोमें इतर मतका निरास करके पर्याप्त

ऊहापोह किया है। उनके लिए यह मूलभूत समस्या थी, जिसके ऊपर भारतीय चिन्तन और साधनाका महाप्रासाद खडा होता है। इस तरह सक्षेपमे देखा जाय तो भारतीय दर्शनोकी चिन्तन और मननकी धुरी 'आत्मा और विश्वका स्वरूप' ही रही है। इसीका श्रवण, दर्शन, मनन, चिन्तन और निदिध्यासन जीवनके अन्तिम लक्ष्य थे।

दर्शन शब्दका अर्थ :

साधारणतया दर्शनका मोटा और स्पष्ट अर्थ है साक्षात्कार करना, प्रत्यक्षज्ञान-से किसी वस्तुका निर्णय करना। यदि दर्शनका यही अर्थ है तो दर्शनोमे तीन और छहकी तरह परस्पर विरोध क्यो है? प्रत्यक्ष दर्शनसे जिन पदार्थोका निश्चय किया जाता है उनमे विरोध, विवाद या मतभेदकी गुञ्जाइश नही रहती। आजका विज्ञान इसीलिए प्राय निर्विवाद और सर्वमतिसे सत्यपर प्रतिष्ठित माना जाता है कि उसके प्रयोगाश केवल दिमागी न होकर प्रयोगशालाओमें प्रत्यक्षज्ञान या तन्मूलक अव्यभिचारी कार्यकारणभावकी दृढ भित्तिपर आश्रित होते हैं। 'हाइड्रोजन और ऑक्सिजन मिलकर जल बनता है' इसमें मतभेद तभी तक चलता ...तक प्रयोगशालामे दोनोको मिलाकर जल नही बना दिया जाता। जब ... पग-पग पर पूर्व पश्चिम जैसा विरोध विद्यमान है तब स्वभावत ...को यह सन्देह होता है कि—दर्शन शब्दका सचमुच साक्षात्कार अर्थ है या ... या यदि यही अर्थ है तो वस्तुके पूर्ण रूपका वह दर्शन है या नही? यदि ...पूर्ण स्वरूपका दर्शन भी हुआ हो तो उसके वर्णनकी प्रक्रियामे अन्तर है ? दर्शनोके परस्पर विरोधका कोई-न-कोई ऐसा ही हेतु होना चाहिये। दूर न जाइये, सर्वथा और सर्वत सन्निकट और प्रतिश्वास अनुभवमे आनेवाले आत्माके स्वरूप पर ही दर्शनकारोके साक्षात्कारपर विचार कीजिये। साख्य आत्माको कूटस्थ नित्य मानते हैं। इनके मतमे आत्मा साक्षी चेता निर्गुण अनाद्य-नन्त अविकारी और नित्य तत्त्व है। बौद्ध ठीक इसके विपरीत प्रतिक्षण परि-वर्तनशील चित्तक्षणरूप ही आत्मा मानते है। नैयायिक-वैशेषिक परिवर्तन तो मानते है, पर वह परिवर्तन भिन्न गुण तथा क्रिया तक ही सीमित है, आत्मामे उसका असर नही होता। मीमासकने अवस्थाभेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी और उन अवस्थाओका द्रव्यसे कथञ्चित् भेदाभेद मानकर भी द्रव्यको नित्य स्वीकार किया है। जैनोने अवस्था-पर्यायभेदकृत परिवर्तनके मूल आधार द्रव्यमें परिवर्तन कालमें किसी स्थायी अशको नही माना, किन्तु अविच्छिन्न पर्यायपरम्पराके अनाद्यनन्त चालू रहनेको ही द्रव्य माना है। यह पर्यायपरम्परा न कभी विच्छिन्न

होती है और न उच्छिन्न ही। वेदान्ती इस जीवको ब्रह्मका प्रातिभासिक रूप मानता है तो चार्वाक इन सबसे भिन्न भूतचतुष्टयरूप ही आत्मा स्वीकार करता है—उसे आत्माके स्वतन्त्र तत्त्वके रूपमें कभी दर्शन नही हुए। यह तो आत्माके स्वरूप-दर्शनका हाल है। अब उसकी आकृतिपर विचार करें, तो ऐसे ही अनेक दर्शन मिलते हैं। 'आत्मा अमूर्त या मूर्त होकर भी वह इतना सूक्ष्मतम है कि हमें इन चर्मचक्षुओसे नही दिखाई देता' इसमें सभी एकमत है। इसलिये कुछ अतीन्द्रियदर्शी ऋषियोने अपने दर्शनसे बताया कि आत्मा सर्वव्यापक है, तो दूसरे ऋषियोने उसका अणुरूपसे साक्षात्कार किया, वह वटबीजके समान अत्यन्त सूक्ष्म है या अंगुष्ठमात्र है। 'कुछको देहरूप ही आत्मा दिखा' तो किन्हीको छोटे-बडे देहके आकार सकोच-विकासशील। विचारा जिज्ञासु अनेक पगडंडियोवाले इस दशराहेपर खडा होकर दिग्भ्रान्त हो जाता है। वह या तो दर्शनशब्दके अर्थमें ही शका करता है या फिर दर्शनकी पूर्णतामें ही अविश्वास करने लगता है। प्रत्येक दर्शनका यही दावा है कि वही यथार्थ और पूर्ण है। एक ओर ये दर्शन मानवके मनन-तर्कको जगाते है, पर ज्यो ही मनन-तर्क अपनी स्वाभाविक खुराक माँगता है तो "तर्कोऽप्रतिष्ठः"[1] "तर्काप्रतिष्ठानात्"[2] "नैषा तर्केण मतिरपनेया"[3] जैसे बन्धनोसे उसका मुँह बन्द किया जाता है। 'तर्कसे कुछ नही हो सकता' इत्यादि तर्कनैराश्यका प्रचार भी इसी परम्पराका कार्य है। जब इन्द्रियगम्य पदार्थोमें तर्ककी आवश्यकता नही और उपयोगिता भी नही है तथा अतीन्द्रिय पदार्थोमें उसकी नि सारता एव अक्षमता है तो फिर उसका क्षेत्र क्या बचता है? आचार्य हरिभद्र तर्ककी असमर्थता बहुत स्पष्ट रूपसे बताते है—

"ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतीन्द्रिया.।
कालेनैतावता तेषां कृत. स्यादर्थनिर्णयः ॥"—योगदृष्टिस० १४५।

अर्थात्—यदि हेतुवाद—तर्कके द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थोका निश्चय करना शक्य होता तो आज तक बडे-बडे तर्कमनीषी हुए, वे इन पदार्थोका निर्णय अभी तक कर चुके होते। परन्तु अतीन्द्रिय पदार्थोके स्वरूपकी पहेली पहलेसे भी अधिक उलझी है। उस विज्ञानकी जय मानना चाहिये जिसने भौतिक पदार्थोकी अतीन्द्रियता बहुत हद तक समाप्त कर दी है और उसका फैसला अपनी प्रयोगशालामें कर डाला है।

---

१. महाभारत वनपर्व ३१३।११०। २. ब्रह्मसू० २।१।११।
३. कठोपनिषद् २।९।

दर्शनका अर्थ निर्विकल्पक नहीं :

बौद्ध परम्परामें दर्शन शब्द निर्विकल्पक प्रत्यक्षके अर्थमें व्यवहृत होता है। इसके द्वारा यद्यपि यथार्थ वस्तुके सभी धर्मोंका अनुभव हो जाता है, अखंडभावसे पूरी वस्तु इसका विषय बन जाती है, पर निश्चय नहीं होता—उसमें संकेतानुसारी शब्द-प्रयोग नहीं होता। इसलिये उन उन अंशोंके निश्चयके लिये विकल्पज्ञान तथा अनुमानकी प्रवृत्ति होती है। इस निर्विकल्पक प्रत्यक्षके द्वारा वस्तुका जो स्वरूप अनुभवमें आता है वह वस्तुत. शब्दोंके अगोचर है। शब्द वहाँ तक नहीं पहुँच सकते। समस्त वाच्यवाचक व्यवहार बुद्धिकल्पित है, वह दिमाग तक ही सीमित है। अत. इस दर्शनके द्वारा हम वस्तुको जान भी लें तो भी वह उसी रूपमें हमारे वचन-व्यवहारमें नहीं आ सकती। साधारण रूपसे इतना ही समझ सकते हैं कि निर्विकल्पक दर्शनसे वस्तुके अखंड रूपकी कुछ झाँकी मिलती है, जो शब्दोंके अगोचर है। अतः 'दर्शनशास्त्र' का दर्शन शब्द इस 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' की सीमामें नहीं बँध सकता; क्योंकि दर्शनका सारा फैलाव विकल्पक्षेत्र और शब्द-प्रयोगकी भूमि पर हुआ है।

अर्थक्रियाके लिये वस्तुके निश्चयकी आवश्यकता है। यह निश्चय विकल्परूप ही होता है। जिन विकल्पोंको वस्तुदर्शनका पृष्ठबल प्राप्त है, वे प्रमाण हैं अर्थात् जिनका सम्बन्ध साक्षात् या परम्परासे वस्तुके साथ जुड़ सकता है वे प्राप्य वस्तुकी दृष्टिसे प्रमाणकोटिमें आ जाते हैं। जिन्हें दर्शनका पृष्ठबल प्राप्त नहीं है अर्थात् जो केवल विकल्पवासनासे उत्पन्न होते हैं वे अप्रमाण हैं। अतः यदि दर्शन शब्द-को आत्मा आदि पदार्थोंके सामान्यावलोकन अर्थमें लिया जाता है तो मतभेदकी गुञ्जाइश कम है। मतभेद तो उस सामान्यावलोकनकी व्याख्या और निरूपण करनेमें है। एक सुन्दरीका शव देखकर भिक्षुको संसारकी असार दशाकी भावना होती है तो कामीका मन गुदगुदाने लगता है। कुत्ता उसे अपना भक्ष्य समझ कर प्रसन्न होता है। यद्यपि इन तीनों कल्पनाओंके पीछे शवदर्शन है, पर व्याख्याएँ और कल्पनाएँ जुदी-जुदी हैं[1]। यद्यपि निर्विकल्पक दर्शन वस्तुके अभावमें नहीं होता, और वही दर्शन प्रमाण है जो अर्थसे उत्पन्न होता है। पर प्रश्न यह है कि—कौन दर्शन पदार्थसे उत्पन्न हुआ है या पदार्थकी सत्ताका अविनाभावी है? प्रत्येक दर्शनकार यही कहनेका आदी है कि—हमारे दर्शनकार ऋषिने आत्मा आदिका उसी प्रकार निर्मल बोधसे साक्षात्कार किया है जैसा कि उनके दर्शनमें

---

१. "परिव्राट्कामुकशुनाम् एकस्यां प्रमदातनौ।
कुणपं कामिनी भक्ष्यमिति तिस्रो विकल्पनाः॥"

वर्णित है। तव यह निर्णय कैसे हो कि—'अमुक दर्शन वास्तविक अर्थसमुद्‌भूत है और अमुक दर्शन मात्र कपोलकल्पित ?' अत. दर्शन शब्दकी यह निर्विकल्पक रूप व्याख्या भी दर्शनशास्त्रके 'दर्शन' को अपनेमें नही बाँध पाती।

दर्शनकी पृष्ठभूमि :

ससारका प्रत्येक पदार्थ अनन्त धर्मोका अखड मौलिक पिण्ड है। पदार्थका विराट् स्वरूप समग्रभावसे वचनोके अगोचर है। वह सामान्य रूपसे अखड मौलिककी दृष्टिसे ज्ञानका विषय होकर भी शब्दकी दौडके बाहर है। केवलज्ञानमे जो वस्तुका स्वरूप झलकता है, उसका अनन्तवाँ भाग ही शब्दके द्वारा प्रज्ञापनीय होता है। और जितना शब्दके द्वारा कहा जाता है उसका अनन्तवाँ भाग श्रुत-निबद्ध होता है। तात्पर्य यह कि—श्रुतनिबद्धरूप दर्शनमें पूर्ण वस्तुके अनन्त धर्मोका समग्रभावसे प्रतिपादन होना शक्य नही है। उस अखड अनन्तधर्मवाली वस्तुको विभिन्न दर्शनकार ऋषियोने अपने अपने दृष्टिकोणसे देखनेका प्रयास किया है और अपने दृष्टिकोणोको शब्दोमे बाँधनेका उपक्रम किया है। जिस प्रकार वस्तुके धर्म अनन्त है उसी प्रकार उनके दर्शक दृष्टिकोण भी अनन्त है और प्रतिपादनके साधन शब्द भी अनन्त ही है। जो दृष्टियाँ वस्तुके स्वरूपका आधार छोडकर केवल कल्पनालोकमे दौडती है, वे वस्तुस्पर्शी न होनेके कारण दर्शनाभास ही है, सत्य नही। जो वस्तुस्पर्शी करनेवाली दृष्टियाँ अपनेसे भिन्न वस्त्वशको ग्रहण करनेवाले दृष्टिकोणोका समादर करती है, वे सत्योन्मुख होनेसे सत्य है। जिनमे यह आग्रह है कि मेरे द्वारा देखा गया वस्तुका अंश ही सच है, अन्यके द्वारा जाना गया मिथ्या है, वे वस्तुस्वरूपसे पराङ्‌मुख होनेके कारण मिथ्या और विसवादिनी होती है। इस तरह वस्तुके अनन्तधर्मा स्वरूपको केन्द्रमें रखकर उसके ग्राहक विभिन्न 'दृष्टिकोण' के अर्थमें यदि दर्शन शब्दका व्यवहार माना जाय तो वह कथमपि सार्थक हो सकता है। जब जगत्‌का प्रत्येक पदार्थ सत्-असत्, नित्य-अनित्य, एक-अनेक आदि परस्पर विरोधी विभिन्न धर्मोका अविरोधी क्रीडास्थल है तब इनके ग्राहक विभिन्न दृष्टिकोणोको आपसमे टकरानेका अवसर ही नही है। उन्हे परस्पर उसी तरह सद्भाव और सहिष्णुता वर्तनी चाहिये जिस प्रकार उनके विषयभूत अनन्तधर्म वस्तुमे अविरोधी भावसे समाये हुए रहते है।

दर्शन अर्थात् भावनात्मक साक्षात्कार :

तात्पर्य यह है कि विभिन्न दर्शनकार ऋषियोने अपने-अपने दृष्टिकोणोसे वस्तुके स्वरूपको जाननेकी चेष्टा की है और उसीका बार-बार मनन-चिन्तन और

निदिध्यासन किया है। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावनाके अनुसार वस्तुका वह स्वरूप स्पष्ट झलका और दिखा। भावनात्मक साक्षात्कारके बलपर भक्तको भगवान्का दर्शन होता है, इसकी अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। शोक या कामकी तीव्र परिणति होने पर मृत इष्टजन और प्रिय कामिनीका स्पष्ट दर्शन अनुभवका विषय ही है[1]। कालिदासका यक्ष अपनी भावनाके बलपर मेघको सन्देशवाहक बनाता है और उसमें दूतत्वका स्पष्ट दर्शन करता है। गोस्वामी तुलसीदासको भक्ति और भगवद्गुणोकी प्रकृष्ट भावनाके बलपर चित्रकूटमे भगवान् रामके दर्शन अवश्य हुए होगे। आज भक्तोकी अनगिनत परम्परा अपनी तीव्रतम प्रकृष्ट भावनाके परिपाकसे अपने आराध्यका स्पष्ट दर्शन करती है, यह विशेष सन्देहकी बात नही। इस तरह अपने लक्ष्य और दृष्टिकोणकी प्रकृष्ट भावनासे विश्वके पदार्थोका स्पष्ट दर्शन विभिन्न दर्शनकार ऋषियोको हुआ होगा। यह नि सन्देह है। अत इसी 'भावनात्मक साक्षात्कार' के अर्थमें 'दर्शन' शब्दका प्रयोग हुआ है, यह बात हृदयको लगती है और सम्भव भी है। फलितार्थ यह है कि प्रत्येक दर्शनकार ऋषिने पहिले चेतन और जड़के स्वरूप, उनका परस्पर सम्बन्ध तथा दृश्य जगत्की व्यवस्थाके मर्मको जाननेका अपना दृष्टिकोण बनाया, पीछे उसीकी सतत चिन्तन और मननधाराके परिपाकसे जो तत्त्व-साक्षात्कारकी प्रकृष्ट और बलवती भावना हुई उसके विशद और स्फुट आभाससे निश्चय किया कि उनने विश्वका यथार्थ दर्शन किया है तो दर्शनका मूल उद्गम 'दृष्टिकोण' से हुआ है और उसका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कारमें।

दर्शन अर्थात् दृढ़ प्रतीति :

प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजीने न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भागके प्राक्कथनमे दर्शन शब्दका 'सबल प्रतीति' अर्थ किया है। 'सम्यग्दर्शन' मे जो 'दर्शन' शब्द है उसका अर्थ तत्त्वार्थसूत्र (१।२), में 'श्रद्धान' किया गया है। तत्त्वोकी दृढ़ श्रद्धाको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। इस अर्थसे जिसकी जिस तत्त्वपर दृढ श्रद्धा हो अर्थात् अटूट विश्वास हो वही उसका दर्शन है। यह अर्थ और भी हृदयग्राही है; क्योकि प्रत्येक दर्शनकार ऋषिको अपने दृष्टिकोण पर दृढतम विश्वास था ही। विश्वासकी भूमिकाएँ विभिन्न होती ही हैं। जब दर्शन इस तरह विश्वासकी भूमिका पर प्रतिष्ठित हुआ तो उसमें मतभेद होना स्वाभाविक ही है। इसी मतभेदके कारण 'मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना' मूर्तरूपमें अनेक दर्शनोकी सृष्टि हुई।

---

१. "कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुता।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥"—प्रमाणवा० २।२८२।

दर्शनोने विश्वासकी भूमिपर उत्पन्न होकर भी अपनेमें पूर्णता और साक्षात्कारका रूपक लिया तथा अनेक अपरिहार्य विवादोको जन्म दिया। शासनप्रभावनाके नामपर इन्ही मतवादोके समर्थनके लिए शास्त्रार्थ हुए, संघर्ष हुए और दर्शन-शास्त्रके इतिहासके पृष्ठ रक्तरञ्जित किये गये।

सभी दर्शन विश्वासकी उर्वर-भूमिमें पनपकर भी अपने प्रणेताओंमें साक्षात्कार और पूर्ण ज्ञानकी भावनाको फैलाते रहे। फलत. जिज्ञासुकी जिज्ञासा सन्देहके चौराहेपर पहुँचकर भटक गई। दर्शनोने जिज्ञासुको सत्यसाक्षात्कार या तत्त्वनिर्णयका भरोसा तो दिया, पर अन्तत. उसके हाथमें अनन्त तर्कजालके फलस्वरूप सन्देह ही पडा।

जैन दृष्टिकोणसे दर्शन अर्थात् नय :

जैनदर्शनमे प्रमेयके अधिगमके उपायोमें 'प्रमाण'के साथ-ही-साथ 'नय'को भी स्थान दिया गया है। 'नय' प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके अंशको विषय करनेवाला ज्ञाताका अभिप्राय कहलाता है। ज्ञाता प्रमाणके द्वारा वस्तुका रूप अखण्डभावसे जानता है, फिर उसे व्यवहारमें लानेके लिये उसमें शब्दयोजनाके उपयुक्त विभाग करता है। और एक-एक अशको जाननेवाले अभिप्रायोकी सृष्टि करके उन्हें व्यवहारोपयोगी शब्दोके द्वारा व्यवहारमें लाता है। कुछ नयोमे पदार्थका प्राथमिक आधार रहनेपर भी आगे वक्ताका अभिप्राय भी शामिल होता है और उसी अभिप्रायके अनुसार पदार्थको देखनेकी चेष्टा की जाती है। अत. सभी नयोका यथार्थ वस्तुकी सीमामे ही विचरण करना आवश्यक नही रह जाता। वे अभिप्रायलोक और शब्दलोकमें भी यथेच्छ विचरते है। तात्पर्य यह है कि पूर्णज्ञानके द्वारा जो वस्तु जानी जाती है, वह व्यवहार तक आते-आते शब्दसंकेत और अभिप्रायसे मिलकर पर्याप्त रंगीन बन जाती है। दर्शन इसी प्रक्रियाकी एक अभिप्राय भूमिवाली प्रतिपादन और देखनेकी शैली है, जो एक हद तक वस्तुलक्ष्यी होकर भी विशेष रूपसे अभिप्राय अर्थात् दृष्टिकोणके निर्देशा-नुसार आगे बढ़ती है। यही कारण है कि दर्शनोमें अभिप्राय और दृष्टिकोणके भेदसे असख्य भेद हो जाते है। इस तरह नयके अर्थमें भी दर्शनका प्रयोग एक हद तक ठीक बैठता है।

इन नयोके तीन विभाग किये गये हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। ज्ञाननय अर्थकी चिन्ता नही करके संकल्पमात्रको ग्रहण करता है और यह विचार या कल्पनालोकमे विचरता है। अर्थनयमें संग्रहनयकी मर्यादाका प्रारम्भ तो अर्थसे होता है पर वह आगे वस्तुके मौलिक सत्त्वकी मर्यादाको लांघकर काल्पनिक

अभेद तक जा पहुँचता है। संग्रहनय जब तक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अभेदको विषय करता है यानी वह एक द्रव्यगत अभेदकी सीमामें रहता है तब तक उसकी वस्तु सम्बद्धता है। पर जब वह दो द्रव्योंमें सादृश्यमूलक अभेदको विषय कर आगे बढ़ता है तब उसकी वस्तुमूलकता पिछड़ जाती है। यद्यपि एकका दूसरेमें सादृश्य भी वस्तुगत ही है पर उसकी स्थिति पर्यायकी तरह सर्वथा परनिरपेक्ष नही है। उसकी अभिव्यंजना परसापेक्ष होती है। जब यह संग्रह 'पर' अवस्थामें पहुँच कर 'सत्' रूपसे सकल द्रव्यगत एक अभेदको 'सत्' इस दृष्टिकोणसे ग्रहण करता है तब उसकी कल्पना चरम छोर पर पहुँच तो जाती है, पर इसमें द्रव्योंकी मौलिक स्थिति धुँधली पड़ जाती है। इसी भयसे जैनाचार्योंने नयके सुनय और दुर्नय ये दो विभाग कर दिये है। जो नय अपने अभिप्रायको मुख्य बनाकर भी नयान्तरके अभिप्रायका निषेध नही करता वह सुनय है और जो नयान्तरका निराकरण कर निरपेक्ष राज्य करना चाहता है वह दुर्नय है। सुनय सापेक्ष होता है और दुर्नय निरपेक्ष। इसीलिये सुनयके अभिप्रायकी दौड़ उस सादृश्यमूलक चरम अभेद तक हो जाने पर भी, चूँकि वह परमार्थसत् भेदका निषेध नही करता, उसकी अपेक्षा रखता है, और उसकी वस्तुस्थितिको स्वीकार करता है, इसलिये सुनय कहलाता है। किन्तु जो नय अपने ही अभिप्राय और दृष्टिकोणकी सत्यताको वस्तुके पूर्णरूपपर लादकर अपने साथी अन्य नयोंका तिरस्कार करता है, उनसे निरपेक्ष रहता है और उनकी वस्तुस्थितिका प्रतिषेध करता है वह 'दुर्नय' है; क्योकि वस्तुस्थिति ऐसी है ही नही। वस्तु तो गुणधर्म या पर्यायके रूपमें प्रत्येक नयके विषयभूत-अभिप्रायको वस्त्वंश मान लेनेकी उदारता रखती है और अपने गुण-पर्यायवाले वास्तविक स्वरूपके साथ ही अनन्तधर्मवाले व्यावहारिक स्वरूपको धारण किये हुए है। पर ये दुर्नय उसकी इस उदारताका दुरुपयोग कर मात्र अपने-कल्पित-धर्मको उसपर छा देना चाहते है।

'सत्य पाया जाता है, बनाया नही जाता।' प्रमाण सत्य वस्तुको पाता है, इसलिये चुप है। पर कुछ नय उसी प्रमाणकी अंशग्राही सन्तान होकर भी अपनी वावदूकताके कारण सत्यको बनानेकी चेष्टा करते हैं, सत्यको रंगीन तो कर ही देते हैं।

जगत्‌के अनन्त अर्थोमें वचनोंके विषय होनेवाले पदार्थ अत्यल्प हैं। शब्दकी यह सामर्थ्य कहाँ, जो वह एक भी वस्तुके पूर्ण रूपको कह सके? केवलज्ञान वस्तुके अनन्तधर्मोंको जान भी ले, पर शब्दके द्वारा उसका अनन्तबहुभाग अवाच्य ही रहता है। और जो अनन्तवाँ भाग वाच्यकोटिमें है उसका अनन्तवाँ भाग शब्दसे

कहा जाता है और जो शब्दोंसे कहा जाता है वह सब-का-सब ग्रन्थमें निबद्ध नहीं हो पाता। अर्थात् अनभिधेय पदार्थ अनन्तबहुभाग है और शब्दके द्वारा प्रज्ञापनीय पदार्थ एक भाग। प्रज्ञापनीय एक भागमेंसे भी श्रुतनिबद्ध अनन्तएकभाग प्रमाण है, अर्थात् उनसे और भी कम है।[1]

सुदर्शन और कुदर्शन :

अत. जब वस्तुस्थितिकी अनन्तधर्मात्मकता, शब्दकी अत्यल्प सामर्थ्य तथा अभिप्रायकी विविधताका विचार करते है तो ऐसे दर्शनसे, जो दृष्टिकोण या अभिप्रायकी भूमिपर अंकुरित हुआ है, वस्तुस्थिति तक पहुँचनेके लिए बड़ी सावधानीकी आवश्यकता है। जिस प्रकार नयके सुनय और दुर्नय विभाग, सापेक्षता और निरपेक्षताके कारण होते है उसी तरह 'दर्शन'के भी सुदर्शन और कुदर्शन (दर्शनाभास) विभाग होते है। जो दर्शन अर्थात् दृष्टिकोण वस्तुकी सीमाको उल्लंघन नही करके उसे पानेकी चेष्टा करता है, बनानेकी नहीं, और दूसरे वस्तु-स्पर्शी दृष्टिकोण—दर्शनको भी उचित स्थान देता है, उसकी अपेक्षा रखता है वह सुदर्शन है और जो दर्शन केवल भावना और विश्वासकी भूमिपर खडा होकर कल्पनालोकमें विचरण कर, वस्तुसीमाको लाघकर भी वास्तविकताका दंभ करता है, अन्य वस्तुग्राही दृष्टिकोणोका तिरस्कार कर उनकी अपेक्षा नही करता वह कुदर्शन है। दर्शन अपने ऐसे कुपूतोके कारण ही मात्र सदेह और परीक्षाकी कोटिमें जा पहुँचा है। अत जैन तीर्थंकरो और आचार्योंने इस बातकी सतर्कतासे चेष्टा की है कि कोई भी अधिगमका उपाय, चाहे वह प्रमाण (पूर्ण ज्ञान) हो या नय (अंशग्राही), सत्यको पानेका यत्न करे, बनानेका नही। वह मौजूद वस्तुकी मात्र व्याख्या कर सकता है। उसे अपनी मर्यादाको समझते रहना चाहिए। वस्तु तो अनन्तगुण-पर्याय और धर्मोका पिंड है। उसे विभिन्न दृष्टिकोणोसे देखा जा सकता है और उसके स्वरूपकी ओर पहुँचनेकी चेष्टा की जा सकती है। इस प्रकारके यावत् दृष्टिकोण और वस्तु तक पहुँचनेके समस्त प्रयत्न दर्शन शब्दकी सीमामें आते है।

दर्शन एक दिव्य ज्योति :

विभिन्न देशोमे आज तक सहस्रो ऐसे ज्ञानी हुए, जिनने अपने-अपने दृष्टि-कोणोसे जगत्की व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है। इसीलिए दर्शनका क्षेत्र

---

१ "पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाण पुण अणंतभागो दु सुदणिवद्धो॥"
—गो० जीवकाण्ड गा० ३३३।

सुविशाल है और अब भी उसमे उसी तरह फैलनेकी गुञ्जाइश है। किन्तु जब यह दर्शन मतवादके जहरसे विषाक्त हो जाता है तो वह अपनी अत्यल्प शक्तिको भूलकर मानवजातिके मार्गदर्शनका कार्य तो कर ही नही पाता, उल्टा उसे पतनकी ओर ले जाकर हिंसा और सघर्षका स्रष्टा बन जाता है। अत- दार्शनिकोके हाथमें यह वह प्रज्वलित दीपक दिया गया है, जिससे वे चाहे तो अज्ञान-अन्धकारको हटाकर जगत्में प्रकाशकी ज्योति जला सकते है और चाहे तो उससे मतवादकी अग्नि प्रज्वलित कर हिंसा और विनाशका दृश्य उपस्थित कर सकते है। दर्शनका इतिहास दोनो प्रकारके उदाहरणोसे भरा पडा है, पर उसमें ज्योतिके पृष्ठ कम है, विनाशके अधिक। हम दृढ विश्वासके साथ यह कह सकते है कि जैनदर्शनने ज्योतिके पृष्ठ जोडनेका ही प्रयत्न किया है। उसने दर्शनान्तरोके समन्वयका मार्ग निकालकर उनका अपनी जगह समादर भी किया है। आग्रही[१]-मतवादकी मदिरासे बेभान हुआ कुदार्शनिक, जहाँ जैसा उसका अभिप्राय या मत बन चुका है वहाँ युक्तिको खीचनेकी चेष्टा करता है, पर सच्चा दार्शनिक जहाँ युक्ति जाती अर्थात् जो युक्तिसिद्ध हो पाता है उसके अनुसार अपना मत बनाता है। सक्षेपमे सुदार्शनिकका नारा होता है—'सत्य सो मेरा' और कुदार्शनिकका हल्ला होता है—'जो मेरा सो सत्य'। जैनदर्शनमें समन्वयके जितने और जैसे उदाहरण मिल सकते है, वे अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतीय दर्शनोका अन्तिम लक्ष्य :

भारतके समस्त दर्शन चाहे वे वैदिक हो या अवैदिक, मोक्ष अर्थात् दुख-निवृत्तिके लिए अपना विचार प्रारम्भ करते है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक दु ख प्रत्येक प्राणीको न्यूनाधिक-रूपमे नित्य ही अनुभवमे आते है। जब कोई सन्त या विचारक इन दु खोकी निवृत्तिका कोई मार्ग बतानेका दावा करता है, तो समझदार वर्ग उसे सुनने और समझनेके लिए जागरूक होता है। प्रत्येक मतमें दु खनिवृत्तिके लिए त्याग और सयमका उपदेश दिया है, और 'तत्त्वज्ञानसे मुक्ति होती है', इस बातमे प्राय सभी एकमत है। साख्यकारिका[२]में "दु खत्रयके अभिघातसे सन्तप्त यह प्राणी दु ख-नाशके उपायोको जाननेकी इच्छा करता है।" जो यह भूमिका बाधी गई है, वही भूमिका प्राय सभी भारतीय दर्शनोकी है। दु खनिवृत्तिके बाद 'स्वस्वरूपस्थिति ही मुक्ति है' इसमें भी किसीको

१ "आग्रही बत निनीषति युक्ति तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम् ॥"—हरिभद्र।

२ "दु खत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।"—साख्यका० १।

विवाद नही है। अत मोक्ष, मोक्षके कारण, दु ख और दु खके कारणोकी खोज करना भारतीय दर्शनकार ऋषिको अत्यावश्यक था। चिकित्साशास्त्रकी प्रवृत्ति रोग, निदान, आरोग्य और ओषधि इस चतुर्व्यूहको लेकर ही हुई है। बुद्धके[१] तत्त्वज्ञानके आधार तो 'दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग' ये चार आर्यसत्य ही है। जैन तत्त्वज्ञानमे मुमुक्षुको अवश्य-ज्ञातव्य जो सात तत्त्व गिनाये है[२], उनमें बन्ध, बन्धके कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्षके कारण (सवर और निर्जरा) इन्हीका प्रमुखतासे विस्तार किया गया है। जीव और अजीवका ज्ञान तो आस्रवादिके आधार जाननेके लिए है। तात्पर्य यह है कि समस्त भारतीय चिन्तनकी दिशा दु खनिवृत्तिके उपाय खोजनेकी ओर रही है और न्यूनाधिकरूपसे सभी चिन्तकोने इसमे अपने-अपने ढंगसे सफलता भी पाई है।

तत्त्वज्ञान जब मुक्तिके साधनके रूपमें प्रतिष्ठित हुआ और "ऋते ज्ञानात् न मुक्ति." जैसे जीवनसूत्रोका प्रचार हुआ तब तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका उपाय तथा तत्त्वके स्वरूपके सम्बन्धमें भी अनेक प्रकारकी जिज्ञासाएँ और मीमासाएँ चली। वैशेषिकोने ज्ञेयका[३] षट् पदार्थके रूपमें विभाजन कर उनका तत्त्वज्ञान उपासनीय बताया तो नैयायिकोने[४] प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थोंके तत्त्वज्ञान पर जोर दिया।[५] साख्योने प्रकृति और पुरुषके तत्त्वज्ञानसे मुक्ति बताई, तो[६] बौद्धोने मुक्तिके लिए नैरात्म्यज्ञान आवश्यक समझा। वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानसे मुक्ति होती है, तो जैनदर्शनमें सात तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान मोक्षकी कारणसामग्रीमें गिनाया गया है।

पश्चिमी दर्शनोका उद्गम केवल कौतुक और आश्चर्यसे होता है, और उसका फैलाव दिमागी व्यायाम और बुद्धिरजन तक ही सीमित है। कौतुककी शान्ति होनेके बाद या उसकी अपने ढंगकी व्याख्या कर लेनेके बाद पाश्चात्य दर्शनोका

---

१. "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दु ख समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमय क्रम "–अभिधर्मको० ६।२ ।–धर्मस० ६०५।

२. "जीवाजीवास्रवबन्धसवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।"–तत्त्वार्थसूत्र १।४।

३. "[illegible] नात् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाना पदार्थाना साधर्म्यवैधर्म्याभ्या [illegible]।"–वैशे० सू० १।१।४।

४. "[illegible]दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वा-[illegible]ना तत्त्वज्ञानान्नि श्रेयसाधिगति।"
—न्यायसूत्र १।१।१।

[illegible]।"—प्रमाणवा० १।१३८।

कोई अन्य महान् उद्देश्य अवशिष्ट नही रह जाता। भारतवर्षकी भौगोलिक परिस्थितिके कारण यहाँकी प्रकृति धन-धान्य आदिसे पूर्ण समृद्ध रही है, और सादा जीवन, त्याग और आध्यात्मिकताकी सुगन्ध यहाँके जनजीवनमे व्याप्त रही है। इसीलिए यहाँ प्रागैतिहासिक कालसे ही 'मैं और विश्व'' के सम्बन्धमें अनेक प्रकारसे चिन्तन चालू रहे है, और आज तक उनकी धाराएँ अविच्छिन्न रूपसे प्रवाहित है। पाश्चात्य दर्शनोका उद्गम विक्रम पूर्व सातवी शताब्दीके आसपास प्राचीन यूनानमे हुआ था। इसी समय भारतवर्षमें उपनिषत्का तत्त्वज्ञान तथा श्रमणपरम्पराका आत्मज्ञान विकसित था। महावीर और बुद्धके समय यहाँ मक्खलिगोशाल, प्रकुध कात्यायन, पूर्ण कश्यप, अजितकेशकम्बलि और सजय वेलट्ठिपुत्त-जैसे अनेक तपस्वी अपनी-अपनी विचारधाराका प्रचार करनेवाले मौजूद थे। यहाँके दर्शनकार प्राय त्यागी, तपस्वी और ऋषि ही रहे है। यही कारण था कि जनताने उनके उपदेशोको ध्यानसे सुना। साधारणतया उस समयकी जनता कुछ चमत्कारोसे भी प्रभावित होती थी, और जिस तपस्वीने थोडा भी भूत और भविष्यकी बातोका पता बताया वह तो यहाँ ईश्वरके अवतारके रूपमें भी पुजा। भारतवर्ष सदासे विचार और आचारकी उर्वरा भूमि रहा है। यहाँकी विचार-दिशा भी आध्यात्मिकताकी ओर रही है। ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए यहाँके साधक अपना घर-द्वार छोडकर अनेक प्रकारके कष्ट सहते हुए, कृच्छ्र साधनाएँ करते रहे है। ज्ञानीका सन्मान करना यहाँकी प्रकृतिमे है।

दो विचार-धाराएँ :

इस तरह एक धारा तत्त्वज्ञान और विचारको मोक्षका साक्षात् कारण मानती थी और वैराग्य आदिको उस तत्त्वज्ञानका पोषक। बिना विषयनिवृत्तिरूप वैराग्यके यथार्थ ज्ञानकी प्राप्ति दुर्लभ है और ज्ञान प्राप्त हो जानेपर उसी ज्ञानाग्निसे समस्त कर्मोका क्षय हो जाता है। श्रमणधाराका साध्य तत्त्वज्ञान नही, चारित्र था। इस धारामें वह तत्त्वज्ञान किसी कामका नही, जो अपने जीवनमे अनासक्तिकी सृष्टि न करे। इसीलिए इस परम्परामें मोक्षका साक्षात् कारण तत्त्वज्ञानसे परिपुष्ट चारित्र बताया गया है। निष्कर्ष यह है कि चाहे वैराग्य आदिके द्वारा पुष्ट तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञानमे समृद्ध चारित्र दोनो ही पक्ष तत्त्वज्ञानकी अनिवार्य आवश्यकता समझते ही थे। कोई भी धर्म तबतक जनतामें स्थायी आधार नही पा सकता था जबतक कि उसका अपना तत्त्वज्ञान न हो। पश्चिममें ईसाई धर्मका प्रभु ईशुके नामसे इतना व्यापक प्रचार होते हुए भी तत्त्वज्ञानके अभावमें वह वहाँके वैज्ञानिको और प्रबुद्ध प्रजाकी जिज्ञासाको परितुष्ट नही कर सका।

भारतीय धर्मोका अपना दर्शन अवश्य रहा है और उसी सुनिश्चित तत्त्वज्ञानकी धारापर उन-उन धर्मोकी अपनी-अपनी आचार-पद्धति बनी है। दर्शनके बिना धर्म एक सामान्य नैतिक नियमोके सिवा कोई विशेष महत्त्व नही रखता और धर्मके विना दर्शन भी कोरा वाग्जाल ही साबित होता है। इस तरह सामान्यतया भारतीय धर्मोको अपने-अपने तत्त्वज्ञानके प्रचार और प्रसारके लिए अपना-अपना दर्शन नितान्त अपेक्षणीय रहा है।

'जैनदर्शन' का विकास मात्र तत्त्वज्ञानकी भूमिपर न होकर आचारकी भूमि-पर हुआ है। जीवन-शोधनकी व्यक्तिगत मुक्ति-प्रक्रिया और समाज तथा विश्वमें शान्ति-स्थापनकी लोकैषणाका मूलमंत्र 'अहिंसा' ही है। अहिंसाका निरपवाद और निरुपाधि प्रचार समस्त प्राणियोके जीवनको आत्मसम समझे बिना हो नही सकता था। "जह मम ण पियं दुखं जाणिहि एमेव सव्वजीवाण" [आचाराग] यानी जैसे मुझे दु ख अच्छा नही लगता उसी तरह ससारके समस्त प्राणियोको समझो। यह करुणापूर्ण वाणी अहिंसक मस्तिष्कसे नही, हृदयसे निकलती है। श्रमणधाराका सारा तत्त्वज्ञान या दर्शनविस्तार जीवनशोधन और चारित्रवृद्धिके लिए हुआ है। हम पहले बता आये है कि वैदिकपरम्परामें तत्त्व-ज्ञानको मुक्तिका साधन माना है, जब कि श्रमणधारामें चारित्रको। वैदिकपरम्परा वैराग्य आदिसे ज्ञानको पुष्ट करती है, और विचारशुद्धि करके मोक्ष मान लेती है, जब कि श्रमणपरम्परा कहती है, उस ज्ञान या विचारका कोई विशेष मूल्य नही जो जीवनमें न उतरे, जिसकी सुवाससे जीवन सुवासित न हो। कोरा ज्ञान या विचार दिमागी कसरतसे अधिक कुछ भी महत्त्व नही रखता। जैनपरम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका आदि सूत्र है—

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.॥"—तत्त्वार्थसूत्र १।१।

इसमें मोक्षका साक्षात् कारण चारित्र है, और सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान उस चारित्रके परिपोषक। बौद्धपरम्पराका अष्टाग[1] मार्ग भी चारित्रका ही विस्तार है। तात्पर्य यह कि श्रमणधारामें ज्ञानकी अपेक्षा चारित्रका ही अन्तिम महत्त्व रहा है, और प्रत्येक विचार या ज्ञानका उपयोग चारित्र अर्थात् आत्मशोधन या जीवनमे सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए किया गया है। श्रमण-सन्तोने तप और साधनाके द्वारा वीतरागता प्राप्त की थी और उसी परम वीतरागता, समता या अहिंसाकी पूत ज्योतिको विश्वमे प्रसारित करनेके लिए समस्त तत्त्वोका साक्षात्कार

१ सम्यक्दृष्टि, सम्यक्सकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि।

किया। इनका साध्य विचार नही, आचार था, ज्ञान नही, चारित्र था; वाग्विलास या शास्त्रार्थ नही, जीवन-शुद्धि और संवाद था। अहिंसाका अन्तिम अर्थ है— जीवमात्रमें, चाहे वह स्थावर हो या जगम, पशु हो या मनुष्य, ब्राह्मण हो या शूद्र, गोरा हो या काला, एतत् देशीय हो या विदेशी, इन देश, काल और शरीराकारके आवरणोंसे परे होकर समत्व दर्शन करना। प्रत्येक जीव स्वरूपसे चैतन्य-शक्तिका अखण्ड शाश्वत आधार है। वह कर्मवासनाके कारण भले ही वृक्ष, कीडा, मकोडा, पशु या मनुष्य, किसीके भी शरीरोंको क्यों न धारण करे, पर उसके चैतन्य-स्वरूपका एक भी अंश नष्ट नही होता, कर्मवासनाओंसे विकृत भले ही हो जाय। इसी तरह मनुष्य अपने देश-काल आदि निमित्तोंसे गोरे या काले किसी भी शरीरको धारण किये हो, अपनी वृत्ति या कर्मके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र किसी भी श्रेणीमें उसकी गणना व्यवहारत. की जाती हो, किसी भी देशमें उत्पन्न हुआ हो, किसी भी संतका उपासक हो, वह उन व्यावहारिक निमित्तोंसे निसर्गत ऊँच या नीच नही हो सकता। मानवमात्रकी मूलतः समान स्थिति है। आत्मसमत्व, वीतरागत्व या अहिंसाके विकाससे ही कोई महान् हो सकता है, न कि जगत्में भयंकर विषमताका सर्जन करनेवाले हिंसा और संघर्षके मूल कारण परिग्रहके संग्रहसे।

युग-दर्शन ?

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि अहिंसा या दयाकी साधनाके लिए तत्त्वज्ञानकी क्या आवश्यकता है ? मनुष्य किसी भी विचारका क्यो न हो, परस्पर सद्व्यवहार, सद्भावना और मैत्री उसे समाज-व्यवस्थाके लिए करनी चाहिए। परन्तु जरा गहराईसे विचार करनेपर यह अनिवार्य एवं आवश्यक हो जाता है कि हम विश्व और विश्वान्तर्गत प्राणियोंके स्वरूप और उनकी अधिकार-स्थितिका तात्त्विक दर्शन करें। बिना इस तत्त्वदर्शनके हमारी मैत्री कामचलाऊ और केवल तत्कालीन स्वार्थको साधनेवाली साबित हो सकती है।

लोग यह सस्ता तर्क करते है कि—'कोई ईश्वरको मानो या न मानो, इससे क्या बनता बिगड़ता है ? हमें परस्पर प्रेमसे रहना चाहिये।' लेकिन भाई, जब एक वर्ग उस ईश्वरके नामसे यह प्रचार[1] करता हो कि ईश्वरने मुखसे ब्राह्मणको, बाहुसे क्षत्रियको, उदरसे वैश्यको और पैरोंसे शूद्रको उत्पन्न किया है और उन्हें भिन्न-भिन्न अधिकार और सरक्षण देकर इस जगत्में भेजा है। दूसरी ओर ईश्वरके

1. "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्या शूद्रोऽजायत॥"—ऋग्वेद १०।९०।१२।

नामपर गोरी जातियाँ यह फतवा दे रही हो कि—ईश्वरने उन्हे शासक होनेके लिए तथा अन्य काली-पीली जातियोको सभ्य बनानेके लिए पृथ्वीपर भेजा है। अतः गोरी जातिको शासन करनेका जन्मसिद्ध अधिकार है, और काली-पीली जातियोको उनका गुलाम रहना चाहिये। इस प्रकारकी वर्गस्वार्थकी घोषणाएँ जब ईश्वरवादके आवरणमे प्रचारित की जाती हो, तब परस्पर अहिंसा और मैत्रीका तात्त्विक मूल्य क्या हो सकता है? अत इस प्रकारके अवास्तविक कुसंस्कारोसे मुक्ति पानेके लिए यह शशकवृत्ति कि 'हमें क्या करना है? कोई कैसे ही विचार रखें' आत्मघातिनी ही सिद्ध होगी। हमे ईश्वरके नामपर चलनेवाले वर्गस्वार्थियोके उन नारोकी परीक्षा करनी ही होगी तथा स्वयं ईश्वरकी भी, कि क्या इस अनन्त विश्वका नियन्त्रक कोई करुणामय महाप्रभु ही है? और यदि है, तो क्या उसकी करुणाका यही रूप है? हर हालतमें हमें अपना स्पष्ट दर्शन व्यक्तिकी मुक्ति और विश्वकी शान्तिके लिए बनाना ही होगा। इसीलिए महावीर और बुद्ध जैसे क्रान्तदर्शी क्षत्रियकुमारोने अपनी वश-परम्परासे प्राप्त उस पापमय राज्यविभूतिको लात मारकर प्राणिमात्रकी महामैत्रीकी साधनाके लिये जगलका रास्ता लिया था। समस्याओके मूलकारणोकी खोज किये बिना ऊपरी मल्हमपट्टी तात्कालिक शान्ति भले ही दे दे, किन्तु यह शान्ति आगे आनेवाले विस्फोटक तूफानका प्रागूरूप ही सिद्ध हो सकती है।

जगत्की जीती-जागती समस्याओका समाधान यह मौलिक अपेक्षा रखता है कि विश्वके चर-अचर पदार्थोके स्वरूप, अधिकार और परस्पर सम्बन्धोकी तथ्य और सत्य व्याख्या हो। सस्कृतियोके इतिहासकी निष्पक्ष मीमासा हमें इस नतीजे पर पहुँचाती है कि विभिन्न सस्कृतियोके उत्थान और पतनकी कहानी अपने पीछे वर्गस्वार्थियोके झूठे और खोखले तत्त्वज्ञानके भीषण षड्यन्त्रको छुपाये हुए है। पश्चिमका इतिहास एक ही ईसाके पुत्रोकी मारकाटकी काली किताब है। भारतवर्षमें कोटि-कोटि मानवोको वशानुगत दासता और पशुओसे भी बदतर जीवन बितानेके लिए बाध्य किया जाना भी, आखिर उसी दयालु ईश्वरके नामपर ही तो हुआ। अत प्राणिमात्रके उद्धारके लिए कृतसकल्प इन श्रमणसन्तोने जहाँ चारित्रको मोक्षका अन्तिम और साक्षात् कारण माना वहाँ सघरचना, विश्वशान्ति और समाज-व्यवस्थाके लिए, उस अहिंसाके आधारभूत तत्त्वज्ञानको खोजनेका भी गम्भीर और तलस्पर्शी प्रयत्न किया। उन्होने वर्गस्वार्थके पोषणके लिये चारो तरफसे सिमटकर एक कठोर शिकजेमें ढलनेवाली कुत्सित विचारधाराको रोककर कहा—ठहरो, जरा इस कल्पित शिकजेके साँचेसे निकलकर स्वतत्र विचरो, और देखो कि जगत्का हित किसमें है? क्या जगत्का स्वरूप यही है? क्या जीवनका

३. भारतीय दर्शनको जैनदर्शनकी देन

मानस अहिंसा अर्थात् अनेकान्तदृष्टि :

भगवान् महावीर एक परम अहिंसक तीर्थंकर थे। मन, वचन, और काय त्रिविध अहिंसाकी परिपूर्ण साधना, खासकर मानसिक अहिंसाकी स्थायी प्रतिष्ठा, वस्तुस्वरूपके यथार्थ दर्शनके विना होना अशक्य थी। हम भले ही शरीरसे दूसरे प्राणियोकी हिंसा न करें, पर यदि वचन-व्यवहार और चित्तगत विचार विषम और विसवादी हैं, तो कायिक अहिंसाका पालन भी कठिन है। अपने मनके विचार अर्थात् मतको पुष्ट करनेके लिए ऊँच-नीच शब्द अवश्य बोले जायँगे, फलत. हाथा-पाईका अवसर आये विना न रहेगा। भारतीय शास्त्रार्थोका इतिहास इस प्रकारके अनेक हिंसाकाण्डोके रक्तरंजित पन्नोसे भरा हुआ है, अत. यह आवश्यक था कि अहिंसाकी सर्वाङ्गीण प्रतिष्ठाके लिए विश्वका यथार्थ तत्त्वज्ञान हो और विचारशुद्धिमूलक वचनशुद्धिकी जीवनव्यवहारमें प्रतिष्ठा हो। यह सम्भव ही नही है कि एक ही वस्तुके विषयमे दो परस्पर विरोधी मतवाद चलते रहें, अपने पक्षके समर्थनके लिये उचित-अनुचित शास्त्रार्थ होते रहें, पक्ष-प्रतिपक्षोका सगठन हो तथा शास्त्रार्थमे हारनेवालोको तेलकी जलती कडाहीमे जीवित तल देने जैसी हिंसक होडे भी लगें, फिर भी परस्पर अहिंसा वनी रहे। उन्होने देखा कि आज सारा राजकारण धर्म और मतवादियोके हाथमे है। जव तक इन मतवादोका वस्तुस्थितिके आधारसे यथार्थदर्शनपूर्वक समन्वय न होगा, तव तक हिंसा और संघर्षकी जड नही कट सकती। उनने विश्वके तत्त्वोका साक्षात्कार किया और वताया कि 'विश्वका प्रत्येक चेतन और जड तत्त्व अनन्त धर्मोका भण्डार है। उसके विराट् स्वरूपको साधारण मानव पूर्णरूपमें नही जान सकता। उसका क्षुद्र ज्ञान वस्तुके एक-एक अंशको जानकर अपनेमें पूर्णताका दुरभिमान कर बैठा है।' विवाद वस्तुमें नही है, विवाद तो देखनेवालोकी दृष्टिमे है। काश, ये वस्तुके विराट् अनन्तधर्मात्मक या अनेकान्तात्मक स्वरूपकी झाँकी पा सकते!

उनने इस अनेकान्तात्मक तत्त्वज्ञानकी ओर मतवादियोका ध्यान खीचा और वताया कि—देखो प्रत्येक वस्तु, अनन्तगुणपर्य्याय और धर्मोका अखण्ड पिण्ड है। यह अपनी अनादि-अनन्त सन्तान-स्थितिकी दृष्टिसे नित्य है। कभी भी ऐसा समय नही आ सकता जव विश्वके रंगमञ्चसे एक कणका भी समूल विनाश हो

जाय या उनकी सन्तति सर्वथा उच्छिन्न हो जाय। साथ ही उसकी पर्य्यायें प्रतिक्षण बदल रही हैं। उसके गुणधर्मोंमें भी सदृश या विसदृश परिवर्तन हो रहा है। अत: वह अनित्य भी है। इसी तरह अनन्त गुण, शक्ति, पर्य्याय और धर्म प्रत्येक वस्तुकी निजी सम्पत्ति हैं। हमारा स्वल्प ज्ञानलव इनमेंसे एक-एक अंशको विषय करके क्षुद्र मतवादोकी सृष्टि कर रहा है। आत्माको नित्य सिद्ध करनेवालोका पक्ष अपनी सारी शक्ति अनित्यवादियोकी उखाड-पछाडमें लगा रहा है तो अनित्यवादियोंका गुट नित्यपक्षवालोको भला-बुरा कह रहा है। भ० महावीरको इन मतवादियोकी बुद्धि और प्रवृत्तिपर तरस आता था। वे बुद्धकी तरह आत्माके नित्यत्व और अनित्यत्व, परलोक और निर्वाण आदिको अव्याकृत कहकर बौद्धिक नैराश्यकी सृष्टि नही करना चाहते थे। उनने उन सभी तत्त्वोका यथार्थ स्वरूप बताकर शिष्योको प्रकाशमें ला, उन्हें मानस-समताकी भूमिपर खडा कर दिया। उनने बताया कि वस्तुको तुम जिस दृष्टिकोणसे देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नही है। उसमे ऐसे अनन्त दृष्टिकोणोसे देखे जानेकी क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्तधर्मात्मक है। तुम्हे जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उसका ईमानदारीसे विचार करो, तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तुमे विद्यमान है। चित्तसे पक्षपातकी दुरभिसंधि निकालो और दूसरेके दृष्टिकोणके विषयको भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी वही लहरा रहा है। हाँ, वस्तुकी सीमा और मर्य्यादाका उल्लघन नही होना चाहिए। तुम चाहो कि जडमें चेतनत्व खोजा जाय या चेतनमें जडत्व, तो वह नही मिल सकता, क्योकि प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने निजी धर्म सुनिश्चित हैं।

वस्तु सर्वधर्मात्मक नहीं :

वस्तु अनन्तधर्मात्मक है न कि सर्वधर्मात्मक। अनन्तधर्मोंमें चेतनके सम्भव अनन्तधर्म चेतनमे मिलेंगे और अचेतनगत अनन्तधर्म अचेतनमें। चेतनके गुणधर्म अचेतनमें नही पाये जा सकते और न अचेतनके चेतनमें। हाँ, कुछ ऐसे सादृश्य-मूलक वस्तुत्व आदि सामान्यधर्म भी है जो चेतन और अचेतन सभी द्रव्योमे पाये जा सकते हैं, परन्तु सबकी सत्ता जुदी-जुदी है। तात्पर्य यह कि वस्तु बहुत बडी है। वह इतनी विराट् है कि हमारे-तुम्हारे अनन्तदृष्टिकोणोसे देखी और जानी जा सकती है। एक क्षुद्र दृष्टिका आग्रह करके दूसरेकी दृष्टिका तिरस्कार करना या अपनी दृष्टिका अहंकार करना वस्तु-स्वरूपकी नासमझीका परिणाम है। इस तरह मानस समताके लिए इस प्रकारका वस्तुस्थितिमूलक अनेकान्त-तत्त्वज्ञान अत्यावश्यक है। इसके द्वारा इस मनुष्यतनधारीको ज्ञात हो सकेगा कि वह

कितने पानीमें है, उसका ज्ञान कितना स्वल्प है और वह किस तरह दुरभिमानसे हिंसक मतवादका सृजन करके मानव समाजका अहित कर रहा है। इस मानस अहिंसात्मक अनेकान्तदर्शनसे विचारो या दृष्टिकोणोमें कामचलाऊ समन्वय या ढीला-ढाला समझौता नही होता, किन्तु वस्तुस्वरूपके आधारसे यथार्थ तत्त्वज्ञान-मूलक समन्वयदृष्टि प्राप्त होती है।

अनेकान्तदृष्टिका वास्तविक क्षेत्र :

इस तरह अनेकान्तदर्शन वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता मानकर केवल कल्पनाकी उडानको और उससे फलित होनेवाले कल्पित धर्मोको वस्तुगत माननेकी हिमाकत नही करता। वह कभी भी वस्तुकी सीमाको नही लाघना चाहता। वस्तु तो अपने स्थानपर विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है। हमें परस्पर विरोधी मालूम होनेवाले भी अनन्तधर्म उसमें अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं। अपनी सकुचित विरोधयुक्त दृष्टिके कारण हम उसकी यथार्थ स्थितिको नही समझ पा रहे हैं। जैनदर्शन वास्तवबहुत्ववादी है। वह दो पृथक्सत्ताक वस्तुओको व्यवहारके लिए कल्पनासे एक कह भी दे, पर वस्तुकी निजी मर्यादाको नही लाघना चाहता। एक वस्तुका अपने गुण-पर्य्यायोसे वास्तविक अभेद तो हो सकता है, पर दो व्यक्तियोमें वास्तविक अभेद सम्भव नही है। इसकी यह विशेपता है, जो यह परमार्थसत् वस्तुकी परिधिको न लाँघकर उसकी सीमामे ही विचरण करता है, और मनुष्योंको कल्पनाकी उडानसे विरतकर वस्तुकी ओर देखनेको वाध्य करता है। यद्यपि जैनदर्शनमे 'सग्रहनय' की एक दृष्टिसे चरम अभेदकी भी कल्पना की जाती है और कहा जाता है कि "सर्वमेकं सदविशेषात्" [तत्त्वार्थभा० १।३५] अर्थात् जगत् एक है, सद्रूपसे चेतन और अचेतनमे कोई भेद नही है। किन्तु यह एक कल्पना है। कोई एक ऐसा वास्तविक सत् नही है, जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अत जैनदर्शन वस्तुस्थितिके वाहरकी कल्पनाकी उडानको जिस प्रकार असत् कहता है, उसी तरह वस्तुके एक धर्मके दर्शनमें ही वस्तुके सम्पूर्णरूपके अभिमानको भी विघातक मानता है। इन ज्ञानलवधारियोको उदारदृष्टि देनेवाले तथा वस्तुकी यथार्थ झांकी दिखानेवाले अनेकान्तदर्शनने वास्तविक विचारकी अन्तिम रेखा खीची है और यह सब हुआ है, मानस समता-मूलक तत्त्वज्ञानकी खोजसे।

मानस समताका प्रतीक :

इस तरह जब वस्तुस्थिति ही अनेकान्तमयी या अनन्तधर्मात्मिका है, तव मनुष्य सहज ही यह सोचने लगता है कि दूसरा वादी जो कह रहा है, उसकी

सहानुभूतिसे समीक्षा होनी चाहिए, और उसका वस्तुस्थितिमूलक समीकरण होना चाहिए। इस स्वीयस्वल्पता और वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताके वातावरणसे निरर्थक कल्पनाओंका जाल टूटेगा और अहंकारका विनाश होकर मानस समताकी सृष्टि होगी, जो कि अहिंसाकी संजीवनी बेल है। मानस समताके लिए 'अनेकान्त-दर्शन' ही एकमात्र स्थिर आधार हो सकता है। इस प्रकार जब 'अनेकान्तदर्शन' से विचारशुद्धि हो जाती है, तब स्वभावत वाणीमें नम्रता और परसमन्वयकी वृत्ति उत्पन्न होती है। वह वस्तुस्थितिका उल्लंघन करनेवाले किसी भी शब्दका प्रयोग ही नही कर सकता। इसीलिए जैनाचार्योने वस्तुकी अनेकधर्मात्मकताका द्योतन करनेके लिए 'स्यात्' शब्दके प्रयोगकी आवश्यकता बताई है। शब्दोंमें यह सामर्थ्य नही है कि वह वस्तुके पूर्णरूपको युगपत् कह सके। वह एक समयमें एक ही धर्मको कह सकता है। अत उसी समय वस्तुमें विद्यमान शेष धर्मोका सूचन करनेके लिए 'स्यात्' शब्द प्रयुक्त होता है। इस 'स्यात्' का अर्थ सुनिश्चित दृष्टिकोण या निर्णीत अपेक्षा है; न कि शायद, सम्भव, या कदाचित् आदि। 'स्यादस्ति' का वाच्यार्थ है—स्वरूपादिकी अपेक्षा वस्तु है ही, न कि शायद है, सम्भव है, कदाचित् है, आदि। संक्षेपत. जहाँ अनेकान्तदर्शन चित्तमें माध्यस्थभाव, वीतरागता और निष्पक्षताका उदय करता है वहाँ स्याद्वाद वाणीमें निर्दोषता आनेका पूरा-पूरा अवसर देता है।

स्याद्वाद एक निर्दोष भाषा-शैली :

इस प्रकार अहिंसाकी परिपूर्णता और स्थायित्वकी प्रेरणाने मानस-शुद्धिके लिए 'अनेकान्तदर्शन' और वचनशुद्धिके लिए 'स्याद्वाद' जैसी निधियोंको भारतीय दर्शनके कोषागारमें दिया है। बोलते समय वक्ताको सदा यह ध्यान रखना चाहिये कि वह जो बोल रहा है, उतनी ही वस्तु नही है। शब्द उसके पूर्णरूप तक पहुँच ही नही सकते। इसी भावको जतानेके लिए वक्ता 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करता है। 'स्यात्' शब्द विधिलिंगमें भी है। पर यहाँ वह निपात-अव्ययमें निष्पन्न होता है। वह अपने वक्तव्यको निश्चित रूपमें उपस्थित करता है, न कि संशयरूपमें। जैन तीर्थङ्करोने इस प्रकार सर्वांगीण अहिंसाकी साधनाका वैयक्तिक और सामाजिक दोनों प्रकारका प्रत्यक्षानुभूत मार्ग बताया। उनने पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निरूपण तो किया ही, साथ ही पदार्थोंके देखनेका, उनके ज्ञान करनेका और उनके स्वरूपको वचनसे कहनेका रास्ता भी दिखाया। इस अहिंसक दृष्टिसे यदि भारतीय दर्शन-कारोंने वस्तुका निरीक्षण किया होता, तो भारतीय जल्पकथाका इतिहास इतना रक्तरंजित न हुआ होता, और धर्म तथा दर्शनके नामपर मानवताका निर्दलन नहीं

होता। पर अहंकार और शासनकी भावना मानवको दानव बना देती है; और उसपर मत और धर्मका 'अहम्' तो अतिदुर्निवार होता है। युग-युगमें ऐसे ही दानवको मानव बनानेके लिए अहिंसक सन्त इसी समन्वयदृष्टिका, इसी समताभाव-का और इसी सर्वाङ्गीण अहिंसाका उपदेश देते आये हैं। यह जैनदर्शनकी ही विशेषता है, जो वह अहिंसाकी तह तक पहुँचनेके लिए केवल धार्मिक उपदेश तक ही सीमित नही रहा, अपितु वास्तविक आधारसे मतवादोकी गुत्थियोको सुलझाने-की मौलिक दृष्टि भी खोज सका। उसने न केवल दृष्टि ही खोजी, किन्तु मन, वचन और काय इन तीनो द्वारोसे होनेवाली हिंसाको रोकनेका प्रशस्ततम मार्ग भी उपस्थित किया।

अहिंसाका आधारभूत तत्त्वज्ञान अनेकान्तदर्शन :

व्यक्तिकी मुक्तिके लिये या चित्तशुद्धि और वीतरागता प्राप्त करनेके लिए अहिंसाकी ऐकान्तिक चारित्रगत साधना उपयुक्त हो सकती है, किन्तु संघरचना और समाजमे उस अहिंसाकी उपयोगिता सिद्ध करनेके लिए उसके तत्त्वज्ञानकी खोज न केवल उपयोगी ही है, किन्तु आवश्यक भी है। भगवान् महावीरके संघमे जो सर्वप्रथम इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मण विद्वान् दीक्षित हुए थे, वे आत्माको नित्य मानते थे। उधर अजितकेश-कम्बलिका उच्छेदवाद भी प्रचलित था। उपनिषदोके उल्लेखोके अनुसार विश्व सत् है या असत्, उभय है या अनुभय, इस प्रकारकी विचारधाराएँ उस समयके वातावरणमे अपने-अपने रूपमें प्रवाहित थी। महावीरके वीतराग करुणामय शान्त स्वरूपको देखकर जो भव्यजन उनके धर्ममें दीक्षित होते थे, उन पचमेल शिष्योकी विविध जिज्ञासाओका वास्तविक समाधान यदि नही किया जाता तो उनमे परस्पर स्वमत पुष्टिके लिए वादविवाद चलते और सघभेद हुए बिना नही रहता। चित्तशुद्धि और विचारोके समीकरणके लिए यह नितान्त आवश्यक था कि वस्तुस्वरूपका यथार्थ निरूपण हो। यही कारण है कि भगवान् महावीरने वीतरागता और अहिंसाके उपदेशसे पारस्परिक बाह्य व्यवहारशुद्धि करके ही अपने कर्त्तव्यको समाप्त नही किया, किन्तु शिष्योके चित्तमें अहंकार और हिंसाको बढानेवाले इन सूक्ष्म मतवादोकी जो जडें बद्धमूल थी, उन्हे उखाडनेका आन्तरिक ठोस प्रयत्न किया। वह प्रयत्न था वस्तुके विराट् स्वरूपका यथार्थ दर्शन। वस्तु यदि अपने मौलिक अनादिअनन्त असंकर प्रवाहकी दृष्टिसे नित्य है, तो प्रतिक्षण परिवर्तमान पर्य्यायोकी दृष्टिसे अनित्य भी। द्रव्यकी दृष्टिसे सत्से ही सत् उत्पन्न होता है, तो पर्य्यायकी दृष्टिसे असत्से सत्। इस

---

१. "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।"—ऋग्वेद १।१६४।४६।

तरह जगत्के यावत् पदार्थोको उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप परिणामी और अनन्त-धर्मात्मक बताकर उन्होने शिष्योकी न केवल बाह्य परिग्रहकी ही गाँठ खोली, किन्तु अन्तरग हृदयग्रन्थिको भी खोलकर उन्हे अन्तर-बाह्य सर्वथा निर्ग्रन्थ बनाया था।

विचारकी चरम रेखा :

यह अनेकान्तदर्शन वस्तुत विचारविकासकी चरम रेखा है। चरम रेखासे मेरा तात्पर्य यह है कि दो विरुद्ध बातोमे शुष्क तर्कजन्य कल्पनाओका विस्तार तब तक बराबर होता जायगा, जब तक कि उनका कोई वस्तुस्पर्शी समाधान न निकल आवे। अनेकान्तदृष्टि वस्तुके उसी स्वरूपका दर्शन कराती है, जहाँ विचार समाप्त हो जाते है। जब तक वस्तुस्थिति स्पष्ट नही होती, तभी तक विवाद चलते है। अग्नि ठडी है या गरम, इस विवादकी समाप्ति अग्निको हाथसे छू लेने पर जैसे हो जाती है, उसी तरह एक-एक दृष्टिकोणसे चलनेवाले विवाद अनेकान्तात्मक वस्तुदर्शनके बाद अपने आप समाप्त हो जाते है।

स्वतःसिद्ध न्यायाधीश :

हम अनेकान्तदर्शनको न्यायाधीशके पदपर अनायास ही बैठा सकते है। प्रत्येक पक्षके वकीलो द्वारा अपने पक्षके समर्थनके लिए सकलित दलीलोकी फाइलकी तरह न्यायाधीशका फैसला भले ही आकारमें बडा न हो, पर उसमे वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता, सूक्ष्मता और निष्पक्षपातिता अवश्य होती है। उसी तरह एकान्तके समर्थनमे प्रयुक्त दलीलोके भडार-भूत एकान्तवादी दर्शनोकी तरह जैनदर्शनमें विकल्प या कल्पनाओका चरम विकास न हो, पर उसको वस्तुस्पर्शिता, व्यावहारिकता, समतावृत्ति एव अहिंसाधारितामें तो सदेह किया ही नही जा सकता। यही कारण है कि जैनाचार्योने वस्तुस्थितिके आधारसे प्रत्येक दर्शनके दृष्टिकोणके समन्वयकी पवित्र चेष्टा की है और हर दर्शनके साथ न्याय किया है। यह वृत्ति अहिंसाहृदयीके सुसस्कृत मस्तिष्ककी उपज है। यह अहिंसास्वरूपा अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनके भव्य प्रासादका मध्य स्तम्भ है। इसीसे जैनदर्शनकी प्राणप्रतिष्ठा है। भारतीय दर्शन सचमुच इस अतुल सत्यको पाये विना अपूर्ण रहता। जैनदर्शनने इस अनेकान्तदृष्टिके आधारसे बनी हुई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थराशि देकर भारतीय दर्शनशास्त्रके कोषागारमे अपनी ठोस और पर्याप्त पूँजी जमा की

"सदेव सौम्येदमग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्।
तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।
तस्मादसत सञ्जायत ·।"–छान्दो० ६।२।

है। युगप्रधान आ० समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकोंने इसी दृष्टिके पुण्य प्रकाशमे सत्-असत्, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादोका समन्वय किया है। मध्यकालीन आ० अकलंक, हरिभद्र आदि तार्किकोने अशत. परपक्षका खण्डन करके भी उसी दृष्टिको प्रौढ किया है।

वाचनिक अहिंसा स्याद्वाद :

मानसशुद्धिके लिए विचारोकी दिशामे समन्वयशीलता लानेवाली अनेकान्त-दृष्टिके आ जानेपर भी यदि तदनुसारिणी भाषाशैली नही बनाई तो उसका सार्व-जनिक उपयोग होना असम्भव था। अत अनेकान्त-दर्शनको ठीक-ठीक प्रतिपादन करने वाली 'स्याद्वाद' नामकी भाषाशैलीका आविष्कार उसी अहिंसाके वाचनिक विकासके रूपमे हुआ। जब वस्तु अन्तधर्मात्मक है और उसको जाननेवाली दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है तब वस्तुके सर्वथा एक अशका निरूपण करनेवाली निर्धारिणी भाषा-वस्तुका यथार्थ प्रतिपादन करनेवाली नही हो सकती। जैसे यह कलम लम्बी, चौडी, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हल्की, भारी आदि अनेक धर्मोका युगपत् आधार है। अब यदि शब्दसे यह कहा जाय कि यह कलम 'लम्बी ही है' तो शेष धर्मोका लोप इस वाक्य से फलित होता है, जब कि उसमे उसी समय अनन्त धर्म विद्यमान हैं। न केवल इसी तरह, किन्तु जिस समय कलम अमुक अपेक्षासे लम्बी है, उसी समय अन्य अपेक्षासे लम्बी नही भी है। प्रत्येक धर्मकी अभिव्यक्ति सापेक्ष होनेसे उसका विरोधी धर्म उस वस्तुमे पाया ही जाता है। अत. विवक्षित धर्मवाची शब्दके प्रयोगकालमें हमें अन्य अविवक्षित अशेष धर्मके अस्तित्वको सूचन करनेवाले 'स्यात्' शब्दके प्रयोगको नही भूलना चाहिए। यह 'स्यात्' शब्द विवक्षित धर्मवाची शब्दको समस्त वस्तुपर अधिकार करनेसे रोकता है और कहता है कि 'भाई, इस समय शब्दके द्वारा उच्चारित होनेके कारण यद्यपि तुम मुख्य हो, फिर भी इसका अर्थ यह नही है कि सारी वस्तु पर तुम्हारा ही अधिकार हो। तुम्हारे अनन्त धर्म-भाई इसी वस्तुके उसी तरह समान अधिकारी है जिस तरह कि तुम।'

'स्यात्' एक प्रहरी :

'स्यात्' शब्द एक ऐसा प्रहरी है, जो शब्दकी मर्यादाको संतुलित रखता है। वह सदेह या संभावनाको सूचित नही करता, किन्तु एक निश्चित स्थितिको बताता है कि वस्तु अमुक दृष्टिसे अमुक धर्मवाली है ही। उसमे अन्य धर्म उस समय

गौण है। यद्यपि हमेशा 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका नियम नही है, किन्तु वह समस्त वाक्योमें अन्तर्निहित रहता है। कोई भी वाक्य अपने प्रतिपाद्य अंशका अवधारण करके भी वस्तुगत शेष अंशोको गौण तो कर सकता है पर उनका निराकरण करके वस्तुको सर्वथा ऐकान्तिक नही बना सकता, क्योकि वस्तु स्वरूपसे अनेकान्त—अनेक धर्मवाली है।

'स्यात्' का अर्थ 'शायद' नही :

'स्यात्' शब्द हिन्दी भाषामे भ्रान्तिवश शायदका पर्यायवाची समझा जाने लगा है। प्राकृत और पालीमें 'स्यात्' का 'सिया' रूप होता है। यह वस्तुके सुनिश्चित भेदोके साथ सदा प्रयुक्त होता रहा है। जैसे कि 'मज्झिमनिकाय' के 'महाराहुलोवादसुत्त' में आपो धातुका वर्णन करते हुए लिखा है कि "कतमा च राहुल आपोधातु ?" "आपोधातु सिया अज्झत्तिका सिया बाहिरा" अर्थात् आपोधातु (जल) कितने प्रकारकी है ? आपोधातु स्यात् आभ्यन्तर है और स्यात् बाह्य। यहाँ आभ्यन्तर धातुके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग आपोधातुके आभ्यन्तर भेदके सिवा द्वितीय बाह्य भेदकी सूचनाके लिए है, और बाह्यके साथ 'सिया' शब्दका प्रयोग बाह्यके सिवा आभ्यन्तर भेदकी सूचना देता है। अर्थात् 'आपो' धातु न तो बाह्यरूप ही है और न आभ्यन्तररूप ही। इस उभयरूपताकी सूचना 'सिया'—'स्यात्' शब्द देता है। यहाँ न तो 'स्यात्' शब्दका 'शायद' ही अर्थ है, और न 'संभव' और न 'कदाचित्' ही। क्योकि 'आपो' धातु शायद आभ्यन्तर और शायद बाह्य नही है और न संभवत आभ्यन्तर और संभवत बाह्य और न कदाचित् आभ्यन्तर और बाह्य अपितु उभय भेदवाली है।

'स्यात्' अविवक्षितका सूचक :

इसी तरह प्रत्येक धर्मवाची शब्दके साथ जुडा हुआ 'स्यात्' शब्द एक सुनिश्चित दृष्टिकोणसे उस धर्मका वर्णन करके भी अन्य अविवक्षित धर्मोका अस्तित्व भी वस्तुमें द्योतित करता है। कोई ऐसा शब्द नही है, जो वस्तुके पूर्ण रूपको स्पर्श कर सके। हर शब्द एक निश्चित दृष्टिकोणसे प्रयुक्त होता है और अपने विवक्षित धर्मका कथन करता है। इस तरह जब शब्दमें स्वभावत विवक्षानुसार अमुक धर्मके प्रतिपादन करनेकी ही शक्ति है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि अविवक्षित शेष धर्मोकी सूचनाके लिए एक 'प्रतीक' अवश्य हो, जो वक्ता और श्रोताको भूलने न दे। 'स्यात्' शब्द यही कार्य करता है। वह श्रोताको विवक्षित धर्मका प्रधानतासे ज्ञान कराके भी अविवक्षित धर्मोके अस्तित्वका द्योतन

कराता है। इस तरह भगवान् महावीरने सर्वथा एकांश प्रतिपादिका वाणीको भी 'स्यात्' संजीवनके द्वारा वह शक्ति दी, जिससे वह अनेकान्तका मुख्य-गौण भावसे द्योतन कर सकी। यह 'स्याद्वाद' जैनदर्शनमें सत्यका प्रतीक बना है।

धर्मज्ञता और सर्वज्ञता :

भगवान् महावीर और बुद्धके सामने एक सीधा प्रश्न था कि धर्म जैसा जीवंत पदार्थ, जिसके ऊपर इहलोक और परलोकका बनाना और बिगाडना निर्भर करता है, क्या मात्र वेदके द्वारा निर्णीत हो या उसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाके अनुसार अनुभवी पुरुष भी अपना निर्णय दें ? वैदिक परम्पराकी इस विषयमें दृढ़ और निर्बाध श्रद्धा है कि धर्ममे अन्तिम प्रमाण वेद है और जब धर्म जैसा अतीन्द्रिय पदार्थ मात्र वेदके द्वारा ही जाना जा सकता है तो धर्म जैसे अतिसूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट अन्य पदार्थ भी वेदके द्वारा ही ज्ञात हो सकेंगे, इनमें पुरुषका ज्ञान साक्षात् प्रवृत्ति नही कर सकता। पुरुष प्राय राग, द्वेष और अज्ञानसे दूषित होते है। उनका आत्मा इतना निष्कलंक और ज्ञानवान् नही हो सकता, जो प्रत्यक्षसे अतीन्द्रियदर्शी हो सके। न्याय-वैशेषिक और योग परम्पराओंने वेदको उस नित्य ज्ञानवान् ईश्वरकी कृति माना, जो अनादिसिद्ध है। ऐसा नित्य ज्ञान दूसरी आत्माओंमें सभव नही है। निष्कर्ष यह कि वर्तमान वेद, चाहे वह अपौरुषेय हो या अनादिसिद्ध ईश्वरकर्तृक, शाश्वत है और धर्मके विषयमें अपनी निर्बाध सत्ता रखता है। अन्य महर्षियोके द्वारा रची गई स्मृतियाँ आदि यदि वेदानुसारिणी है, तो ही प्रमाण है अन्यथा नही, यानी प्रमाणताकी ज्योति वेदकी अपनी है।

लौकिक व्यवहारमें शब्दकी प्रमाणताका आधार निर्दोषता है। वह निर्दोषता दो ही प्रकारसे आती है—एक तो गुणवान् वक्ता होनेसे और दूसरे, वक्ता ही न होनेसे। आचार्य कुमारिल स्पष्ट लिखते है कि[1] शब्दमें दोषोकी उत्पत्ति वक्तासे होती है। उनका अभाव कही तो गुणवान् वक्ता होनेसे हो जाता है, क्योकि वक्ताके यथार्थवेदित्व आदि गुणोसे दोषोका अभाव होनेपर वे दोष शब्दमें अपना स्थान नही जमा पाते। दूसरे, वक्ताका अभाव होनेसे निराश्रय दोष नही रह

---

१. "शब्दे दोषोद्भवस्तावद् वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभाव क्वचित्तावद् गुणवद्वक्तृकत्वत ॥ ६२ ॥
तद्गुणैरपकृष्टाना शब्दे सक्रान्त्यसंभवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रया. ॥ ६३ ॥"
—मी० श्लो० चोदना०।

सकते। पुरुष प्राय अनृतवादी होते है। अत. इनके वचनोको धर्मके मामलेमे प्रमाण नही माना जा सकता। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि देव वेददेह होनेसे ही प्रमाण है। और इसका यह फल था कि वेदसे जन्मसिद्ध वर्णव्यवस्था तथा स्वर्ग-प्राप्तिके लिये अजमेध, अश्वमेध, गोमेध यहाँ तक कि नरमेध आदिका जोरोसे प्रचार था। आत्माकी आत्यन्तिक शुद्धिकी सम्भावना न होनेसे जीवनका लक्ष्य ऐहिक स्वर्गादि विभूतियोकी प्राप्ति तक ही सीमित था। श्रेयकी अपेक्षा प्रेयमे ही जीवनकी सफलता मान ली गई थी।

निर्मल आत्मा स्वयं प्रमाण :

किन्तु भ० महावीरने राग, द्वेप आदिके क्षयका तारतम्य देखकर आत्माकी पूर्ण वीतराग शुद्ध अवस्था तथा ज्ञानकी परिपूर्ण निर्मल दशाको असभव नही माना और उनने अपनी स्वयं साधना द्वारा निर्मल ज्ञान तथा वीतरागता प्राप्त की। उनका सिद्धान्त था कि पूर्ण ज्ञानी वीतराग अपने निर्मल ज्ञानसे धर्मका साक्षात्कार कर सकता और द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी परिस्थितिके अनुसार उसके स्वरूपका निर्माण भी वह करता है। युग-युगमे ऐसे ही महापुरुष धर्मतीर्थके कर्त्ता होते है और मोक्षमार्गके नेता भी। वे अपने अनुभूत धर्ममार्गका प्रवर्तन करते है, इसीलिए उन्हें तीर्थंकर कहते है। वे धर्मके नियम-उपनियमोमे किसी पूर्वश्रुत या ग्रन्थका सहारा न लेकर अपने निर्मल अनुभवके द्वारा स्वय धर्मका साक्षात्कार करते है और उसी मार्गका उपदेश देते है। जब तक उन्हें केवलज्ञान प्राप्त नही हो जाता तब तक वे मौन रहते है और मात्र आत्मसाधनामें लीन रहकर उस क्षणकी प्रतीक्षा करते है जिस क्षणमें उन्हे निर्मल बोधिकी प्राप्ति होती हैं। यद्यपि पूर्व तीर्थंकरोद्वारा प्रणीत श्रुत उन्हे विरासतमें मिलता है, परन्तु वे उस पूर्व श्रुतके प्रचारक न होकर स्वयं अनुभूत धर्मतीर्थकी रचना करते है, इसलिये वे तीर्थंकर कहे जाते है। यदि वे पूर्व श्रुतका ही मुख्यरूपसे सहारा लेते तो उनकी स्थिति आचार्योसे अधिक नही होती। यह ठीक है कि एक तीर्थंकरका उपदेश दूसरे तीर्थंकरसे मूलसिद्धान्तोमे भिन्न नही होता, क्योंकि सत्य त्रिकालाबाधित होता है और एक होता है। वस्तुका स्वरूप भी जब सदासे एक मूल धारामें प्रवाहित है तब उसका मूल साक्षात्कार विभिन्न कालोमें भी दो प्रकारका नही हो सकता। श्रीमद् रायचन्द्रने ठीक ही कहा है कि—"करोड़ ज्ञानियोंका एक ही विकल्प होता है जब कि अज्ञानीके करोड़ विकल्प होते हैं।" इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि करोड ज्ञानी अपने निर्मल ज्ञानके द्वारा चूंकि सत्यका साक्षात्कार करते है, अतः उनका पूर्ण साक्षात्कार दो प्रकारका नही हो सकता। जब कि एक अज्ञानी

अपनी अनेक प्रकारकी वासनाके अनुसार वस्तुके स्वरूपको रंग-विरंगा, चित्र-विचित्ररूपमे आरोपित कर देखता है। अर्थात् ज्ञानी सत्यको जानता है, बनाता नही, जब कि अज्ञानी अपनी वासनाओके अनुसार सत्यको बनानेका प्रयत्न करता है। यही कारण है कि अज्ञानीके कथनमे पूर्वापर विरोध पग-पगपर विद्यमान रहता है। दो अज्ञानियोका कथन एक-जैसा नही हो सकता, जब कि असंख्य ज्ञानियोका कथन मूलरूपमें एक ही तरहका होता है। दो अज्ञानियोंकी बात जाने दीजिए, एक ही अज्ञानी कषायवश कभी कुछ कहता है और कभी कुछ। वह स्वयं विवाद और असंगतिका केन्द्र होता है।

मै आगे धर्मज्ञताके दार्शनिक मुद्दे पर विस्तारसे लिखूँगा। यहाँ तो इतना ही निर्देश करना इष्ट है कि जैनदर्शनकी धर्मज्ञता और सर्वज्ञताकी मान्यताका यह जीवनोपयोगी तथ्य है कि पुरुष अपनी वीतराग और निर्मल ज्ञानकी दशामें स्वयं प्रमाण होता है। वह आत्मसशोधनके मार्गका स्वयं साक्षात्कार करता है। अपने धर्मपथका स्वय ज्ञाता होता है और इसीलिए मोक्षमार्गका नेता भी होता है। वह किसी अनादिसिद्ध अपौरुषेय ग्रन्थ या श्रुति-परम्पराका व्याख्याता या मात्र अनुसरण करनेवाला ही नही होता। यही कारण है कि श्रमण-परम्परामें कोई अनादिसिद्ध श्रुति या ग्रन्थ नही है, जिसका अन्तिम निर्णायक अधिकार धर्ममार्गमें स्वीकृत हो। वस्तुत शब्दके गुण-दोष वक्ताके गुण-दोषके आधीन है। शब्द तो एक निर्जीव माध्यम है, जो वक्ताके प्रभावको ढोता है। इसीलिए श्रमण-परम्परामें शब्दकी पूजा न होकर, वीतराग-विज्ञानी सन्तोकी पूजा की जाती है। इन सन्तोंके उपदेशोका संग्रह ही 'श्रुत' कहलाता है, जो आगेके आचार्यो और साधकोके लिए तभी तक मार्गदर्शक होता है जबतक कि वे स्वय वीतरागता और निर्मल ज्ञान प्राप्त नही कर लेते। निर्मल ज्ञानकी प्राप्तिके बाद वे स्वयं धर्ममें प्रमाण होते है। निग्गठ नाथपुत्त भगवान् महावीरकी सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें जो प्रसिद्धि थी कि वे सोते-जागते हर अवस्थामें जानते और देखते है—उसका रहस्य यह था कि वे सदा स्वय साक्षात्कृत त्रिकालाबाधित धर्ममार्गका उपदेश देते थे। उनके उपदेशोमें कही पूर्वापर विरोध या असगति नही थी।

निरीश्वरवाद :

आजकी तरह पुराने युगमें बहुसख्या ईश्वरवादियोकी रही है। वे जगत्का कर्ता और विधाता एक अनादिसिद्ध ईश्वरको मानते रहे। ईश्वरकी कल्पना भय और आश्चर्यसे हुई या नही, हम इस विवादमे न पडकर यह देखना चाहते हैं कि इसका वास्तविक और दार्शनिक आधार क्या है? जैनदर्शनमे इस जगत्को अनादि

माना है। किसी भी ऐसे समयकी कल्पना नही की जा सकती कि जिस समय यहाँ कुछ न हो और न-कुछसे कुछ उत्पन्न हो गया हो। अनन्त 'सत्' अनादि कालसे अनन्त काल तक क्षण-क्षण विपरिवर्तमान होकर मूल धारामें प्रवाहित है। उनके परस्पर संयोग और वियोगोंसे यह सृष्टिचक्र स्वयं संचालित है। किसी एक बुद्धि-मान्ने बैठकर असख्य कार्य-कारणभाव और अनन्त स्वरूपोकी कल्पना की हो और वह अपनी इच्छासे इस जगत्का नियन्त्रण करता हो, यह वस्तुस्थितिके प्रतिकूल तो है ही, अनुभवगम्य भी नही है। प्रत्येक 'सत्' अपनेमें परिपूर्ण और स्वतन्त्र है। प्रतिक्षण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभावके कारण परस्पर प्रभावित होकर अनेक अवस्थाओमें स्वयं परिवर्तित हो रहा है। यह परिवर्तन कही पुरुषकी बुद्धि, इच्छा और प्रयत्नोसे बँधकर भी चलता है। इतना ही पुरुषका पुरुषार्थ और प्रकृतिपर विजय पाना है। किन्तु आज तकके विज्ञानका इतिहास इस बातका साक्षी है कि उसने अनन्त विश्वके एक अंशका भी पूर्ण पता नही लगाया और न उसपर पूरा नियन्त्रण ही रखा है। आजतकके सारे पुरुषार्थ अनन्त समुद्रमें एक बुद्बुद्के समान है। विश्व अपने पारस्परिक कार्य-कारणभावोसे स्वय सुव्यवस्थित और सुनियंत्रित है।

मूलत. एक सत्का दूसरे सत्पर कोई अधिकार नही है। चूँकि वे दो है, इसलिये वे अपनेमें परिपूर्ण और स्वतन्त्र है। सत् चाहे चेतन हो या अचेतन, अपनेमें अखण्ड और परिपूर्ण है। जो भी परिणमन होता है वह उसकी स्वभावभूत उपादान-योग्यताकी सीमामें ही होता है। जब अचेतन द्रव्योकी यह स्थिति है तब चेतन व्यक्तियोका स्वातन्त्र्य तो स्वयं निर्बाध है। चेतन अपने प्रयत्नोसे कही अचेतनपर एक हदतक तात्कालिक नियन्त्रण कर भी ले, पर यह नियन्त्रण सार्व-कालिक और सार्वदेशिकरूपमें न सम्भव है और न शक्य ही। इसी तरह एक चेतनपर दूसरे चेतनका अधिकार या प्रभाव परिस्थिति-विशेषमें हो जाय, तो भी मूलत उसका व्यक्तिस्वातन्त्र्य समाप्त नही हो सकता। मनुष्य अपने स्वार्थके कारण अधिक-से-अधिक भौतिक साधनो और अचेतन व्यक्तियोपर प्रभुत्व जमानेकी चेष्टा करता है, पर उसका यह प्रयत्न सर्वत्र और सदाके लिये आज तक सम्भव नही हो सका है। इस अनादिसिद्ध व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके आधारसे जैनदर्शनने किसी एक ईश्वरके हाथ इस जगत्की चोटी नही दी। सब अपनी-अपनी पर्यायोके स्वामी और विधाता हैं। जब जीवित अवस्थामें व्यक्तिका अपना स्वातन्त्र्य प्रतिष्ठित है और वह अपने सस्कारोके अनुसार अच्छी या बुरी अवस्थाओको स्वयं धारण करता जाता है, स्वयं प्रेरित है, तब न किसी न्यायालयकी जरूरत है और न

न्यायाधीश ईश्वरकी ही। सब अपने-अपने संस्कार और भावनाओके अनुसार अच्छे और बुरे वातावरणकी स्वयं सृष्टि करते है। यही संस्कार 'कर्म' कहे जाते हैं। जिनका परिपाक अच्छी और बुरी परिस्थितियोका बीज बनता है। ये संस्कार चूंकि स्वयं उपार्जित किये जाते हैं, अत उनका परिवर्तन, परिवर्धन, संक्रमण और क्षय भी स्वयं ही किया जा सकता है। यानी पुरुष अपने कर्मोंका एक बार कर्ता होकर भी उनकी रेखाओको अपने पुरुषार्थसे मिटा भी सकता है। द्रव्योंकी स्वभावभूत योग्यताएँ, उनके प्रतिक्षण परिणमन करनेकी प्रवृत्ति और परस्पर प्रभावित होनेकी लचक इन तीन कारणोसे विश्वका समस्त व्यवहार चलता जा रहा है।

कर्मणा वर्णव्यवस्था :

व्यवहारके लिए गुण-कर्मके अनुसार वर्ण-व्यवस्था की गयी थी, जिससे समाज-रचनामे असुविधा न हो। किन्तु वर्गस्वार्थियोने ईश्वरके साथ उसका भी सम्बन्ध जोड दिया और जुड़ना भी चाहिये था, क्योकि जब ईश्वर जगत्का नियंता है तो जगत्के अन्तर्गत वर्ण-व्यवस्था उसके नियन्त्रणसे परे कैसे रह सकती है? ईश्वरका सहारा लेकर इस वर्ण-व्यवस्थाको ईश्वरीय रूप दिया गया और कहा गया कि ब्राह्मण ईश्वरके मुखसे, क्षत्रिय उसकी बाहुओसे, वैश्य उदरसे और शूद्र पैरोसे उत्पन्न हुए। उनके अधिकार भी जुदे-जुदे है और कर्तव्य भी। अनेक जन्मसिद्ध संरक्षणोका समर्थन भी ईश्वरके नाम पर किया गया है। इसका यह परिणाम हुआ कि भारतवर्षमें वर्गस्वार्थके आधारसे अनेक प्रकारकी विषमताओकी सृष्टि हुई। करोडो मानव दास, अन्त्यज और शूद्रके नामोसे वंशपरम्परागत निर्दलन और उत्पीड़नके शिकार हुए। शूद्र धर्माधिकारसे भी वंचित किये गये। इस वर्णधर्मके सरक्षणके कारण ही ईश्वरको मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है। यानी जो व्यवस्था लौकिक-व्यवहार और समाज-रचनाके लिए की गयी थी और जिसमे युगानुसार परिवर्तनकी शक्यता थी वह धर्म और ईश्वरके नामसे बद्धमूल हो गयी।

जैनधर्ममें मानवमात्रको व्यक्तिस्वातन्त्र्यके परम सिद्धान्तके अनुसार समान धर्माधिकार तो दिया ही। साथ-ही-साथ इस व्यावहारिक वर्णव्यवस्थाको समाज-व्यवहार तक गुण-कर्मके अनुसार ही सीमित रखा।

दार्शनिक युगमें द्रव्यत्वादि सामान्योकी तरह व्यवहारकल्पित ब्राह्मणत्वादि जातियोका भी उन्हें नित्य, एक और अनेकानुगत मानकर जो समर्थन किया गया है और उनकी अभिव्यक्ति ब्राह्मणादि माता-पितासे उत्पन्न होनेके कारण जो बतायी

गयी है उनका[1] खण्डन जैन और बौद्धदर्शनके ग्रन्थोंमें प्रचुरतासे पाया जाता है। इनका सीधा सिद्धान्त है कि मनुष्योंमें जब मनुष्यत्व नामक सामान्य ही सादृश्य-मूलक है तब ब्राह्मणत्वादि जातियाँ भी सदृश आचार और व्यवहारमूलक ही बन सकती हैं। जिनमें अहिंसा, दया आदि सद्व्रतोंके संस्कार विकसित हों वे ब्राह्मण, पररक्षाकी वृत्तिवाले क्षत्रिय, कृषिवाणिज्यादि-व्यापारप्रधान वैश्य और शिल्पसेवा आदिसे आजीविका चलानेवाले शूद्र हैं। कोई भी शूद्र अपनेमें व्रत आदि सद्गुणो-का विकास करके ब्राह्मण बन सकता है।[2] ब्राह्मणत्वका आधार व्रतसंस्कार है न कि नित्य ब्राह्मणत्व जाति।

जैनदर्शनने जहाँ पदार्थ-विज्ञानके क्षेत्रमें अपनी मौलिक दृष्टि रखी है वहाँ समाज-रचना और विश्वशांतिके मूलभूत सिद्धान्तोका भी विवेचन किया है। उनमें निरीश्वरवाद और वर्ण-व्यवस्थाको व्यवहारकल्पित मानना ये दो प्रमुख हैं। यह ठीक है कि कुछ संस्कार वंशानुगत होते हैं, किन्तु उन्हें समाजरचनाका आधार नही बनाया जा सकता। सामाजिक और सार्वजनिक साधनोंके विशिष्ट संरक्षणके लिए वर्णव्यवस्थाकी दुहाई नहीं दी जा सकती। सार्वजनिक विकासके अवसर प्रत्येकके लिये समानरूपसे मिलनेपर स्वस्थ समाजका निर्माण हो सकता है।

अनुभवकी प्रमाणता :

धर्मज्ञ और सर्वज्ञके प्रकरणमें लिखा जा चुका है कि श्रमण-परम्परामें पुरुष प्रमाण हैं, ग्रन्थविशेष नहीं। इसका अर्थ है शब्द स्वत. प्रमाण न होकर पुरुषके अनुभवकी प्रमाणतासे अनुप्राणित होता है। मीमासकने लौकिक शब्दोंमें वक्ताको गुण और दोषोंकी एक हद तक उपयोगिता स्वीकार करके भी धर्ममें वैदिक शब्दोंको पुरुषके गुण-दोषोंसे मुक्त रखकर स्वत. प्रमाण माना है। पहली बात तो यह है कि जब भाषात्मक शब्द एकान्तत. पुरुषके प्रयत्नसे ही उत्पन्न होते हैं, अत उन्हें अपौरुषेय और अनादि मानना ही अनुभवविरुद्ध है तब उनके स्वतः प्रमाण माननेकी बात तो बहुत दूर की है। वक्ताका अनुभव ही शब्दकी प्रमाणताका मूल स्रोत है। प्रामाण्यवादके विचारमें मैंने इसका विस्तृत विवेचन किया है।

साधनकी पवित्रताका आग्रह :

भारतीय दर्शनोंमें वादकथाका इतिहास जहाँ अनेक प्रकारसे मनोरंजक है वहाँ उसमें अपनी-अपनी परम्पराकी कुछ मौलिक दृष्टियोंके भी दर्शन होते हैं।

---

१ देखो, प्रमाणवार्तिकालकार पृ० २२। तत्त्वसग्रह का० ३५७९। प्रमेयकमलमा० पृ० ४८३। न्यायकुमु० पृ० ७७०। सन्मति० टी० पृ० ६९७। स्या० रत्ना० ९५९।

२. 'ब्राह्मणाः व्रतसंस्कारात्'—आदिपुराण ३८।४६।

नैयायिकोंने शास्त्रार्थमें जीतनेके लिए छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असद् उपायोंका भी आलम्बन लेकर सन्मार्ग-रक्षाका लक्ष्य सिद्ध करनेकी परम्पराका समर्थन किया है। छल, जाति और निग्रहस्थानोकी किलेबन्दी प्रतिवादीको किसी भी तरह चुप करनेके लिए की गयी थी। जिसका आश्रय लेकर सदोष साधनवादी भी निर्दोष प्रतिवादीपर कीचड उछाल सकता था और उसे पराजित कर सकता था। किन्तु जैनदार्शनिकोने शासन-प्रभावनाको भी असद् उपायोंसे करना उचित नही माना। वे साध्यकी तरह साधनकी पवित्रतापर भी उतना ही जोर देते है। सत्य और अहिंसाका ऐकान्तिक आग्रह होनेके कारण उन्होने वादकथा जैसे कलुषित क्षेत्रमें भी छल, जाति आदिके प्रयोगोको सर्वथा अन्याय्य कहकर नीतिका सीधा मार्ग दिखाया कि जो भी अपना पक्ष सिद्ध कर ले, उसकी जय और दूसरेकी पराजय होनी चाहिए। और छल, जाति आदिके प्रयोगकी कुशलतासे जय-पराजयका कोई सम्बन्ध नही है। बौद्धोका भी यही दृष्टिकोण है। (विशेषके लिए देखो, जय-पराजयव्यवस्था प्रकरण)।

तत्त्वाधिगमके उपाय :

जैनदर्शनने पदार्थके वास्तविक स्वरूपका सूक्ष्म विवेचन तो किया ही है। साथ-ही-साथ उन पदार्थोंके जानने, देखने, समझने और समझानेकी दृष्टियोका भी स्पष्ट वर्णन किया है। इनमें नय और सप्तभंगीका विवेचन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। प्रमाणके साथ नयोको भी तत्त्वाधिगमके उपायोंमें गिनाना जैनदर्शनकी अपनी विशेषता है। अखण्ड वस्तुको ग्रहण करनेके कारण प्रमाण तो मूक है। वस्तुको अनेक दृष्टियोसे व्यवहारमें उतारना अंशग्राही सापेक्ष नयोंका ही कार्य है। नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुको विभाजित कर उसके एक-एक अंशको ग्रहण करते है और उसे शब्दव्यवहारका विषय बनाते हैं। नयोके भेद-प्रभेदोका विशेष विवेचन करनेवाले नयचक्र, नयविवरण आदि अनेक ग्रन्थ और प्रकरण जैनदर्शनके कोषागारको उद्भासित कर रहे है। (विस्तृत विवेचनके लिए देखो, नय-मीमासा प्रकरण)।

इस तरह जैनदर्शनने वस्तु-स्वरूपके विचारमें अनेक मौलिक दृष्टियाँ भारतीय दर्शनको दी है, जिनसे भारतीय दर्शनका कोषागार जीवनोपयोगी ही नही, समाज-रचना और विश्वशान्तिके मौलिक तत्त्वोसे समृद्ध बना है।

४. लोकव्यवस्था

जैनी लोकव्यवस्थाका मूल मन्त्र :

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जएसु भावा उप्पायवयं पकुव्वंति।"

—पचा० गा० १५०।

किसी भाव अर्थात् सद्‌का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत्‌का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूपसे उत्पाद, व्यय करते रहते हैं। लोकमें जितने सत् हैं वे त्रैकालिक सत् हैं। उनकी संख्यामें कभी भी हेर-फेर नहीं होता। उनकी गुण और पर्यायोंमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है, उसका कोई अपवाद नहीं हो सकता। इस विश्वमें अनन्त चेतन, अनन्त पुद्‌गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असंख्य कालाणु द्रव्य हैं। इनसे यह लोक व्याप्त है। जितने आकाश देशमें ये जीवादि द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं। लोकके बाहर भी आकाश है, वह अलोक कहलाता है। लोकगत आकाश और अलोकगत आकाश दोनों एक अखण्ड द्रव्य हैं। यह विश्व इन अनन्तानन्त 'सतों'का विराट् आगार है और अकृत्रिम है[1]। प्रत्येक 'सत्' अपनेमें परिपूर्ण स्वतन्त्र और मौलिक है।

सत्‌का लक्षण है[2] उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त होना। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण परिणमन करता है। वह पूर्व पर्यायको छोडकर उत्तर पर्याय धारण करता है। उसकी यह पूर्व व्यय तथा उत्तरोत्पादकी धारा अनादि और अनन्त है, कभी भी विच्छिन्न नहीं होती। चाहे चेतन हो या अचेतन, कोई भी सत् इस उत्पाद, व्ययके चक्रसे बाहर नहीं है। यह उसका निज स्वभाव है। उसका मौलिक धर्म है कि उसे प्रतिक्षण परिणमन करना ही चाहिये और अपनी अविच्छिन्न धारामें असंकरभावसे अनाद्यनन्त रूपमें परिणत होते रहना चाहिये। ये परिणमन कभी सदृश भी होते हैं और कभी विसदृश भी। ये कभी एक दूसरेके निमित्तसे प्रभावित भी होते हैं। यह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप परिणमनकी

१ "लोगो अकिट्टिमो खलु"—मूला० गा० ७१२।
२ "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"—त० सू० ५।३०।

परम्परा किसी समय दीपनिर्वाणकी तरह बुझ नही सकती। यह भाव उपरोक्त गाथामे 'भावस्स णत्थि णासो' पद द्वारा दिखाया गया है। कितना भी परिवर्तन क्यो न हो जाय, परिवर्तनोंकी अनन्त संख्या होनेपर भी वस्तुकी सत्ता नष्ट नही होती। उसका मौलिक तत्त्व अर्थात् द्रव्यत्व नष्ट नही हो सकता। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी जगत्के रंगमंचसे एक भी अणुको विनष्ट नही किया जा सकता, उसकी हस्तीको नही मिटाया जा सकता। विज्ञानकी तीव्रतम भेदक शक्ति अणु द्रव्यका भेद नही कर सकती। आज जिसे विज्ञानने 'एटम' माना है और जिसके इलेक्ट्रान और प्रोट्रान रूपसे भेदकर वह यह समझता है कि हमने अणुका भेद कर लिया, वस्तुत. वह अणु न होकर सूक्ष्म स्कन्ध ही है और इसीलिए उसका भेद सभव हो सका है। परमाणुका तो लक्षण है :—

"अंतादि अंतमज्झं अंतंतं णेव इंदिए गेज्झं।
जं अविभागी दव्वं तं परमाणु पसंसंति ॥"

—नियमसा० गा० २६।

अर्थात्—परमाणुका वही आदि, वही अन्त तथा वही मध्य है। वह इन्द्रिय-ग्राह्य नही होता। वह सर्वथा अविभागी है—उसके टुकडे नही किये जा सकते। ऐसे अविभागी द्रव्यको परमाणु कहते है।

"सव्वेसिं खधाणं जो अंतो तं वियाण परमाणू।
सो सस्सदो असद्दो एक्को अविभागि मुत्तिभवो ॥"

—पंचा० १७७।

अर्थात्—समस्त स्कन्धोका जो अन्तिम भेद है, वह परमाणु है। वह शाश्वत है, शब्दरहित है, एक है, सदा अविभागी है और मूर्तिक है। तात्पर्य यह कि परमाणु द्रव्य अखंड है और अविभागी है। उसको छिन्न-भिन्न नही किया जा सकता। जहाँ तक छेदन-भेदन सम्भव है वह सूक्ष्म स्कन्धका हो सकता है, परमाणुका नही। परमाणुकी द्रव्यता और अखण्डताका सीधा अर्थ है—उसका अविभागी एक सत्ता और मौलिक होना। वह छिद-भिदकर दो सत्तावाला नही बन सकता। यदि बनता है तो समझना चाहिए कि वह परमाणु नही है। ऐसे अनन्त मौलिक अविभागी अणुओंसे यह लोक ठसाठस भरा हुआ है। इन्ही परमाणुओके परस्पर सम्बन्धसे छोटे-बडे स्कन्धरूप अनेक अवस्थाएँ होती है।

परिणमनोंके प्रकार :

सत्के परिणाम दो प्रकारके होते है—एक स्वभावात्मक और दूसरा विभावरूप। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और असंख्यात कालाणुद्रव्य ये सदा

शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करते हैं। इनमें पूर्व पर्याय नष्ट होकर भी जो नयी उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है वह सदृश और स्वभावात्मक ही होती है, उसमें विलक्षणता नहीं आती। प्रत्येक द्रव्यमें एक 'अगुरुलघु' गुण या शक्ति है, जिसके कारण द्रव्यकी समतुला बनी रहती है, वह न तो गुरु होता है और न लघु। यह गुण द्रव्यकी निजरूपमें स्थिर-मौलिकता कायम रखता है। इसी गुणमें अनन्त-भागवृद्धि आदि षड्गुणी हानि-वृद्धि होती रहती है, जिससे ये द्रव्य अपने ध्रौव्या-त्मक परिणामी स्वभावको धारण करते है और कभी अपने द्रव्यत्वको नही छोडते। इनमे कभी भी विभाव या विलक्षण परिणमन नही होता और न कहने योग्य कोई ऐसा फर्क आता है, जिससे प्रथम क्षणके परिणमनसे द्वितीय क्षणके परिणमनका भेद बताया जा सके।

परिणमनका कोई अपवाद नहीं :

यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनादिसे अनन्तकाल तक ये द्रव्य सदा एक-जैसे समान परिणमन करते है, उनमें कभी भी कही भी किसी भी रूपमें विसदृशता, विलक्षणता या असमानता नही आती तब उनमें परिणमन अर्थात् परिवर्तन कैसे कहा जाय ? उनके परिणमनका क्या लेखा-जोखा हो ? परन्तु जब लोकका प्रत्येक 'सत्' सदा परिणामी है, कूटस्थ नित्य नही, सदा शाश्वत नही, तब सत्के इस अपरिहार्य और अनिवार्य नियमका आकाशादि 'सत्' कैसे उल्लघन कर सकते है ? उनका अस्तित्व ही त्रयात्मक अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक है। इसका अपवाद कोई भी सत् कभी भी नही हो सकता। भले ही उनका परिणमन हमारे शब्दोका या स्थूल ज्ञानका विषय न हो, पर इस परिणा-मित्वका अपवाद कोई भी सत् नही हो सकता।

तात्पर्य यह है कि जब हम एक सत्—पुद्गलपरमाणुमें प्रतिक्षण परिवर्तनको उसके स्कन्धादि कार्यो द्वारा जानते है, एक सत्—आत्मामें ज्ञानादि गुणोके परि-वर्तनको स्वयं अनुभव करते हैं तथा दृश्य विश्वमें सत्की उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य-शीलता प्रमाणसिद्ध है; तब लोकके किसी भी सत्को उत्पादादिसे रहित होनेकी कल्पना नही की जा सकती। एक मृत्पिड पिंडाकारको छोड़कर घटके आकारको धारण करता है तथा मिट्टी दोनो अवस्थाओमें अनुगत रहती है। वस्तुके स्वरूपको समझनेका यह एक स्थूल दृष्टान्त है। अत जगत्का प्रत्येक सत्, चाहे वह चेतन हो या अचेतन, परिणामी-नित्य है, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला है। वह प्रतिक्षण पर्यायान्तरको प्राप्त होकर भी कभी समाप्त नही होता, ध्रुव है।

जीवद्रव्यमें जो आत्माएँ कर्मबन्धनको काटकर सिद्ध हो गई हैं उन मुक्त जीवोंका भी सिद्धिके कालसे अनन्तकाल तक सदा शुद्ध ही परिणमन होता है। समान और एकरस परिणमनकी धारा सदा चलती रहती है, उसमें कभी कोई विलक्षणता नहीं आती। रह जाते हैं संसारी जीव और अनन्त पुद्‌गल, जिनका रंगमंच यह दृश्य विश्व है। इनमें स्वाभाविक और वैभाविक दोनों परिणमन होते हैं। फर्क इतना ही है कि ससारी जीवके एक बार शुद्ध हो जानेके बाद फिर अशुद्धता नहीं आती, जब कि पुद्‌गलस्कन्ध अपनी शुद्ध दशा परमाणुरूपतामें पहुँचकर भी फिर अशुद्ध हो जाते हैं। पुद्‌गलकी शुद्ध अवस्था परमाणु है और अशुद्ध दशा स्कन्ध-अवस्था है। पुद्‌गल द्रव्य स्कन्ध बनकर फिर परमाणु अवस्थामें पहुँच जाते हैं और फिर परमाणुसे स्कन्ध बन जाते हैं। साराश यह कि संसारी जीव और अनन्त पुद्‌गल परमाणु भी प्रतिक्षण अपने परिणामी स्वभावके कारण एक दूसरेके तथा परस्पर निमित्त बनकर स्वप्रभावित परिणमनके भी जनक हो जाते हैं। एक हाइड्रोजनका स्कन्ध ऑक्सिजनके स्कन्धसे मिलकर जल पर्यायको प्राप्त हो जाता है। फिर गर्मीका सन्निधान पाकर भाफ बनकर उड़ जाता है, फिर सर्दी पाकर पानी बन जाता है, और इस तरह अनन्त प्रकारके परिवर्तन-चक्रमें बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार परिणत होता रहता है। यही हाल संसारी जीवका है। उसमें भी अपनी सामग्रीके अनुसार गुणपर्यायोंका परिणमन बराबर होता रहता है। कोई भी समय परिवर्तनसे शून्य नहीं होता। इस परिवर्तन-परम्परामें प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादानकारण होता है तथा अन्य द्रव्य निमित्तकारण।

धर्मद्रव्य :

जीव और पुद्‌गलोंकी गति-क्रियामें धर्मद्रव्य साधारण उदासीन निमित्त होता है, प्रेरक कारण नहीं। जैसे चलनेको तत्पर मछलीके लिए जल कारण तो होता है, पर प्रेरणा नहीं करता।

अधर्मद्रव्य :

जीव और पुद्‌गलोंकी स्थितिमें अधर्मद्रव्य साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं। जैसे ठहरनेवाले पथिकोंको छाया।

आकाशद्रव्य :

समस्त चेतन-अचेतन द्रव्योंको आकाशद्रव्य स्थान देता है और अवगाहनका साधारण कारण होता है, प्रेरक नहीं।। आकाश स्वप्रतिष्ठित है।

कालद्रव्य :

समस्त द्रव्योके वर्तना, परिणमन आदिका कालद्रव्य साधारण निमित्त है। पर्याय किसी-न-किसी क्षणमें उत्पन्न होती तथा नष्ट होती है, अत 'क्षण' समस्त द्रव्योकी पर्यायपरिणतिमें निमित्त होता है।

ये चार द्रव्य अरूपी है। धर्म, अधर्म और असंख्य कालाणु लोकाकाशव्यापी है और आकाश लोकालोकव्यापी अनन्त है।

ससारी जीव और पुद्गल द्रव्योमे विभाव परिणमन होता है। जीव और पुद्गलका अनादिकालीन सम्बन्ध होनेके कारण जीव ससारीदशामें विभाव परिणमन करता है। इसका सम्बन्ध समाप्त होते ही मुक्तदशामें जीव शुद्ध परिणमनका अधिकारी हो जाता है।

इस तरह लोकमें अनन्त 'सत्' स्वयं अपने स्वभावके कारण परस्पर निमित्त-नैमित्तिक बनकर प्रतिक्षण परिवर्तित होते है। उनमें परस्पर कार्यकारणभाव भी बनते है। बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार समस्त कार्य उत्पन्न होते और नष्ट होते है। प्रत्येक 'सत्' अपनेमें परिपूर्ण और स्वतंत्र है। वह अपने गुण और पर्यायका स्वामी है और है अपनी पर्यायोका आधार। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई नया परिणमन नही ला सकता। जैसी-जैसी सामग्री उपस्थित होती जाती है उसके कार्यकारण-नियमके अनुसार द्रव्य स्वय वैसा परिणत होता जाता है। जिस समय कोई बाह्य सामग्रीका प्रबल निमित्त नही मिलता उस समय भी द्रव्य अपने स्वभावानुसार सदृश या विसदृश परिणमन करता ही है। कोई सफेद कपडा एक दिनमे मैला होता है, तो यह नही मानना चाहिए कि वह २३ घण्टा ५९ मिनिट तो साफ रहा और आखिरी मिनिटमें मैला हुआ है, किन्तु प्रतिक्षण उसमें सदृश या विसदृश परिवर्तन होते रहे है और २४ घण्टेके समान या असमान परिणमनोका औसत फल वह मैलापन है। इसी तरह मनुष्यमें भी बचपन, जवानी और वृद्धावस्था आदि स्थूल परिणमन प्रतिक्षणभावी असख्य सूक्ष्म परिणमनोके फल है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक द्रव्य अपने परिणमनमें उपादान होता है और सजातीय या विजातीय निमित्तके अनुसार प्रभावित होकर या प्रभावित करके परस्पर परिणमनमें निमित्त बनता जाता है। यह निमित्तोका जुटाव कही परस्पर सयोगसे होता है तो कही किसी पुरुषके प्रयत्नसे। जैसे किसी हॉइड्रोजनके स्कन्धके पास हवाके झोंकेसे उडकर ऑक्सिजन स्कन्ध पहुँच जाय तो दोनोका जलरूप परिणमन हो जायगा, और यदि न पहुँचे तो दोनोका अपने-अपने रूप ही अद्वितीय परिणमन होता रहता है। यह भी संभव है कि कोई वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालामें ऑक्सिजनमें हाइड्रोजन मिलावे और इस तरह दोनोकी जल पर्याय बन जाय। अग्नि है, यदि उसमें गीला

ईंधन स्वयं या किसी पुरुषके प्रयत्नसे पहुँच जाय तो धूम उत्पन्न हो जायगा, अन्यथा अग्नि धीरे-धीरे राख हो जायगी। कोई द्रव्य जबरदस्ती किसी दूसरे द्रव्यमें असंभवनीय परिवर्तन उत्पन्न नही कर सकता। प्रयत्न करनेपर भी अचेतनसे चेतन नही बन सकता और न एक चेतन चेतनान्तर या अचेतन या अचेतन अचेतनान्तर ही हो सकता है। सब अपनी-अपनी पर्यायधारामे प्रवहमान हैं। वे प्रत्येक क्षणमें नवीन-नवीन पर्यायोको धारण करते हुए स्वमग्न है। वे एक-दूसरेके सम्भवनीय परिणमनके प्रकट करनेमें निमित्त हो भी जाँय, पर असंभव या असत् परिणमन उत्पन्न नही कर सकते। आचार्य कुन्दकुन्दने बहुत सुन्दर लिखा है—

अण्णदविएण अण्णदव्वस्स णो कीरदे गुणुप्पादो।
तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पजन्ते सहावेण॥"

—समयसार गा० ३७२।

अर्थात्—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई भी गुणोत्पाद नही कर सकता। सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावसे उत्पन्न होते है।

इस तरह प्रत्येक द्रव्यकी परिपूर्ण अखंडता और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यकी चरम निष्ठापर सभी अपने-अपने परिणाम-चक्रके स्वामी है। कोई किसीके परिणमनका नियन्त्रक नही है और न किसीके इशारेपर इस लोकका निर्माण या प्रलय होता है। प्रत्येक 'सत्' का अपने गुण और पर्यायपर ही अधिकार है, अन्य द्रव्यका परिणमन तदधीन नही है। इतनी स्पष्ट और असन्दिग्ध स्थिति प्रत्येक सत्की होनेपर भी पुद्गलोमें परस्पर तथा जीव और पुद्गलका परस्पर एवं संसारी जीवोका परस्पर प्रभाव डालनेवाला निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध भी है। जल यदि अग्नि पर गिर जाता है तो उसे बुझा देता है और यदि वह किसी वर्तनमें अग्निके ऊपर रखा जाता है तो अग्नि ही उसके सहज शीतल स्पर्शको बदलकर उसको उष्णस्पर्श स्वीकार करा देती है। परस्परकी पर्यायमें इस तरह प्रभावक निमित्तता होने पर भी समस्त लोकरचनाके लिए कोई नित्यसिद्ध ईश्वर निमित्त या उपादान होता हो, यह बात न केवल युक्तिविरुद्ध ही है किन्तु द्रव्योंके निजस्वभावके विपरीत भी है। कोई भी द्रव्य सदा अविकारी नित्य हो ही नही सकता। अनन्त पदार्थोंकी अनन्त पर्यायोपर नियन्त्रण रखने जैसा महाप्रभुत्व न केवल अवैज्ञानिक है किन्तु पदार्थ-स्थितिके विरुद्ध भी है।

निमित्त और उपादान :

जो कारण स्वयं कार्यरूपमे परिणत हो जाय वह उपादान कारण है और जो स्वय कार्यरूप परिणत तो न हो, पर उस परिणमनमें सहायता दे वह निमित्त या

सहकारी कारण कहा जाता है। घटमें मिट्टी उपादान कारण है, क्योकि वह स्वय घडा बनती है, और कुम्हार निमित्त है, क्योकि वह स्वयं घडा तो नही बनता, पर घडा बननेमें सहायता देता है। प्रत्येक सत् या द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पूर्व पर्यायको छोड़कर उत्तर पर्यायको धारण करते है, यह एक निरपवाद नियम है। सब प्रतिक्षण अपनी धारामें परिवर्तित होकर सदृश या विसदृश अवस्थाओमे बदलते जा रहे है। उस परिवर्तन-धारामें जो सामग्री उपस्थित होती है या कराई जाती है उसके बलाबलसे परिवर्तनमे होनेवाला प्रभाव तरतमभाव प्राप्त करता है। नदीके घाटपर यदि कोई व्यक्ति लाल रग जलमें घोल देता है तो उस लाल रंगकी शक्तिके अनुसार आगेका प्रवाह अमुक हद तक लाल होता जाता है, और यदि नीला रग घोलता है तो नीला। यदि कोई दूसरी उल्लेख योग्य निमित्तसामग्री नही आती तो जो सामग्री है उसकी अनुकूलताके अनुसार उस धाराका स्वच्छ या अस्वच्छ या अर्धस्वच्छ परिणमन होता जाता है। यह निश्चित है कि लाल या नीला परिणमन, जो भी नदीकी धारामें हुआ है, उसमें वही जलपुञ्ज उपादान है जो धारा बनकर बह रहा है, क्योकि वही जल अपना पुराना रूप बदलकर लाल या नीला हुआ है। उसमे निमित्त या सहकारी होता है वह घोला हुआ लाल रग या नीला रग। यह एक स्थूल दृष्टान्त है—उपादान और निमित्तकी स्थिति समझनेके लिए।

मैं पहिले लिख आया हूँ कि धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य और शुद्ध जीवद्रव्यके परिणमन सदा एक-से होते है; उनमें बाहरी प्रभाव नही आता, क्योकि इनमें वैभाविक शक्ति नही है। शुद्ध जीवमें वैभाविक शक्तिका सदा स्वाभाविक परिणमन होता है। इनकी उपादानपरम्परा सुनिश्चित है और इनपर निमित्तका कोई बल या प्रभाव नही होता। अत निमित्तोकी चर्चा भी इनके सम्बन्धमें व्यर्थ है। ये सभी द्रव्य निष्क्रिय है। शुद्ध जीवमें भी एक देशसे दूसरे देशमें प्राप्त होने रूप क्रिया नही होती। इनमें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक निज स्वभावके कारण अपने अगुरुलघुगुणके सद्भावसे सदा समान परिणमन होता रहता है। प्रश्न है सिर्फ संसारी जीव और पुद्गल द्रव्यका। इनमे वैभाविकी शक्ति है। अत जिस प्रकारकी सामग्री जिस समय उपस्थित होती है उसकी शक्तिकी तरतमतासे वैसे-वैसे उपादान बदलता जाता है। यद्यपि निमित्तभूत सामग्री किसी सर्वथा असद्भूत परिणमनको उस द्रव्यमे नही लाती, किन्तु उस द्रव्यके जो शक्य—सभाव्य परिणमन है, उन्हीमेंसे उस पर्यायसे होनेवाला अमुक परिणमन उत्पन्न हो जाता है। जैसे प्रत्येक पुद्गल अणुमें समान रूपसे पुद्गलजन्य यावत् परिणमनोकी योग्यता है। प्रत्येक अणु अपनी स्कन्ध अवस्थामें कपड़ा बन सकता है, सोना बन सकता

है, घड़ा बन सकता है और पत्थर बन सकता है तथा तैलके आकार हो सकता है। परन्तु लाख प्रयत्न होनेपर भी पत्थररूप पुद्गलसे तैल नहीं निकल सकता, यद्यपि तैल पुद्गलकी ही पर्याय है। मिट्टीसे कपड़ा नहीं बन सकता, यद्यपि कपड़ा भी पुद्गलका ही एक विशेष परिणमन है। हाँ, जब पत्थर-स्कन्धके पुद्गलाणु बिखरकर मिट्टीमें मिल जाँय और खाद बन कर तैलके पौधेमें पहुँचकर तिल बीज बन जायँ तो उससे तैल निकल ही सकता है। इसी तरह मिट्टी कपास बनकर कपड़ा बन सकती है पर साक्षात् नहीं। तात्पर्य यह कि पुद्गलाणुओंमें समान शक्ति होने पर भी अमुक स्कन्धोंसे साक्षात् उन्हीं कार्योंका विकास हो सकता है जो उस पर्यायसे सम्भव हों और जिनकी निमित्त-सामग्री उपस्थित हो। अतः संसारी जीव और पुद्गलोंकी स्थिति उस मोम जैसी है जिसे संभव साँचोंमें ढाला जा सकता है और जो विभिन्न साँचोंमें ढलते जाते हैं।

निमित्तभूत पुद्गल या जीव परस्पर भी प्रभावित होकर विभिन्न परिणमनोंके आधार बन जाते हैं। एक कच्चा घड़ा अग्निमें जब पकाया जाता है तब उसमें अनेक जगहके पुद्गल स्कन्धोंमें विभिन्न प्रकारसे रूपादिका परिपाक होता है। इसी तरह अग्निमें भी उसके सन्निधानसे विचित्र परिणमन होते हैं। एक ही आम-फलमें परिपाकके अनुसार कहीं खट्टा और कहीं मीठा रस तथा कहीं मृदु और कहीं कठोर स्पर्श एवं कहीं पीत रूप और कहीं हरा रूप हमारे रोजके अनुभवकी बात है। इससे उस आम्र स्कन्धगत परमाणुओंका सम्मिलित स्थूल-आम्रपर्यायमें शामिल रहने पर भी स्वतन्त्र अस्तित्व भी बराबर बना रहता है, यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। उस स्कन्धमें सम्मिलित परमाणुओंका अपना-अपना स्वतन्त्र परिणमन बहुधा एक प्रकारका होता है। इसीलिये उस औसत परिणमनसे 'आम्र' संज्ञा रख दी जाती है। जिस प्रकार अनेक पुद्गलाणु द्रव्य सम्मिलित होकर एक साधारण स्कन्ध पर्यायका निर्माण कर लेते हैं फिर भी स्वतन्त्र हैं, उसी तरह संसारी जीवोंमें भी अविकसित दशामें अर्थात् निगोदकी अवस्थामें अनन्त जीवोंके साधारण सदृश परिणमनकी स्थिति हो जाती है और उनका उस समय साधारण आहार, साधारण श्वासोच्छ्वास, साधारण जीवन और साधारण ही मरण होता है[1]। एकके मरने पर सब मर जाते हैं और एकके जीवित रहने पर भी सब जीवित रहते हैं। ऐसी प्रवाहपतित साधारण अवस्था होने पर उनका अपना व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता, प्रत्येक अपना विकास करनेमें

---

१. "साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥"

—गोम्मटसार जी० गा० १९१।

स्वतन्त्र रहते हैं। उन्हींकी चेतना विकसित होकर कीडा-मकोडा, पशु-पक्षी, मनुष्य-देव आदि विविध विकासकी श्रेणियोपर पहुँच जाती है। वही कर्मबन्धन काटकर सिद्ध भी हो जाती है।

साराश यह कि प्रत्येक ससारी जीव और पुद्गलाणुमें सभी सम्भाव्य द्रव्य-परिणमन साक्षात् या परम्परासे सामग्रीकी उपस्थितिमें होते रहते हैं। ये कदाचित् समान होते हैं और कदाचित् असमान। असमानताका अर्थ इतनी असमानता नही है कि एक द्रव्यके परिणमन दूसरे सजातीय या विजातीय द्रव्य-रूप हो जॉय और अपनी पर्यायपरम्पराकी धाराको लॉघ जाय। उन्हें अपने परिणामी स्वभावके कारण उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणमन करना ही होगा। किसी भी क्षण वे परिणामशून्य नही हो सकते। "तद्भावः परिणामः" [तत्त्वार्थसूत्र ५।४२]। उस सत्का उसी रूपमें होना, अपनी सीमाको नही लाँघ कर होते रहना, प्रतिक्षण पर्यायरूपसे प्रवहमान होना ही परिणाम है। न वह उपनिषद्वादियोकी तरह कूटस्थ नित्य है और न बौद्धके दीपनिर्वाणवादी पक्षकी तरह उच्छिन्न होनेवाला ही। सच पूछा जाय तो बुद्धने जिन दो अन्तो (छोरों) से डरकर आत्माका अशाश्वत और अनुच्छिन्न इस उभय प्रतिषेधके सहारे कथन किया या उसे अव्याकृत कहा और जिस अव्याकृतताके कारण निर्वाणके सम्बन्धमें सन्तानोच्छेदका एक पक्ष उत्पन्न हुआ, उस सर्वथा उभय अन्तका तात्त्विक दृष्टिसे विवेचन अनेकान्तद्रष्टा भ० महावीरने किया और बताया कि प्रत्येक वस्तु अपने 'सत्' रूपको त्रिकालमें नही छोडती, इसलिए धाराकी दृष्टिसे वह शाश्वत है, और चूंकि प्रतिक्षणकी पर्याय उच्छिन्न होती जाती हैं, अतः उच्छिन्न भी है। वह न तो संतति-विच्छेद रूपसे उच्छिन्न ही है और न सदा अविकारी कूटस्थके अर्थमें शाश्वत ही।

विश्वकी रचना या परिणमनके सम्बन्धमें प्राचीनकालसे ही अनेक पक्ष देखे जाते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषत्[1] में ऐसे ही अनेक विचारोंका निर्देश किया है। वहाँ प्रश्न है कि 'विश्वका क्या कारण है? कहाँसे हम सब उत्पन्न हुए है? किसके बलपर हम सब जीवित है? कहाँ हम स्थित है? अपने सुख और दुःखमें किसके अधीन होकर वर्तते है?' उत्तर दिया है कि 'काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा (इच्छानुसार-अटकलपच्चू), पृथिव्यादिभूत और पुरुष ये जगत्के कारण हैं, यह चिन्तनीय है। इन सबका सयोग भी कारण नही है। सुख-दुःखका हेतु होनेसे आत्मा भी जगत्को उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।

---

१. "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
सयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"—श्वेता० १।२।

कालवाद :

इस प्रश्नोत्तरमें जिन कालादिवादोका उल्लेख है वे मत आज भी विविध रूपमें वर्तमान है। महाभारतमें[१] (आदिपर्व १।२७२-२७६) कालवादियोंका विस्तृत वर्णन है। उसमें बताया है कि जगत्के समस्त भाव और अभाव तथा सुख और दुःख कालमूलक है। काल ही समस्त भूतोंकी सृष्टि करता है, संहार करता है और प्रलयको प्राप्त प्रजाका शमन करता है। संसारके समस्त शुभ अशुभ विकारोंका काल ही उत्पादक है। काल ही प्रजाओका संकोच और विस्तार करता है। सब सो जाँय पर काल जाग्रत रहता है। सभी भूतोका वही चालक है। अतीत, अनागत और वर्तमान यावत् भावविकारोंका काल ही कारण है। इस तरह यह दुरतिक्रम महाकाल जगत्का आदिकारण है।

परन्तु एक अखंड नित्य और निरंश काल परस्पर विरोधी अनन्तपरिणमनोका क्रमसे कारण कैसे हो सकता है? कालरूपी समर्थ कारणके सदा रहते हुए भी अमुक कार्य कदाचित् हो, कदाचित् नही, यह नियत व्यवस्था कैसे संभव हो सकती है? फिर काल अचेतन है, उसमें नियामकता स्वयं संभव नही हो सकती। जहाँ तक कालका स्वभावसे परिवर्तन करनेवाले यावत् पदार्थोंमें साधारण उदासीन कारण होना है वहाँ तक कदाचित् वह उदासीन निमित्त बन भी जाय, पर प्रेरक निमित्त और एकमात्र निमित्त तो नही हो सकता। यह नियत कार्यकारणभावके सर्वथा प्रतिकूल है। कालकी समानहेतुता होनेपर भी मिट्टीसे ही घडा उत्पन्न हो और तंतुसे ही पट, यह प्रतिनियत लोकव्यवस्था नही जम सकती। अत प्रतिनियत कार्योंकी उत्पत्तिके लिये प्रतिनियत उपादान तथा सबके स्वतन्त्र कार्यकारणभाव स्वीकार करना चाहिये।

स्वभाववाद :

स्वभाववादीका कहना है[२] कि काटोंका नुकीलापन, मृग और पक्षियोके चित्र-विचित्र रग, हसका शुक्लवर्ण होना, शुकोका हरापन और मयूरका चित्र-विचित्र वर्णका होना आदि सब स्वभावसे है। सृष्टिका नियन्त्रक कोई नही है।

---

१. "कालः सृजति भूतानि काल. संहरते प्रजा.।
काल. सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रम॥"—महाभा० १।२४८

२. उक्तं च—

"कः कण्टकाना प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिद प्रवृत्त न कामचारोऽस्ति कुत प्रयत्नः॥"

—सूत्रकृताङ्गटी०।

इस जगत्की विचित्रताका कोई दृष्ट हेतु उपलब्ध नही होता, अतः यह सब स्वाभाविक है, निर्हेतुक है। इसमें किसीका यत्न कार्य नही करता, किसीकी इच्छाके अधीन यह नही है।

इस वादमें जहाँ तक किसी एक लोक-नियन्ताके नियन्त्रणका विरोध है वहाँ तक उसकी युक्तिसिद्धता है। पर यदि स्वभाववादका अर्थ अहेतुकवाद है, तो यह सर्वथा बाधित है, क्योकि जगत्में अनन्त कार्योंकी अनन्त कारणसामग्री प्रतिनियत रूपसे उपलब्ध होती है। प्रत्येक पदार्थका अपने संभव कार्योंके करनेका स्वभाव होने पर भी उसका विकास बिना सामग्रीके नही हो सकता। मिट्टीके पिंडमें घडेको उत्पन्न करनेका स्वभाव विद्यमान होनेपर भी उसकी उत्पत्ति दंड, चक्र, कुम्हार आदि पूर्ण सामग्रीके होनेपर ही हो सकती है। कमलकी उत्पत्ति कीचड़से होती है, अत पक आदि सामग्रीकी कमलकी सुगन्ध और उसके मनोहर रूपके प्रति हेतुता स्वयं सिद्ध है, उनमें स्वभावको ही मुख्यता देना उचित नही है। यह ठीक है कि किसानका पुरुषार्थ खेत जोतकर बीज बो देने तक है, आगे कोमल अंकुरका निकलना तथा उससे क्रमश वृक्षके बन जाने रूप असंख्य कार्यपरम्परामें उसका साक्षात् कारणत्व नही है, परन्तु यदि उसका उतना भी प्रथम-प्रयत्न नही होता, तो बीजका वह वृक्ष बननेका स्वभाव बोरेमे पडा-पडा सड़ जाता। अत. प्रतिनियत कार्योंमे यथासंभव पुरुषका प्रयत्न भी कार्य करता है। साधारण रुई कपासके बीजसे सफेद रंगकी उत्पन्न होती है। पर यदि कुशल किसान लाखके रगसे कपासके बीजोको रग देता है तो उससे रंगीन रुई भी उत्पन्न हो जाती है। आज वैज्ञानिकोने विभिन्न प्राणियोकी नस्लपर अनेक प्रयोग करके उनके रंग, स्वभाव, ऊँचाई और वजन आदिमें विविध प्रकारका विकास किया है। अत "न कामचारोऽस्ति कुत. प्रयत्नः ?" जैसे निराशावादसे स्वभाववादका आलम्बन लेना उचित नही है। हाँ, सकल जगत्के एक नियन्ताकी इच्छा और प्रयत्नका यदि इस स्वभाववादसे विरोध किया जाता है तो उसके परिणामसे सहमति होनेपर भी प्रक्रियामें अन्तर है। अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा असंख्य कार्योंके असख्य कार्यकारणभाव निश्चित होते हैं और अपनी-अपनी कारण-सामग्रीसे असंख्य कार्य विभिन्न विचित्रताओंसे युक्त होकर उत्पन्न होते और नष्ट होते हैं। अत स्वभावनियतता होनेपर भी कारणसामग्री और जगत्के नियत कार्यकारणभावकी ओरसे आँख नही मूँदी जा सकती।

नियतिवाद :

नियतिवादियोका कहना है कि जिसका, जिस समयमें, जहाँ, जो होना है वह होता ही है। तीक्ष्ण शस्त्रघात होनेपर भी यदि मरण नही होना है तो व्यक्ति

जीवित ही बच जाता है और जब मरनेकी घडी आ जाती है तब बिना किसी कारणके ही जीवनकी घडी बन्द हो जाती है।

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः
सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने
नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः[१] ॥"

अर्थात्—मनुष्योको नियतिके कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है वह अवश्य ही होगा। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, पर जो नही होना है वह नही ही होगा, और जो होना है उसे कोई रोक नही सकता। सब जीवोंका सब कुछ नियत है, वह अपनी गतिसे होगा ही।[२]

मज्झिमनिकाय (२।३।६।) तथा बुद्धचर्या (सामञ्ञफलसुत्त पृ० ४६२-६३) में अकर्मण्यतावादी मक्खलि गोशालके नियतिचक्रका इस प्रकार वर्णन मिलता है—"प्राणियोके क्लेशके लिये कोई हेतु नही, प्रत्यय नही। बिना हेतु, बिना प्रत्यय ही प्राणी क्लेश पाते है। प्राणियोकी शुद्धिका कोई हेतु नही, प्रत्यय नही है। बिना प्रत्यय ही प्राणी विशुद्ध होते है। न आत्मकार है, न परकार है, न पुरुषकार है, न बल है, न वीर्य है, न पुरुषका पराक्रम है। सभी सत्त्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव अवश है, बल-वीर्य-रहित है। नियतिसे निर्मित अवस्थामें परिणत होकर छह ही अभिजातियोमें सुख-दु ख अनुभव करते है।" वहाँ यह नही है कि इस शील-व्रतसे, इस तप-ब्रह्मचर्यसे मैं अपरिपक्व कर्मको परिपक्व करूँगा, परिपक्व कर्मको भोगकर अन्त करूँगा। सुख और दु ख द्रोणसे नपे हुए हैं। संसारमें घटना-बढना, उत्कर्ष-अपकर्ष नही होता। जैसे कि सूतकी गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पडती है, वैसे ही मूर्ख और पडित दौडकर आवागमनमें पडकर दु खका अन्त करेंगे।" (दर्शन-दिग्दर्शन पृ० ४८८-८९)। भगवतीसूत्र (१५वाँ शतक) मे भी गोशालकको नियतिवादी ही बताया है।

१. उद्धृत—सूत्रकृताङ्गटीका १।१।२।—लोकतत्त्व अ० २९।

२. "तथा चोक्तम्"—

"नियतेनैव रूपेण सर्वे भावा भवन्ति यत्।
ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुवेधत ॥
यद्यदेव यतो यावत् तत्तदेव ततस्तथा।
नियतं जायते न्यायात् क एना बाधितुं क्षम. ॥"

—नन्दीसू० टी०।

इसी नियतिवादका रूप आज भी 'जो होना है वह होगा ही' इस भवितव्यताके रूपमें गहराईके साथ प्रचलित है।

नियतिवादका एक आध्यात्मिक रूप और निकला है[1]। इसके अनुसार प्रत्येक द्रव्यकी प्रतिसमयकी पर्याय सुनिश्चित है। जिस समय जो पर्याय होनी है वह अपने नियत स्वभावके कारण होगी ही, उसमें प्रयत्न निरर्थक है। उपादान-शक्तिसे ही वह पर्याय प्रकट हो जाती है, वहाँ निमित्तकी उपस्थिति स्वयमेव होती है, उसके मिलानेकी आवश्यकता नही। इनके मतसे पेट्रोलसे मोटर नही चलती, किन्तु मोटरको चलना ही है और पेट्रोलको जलना ही है। और यह सब प्रचारित हो रहा है द्रव्यके शुद्ध स्वभावके नामपर। इसके भीतर भूमिका यह जमाई जाती है कि—एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कुछ नही कर सकता। सब अपने आप नियतिचक्रवश परिणमन करते है। जिसको जहाँ जिस रूपमे निमित्त बनना है उस समय उसकी वहाँ उपस्थिति हो ही जायगी। इस नियतिवादसे पदार्थोके स्वभाव और परिणमनका आश्रय लेकर भी उनका प्रतिक्षणका अनन्तकाल तकका कार्यक्रम बना दिया गया है, जिसपर चलनेको हर पदार्थ बाध्य है। किसीको कुछ नया करनेका नही है। इस तरह नियतिवादियोके विविध रूप विभिन्न समयोमे हुए है। इन्होने सदा पुरुषार्थको रेड मारी है और मनुष्यको भाग्यके चक्करमें डाला है।

किन्तु जब हम द्रव्यके स्वरूप और उसकी उपादान और निमित्तमूलक कार्यकारणव्यवस्थापर ध्यान देते है तो इसका खोखलापन प्रकट हो जाता है। जगत्में समग्र भावसे कुछ बातें नियत है, जिनका उल्लंघन कोई नही कर सकता। यथा—

१ यह नियत है कि जगत्मे जितने सत् है, उनमें कोई नया 'सत्' उत्पन्न नही हो सकता और न मौजूदा 'सत्' का समूल विनाश ही हो सकता है। वे सत् है—अनन्त चेतन, अनन्त पुद्गलाणु, एक आकाश, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य और असख्य कालद्रव्य। इनकी संख्यामें न तो एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि ही। अनादिकालसे इतने ही द्रव्य थे, है और अनन्तकाल तक रहेंगे।

२ प्रत्येक द्रव्य अपने निज स्वभावके कारण पुरानी पर्यायको छोडता है, नईको ग्रहण करता है और अपने प्रवाही सत्त्वकी अनुवृत्ति रखता है। चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस परिवर्तनचक्रसे अछूता नही रह सकता। कोई भी किसी भी पदार्थके उत्पाद और व्ययरूप इस परिवर्तनको रोक नही सकता और न इतना

१. देखो, श्रीकानजीस्वामी लिखित 'वस्तुविज्ञानसार' आदि पुस्तकें।

विलक्षण परिणमन ही करा सकता है कि वह अपने सत्त्वको ही समाप्त कर दे और सर्वथा उच्छिन्न हो जाय।

३ कोई भी द्रव्य किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नही कर सकता। एक चेतन न तो अचेतन हो सकता है और न चेतनान्तर ही। वह चेतन 'तच्चेतन' ही रहेगा और वह अचेतन 'तदचेतन' ही।

४. जिस प्रकार दो या अनेक अचेतन पुद्गलपरमाणु मिलकर एक संयुक्त समान स्कन्धरूप पर्याय उत्पन्न कर लेते हैं उस तरह दो चेतन मिलकर संयुक्त पर्याय उत्पन्न नही कर सकते, प्रत्येक चेतनका सदा स्वतन्त्र परिणमन रहेगा।

५. प्रत्येक द्रव्यकी अपनी मूल द्रव्यशक्तियाँ और योग्यताएँ समानरूपसे सुनिश्चित हैं, उनमें हेरफेर नही हो सकता। कोई नई शक्ति कारणान्तरसे ऐसी नही आ सकती, जिसका अस्तित्व द्रव्यमें न हो। इसी तरह कोई विद्यमान शक्ति सर्वथा विनष्ट नही हो सकती।

६ द्रव्यगत शक्तियोंके समान होनेपर भी अमुक चेतन या अचेतनमें स्थूल-पर्याय-सम्बन्धी अमुक योग्यताएँ भी नियत हैं। उनमें जिसकी सामग्री मिल जाती हैं उसका विकास हो जाता है। जैसे कि प्रत्येक पुद्गलाणुमें पुद्गलकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ रहनेपर भी मिट्टीके पुद्गल ही साक्षात् घड़ा बन सकते हैं, ककडोंके पुद्गल नही, तन्तुके पुद्गल ही साक्षात् कपडा बन सकते हैं, मिट्टीके पुद्गल नही। यद्यपि घड़ा और कपडा दोनो ही पुद्गलकी पर्यायें हैं। हाँ, कालान्तरमें परम्परासे बदलते हुए मिट्टीके पुद्गल भी कपड़ा बन सकते हैं और तन्तुके पुद्गल भी घडा। तात्पर्य यह कि—संसारी जीव और पुद्गलोंकी मूलत. समान शक्तियाँ होनेपर भी अमुक स्थूल पर्यायमें अमुक शक्तियाँ ही साक्षात् विकसित हो सकती हैं। शेष शक्तियाँ बाह्य सामग्री मिलनेपर भी तत्काल विकसित नही हो सकती।

७. यह नियत है कि—उस द्रव्यकी उस स्थूल पर्यायमें जितनी पर्याय-योग्यताएँ हैं उनमेंसे ही जिस-जिसकी अनुकूल सामग्री मिलती है उस-उसका विकास होता है, शेष पर्याययोग्यताएँ द्रव्यकी मूलयोग्यताओंकी तरह सद्भावमें ही रहती हैं।

८ यह भी नियत है कि—अगले क्षणमें जिस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी, द्रव्यका परिणमन उससे प्रभावित होगा। सामग्रीके अन्तर्गत जो भी द्रव्य हैं, उनके परिणमन भी इस द्रव्यसे प्रभावित होंगे। जैसे कि ऑक्सिजनके परमाणु-को यदि हॉइड्रोजनका निमित्त नही मिलता तो वह ऑक्सीजनके रूपमें ही परिणत रह जाता है, पर यदि हॉइड्रोजनका निमित्त मिल जाता है तो दोनोका ही जल-

रूपसे परिवर्तन हो जाता है। तात्पर्य यह कि पुद्गल और संसारी जीवोंके परिणमन अपनी तत्कालीन सामग्रीके अनुसार परस्पर प्रभावित होते रहते हैं। किन्तु—

केवल यही अनिश्चित है कि 'अगले क्षणमें किसका क्या परिणाम होगा? कौन-सी पर्याय विकासको प्राप्त होगी? या किस प्रकारकी सामग्री उपस्थित होगी?' यह तो परिस्थिति और योगायोगके ऊपर निर्भर करता है। जैसी सामग्री उपस्थित होगी उसके अनुसार परस्पर प्रभावित होकर तात्कालिक परिणमन होते जायँगे। जैसे एक मिट्टीका पिंड है, उसमें घडा, सकोरा, प्याला आदि अनेक परिणमनोंके विकासका अवसर है। अब कुम्हारकी इच्छा, प्रयत्न और चक्र आदि जैसी सामग्री मिलती है उसके अनुसार अमुक पर्याय प्रकट हो जाती है। उस समय न केवल मिट्टीके पिंडका ही परिणमन होगा, किन्तु चक्र और कुम्हारकी भी उस सामग्रीके अनुसार पर्याय उत्पन्न होगी। पदार्थोंके कार्यकारणभाव नियत हैं। 'अमुक कारणसामग्रीके होनेपर अमुक कार्य उत्पन्न होता है' इस प्रकारके अनन्त कार्यकारणभाव उपादान और निमित्तकी योग्यतानुसार निश्चित हैं। उनकी शक्तिके अनुसार उनमें तारतम्य भी होता रहता है। जैसे गीले ईंधन और अग्निके संयोगसे धुआँ होता है, यह एक साधारण कार्यकारणभाव है। अब गीले ईंधन और अग्निकी जितनी शक्ति होगी उसके अनुसार उसमें प्रचुरता या न्यूनता—कमीबेशी हो सकती है। कोई मनुष्य बैठा हुआ है, उसके मनमें कोई-न-कोई विचार प्रतिक्षण आना ही चाहिये। अब यदि वह सिनेमा देखने चला जाता है तो तदनुसार उसका मानस प्रवृत्त होगा और यदि साधुके सत्संगमें बैठ जाता है तो दूसरे ही भव्य भाव उसके मनमें उत्पन्न होंगे। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परिणमन अपनी तत्कालीन उपादान-योग्यता और सामग्रीके अनुसार विकसित होते हैं। यह समझना कि 'सबका भविष्य सुनिश्चित है और उस सुनिश्चित अनन्तकालीन कार्यक्रमपर सारा जगत् चल रहा है' महान् भ्रम है। इस प्रकारका नियतिवाद न केवल कर्त्तव्यभ्रष्ट ही करता है अपितु पुरुषके अनन्त बल, वीर्य, पराक्रम, उत्थान और पौरुषको ही समाप्त कर देता है। जब जगत्‌के प्रत्येक पदार्थका अनन्तकालीन कार्यक्रम निश्चित है और सब अपनी नियतिकी पटरीपर ढँडकते जा रहे हैं, तब शास्त्रोपदेश, शिक्षा, दीक्षा और उन्नतिके उपदेश तथा प्रेरणाएँ बेकार हैं। इस नियतिवादमें क्या सदाचार और क्या दुराचार? स्त्री और पुरुषका उस समय वैसा संयोग होना ही था। जिसने जिसकी हत्या की उसका उसके हाथसे वैसा होना ही था। जिसे हत्याके अपराधमें पकडा जाता है, वह भी जब नियतिके परवश था तब उसका स्वातन्त्र्य कहाँ है, जिससे उसे हत्याका कर्त्ता कहा जाय? यदि वह यह चाहता कि 'मैं हत्या न करूँ और न कर सकता' तो ही

उसकी स्वतन्त्रता कही जा सकती है, पर उसके चाहने-न-चाहनेका प्रश्न ही नही है।

आ० कुन्दकुन्दका अकर्तृत्ववाद :

आचार्य कुन्दकुन्दने 'समयसार'में[1] लिखा है कि 'कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कोई गुणोत्पाद नही कर सकता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें कुछ नया उत्पन्न नही कर सकता। इसलिए सभी द्रव्य अपने-अपने स्वभावके अनुसार उत्पन्न रहते है।' इस स्वभावका वर्णन करनेवाली गाथाको कुछ विद्वान् नियतिवादके समर्थनमें लगाते है। पर इस गाथामें सीधी बात तो यही बताई है कि कोई द्रव्य दूसरे द्रव्यमे कोई नया गुण नही ला सकता, जो आयगा वह उपादान योग्यताके अनुसार ही आयगा। कोई भी निमित्त उपादानद्रव्यमे असद्भूत शक्तिका उत्पादक नही हो सकता, वह तो केवल सद्भूत शक्तिका सस्कारक या विकासक है। इसीलिए गाथाके द्वितीयार्धमें स्पष्ट लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभावके अनुसार उत्पन्न होते है।' प्रत्येक द्रव्यमे तत्कालमें भी विकसित होनेवाले अनेक स्वभाव और शक्तियाँ है। उनमेसे अमुक स्वभावका प्रकट होना या परिणमन होना तत्कालीन सामग्रीके ऊपर निर्भर करता है। भविष्य अनिश्चित है। कुछ स्थूल कार्यकारणभाव बनाये जा सकते है, पर कारणका अवश्य ही कार्य उत्पन्न करना सामग्रीकी समग्रता और अविकलतापर निर्भर है।[2] "नावश्यकारणानि कार्यवन्ति भवन्ति"—कारण अवश्य ही कार्यवाले हो, यह नियम नही है। पर वे कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करेंगे, जिसकी समग्रता और निर्बाधताकी गारन्टी हो।

आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ प्रत्येक पदार्थके स्वभावानुसार परिणमनकी चर्चा की है वहाँ द्रव्योके परस्पर निमित्त-नैमित्तिकभावको भी स्वीकार किया है। यह पराकर्तृत्व निमित्तके अहंकारकी निवृत्तिके लिये है। कोई निमित्त इतना अहंकारी न हो जाय कि वह समझ बैठे कि मैंने इस द्रव्यका सब कुछ कर दिया है। वस्तुत नया कुछ हुआ नही, जो उसमें था, उसका ही एक अंश प्रकट हुआ है। जीव और कर्मपुद्गलके परस्पर निमित्तनैमित्तिकभावकी चर्चा करते हुए आ० कुन्दकुन्दने स्वयं लिखा है कि—

"जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥

१. देखो, गाथा पृ० ८२ पर।
२ न्यायवि० टीका २।४६।

ण वि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तं तु कत्ता आदा सएण भावेण ॥
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥"

—समयसार गा० ८६–८८ ।

अर्थात् जीवके भावोके निमित्तसे पुद्‌गलोकी कर्मरूप पर्याय होती है और पुद्‌गलकर्मोके निमित्तसे जीव रागादिरूपसे परिणमन करता है । इतना विशेष है कि जीव उपादान बनकर पुद्‌गलके गुणरूपसे परिणमन नही कर सकता और न पुद्‌गल उपादान बनकर जीवके गुणरूपसे परिणत हो सकता है । केवल परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धके अनुसार दोनोका परिणमन होता है । अत. आत्मा उपादानदृष्टिसे अपने भावोका कर्ता है, वह पुद्‌गलकर्मके ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परिणमनका कर्त्ता नही है ।

इस स्पष्ट कथनका फलितार्थ यह है कि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव होनेपर भी हर द्रव्य अपने गुण-पर्यायोका ही कर्त्ता हो सकता है । अध्यात्ममे कर्तृत्व-व्यवहार उपादानमूलक है । अध्यात्म और व्यवहारका यह मूलभूत अन्तर है कि अध्यात्मक्षेत्रमें पदार्थोके मूल स्वरूप और शक्तियोका विचार होता है तथा उसीके आधारसे निरूपण होता है जब कि व्यवहारमे परनिमित्तकी प्रधानतासे कथन किया जाता है । 'कुम्हारने घडा बनाया' यह व्यवहार निमित्तमूलक है क्योकि 'घडा' पर्याय कुम्हारकी नही है किन्तु उन परमाणुओकी है जो घडेके रूपमे परिणत हुए है । कुम्हारने घडा बनाते समय भी अपने योग—हलनचलन और उपयोगरूपसे ही परिणति की है । उसका सन्निधान पाकर मिट्टीके परमाणुओने घट पर्यायरूपसे परिणति कर ली है । इस तरह हर द्रव्य अपने परिणमनका स्वयं उपादानमूलक कर्त्ता है । आ० कुन्दकुन्दने इस तरह निमित्तमूलक कर्तृत्वव्यवहारको अध्यात्मक्षेत्रमे नही माना है । पर स्वकर्तृत्व तो उन्हें हर तरह इष्ट है ही, और उसीका समर्थन और विवेचन उनने विशद रीतिसे किया है । परन्तु इस नियतिवादमे तो स्वकर्तृत्व ही नही है । हर द्रव्यकी प्रतिक्षणकी अनन्त भविष्यत्कालीन पर्यायें क्रम-क्रमसे सुनिश्चित है । वह उनकी धाराको नही बदल सकता । वह केवल नियतिपिशाचिनीका क्रीडास्थल है और उसीके यन्त्रसे अनन्तकाल तक परिचालित रहेगा । अगले क्षणको वह असत्से सत् या तमसे प्रकाशकी ओर ले जानेमें अपने उत्थान, बल, वीर्य, पराक्रम या पौरुषका कुछ भी उपयोग नही कर सकता । जब वह अपने भावोको ही नही बदल सकता, तब स्वकर्तृत्व कहाँ रहा ? तथ्य यह है कि भविष्यके प्रत्येक क्षणका अमुक रूप होना अनिश्चित है । मात्र इतना निश्चित है कि कुछ-न-कुछ होगा

अवश्य। द्रव्यशब्द स्वयं 'भव्य' होने योग्य, योग्यता और शक्तिका वाचक है। द्रव्य उस पिघले हुए मोमके समान है, जिसे किसी-न-किसी साँचेमे ढलना है। यह निश्चित नही है कि वह किस साँचेमें ढलेगा। जो आत्माएँ अबुद्ध और पुरुपार्थहीन हैं उनके सम्बन्धमें कदाचित् भविष्यवाणी की भी जा सकती हो कि अगले क्षणमें इनका यह परिणमन होगा। पर सामग्रीकी पूर्णता और प्रकृतिपर विजय करनेको दृढप्रतिज्ञ आत्माके सम्बन्धमें कोई भविष्य कहना असंभव है। कारण कि भविष्य स्वयं अनिश्चित है। वह जैसा चाहे वैसा एक सीमा तक बनाया जा सकता है। प्रतिसमय विकसित होनेके लिये सैंकडो योग्यतायें है। जिनकी सामग्री जब जिस रूपमें मिल जाती है या मिलाई जाती है वे योग्यताएँ कार्य-रूपमें परिणत हो जाती है। यद्यपि आत्माकी ससारी अवस्थामें नितान्त परतन्त्र स्थिति है और वह एक प्रकारसे यन्त्रारूढकी तरह परिणमन करता जाता है। फिर भी उस द्रव्यकी निज सामर्थ्य यह है कि वह रुके और सोचे, तथा अपने मार्गको स्वयं मोडकर उसे नई दिशा दे।

अतीत कार्यके बलपर आप नियतिको जितना चाहे कुदाइए, पर भविष्यके सम्बन्धमें उसकी सीमा है। कोई भयंकर अनिष्ट यदि हो जाता है तो सन्तोपके लिये 'जो होना था सो हुआ' इस प्रकार नियतिकी संजीवनी उचित कार्य करती भी है। जो कार्य जब हो चुका उसे नियत कहनेमे कोई शाब्दिक और आर्थिक विरोध नही है। किन्तु भविष्यके लिये नियत (done) कहना अर्थविरुद्ध तो है ही, शब्दविरुद्ध भी है। भविष्य (to be) तो नियंस्यत् या नियंस्यमान (will be done) होगा न कि नियत (done)। अतीतको नियत (done) कहिये, वर्तमानको नियम्यमान (being) और भविष्यको नियंस्यत् (will be done)।

अध्यात्मकी अकर्तृत्व भावनाका भावनीय अर्थ यह है कि निमित्तभूत व्यक्तिको अनुचित अहकार उत्पन्न न हो। एक अध्यापक कक्षामें अनेक छात्रोंको पढाता है। अध्यापकके शब्द सब छात्रोंके कानमें टकराते है, पर विकास एक छात्रका प्रथम श्रेणीका, दूसरेका द्वितीय श्रेणीका तथा तीसरेका तृतीय श्रेणीका होता है। अत- अध्यापक यदि निमित्त होनेके कारण यह अहंकार करे कि मैंने इस लडकेमें ज्ञान उत्पन्न कर दिया, तो वह एक अंशमें व्यर्थ ही है, क्योकि यदि अध्यापकके शब्दोमें ज्ञानके उत्पन्न करनेको क्षमता थी, तो सबमें एक-सा ज्ञान क्यो नही हुआ? और शब्द तो दिवालोमें भी टकराये होंगे, उनमें ज्ञान क्यो नही उत्पन्न हुआ? अत- गुरुको 'कर्तृत्व' का दुरहंकार उत्पन्न न होनेके लिए

उस अकर्तृत्व भावनाका उपयोग है। इस अकर्तृत्वकी सीमा पराकर्तृत्व है, स्वा-कर्तृत्व नही। पर नियतिवाद तो स्वकर्तृत्वको ही समाप्त कर देता है, क्योकि इसमें सब कुछ नियत है।

पुण्य और पाप क्या ? :

जब प्रत्येक जीवका प्रतिसमयका कार्यक्रम निश्चित है अर्थात् परकर्तृत्व तो है ही नही, साथ ही स्वकर्तृत्व भी नही है तब क्या पुण्य और क्या पाप ? क्या सदाचार और क्या दुराचार ? जब प्रत्येक घटना पूर्वनिश्चित योजनाके अनुसार घट रही है तब किसीको क्या दोष दिया जाय ? किसी स्त्रीका शील भ्रष्ट हुआ। इसमें जो स्त्री, पुरुष और शय्या आदि द्रव्य संबद्ध है, जब सबकी पर्यायें नियत है तब पुरुषको क्यो पकडा जाय ? स्त्रीका परिणमन वैसा होना था, पुरुषका वैसा और बिस्तरका भी वैसा। जब सबके नियत परिणमनोका नियत मेलरूप दुराचार भी नियत ही था, तब किसीको दुराचारी या गुण्डा क्यो कहा जाय ? यदि प्रत्येक द्रव्यका भविष्यके प्रत्येक क्षणका अनन्तकालीन कार्यक्रम नियत है, भले ही वह हमें मालूम न हो, तब इस नितान्त परतन्त्र स्थितिमें व्यक्तिका स्वपुरु-षार्थ कहाँ रहा ?

गोडसे हत्यारा क्यो ? :

नाथूराम गोडसेने महात्माजीको गोली मारी तो क्यो नाथूरामको हत्यारा कहा जाय ? नाथूरामका उस समय वैसा ही परिणमन होना था, महात्माजीका वैसा ही होना था और गोली और पिस्तौलका भी वैसा ही परिणमन निश्चित था। अर्थात् हत्या नामक घटना नाथूराम, महात्माजी, पिस्तौल और गोली आदि अनेक पदार्थोंके नियत कार्यक्रमका परिणाम है। इस घटनासे सम्बद्ध सभी पदार्थों-के परिणमन नियत थे, सब परवश थे। यदि यह कहा जाता है कि नाथूराम महात्माजीके प्राणवियोगमें निमित्त होनेसे हत्यारा है, तो महात्माजी नाथूरामके गोली चलानेमें निमित्त होनेसे अपराधी क्यो नही ? यदि नियतिदास नाथूराम दोषी है तो नियति-परवश महात्माजी क्यो नही। हम तो यह कहते है कि पिस्तौलसे गोली निकलनी थी और गोलीको छातीमें छिदना था, इसलिए नाथूराम और महात्माजीकी उपस्थिति हुई। नाथूराम तो गोली और पिस्तौलके उस अवश्यं-भावी परिणमनका एक निमित्त था, जिसे नियतिचक्रके कारण वहाँ पहुँचना पडा। जिन पदार्थोंकी नियतिका परिणाम हत्या नामकी घटना है, वे सब पदार्थ समान-रूपसे नियतियन्त्रसे नियन्त्रित हो जब उसमें जुटे है, तब उनमेसे क्यो मात्र नाथू-रामको पकडा जाता है ? इतना ही नही, हम सबको उस दिन ऐसी खबर सुननी

थी और श्री आत्माचरणको जज बनना था, इसलिये यह सब हुआ। अतः हम सब और आत्माचरण भी उस घटनाके नियत निमित्त हैं। अत. इस नियतिवादमें न कोई पुण्य है, न पाप, न सदाचार और न दुराचार। जब कर्तृत्व ही नही, तब क्या सदाचार और क्या दुराचार ? गोडसेको नियतिवादके नामपर ही अपना बचाव करना चाहिये था और जजको ही पकडना चाहिये था कि 'चूंकि तुम्हें हमारे मुकद्दमेका जज बनना था, इसलिये यह सब नियतिचक्र घूमा और हम सब उसमे फँसे।' और यदि सबको बचाना है, तो पिस्तौलके भविष्य पर सब दोष थोपा जा सकता है कि 'न पिस्तौलका उस समय वैसा परिणमन होना होता, तो न वह गोडसेके हाथमे आती और न गांधीजीकी छाती छिदती। सारा दोष पिस्तौलके नियत परिणमनका है।' तात्पर्य यह कि इस नियतिवादमे सब माफ है, व्यभिचार, चोरी, दगाबाजी और हत्या आदि सब कुछ उन-उन पदार्थोके नियत परिणाम है, इसमे व्यक्तिविशेषका कोई दोष नही।

एक ही प्रश्न : एक ही उत्तर :

इस नियतिवादमे एक ही प्रश्न है और एक ही उत्तर। 'ऐसा क्यो हुआ', 'ऐसा होना ही था' इस प्रकारका एक ही प्रश्न और एक ही उत्तर है। शिक्षा, दीक्षा, सस्कार, प्रयत्न और पुरुषार्थ, सबका उत्तर भवितव्यता। न कोई तर्क है, न कोई पुरुषार्थ और न कोई बुद्धि। अग्निसे धुआ क्यो हुआ ? ऐसा होना ही था। फिर गीला ईंधन न रहने पर धुँआ क्यो नही हुआ ? ऐसा ही होना था। जगत्मे पदार्थोके संयोग-वियोगसे विज्ञानसम्मत अनन्त कार्यकारणभाव है। अपनी उपादान-योग्यता और निमित्त-सामग्रीके संतुलनमे परस्पर प्रभावित, अप्रभावित या अर्धप्रभावित कार्य उत्पन्न होते है। वे एक दूसरेके परिणमनके निमित्त भी बनते है। जैसे एक घडा उत्पन्नहो रहा है। इसमें मिट्टी, कुम्हार, चक्र, चीवर आदि अनेक द्रव्य कारणसामग्रीमें सम्मिलित है। उस समय न केवल घडा ही उत्पन्न हुआ है किन्तु कुम्हारकी भी कोई पर्याय, चक्रकी अमुक पर्याय और चीवरकी भी अमुक पर्याय उत्पन्न हुई है। अत. उस समय उत्पन्न होनेवाली अनेक पर्यायोमें अपने-अपने द्रव्य उपादान है और बाकी एक दूसरेके प्रति निमित्त है। इसी तरह जगत्में जो अनन्त कार्य उत्पन्न हो रहे उनमे तत्तत् द्रव्य, जो परिणमन करते है, उपादान बनते है और शेष निमित्त होते है—कोई साक्षात् और कोई परम्परासे, कोई प्रेरक और कोई अप्रेरक, कोई प्रभावक और कोई अप्रभावक। यह तो योगायोगकी बात है। जिस प्रकारकी बाह्य और आभ्यन्तर कारणसामग्री जुट जाती है वैसा ही कार्य हो जाता है। आ० समन्तभद्रने लिखा है—

"बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः ।"

—बृहत्स्व० श्लो० ६० ।

अर्थात् कार्योत्पत्तिके लिए बाह्य और आभ्यन्तर—निमित्त और उपादान दोनो कारणोकी समग्रता—पूर्णता ही द्रव्यगत निज स्वभाव है।

ऐसी स्थितिमें नियतिवादका आश्रय लेकर भविष्यके सम्बन्धमे कोई निश्चित बात कहना अनुभवसिद्ध कार्यकारणभावकी व्यवस्थाके सर्वथा विपरीत है। यह ठीक है कि नियत कारणसे नियत कार्यकी उत्पत्ति होती है और इस प्रकारके नियतत्वमें कोई परिवर्तन नही हो सकता। पर इस कार्यकारणभावकी प्रधानता स्वीकार करनेपर नियतिवाद अपने नियतरूपमें नही रह सकता।

कारण हेतु :

जैनदर्शनमें कारणको भी हेतु मानकर उसके द्वारा अविनाभावी कार्यका ज्ञान कराया जाता है। अर्थात् कारणको देखकर कार्यकारणभावकी नियतताके बलपर उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यका भी ज्ञान करना अनुमान-प्रणालीमें स्वीकृत है। हाँ, उसके साथ दो शर्तें लगी है—'यदि कारण-सामग्रीकी पूर्णता हो और कोई प्रतिबन्धक कारण न आवें, तो अवश्य ही कारण कार्यको उत्पन्न करेगा।' यदि समस्त पदार्थोका सब कुछ नियत हो तो किसी नियत कारणसे नियत कार्यकी उत्पत्तिका उदाहरण भी दिया जा सकता था, पर सामान्यतया कारणसामग्रीकी पूर्णता और अप्रतिबन्धका भरोसा इसलिए नही दिया जा सकता कि भविष्य सुनिश्चित नही है। इसीलिये इस बातकी सतर्कता रखी जाती है कि कारण-सामग्रीमें कोई बाधा उत्पन्न न हो। आजके यन्त्रयुगमे यद्यपि बड़े-बड़े यन्त्र अपने निश्चित उत्पादनके आँकडोका खाना पूरा कर देते हैं पर उनके कार्यकालमें बड़ी सावधानी और सतर्कता बरती जाती है। फिर भी कभी-कभी गड़बड़ हो जाती है। बाधा आनेकी और सामग्रीकी न्यूनताकी सम्भावना जब है तब निश्चित कारणसे निश्चित कार्यकी उत्पत्ति संदिग्धकोटिमें जा पहुँचती है। तात्पर्य यह कि पुरुषका प्रयत्न एक हदतक भविष्यकी रेखाको बाँधता भी है, तो भी भविष्य अनुमानित और सम्भावित ही रहता है।

नियति एक भावना है :

इस नियतिवादका उपयोग किसी घटनाके घट जानेपर साँस लेनेके लिये और मनको समझानेके लिए तथा आगे फिर कमर कसकर तैयार हो जानेके लिए किया जा सकता है और लोग करते भी हैं, पर इतने मात्रसे उसके आधारसे वस्तु-व्यवस्था नहीं की जा सकती। वस्तुव्यवस्था तो वस्तुके वास्तविक स्वरूप और

परिणमनपर ही निर्भर करती हैं। भावनाएँ चित्तके समाधानके लिये भायी जाती हैं और उनसे वह उद्देश्य सिद्ध हो भी जाता है; पर तत्त्वव्यवस्थाके क्षेत्रमें भावनाका उपयोग नहीं है। वहाँ तो वैज्ञानिक विश्लेषण और तन्मूलक कार्य-कारणभावकी परम्पराका ही कार्य है उसीके बलपर पदार्थके वास्तविक स्वरूपका निर्णय किया जा सकता है।

कर्मवाद :

जगत्के प्रत्येक कार्यमें कर्म कारण हैं। ईश्वर भी कर्मके अनुसार ही फल देता है। विना कर्मके पत्ता भी नहीं हिलता। यह कर्मवाद है, जो ईश्वरके ऊपर आनेवाले विषमताके दोषको अपने ऊपर ले लेता है और निरीश्वरवादियोंका ईश्वर बन बैठा है। प्राणीकी प्रत्येक क्रिया कर्मसे होती है। जैसा जिसने कर्म बाँधा है उसके विपाकके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति स्वयं होती जाती है। पुराना कर्म पकता है और उसीके अनुसार नया बँधता जाता है। यह कर्मका चक्कर अनादिसे है। वैशेषिकके[1] मतसे कर्म अर्थात् अदृष्ट जगत्के प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका कारण होता है। विना अदृष्टके परमाणु भी नहीं हिलता। अग्निका जलना, वायुका चलना, अणु तथा मनकी क्रिया सभी कुछ उपभोक्ताओंके अदृष्टसे होते हैं। एक कपडा, जो अमेरिकामें बन रहा है, उसके परमाणुओंमें क्रिया भी उस कपड़ेके पहिननेवालेके अदृष्टसे ही हुई है। कर्मवासना, संस्कार और अदृष्ट आदि आत्मामें पड़े हुए संस्कारको ही कहते हैं। हमारे मन, वचन और कायकी प्रत्येक क्रिया आत्मापर एक संस्कार छोड़ती है जो दीर्घकाल तक बना रहता है और अपने परिपाक कालमें फल देता है। जब वह आत्मा समस्त संस्कारों-से रहित हो वासनाशून्य हो जाता है तब वह मुक्त कहलाता है। एक बार मुक्त हो जानेके बाद पुन- कर्मसंस्कार आत्मापर नहीं पड़ते।

इस कर्मवादका मूल प्रयोजन है जगत्की दृश्यमान विषमताकी समस्याको सुलझाना। जगत्की विचित्रताका समाधान कर्मके माने विना हो नहीं सकता। आत्मा अपने पूर्वकृत या इहकृत कर्मोंके अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियोंका निर्माण करता है, जिसका असर बाह्यसामग्रीपर भी पड़ता है। उसके अनुसार उसका परिणमन होता है। यह एक विचित्र बात है कि पाँच वर्ष पहलेके बने खिलौनोंमें अभी उत्पन्न भी नहीं हुए बच्चेका अदृष्ट कारण हो। यह तो कदाचित् समझमें भी आ जाय, कि कुम्हार घड़ा बनाता है और उसे बेचकर वह अपनी आजीविका चलाता है, अतः उसके निर्माणमें कुम्हारका अदृष्ट कारण भी हो, पर उस व्यक्तिके अदृष्टको घड़ेकी उत्पत्तिमें कारण मानना, जो उसे खरीदकर उपयोग-

में लायगा, न तो युक्तिसिद्ध ही है और न अनुभवगम्य ही। फिर जगत्में प्रतिक्षण अनन्त ही कार्य ऐसे उत्पन्न और नष्ट हो रहे हैं, जो किसीके उपयोगमें नही आते। पर भौतिक सामग्रीके आधारसे वे वरावर परस्पर परिणत होते जाते हैं।

कार्यमात्रके प्रति अदृष्टको कारण माननेके पीछे यह ईश्वरवाद छिपा हुआ है कि जगत्के प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रिया ईश्वरकी प्रेरणासे होती है, बिना उसकी इच्छाके पत्ता भी नही हिलता। और ससारकी विपमता और निर्दयतापूर्ण परिस्थितियोके समाधानके लिए प्राणियोके अदृष्टकी आड लेना, जव आवश्यक हो गया तव 'अर्थात्' ही अदृष्टको जन्यमात्रकी कारणकोटिमें स्थान मिल गया, क्योकि कोई भी कार्य किसी-न-किसीके साक्षात् या परम्परासे उपयोगमें आता ही है और विपमता और निर्दयतापूर्ण स्थितिका घटक होता ही है। जगत्में परमाणुओके परस्पर संयोग-विभागसे वडे-वडे पहाड, नदी, नाले, जगल और विभिन्न प्राकृतिक दृश्य वने हैं। उनमें भी अदृष्टको और उसके अधिष्ठाता किसी चेतनको कारण मानना वस्तुत अदृष्टकल्पना ही है। 'दृष्टकारणवैफल्ये अदृष्टपरिकल्पनोपपत्ते—जव दृष्टकारणकी सगति न बैठे तो अदृष्ट हेतुकी कल्पना की जाती हैं', यह दर्शनशास्त्रका न्याय है। दो मनुष्य समान परिस्थितियोमें उद्यम और यत्न करते हैं पर एककी कार्यकी सिद्धि देखी जाती है और दूसरेको सिद्धि तो दूर रही, उलटा नुकसान होता है, ऐसी दशामें 'कारणसामग्री'की कमी या विपरीततांकी खोज न करके किसी अदृष्टको कारण मानना दर्शनशास्त्रको युक्तिके क्षेत्रसे वाहर कर मात्र कल्पनालोकमें पहुँचा देना है। कोई भी कार्य अपनी कारणसामग्रीकी पूर्णता और प्रतिवन्धकी शून्यतापर निर्भर करता है। वह कारणसामग्री जिस प्रकारकी सिद्धि या असिद्धिके लिये अनुकूल वैठती है वैसा कार्य अवश्य ही उत्पन्न होता है। जगत्के विभिन्न कार्यकारणभाव सुनिश्चित हैं। द्रव्योमें प्रतिक्षण अपनी पर्याय वदलनेकी योग्यता स्वयं है। उपादान और निमित्त उभयसामग्री जिस प्रकारकी पर्यायके लिये अनुकूल होती है वैसी ही पर्याय उत्पन्न हो जाती है। 'कर्म या अदृष्ट जगत्में उत्पन्न होनेवाले यावत् कार्योके कारण होते हैं' इस कल्पनाके कारण ही अदृष्टका पदार्थोसे सम्वन्ध स्थापित करनेके लिए आत्माको व्यापक मानना पड़ा।

कर्म क्या है ?

फिर कर्म क्या है ? और उसका आत्माके साथ सम्वन्ध कैसे होता है ? उसके परिपाककी क्या सीमा है ? इत्यादि प्रश्न हमारे सामने हैं ? वर्तमानमें आत्माकी

स्थिति अर्धभौतिक जैसी हो रही है[1]। उसका ज्ञानविकास, क्रोधादिविकार, इच्छा और संकल्प आदि सभी, बहुत कुछ शरीर, मस्तिष्क और हृदयकी गतिपर निर्भर करते है। मस्तिष्ककी एक कील ढीली हुई कि सारी स्मरण-शक्ति समाप्त हो जाती है और मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। शरीरके प्रकृतिस्थ रहनेसे ही आत्माके गुणोका विकास और उनका अपनी उपयुक्त अवस्थामे सचालित रहना बनता है। बिना इन्द्रिय आदि उपकरणोके आत्माकी ज्ञानशक्ति प्रकट ही नही हो पाती। स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, विचार, कला, सौन्दर्याभिव्यक्ति और सगीत आदि सम्बन्धी प्रतिभाओका विकास भीतरी और बाहरी दोनो उपकरणोकी अपेक्षा रखता है।

आत्माके साथ अनादिकालसे कर्मपुद्गल (कार्मण शरीर) का सम्बन्ध है, जिसके कारण वह अपने पूर्ण चैतन्यरूपमें प्रकाशमान नहीं हो पाता। यह शंका स्वाभाविक है कि 'क्यो चेतनके साथ अचेतनका सपर्क हुआ ? दो विरोधी द्रव्योका सम्बन्ध हुआ ही क्यो ? हो भी गया हो तो एक द्रव्य दूसरे विजातीय द्रव्यपर प्रभाव क्यो डालता है ?' इसका उत्तर इस छोर से नही दिया जा सकता, किन्तु दूसरे छोरसे दिया जा सकता है—आत्मा अपने पुरुषार्थ और साधनाओसे क्रमश. वासनाओ और वासनासे उद्बोधक कर्मपुद्गलोसे मुक्ति पा जाता है और एक बार शुद्ध (मुक्त) होनेके बाद उसे पुन. कर्मबन्धन नही होता, अत. हम समझते है कि दोनो पृथक् द्रव्य है। एक बार इस कार्मणशरीरसे सयुक्त आत्माका चक्र चला तो फिर कार्यकारणव्यवस्था जमती जाती है। आत्मा एक संकोच-विकासशील—सिकुडने और फैलनेवाला द्रव्य है जो अपने संस्कारोके परिपाकानुसार छोटे-बड़े स्थूल शरीरके आकार हो जाता है। देहात्मवाद (जडवाद) की बजाय देहप्रमाण आत्मा माननेसे सब समस्याएँ हल हो जाती है।

---

१. 'नवनीत' जनवरी ५३ के अकमें 'साइसवीकली' से एक 'ट्रथड्रग' का वर्णन दिया है। जिसका इजेक्शन देनेसे मनुष्य साधारणतया सत्य बात बता देता है। 'नवनीत' नवम्बर ५२ में बताया है कि 'सोडियम पेटोथल' का इजेक्शन देने पर भयकर अपराधी अपना अपराध स्वीकार कर लेता है। इन इजेक्शनोंके प्रभावसे मनुष्यकी उन ग्रन्थियोंपर विशेष प्रभाव पड़ता है जिनके कारण उसकी झूठ बोलनेको प्रवृत्ति होती है।

अगस्त ५२ के 'नवनीत' में साइन्स डाइजेस्टके एक लेखका उद्धरण है, जिसमें 'क्रोमोसोम' में तबदीली कर देनेसे १२ पौंड वजनका खरगोश उत्पन्न किया गया है। हृदय और आँखें बदलनेके भी प्रयोग विज्ञानने कर दिखाये है।

आत्मा देहप्रमाण भी अपने कर्मसस्कारके कारण ही होता है। कर्मसस्कार छूट जानेके बाद उसके प्रसारका कोई कारण नही रह जाता, अत. वह अपने अन्तिम शरीरके आकार बना रहता है, न सिकुडता है और न फैलता है। ऐसे संकोचविकासशील शरीरप्रमाण रहनेवाले, अनादि कार्मण शरीरसे संयुक्त, अर्ध-भौतिक आत्माकी प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक विचार और वचनव्यवहार अपना एक संस्कार तो आत्मा और उसके अनादिसाथी कार्मण शरीरपर डालते हैं। संस्कार तो आत्मापर पडता है, पर उस सस्कारका प्रतिनिधि द्रव्य उस कार्मणशरीरसे बँध जाता है जिसके परिपाकानुसार आत्मामें वही भाव और विचार जाग्रत होते हैं और उसीका असर बाह्य सामग्रीपर भी पडता है, जो हित और अहितमे साधक बन जाती है। जैसे कोई छात्र किसी दूसरे छात्रकी पुस्तक चुराता है या उसकी लालटेन इस अभिप्रायसे नष्ट करता है कि 'वह पढने न पावे' तो वह इस ज्ञान-विरोधक क्रिया तथा विचारसे अपनी आत्मामें एक प्रकारका विशिष्ट कुसस्कार डालता है। उसी समय इस सस्कारका मूर्त्तरूप पुद्गलद्रव्य आत्माके चिरसंगी कार्मणशरीरसे बँध जाता है। जब उस सस्कारका परिपाक होता है तो उस बँधे हुए कर्मद्रव्यके उदयसे आत्मा स्वय उस हीन और अज्ञान अवस्थामें पहुँच जाता है जिससे उसका झुकाव ज्ञानविकासकी ओर नही हो पाता। वह लाख प्रयत्न करे, पर अपने उस कुसस्कारके फलस्वरूप ज्ञानसे वचित हो ही जाता है। यही कहलाता है 'जैसी करनी तैसी भरनी।' ये विचार और क्रिया न केवल आत्मापर ही असर डालते हैं किन्तु आसपासके वातावरणपर भी अपना तीव्र, मन्द और मध्यम असर छोडते हैं। शरीर, मस्तिष्क और हृदयपर तो उसका असर निराला ही होता है। इस तरह प्रतिक्षणवर्ती विचार और क्रियाएँ यद्यपि पूर्वबद्ध कर्मके परिपाकसे उत्पन्न हुई हैं पर उनके उत्पन्न होते ही जो आत्माकी नयी आसक्ति, अनासक्ति, राग, द्वेष और तृष्णा आदि रूप परिणति होती है ठीक उसीके अनुसार नये-नये सस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल सम्बन्धित होते जाते हैं और पुराने झडते जाते हैं। इस तरह यह कर्मबन्धनका सिलसिला तब तक बराबर चालू रहता है जब तक आत्मा सभी पुरानी वासनाओंसे शून्य होकर पूर्ण वीतराग या सिद्ध नही हो जाता।

कर्मविपाक :

विचारणीय बात यह है कि कर्मपुद्गलोका विपाक कैसे होता है? क्या कर्मपुद्गल स्वयमेव किसी सामग्रीको जुटा लेते हैं और अपने आप फल दे देते हैं या इसमें कुछ पुरुषार्थ की भी अपेक्षा है? अपने विचार, वचनव्यवहार और क्रियाएँ

अन्तत. संस्कार तो आत्मामें ही उत्पन्न करती हैं और उन संस्कारोको प्रबोध देनेवाले पुद्गलद्रव्य कार्मणशरीरसे बँधते हैं। ये पुद्गल शरीरके बाहरसे भी खिंचते हैं और शरीरके भीतरसे भी। उम्मीदवार कर्मयोग्य पुद्गलोंमेंसे कर्म बन जाते हैं। कर्मके लिए एक विशेष प्रकारके सूक्ष्म और असरकारक पुद्गलद्रव्योंकी अपेक्षा होती है। मन, वचन और कायकी प्रत्येक क्रिया, जिसे योग कहते हैं, परमाणुओंमें हलन-चलन उत्पन्न करती है और उसके योग्य परमाणुओंको बाहर भीतरसे खींचती जाती है। यों तो शरीर स्वयं एक महान् पुद्गल पिंड है। इसमें असंख्य परमाणु श्वासोच्छ्वास तथा अन्य प्रकारसे शरीरमें आते-जाते रहते हैं। इन्हींमेंसे छटकर कर्म बनते जाते हैं।

जब कर्मके परिपाकका समय आता है, जिसे उदयकाल कहते हैं, तब उसके उदयकालमें जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी सामग्री उपस्थित होती है वैसा उसका तीव्र, मध्यम और मन्द फल होता है। नरक और स्वर्गमें औसतन असाता और साताकी सामग्री निश्चित है। अत. वहाँ क्रमश. असाता और साताका उदय अपना फलोदय करता है और साता और असाता प्रदेशोदयके रूपमें अर्थात् फल देनेवाली सामग्रीकी उपस्थिति न होनेसे विना फल दिये ही झड़ जाते हैं। जीवमें साता और असाता दोनो बँधी हैं, किन्तु किसीने अपने पुरुपार्थसे साताकी प्रचुर सामग्री उपस्थित की है तथा अपने चित्तको सुसमाहित किया है तो उसको आनेवाला असाताका उदय फलविपाकी न होकर प्रदेशविपाकी ही होगा। स्वर्गमें असाताके उदयकी वाह्य सामग्री न होनेसे असाताका प्रदेशोदय या उसका सातारूपमें परिणमन होना माना जाता है। इसी तरह नरकमें केवल असाताकी सामग्री होनेसे वहाँ साताका या तो प्रदेशोदय ही होगा या उसका असातारूपसे परिणमन हो जायगा।

जगत्के समस्त पदार्थ अपने-अपने उपादान और निमित्तके सुनिश्चित कार्य-कारणभावके अनुसार उत्पन्न होते हैं और सामग्रीके अनुसार जुटते और बिखरते हैं। अनेक सामाजिक और राजनैतिक मर्यादाएँ साता और असाताके साधनोंकी व्यवस्थाएँ बनाती हैं। पहले व्यक्तिगत सपत्ति और साम्राज्यका युग था तो उसमें उच्चतम पद पानेमें पुराने साताके संस्कार कारण होते थे, तो अब प्रजातन्त्रके युगमें जो भी उच्चतम पद हैं, उन्हें पानेमें सस्कार सहायक होंगे।

जगत्के प्रत्येक कार्यमें किसी-न-किसीके अदृष्टको निमित्त मानना न तर्कसिद्ध है और न अनुभवगम्य ही। इस तरह यदि परम्परासे कारणो की गिनती की जाय तो कोई व्यवस्था ही नही रहेगी। कल्पना कीजिए—आज कोई व्यक्ति नरकमें

पडा हुआ असाताके उदयमे दु.ख भोग रहा है और एक दरी किसी कारखानेमे वन रही है जो २० वर्ष वाद उसके उपयोगमें आयगी और साता उत्पन्न करेगी तो आज उस दरीमें उस नरकस्थित प्राणीके अदृष्टको कारण माननेमें वडी विसगति उत्पन्न होती है। अत- समस्त जगत्के पदार्थ अपने-अपने साक्षात् उपादान और निमित्तोसे उत्पन्न होते हैं और यथासम्भव सामग्रीके अन्तर्गत होकर प्राणियोके सुख और दु खमें तत्काल निमित्तता पाते रहते हैं। उनकी उत्पत्तिमें किसी-न-किसीके अदृष्टको जोडनेकी न तो आवश्यकता ही है और न उपयोगिता ही और न कार्यकारणव्यवस्थाका वल ही उसे प्राप्त है।

कर्मोका फल देना, फलकालकी सामग्रीके ऊपर निर्भर करता है। जैसे एक व्यक्तिके असाताका उदय आता है, पर वह किसी साधुके सत्संगमे बैठा हुआ तटस्थभावसे जगत्के स्वरूपको समझकर स्वात्मानदमे मग्न हो रहा है। उस समय आनेवाली असाताका उदय उस व्यक्तिको विचलित नही कर सकता, किन्तु वह वाह्य असाताकी सामग्री न होनेसे विना फल दिये ही झड जायगा। कर्म अर्थात् पुराने सस्कार। वे सस्कार अवुद्ध व्यक्तिके ऊपर ही अपना कुत्सित प्रभाव डाल सकते हैं, ज्ञानीके ऊपर नही। यह तो वलावलका प्रश्न है। यदि आत्मा वर्तमानमे जाग्रत है तो पुराने संस्कारोपर विजय पा सकता है और यदि जाग्रत नही है तो वे कुसस्कार ही फूलते-फलते जाँयगें। आत्मा जवसे चाहे तवसे नया कदम उठा सकता है और उसी समयसे नवनिर्माणकी धारा प्रारम्भ कर सकता है। इसमें न किसी ईश्वरकी प्रेरणाकी आवश्यकता है और न "कर्मगति टाली नाहिं टलै"के अटल नियमकी अनिवार्यता ही है।

जगत्का अणु-परमाणु ही नही किन्तु चेतन-आत्माएँ भी प्रतिक्षण अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण अविराम गतिसे पूर्वपर्यायको छोड उत्तर पर्यायको धारण करती जा रही हैं। जिस क्षण जैसी वाह्य और आभ्यन्तर सामग्री जुटती जाती है उसीके अनुसार उस क्षणका परिणमन होता जाता है। हमें जो स्थूल परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी असंख्य सूक्ष्म परिणमनोका जोड और औसत है। इसीमें पुराने सस्कारोकी कारणसामग्रीके अनुसार सुगति या दुर्गति होती जाती है। इसी कारण सामग्रीके जोड-तोड और तरतमतापर ही परिणमनका प्रकार निश्चित होता है। वस्तुके कभी सदृश, कभी विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश और असदृश आदि विविध प्रकारके परिणमन हमारी दृष्टिसे वरावर गुजरते हैं। यह निश्चित है कि कोई भी कार्य अपने कार्यकारणभावको उल्लंघन करके उत्पन्न नही हो सकता। द्रव्यमें सैकडो ही योग्यताएँ विकसित

होनेको प्रतिसमय तैयार बैठी है, उनमेंसे उपयुक्त योग्यताका उपयुक्त समयमें विकास करा लेना, यही नियतिके बीच पुरुषार्थका कार्य है। इस पुरुषार्थसे कर्म भी एक हद तक नियन्त्रित होते हैं।

यदृच्छावाद :

यदृच्छावादका अर्थ है—अटकलपच्चू। मनुष्य जिस कार्यकारण-परम्पराका सामान्य ज्ञान भी नही कर पाता है उसके सम्बन्धमें वह यदृच्छाका सहारा लेता है। वस्तुत. यदृच्छावाद उस नियति और ईश्वरवादके विरुद्ध एक प्रतिशब्द है, जिनने जगत्को नियन्त्रित करनेका रूपक बाँधा था। यदि यदृच्छाका अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अपनी कारणसामग्रीसे होता है और सामग्रीको कोई बन्धन नही कि वह किस समय, किसे, कहाँ, कैसे रूपमें मिलेगी, तो यह एक प्रकारसे वैज्ञानिक कार्यकारणभावका ही समर्थन है। पर यदृच्छाके भीतर वैज्ञानिकता और कार्यकारण भाव दोनोकी ही उपेक्षाका भाव है।

पुरुषवाद :

'पुरुष ही इस जगत्का कर्त्ता, हर्ता और विधाता है' यह मत सामान्यतः पुरुषवाद कहलाता है। प्रलय कालमे भी उस पुरुषकी ज्ञानादि शक्तियाँ अलुप्त रहती हैं।[1] जैसे कि मकड़ी जालेके लिए और चन्द्रकान्तमणि जलके लिए, तथा वटवृक्ष प्ररोह—जटाओके लिए कारण होता है उसी तरह पुरुष समस्त जगत्के प्राणियोंकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयमें निमित्त होता है। पुरुषवादमें दो मत सामान्यत प्रचलित हैं। एक तो है ब्रह्मवाद, जिसमें ब्रह्म ही जगत्के चेतन-अचेतन, मूर्त और अमूर्त सभी पदार्थोका उपादान कारण होता है। दूसरा है ईश्वरवाद, जिसमें वह स्वयंसिद्ध जड और चेतन द्रव्योके परस्पर संयोजनमें निमित्त होता है।

ब्रह्मवादमें एक ही तत्त्व कैसे विभिन्न पदार्थोके परिणमनमें उपादान बन सकता है? यह प्रश्न विचारणीय है। आजके विज्ञानने अनन्त एटमकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करके उनके परस्पर संयोग और विभागसे इस विचित्र सृष्टिकी उत्पत्ति मानी है। यह युक्तिसिद्ध भी है और अनुभवगम्य भी। केवल माया कह देने मात्रसे अनन्त जड़ पदार्थ, तथा अनन्त चेतन—आत्माओका पारस्परिक यथार्थ भेद—व्यक्तित्व, नष्ट नही किया जा सकता। जगत्में अनन्त आत्माएँ अपने-अपने संस्कार और वासनाओके अनुसार विभिन्न पर्यायोंको धारण करती हैं। उनके

१ "ऊर्णनाभ इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्ष. स हेतु. सर्वजन्मिनाम्॥"
—उपनिषत्, उद्धृत प्रमेयक० पृ० ६५।

व्यक्तित्व अपने-अपने हैं। एक भोजन करता है तो तृप्ति दूसरेको नही होती। इसी तरह जड पदार्थोके परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। अनन्त प्रयत्न करनेपर भी दो परमाणुओकी स्वतन्त्र सत्ता मिटाके उनमें एकत्व नही लाया जा सकता। अत जगत्में प्रत्यक्षसिद्ध अनन्त सत्व्यक्तियोका अपलाप करके केवल एक पुरुषको अनन्त कार्योके प्रति उपादान मानना कोरी कल्पना ही है।

इस अद्वैतैकान्तमें[1] कारण और कार्यका, कारक और क्रियाओका, पुण्य और पाप कर्मका, सुख-दु ख फलका, इहलोक और परलोकका, विद्या और अविद्याका तथा बन्ध और मोक्ष आदिका वास्तविक भेद ही नही रह सकता। अत प्रतीतिसिद्ध जगत्व्यवस्थाके लिए ब्रह्मवाद कथमपि उचित सिद्ध नही होता। सकल जगत्मे 'सत्' 'सत्' का अन्वय देखकर एक 'सत्' तत्त्वकी कल्पना करना और उसे ही वास्तविक मानना प्रतीतिविरुद्ध है। जैसे विद्यार्थीमण्डलमें 'मण्डल' अपने-आपमें कोई चीज नही है, किन्तु स्वतन्त्र सत्तावाले अनेक विद्यार्थियोको सामूहिक रूपसे व्यवहार करनेके लिये एक 'मण्डल' की कल्पना कर ली जाती है, इसमें तत्तत् विद्यार्थी तो परमार्थसत् है, एक मण्डल नही; उसी तरह अनेक सद्व्यक्तियोमें कल्पित एक सत्त्व व्यवहारसत्य ही हो सकता है परमार्थसत्य नही।

ईश्वरवाद :

ईश्वरवादमे ईश्वरको जन्यमात्रके प्रति निमित्त माना जाता है। उसकी इच्छाके विना जगत्का कोई भी कार्य नही हो सकता। विचारणीय वात यह है कि जव ससारमें अनन्त जड और चेतन पदार्थ, अनादिकालसे स्वतन्त्र सिद्ध है, ईश्वरने भी असत्से किसी एक भी सत्को उत्पन्न नही किया, वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्रीके अनुसार अपना परिणमन करते रहते हैं तव एक सर्वाधिष्ठाता ईश्वर माननेकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है ? यदि ईश्वर कारुणिक है, तो उसने जगत्में दु ख और दु.खी प्राणियोकी सृष्टि ही क्यो की ? अदृष्टका नाम लेना तो केवल वहाना है, क्योकि अदृष्ट भी तो ईश्वरसे ही उत्पन्न होता है। सृष्टिके पहले तो अनुकम्पाके योग्य प्राणी ही नही थे, फिर उसने किस पर अनुकम्पा की ? इस तरह जैसे-जैसे हम इस सार्वनियन्तृवादपर विचार करते हैं, वैसे-वैसे इसकी नि.सारता सिद्ध होती जाती है।

अनादिकालसे जड और चेतन पदार्थ अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप स्वभावके कारण परस्पर-सापेक्ष भी होकर तथा क्वचित् स्थूल वाह्य सामग्रीसे निरपेक्ष भी रहकर स्वयं परिणमन करते जाते है। इसके लिए न किसीको चिंता करनेकी

१. देखो—आप्तमीमासा २।१—६।

जरूरत है और न नियंत्रण करनेकी। नित्य, एक और समर्थ ईश्वरसे समस्त क्रमभावी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जाने चाहिये। सहकारी कारण भी तो ईश्वरको ही उत्पन्न करना है। सर्वव्यापक ईश्वरमें क्रिया भी नही हो सकती। उसकी इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति भी नित्य है, अत. क्रमसे कार्य होना कथमपि सम्भव नही है।

जगत्के उद्धारके लिए किसी ईश्वरकी कल्पना करना तो द्रव्योके निज स्वरूप को ही परतन्त्र बना देना है। हर आत्मा अपने विवेक और सदाचरणसे अपनी उन्नतिके लिए स्वय जवावदार है। उसे किसी विधाताके सामने उत्तरदायी नही होना है। अत जगत्के सम्बन्धमे पुरुषवाद भी अन्य वादोकी तरह निःसार है।

भूतवाद :

भूतवादी पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयसे ही चेतन-अचेतन और मूर्त-अमूर्त सभी पदार्थोकी उत्पत्ति मानते है। चेतना भी इनके मतसे पृथिव्यादि भूतोकी ही एक विशेष परिणति है, जो विशेष प्रकारकी परिस्थितिमें उत्पन्न होती है और उस परिस्थितिके बिखर जानेपर वह वही समाप्त हो जाती है। जैसे कि अनेक प्रकारके छोटे-बडे पुर्जोसे एक मशीन तैयार होती है और उन्हीके परस्पर सयोगसे उसमें गति भी आ जाती है और कुछ समयके बाद पुर्जो-के घिस जानेपर वह टूटकर बिखर जाती है, उसी तरहका यह जीवनयंत्र है। यह भूतात्मवाद उपनिषद् कालसे ही यहाँ प्रचलित है।

इसमें विचारणीय बात यही है कि—इस भौतिक पुतलेमें, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान, जिजीविषा और विविध कलाओके प्रति जो नैसर्गिक झुकाव देखा जाता है, वह अनायास कैसे आ गया ? स्मरण ही एक ऐसी वृत्ति है, जो अनुभव करनेवालेके चिरकालस्थायी सस्कारकी अपेक्षा रखती है।

विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार जीवजातिका विकास मानना भी भौतिक-वादका एक परिष्कृत रूप है। इसमे क्रमश अमीवा, घोंघा आदि बिना रीढके प्राणियोसे, रीढदार पशु और मनुष्योकी सृष्टि हुई। जहाँ तक इनके शरीरके आनुवंशिक विकासका सम्बन्ध है वहाँ तक इस सिद्धान्तकी सगति किसी तरह खीचतान करके बैठाई भी जा सकती है, पर चेतन और अमूर्तिक आत्माकी उत्पत्ति, जड और मूर्तिक भूतोसे कैसे सम्भव हो सकती है ?

इस तरह जगत्की उत्पत्ति आदिके सम्बन्धमे काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, कर्म, पुरुष और भूत इत्यादिको कारण माननेकी विचार-धाराएँ जबसे इस मानवके जिज्ञासा-नेत्र खुले, तबसे बराबर चली आती है। ऋग्वेदके एक ऋषि तो चकित

होकर विचारते हैं कि सृष्टिके पहले यहाँ कोई सत् पदार्थ नहीं था और असत्से ही सत्की उत्पत्ति हुई है। तो दूसरे ऋषि सोचते हैं कि असत्से सत् कैसे हो सकता है? अत पहले भी सत् ही था और सत्से ही सत् हुआ है। तो तीसरे ऋषिका चिंतन सत् और असत् उभयकी ओर जाता है। चौथा ऋषि उस तत्त्वको जिससे इस जगत्का विकास हुआ है, वचनोंके अगोचर कहता है। तात्पर्य यह है कि सृष्टिकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें आज तक सहस्रों चिन्तकोंने अनेक प्रकारके विचार प्रस्तुत किये हैं।

अव्याकृतवाद :

भ० बुद्धसे 'लोक सान्त है या अनन्त, शाश्वत है या अशाश्वत, जीव और शरीर भिन्न है या अभिन्न, मरनेके बाद तथागत होते हैं या नही ?' इस प्रकारके प्रश्न जब मोलुक्यपुत्रने पूँछे तो उन्होंने इनको अव्याकृत कोटिमें डाल दिया और कहा कि मैंने इन्हें अव्याकृत इसलिए कहा है कि 'उनके बारेमें कहना सार्थक नहीं है, न भिक्षुचर्याके लिए और न ब्रह्मचर्यके लिए ही उपयोगी है, न यह निर्वेद, शान्ति, परमज्ञान और निर्वाणके लिए आवश्यक ही है।' आत्मा आदिके सम्बन्धमें बुद्धकी यह अव्याकृतता हमें सन्देहमें डाल देती है। जब उस समयके वातावरणमें इन दार्शनिक प्रश्नोकी जिज्ञासा सामान्यसाधकके मनमे उत्पन्न होती थी और इसके लिये वाद तक रोपे जाते थे, तब बुद्ध जैसे व्यवहारी चिन्तकका इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें मौन रहना रहस्यसे खाली नही है। यही कारण है कि आज बौद्ध तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमे अनेक विवाद उत्पन्न हो गए हैं। कोई बौद्धके निर्वाणको शून्यरूप या अभावात्मक मानता है, तो कोई उसे सद्भावात्मक। आत्माके सम्बन्धमें बुद्धका यह मत तो स्पष्ट था कि वह न तो उपनिषद्वादियोंकी तरह शाश्वत ही है और न भूतवादियोकी तरह सर्वथा उच्छिन्न होनेवाली ही है। अर्थात् उन्होंने आत्माको न शाश्वत माना और न उच्छिन्न। इस अशाश्वतानुच्छेदरूपी उभयप्रतिषेधके होनेपर भी बुद्धका आत्मा किस रूप था, यह स्पष्ट नही हो पाता। इसीलिए आज बुद्धके दर्शनको अशाश्वतानुच्छेदवाद कहा जाता है। पाली साहित्यमें हम जहाँ बुद्धके आर्यसत्योका सांगोपांग विविवत् निरूपण देखते है, वहाँ दर्शनका स्पष्ट वर्णन नही पाते।

उत्पादादित्रयात्मकवाद :

निर्ग्रंथ नाथपुत्त वर्धमान महावीरने लोकव्यवस्था और द्रव्योंके स्वरूपके सम्बन्धमें अपने सुनिश्चित विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने षट्द्रव्यमय लोक तथा द्रव्योंके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक स्वरूपको बहुत स्पष्ट और सुनिश्चित पद्धतिसे

बताया। जैसा कि इस प्रकरणके शुरूमें लिख चुका हूं। प्रत्येक वर्तमान पर्याय अपने समस्त अतीत संस्कारोंका परिवर्तित पुञ्ज है और है अपनी समस्त भविष्यत् योग्यताओंका भंडार। उस प्रवहमान पर्यायपरम्परामें जिस समय जैसी कारण-सामग्री मिल जाती है, उस समय उसका वैसा परिणमन उपादान और निमित्तके बलाबलके अनुसार होता जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यके इस सार्वद्रव्यिक और सार्वकालिक नियमका इस विश्वमें कोई भी अपवाद नहीं है। प्रत्येक सत्को प्रत्येक समय अपनी पर्याय बदलनी ही होगी, चाहे आगे आनेवाली पर्याय सदृश, असदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश या विसदृश ही क्यों न हो। इस तरह अपने परिणामी स्वभावके कारण प्रत्येक द्रव्य अपनी उपादानयोग्यता और सन्निहित निमित्त-सामग्रीके अनुसार पिपीलकाक्रम या मेंढककुदानके रूपमें परिवर्तित हो ही रहा है।

दो विरुद्ध शक्तियाँ :

द्रव्यमें उत्पादशक्ति यदि पहले क्षणमें पर्यायको उत्पन्न करती है तो विनाश-शक्ति उस पर्यायका दूसरे क्षणमें नाश कर देती है। यानी प्रतिसमय यदि उत्पाद-शक्ति किसी नूतन पर्यायको लाती है तो विनाशशक्ति उसी समय पूर्व पर्यायको नाश करके इसके लिए स्थान खाली कर देती है। इस तरह इस विरोधी-समागम-के द्वारा द्रव्य प्रतिक्षण उत्पाद, विनाश और इसकी कभी विच्छिन्न न होनेवाली ध्रौव्य-परम्पराके कारण त्रिलक्षण है। इस तरह प्रत्येक द्रव्यके इस स्वाभाविक परिणमन-चक्रमें जब जैसी कारणसामग्री जुट जाती है उसके अनुसार वह परिणमन स्वयं प्रभावित होता है और कारणसामग्रीके घटक द्रव्योंको प्रभावित भी करता है। यानी यदि एक पर्याय किसी परिस्थितिसे उत्पन्न हुई है तो वह परिस्थितिको बनाती भी है। द्रव्यमें अपने संभाव्य परिणमनोंकी असख्य योग्यताएँ प्रतिसमय मौजूद हैं। पर विकसित वही योग्यता होती है जिसकी सामग्री परिपूर्ण हो जाती है। जो इस प्रवहमान चक्रमें अपना प्रभाव छोडनेका बुद्धिपूर्वक यत्न करते हैं वे स्वयं परिस्थितिके निर्माता बनते हैं और जो प्रवाहपतित हैं वे परिवर्तनके थपेडोंमें इतस्तत. अस्थिर रहते हैं।

लोक शाश्वत भी है :

यदि लोकको समग्र भावसे संततिकी दृष्टिसे देखें तो लोक अनादि और अनन्त है। कोई भी द्रव्य इसके रंगमंचसे सर्वथा नष्ट नहीं हो सकता और न कोई असत्से सत् बनकर इसकी नियत द्रव्यसंख्यामें एककी भी वृद्धि ही कर सकता है। यदि प्रतिसमयभावी, प्रतिद्रव्यगत पर्यायोंकी दृष्टिसे देखें तो लोक 'सान्त' भी है। उस द्रव्यदृष्टिसे देखनेपर लोक शाश्वत है। और इस पर्याय दृष्टिसे देखनेपर लोक

अशाश्वत है। इसमे कार्योकी उत्पत्तिमें काल एक साधारण निमित्तकारण है, जो प्रत्येक परिणमनशील द्रव्यके परिणाममें निमित्त होता है, और स्वयं भी अन्य द्रव्योकी तरह परिवर्त्तनशील है।

द्रव्ययोग्यता और पर्याययोग्यता :

जगत्का प्रत्येक कार्य अपने सम्भाव्य स्वभावोके अनुसार ही होता है, यह सर्वमत साधारण सिद्धान्त है। यद्यपि प्रत्येक पुद्गलपरमाणुमे घट, पट आदि सभी कुछ बननेकी द्रव्ययोग्यता है किन्तु यदि वह परमाणु मिट्टीके पिण्डमें शामिल है तो वह साक्षात् घट ही बन सकता है, पट नही। सामान्य स्वभाव होनेपर भी उन द्रव्योकी स्थूल पर्यायोमें साक्षात् विकसनेयोग्य कुछ नियत योग्यताएँ होती है। यह नियतिपन समय और परिस्थितिके अनुसार बदलता रहता है। यद्यपि यह पुरानी कहावत प्रसिद्ध है कि 'घडा मिट्टीसे बनता है बालूसे नही। किन्तु आजके वैज्ञानिक युगमें बालूको काँचकी भट्ठीमें पकाकर उससे अधिक सुन्दर और पारदर्शी घडा बनने लगा है।

अत. द्रव्ययोग्यताएँ सर्वथा नियत होने पर भी, पर्याययोग्यताओकी नियतता परिस्थितिके ऊपर निर्भर करती है। जगत्में समस्त कार्योके परिस्थितिभेदसे अनन्त कार्यकारणभाव है और उन कार्यकारणपरम्पराओके अनुसार ही प्रत्येक कार्य उत्पन्न होता है। अत. अपने अज्ञानके कारण किसी भी कार्यको यदृच्छा—अटकल पच्चू कहना अतिसाहस है।

पुरुष उपादान होकर केवल अपने ही गुण और अपनी ही पर्यायोका कारण बन सकता है, उन ही रूपसे परिणमन कर सकता है, अन्य रूपसे कदापि नही। एक द्रव्य दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यमें केवल निमित्त ही बन सकता है, उपादान कदापि नही, यह एक सुनिश्चित मौलिक द्रव्यसिद्धान्त है। संसारके अनन्त कार्योका बहुभाग अपने परिणमनमें किसी चेतन-प्रयत्नकी आवश्यकता नही रखता। जब सूर्य निकलता है तो उसके सपर्कसे असंख्य जलकण भाप बनते है, और क्रमश मेघोकी सृष्टि होती है। फिर सर्दी-गर्मीका निमित्त पाकर जल बरसता है। इस तरह प्रकृतिनटीके रंगमंचपर अनन्त कार्य प्रतिसमय अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभावके अनुसार उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते है। उनका अपना द्रव्यगत ध्रौव्य ही उन्हें क्रमभंग करनेसे रोकता है अर्थात् वे अपने द्रव्यगत स्वभावके कारण अपनी ही धारामें स्वयं नियन्त्रित है—उन्हें किसी दूसरे द्रव्यके नियन्त्रणकी न कोई अपेक्षा है और न आवश्यकता ही। यदि कोई चेतनद्रव्य भी किसी द्रव्यकी कारणसामग्रीमें सम्मिलित हो जाता है तो ठीक है, वह भी उसके परिणमनमें निमित्त हो जायगा। यहाँ तो परस्पर-सहकारिताकी खुली स्थिति है।

कर्मकी कारणता :

जीवोंके प्रतिक्षण जो सस्कार सचित होते है वे ही परिपाककालमें कर्म कहलाते हैं। इन कर्मोकी कोई स्वतन्त्र कारणता नही है। उन जीवोंके परिणमनमें तथा उन जीवोंसे सम्बद्ध पुद्गलोके परिणमनमें वे सस्कार उसी तरह कारण होते हैं जिस तरह एक द्रव्य दूसरे द्रव्यमें। अर्थात् अपने भावोंकी उत्पत्तिमें वे उपादान होते हैं और पुद्गलद्रव्य या जीवान्तरके परिणमनमें निमित्त। समग्र लोककी व्यवस्था या परिवर्तनमें कोई कर्म नामका एक तत्त्व ·महाकारण बनकर बैठा हो, यह स्थिति नही है।

इस तरह काल, आत्मा, स्वभाव, नियति, यदृच्छा और भूतादि अपनी-अपनी मर्यादामें सामग्रीके घटक होकर प्रतिक्षण परिवर्तमान इस जगत्के द्रव्यके परिणमनमे यथासभव निमित्त और उपादान होते रहते हैं। किसी एक कारणका सर्वाधिपत्य जगत्के अनन्त द्रव्योंपर नही हैं। आधिपत्य यदि हो सकता है तो प्रत्येक द्रव्यका केवल अपनी ही गुण और पर्यायोपर हो सकता है।

जड़वाद और परिणामवाद :

वर्तमान जडवादियोने विश्वके स्वरूपको समझाते समय इन चार सिद्धान्तोंका निर्णय किया है।

(१) ज्ञाता और ज्ञेय अथवा समस्त सद्वस्तु नित्य परिवर्तनशील है। वस्तुओका स्थान बदलता रहता है। उनके घटक बदलते रहते हैं और उनके गुण-धर्म बदलते रहते हैं परन्तु परिवर्तनका अखण्ड प्रवाह चालू है।

(२) दूसरा सिद्धान्त यह हैं कि सद्वस्तुका सम्पूर्ण विनाश नही होता और सम्पूर्ण अभावमेंसे सद् वस्तु उत्पन्न नही होती। यह क्रम नित्य निर्बाध रूपसे चलता रहता है। प्रत्येक सत् वस्तु किसी-न-किसी अन्य सद् वस्तुमेंसे ही निर्मित होती हैं, सद्वस्तुसे ही बनी होती है, और किसी सद्वस्तुके आँखसे ओझल हो जानेपर दूसरी सद्वस्तुका निर्माण होता है? जिस एक वस्तुमेंसे दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है उसे द्रव्य कहते हैं। जिससे वस्तुएँ बनती है और जिसके गुण-धर्म होते है वह द्रव्य है। और गुणोका समुच्चय जगत् है। यह जगत् कार्य-कारणोंकी सतत परम्परा है। प्रत्येक वस्तु या घटना अपनेसे पूर्ववर्ती वस्तु या घटनाका कार्य होती है, तथा आगेकी घटनाओंका कारण। प्रत्येक घटना कार्य-कारणभावकी अनादि एवं अनन्त मालाका एक मनका है। कार्यकारणभावके विशिष्ट नियमसे प्रत्येक घटना एक-दूसरेके साथ बँधी रहती है।

(३) तीसरा सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तुमे स्वभावसिद्ध गति-शक्ति किंवा परिवर्तन-शक्ति अवश्य रहती है। अणुरूप द्रव्योका जगत् बना करता है। उन अणुओको आपसमें मिलने तथा एक-दूसरेसे अलग-अलग होनेके लिए जो गति मिलती रहती है वह उनका स्वभावधर्म है। उनको परिचालित करनेवाला, उनको इकट्ठा करनेवाला और अलग-अलग करनेवाला अन्य कोई नही है। इस विश्वमे जो प्रेरणा या गति है, वह वस्तुमात्रके स्वभावमेंसे निर्मित होती है। एकके बाद दूसरी गतिकी एक अनादि परम्परा इस विश्वमें विद्यमान है। यह प्रश्न ठीक नही है कि 'प्रारम्भमे इस विश्वमे कितने गति उत्पन्न की'। 'प्रारम्भमें' शब्दोका अभिप्राय उस कालसे है जब गति नही थी, अथवा किसी प्रकारका कोई परिवर्तन नही था। ऐसे कालकी तर्कसम्मत कल्पना नही की जा सकती जब कि किसी प्रकारका कोई भी परिवर्तन न रहा हो। ऐसे कालकी कल्पना करनेका अर्थ तो यह मानना हुआ कि एक समय था, जब सर्वत्र सर्वशून्यता थी। जब हम यह कहते है कि कोई वस्तु है, तो वह निश्चय ही कार्यकारणभावसे बँधी रहती है। इसीलिए गति और परिवर्तनका रहना आवश्यक हो जाता है। सर्वशून्य स्थितिमेंसे कुछ भी उत्पन्न नही हो सकता। प्रत्येक वस्तुकी घटनामें दो प्रकारसे परिवर्तन होता है। एक तो यह है कि वस्तुमें स्वाभाविक रीतिसे परिवर्तन होता है। दूसरा यह कि वस्तुका उसके चारो ओरकी परिस्थितियोका प्रभाव पडनेसे परिवर्तन होता है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तुसे जुडी या संलग्न रहती है। यह संलग्नता तीन प्रकारकी होती है—एक वस्तुका चारो तरफकी वस्तुओंसे सम्बन्ध रहता है, दूसरी वह वस्तु जिस वस्तुसे उत्पन्न हुई है उसके साथ कार्यकारण-सम्बन्धसे जुडी रहती है। तीसरी उस वस्तुकी घटनाके गर्भमें दूसरी घटना रहती है और वह वस्तु तीसरी घटनाके गर्भमें रहती है। ये जो सारे वस्तुओके सम्बन्ध है उनकी ठीकसे जानकारी हो जाने पर यह भ्रान्ति या आशंका दूर हो जाती है कि वस्तुओंकी गति किंवा क्रियाके लिए कोई पहला प्रवर्तक चाहिए। कोई भी क्रिया पहली नही हुआ करती। प्रत्येक गतिसे किंवा क्रियासे पूर्व दूसरी गति और क्रिया रहती है। इस क्रियाका स्वरूप एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना ही नही होता। क्रिया-शक्तिका केवल स्थानान्तर होना या चलायमान होना ही स्वरूप नही है। बीजका अँखुआ बनता है और अँखुएका वृक्ष बन जाता है, ऑक्सीजन और हॉइड्रोजनका पानी बनता है, प्रकाशके अणु बनते है अथवा लहरें बनती है, यह सारा बनना और होना भी क्रिया ही है। इस प्रकारकी क्रिया वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। वह यदि न रहता, तो जो पहली बार गति देता है उसके लिए भी वस्तुमे गति उत्पन्न

करना सम्भव न होता। विश्व स्वयं प्रेरित है। उसे किसी बाह्य प्रेरककी आवश्यकता नहीं है।

(४) चौथा सिद्धान्त यह है कि रचना, योजना, व्यवस्था, नियमबद्धता अथवा सुसंगति वस्तुका मूलभूत स्वभाव है। हम जब भी किसी वस्तुका, किंवा वस्तुसमुदायका वर्णन करते हैं तब वस्तुओंकी रचना, किंवा व्यवस्थाका ही वर्णन किया करते हैं। वस्तुमें योजना या व्यवस्था नहीं, इसका अर्थ यही होता है कि वस्तु ही नहीं। वस्तु है, इस कथनका यही अर्थ निकलता है कि एक विशेष प्रकारकी योजना और विशेष प्रकारकी व्यवस्था है। वस्तुकी योजनाका आकलन होना ही वस्तुस्वरूपका आकलन है। विश्वकी रचना अथवा योजना किसी दूसरेने नहीं की है। अग्नि जलाना स्वाभाविक धर्म है। यह एक व्यवस्था अथवा योजना है। यह व्यवस्था किंवा योजना अग्निमें किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा लाई हुई नहीं है। यह तो अग्निके अस्तित्वका ही एक पहलू है। संख्या, परिमाण एवं कार्यकारणभाव वस्तु स्वरूपके अंग हैं। हम संख्या वस्तुमें उत्पन्न नहीं कर सकते, वह वस्तुमें रहती ही है। वस्तुओंके कार्यकारणभावको पहिचाना जा सकता है किन्तु निर्माण नहीं किया जा सकता[1]।"

जड़वादका आधुनिक रूप :

महापण्डित राहुल सांकृत्यायनने अपनी[2] वैज्ञानिक भौतिकवाद पुस्तकमें भौतिकवादके आधुनिकतम स्वरूपपर प्रकाश डालते हुए बताया है कि "जगत्का प्रत्येक परिवर्तन जिन सीढ़ियोंसे गुजरता है वे सीढ़ियाँ वैज्ञानिक भौतिकवादकी त्रिपुटी है। (१) विरोधी समागम (२) गुणात्मक परिवर्तन और (३) प्रतिषेधका प्रतिषेध। वस्तुके उदरमें विरोधी प्रवृत्तियाँ जमा होती हैं, इससे परिवर्तनके लिए सबसे आवश्यक चीज गति पैदा होती है। फिर हेगेलकी द्वंद्ववादी प्रक्रियाके वाद और प्रतिवादके संघर्षसे नया गुण पैदा होता है। इसे दूसरी सीढ़ी गुणात्मक परिवर्तन कहते हैं। पहले जो वाद था उसको भी उसकी पूर्वगामी कड़ीसे मिलानेपर वह किसीका प्रतिषेध करनेवाला संवाद था। अब गुणात्मक परिवर्तन–आमूल परिवर्तन जबसे उसका प्रतिषेध हुआ तो यह प्रतिषेधका प्रतिषेध है। दो या अधिक, एक दूसरेसे गुण और स्वभावमें विरोधी वस्तुओंका समागम दुनियामें पाया जाता है। यह बात हरएक आदमीको जब तब नजर आती है। किन्तु उसे देखकर यह ख्याल नहीं आता कि एक बार इस विरोधी समागमको मान लेनेपर फिर विश्वके संचालक ईश्वरकी जरूरत नहीं रहती। न किसी अभौतिक दिव्य,

१ देखो. 'जड़वाद और अनीश्वरवाद' पृष्ठ ६०-६६। २. पृ० ४५-४६।

रहस्यमय नियमकी आवश्यकता है। विश्वके रोम-रोममें गति है। दो परस्पर विरोधी शक्तियोका मिलना ही गति पैदा करनेके लिए पर्याप्त है। गतिका नाम विकास है। यह 'लेनिन' के शब्दोमें कहिये तो विकास विरोधियोके संघर्षका नाम है। विरोधी जब मिलेंगे तक संघर्ष जरूर होगा। संघर्ष नये स्वरूप, नयी गति, नयी परिस्थिति अर्थात् विकासको जरूर पैदा करेगा। यह बात साफ है। विरोधियोंके समागमको परस्पर अन्तरव्यापन या एकता भी कहते हैं। जिसका अर्थ यह है कि वे एक ही (अभिन्न) वास्तविकताके ऐसे दोनो प्रकारके पहलू होते हैं। ये दोनो विरोध दार्शनिकोको परमार्थकी तराजू पर तुले सनातन कालसे एक दूसरेसे सर्वथा अलग अवस्थित भिन्न-भिन्न तत्त्वके तौर पर नही रहते बल्कि वह वस्तुरूपेण एक हैं—एक ही समय एक ही स्थान पर अभिन्न होकर रहते हैं। जो कर्जखोरके लिए ऋण है, वही महाजनके लिए धन है। हमारे लिए जो पूर्वका रास्ता है, वही दूसरेके लिए पश्चिमका भी रास्ता है। बिजलीमें धन और ऋणके छोर दो अलग स्वतत्र तरल पदार्थ नही हैं। लैनिनने विरोधको द्वंद्ववादका सार कहा है। केवल परिमाणात्मक परिवर्तन ही एक खास सीमापर होने पर गुणात्मक भेदोमें बदल जाता है।"

जड़वादका एक और स्वरूप :

कर्नल इंगरसोल प्रसिद्ध विचारक और निरीश्वरवादी थे। ये अपने व्याख्यानमें लिखते हैं[1] कि—मेरा एक सिद्धान्त है और उसके चारो कोनो पर रखनेके लिए मेरे पास चार पत्थर हैं। पहला शिलान्यास है कि—पदार्थ-रूप नष्ट नही हो सकता, अभावको प्राप्त नही हो सकता। दूसरा शिलान्यास है कि गति-शक्तिका विनाश नही हो सकता, वह अभावको प्राप्त नही हो सकती। तीसरा शिलान्यास है कि पदार्थ और गति पृथक्-पृथक् नही रह सकती। विना गतिके पदार्थ नही और विना पदार्थके गति नही। चौथा शिलान्यास है कि जिसका नाश नही वह कभी पैदा भी नही हुआ होगा, जो अविनाशी है वह अनुत्पन्न है। यदि ये चारो बातें यथार्थ है तो उनका यह परिणाम अवश्य निकलता है कि—पदार्थ और गति सदा से है और सदा रहेंगे। वे न बढ सकते है और न घट सकते हैं। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि न कोई चीज कभी उत्पन्न हुई है और न उत्पन्न हो सकती है और न कभी कोई रचयिता हुआ है और न हो सकता है। इससे यह भी परिणाम निकलता है कि पदार्थ और गतिके पीछे न कोई योजना हो सकती थी और न कोई वुद्धि। विना गतिके वुद्धि नही हो सकती। विना पदार्थके गति

१ स्वतन्त्र चिन्तन पृ० ०१४-१५।

नही हो सकती। इसलिए पदार्थसे पहले किसी भी तरह किसी बुद्धिकी, किसी गतिकी सभावना हो ही नही सकती। इससे यह परिणाम निकलता है कि प्रकृतिसे परे न कुछ है और न हो सकता है। यदि ये चारो शिलान्यास यथार्थ बातें है तो प्रकृतिका कोई स्वामी नही। यदि पदार्थ और गति अनादि कालसे अनन्त काल तक है तो यह अनिवार्य परिणाम निकलता है कि कोई परमात्मा नही है और न किसी परमात्माने जगत्को रचा है और न कोई इसपर शासन करता है। ऐसा कोई परमात्मा नही, जो प्रार्थनाएँ सुनता हो। दूसरे शब्दोमे इससे यह सिद्ध होता है कि आदमीको भगवान्से कभी कोई सहायता नही मिली, तमाम प्रार्थनाएँ अनन्त आकाशमे यो ही विलीन हो गईं। 'यदि पदार्थ और गति सदासे चली आई है तो इसका यह मतलब है कि जो संभव था वह हुआ है, जो सभव है वह हो रहा है और जो सभव होगा वही होगा। विश्वमें कोई भी बात यो ही अचानक नही होती। हर घटना जनित होती है। जो नही हुआ वह हो ही नही सकता था। वर्तमान तमाम भूतका अवश्यंभावी परिणाम है और भविष्यका अवश्यभावी कारण।

यदि पदार्थ और गति सदासे है तो हम यह कह सकते हैं कि आदमीका कोई चेतन रचयिता नही हुआ है, आदमी किसीकी विशेष रचना नही है। यदि हम कुछ जानते है तो यह जानते है कि उस दैवी कुम्हारने, उस ब्रह्माने कभी मिट्टी और पानी मिला कर पुरुषो तथा स्त्रियोंकी रचना नही की और उनमें कभी जान नही फूँकी।"

समीक्षा और समन्वय—भौतिकवादके उक्त मूल सिद्धान्तके विवेचनसे निम्नलिखित बातें फलित होती है—

(१) विश्व अनन्त स्वतंत्र मौलिक पदार्थोका समुदाय है।

(२) प्रत्येक मौलिकमें विरोधी शक्तियोका समागम है, जिसके कारण उसमें स्वभावत. गति या परिवर्तन होता रहता है।

(३) विश्वकी रचना योजना और व्यवस्था, उसके अपने निजी स्वभावके कारण है, किसीके नियन्त्रणसे नही।

(४) किसी सत्का न तो सर्वथा विनाश होता है और सर्वथा असत्का उत्पाद ही।

(५) जगत्का प्रत्येक अणु परमाणु प्रतिक्षण गतिशील याने परिवर्तनशील है। ये परिवर्तन परिणामात्मक भी होते हैं और गुणात्मक भी।

(६) प्रत्येक वस्तु सैकडो विरोधी शक्तियोका समागम है।

(७) जगत्का यह परिवर्तन चक्र अनादि-अनन्त है।

हम इन निष्कर्षोपर ठंडे दिल और दिमागसे विचार करें तो ज्ञात होगा कि भौतिकवादियोकी यह वस्तुस्वरूपकी विवेचना वस्तुस्थितिके विरुद्ध नही है। जहाँ तक भूतोके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे जीवतत्त्वकी उत्पत्तिका प्रश्न है वहाँ तक उनका कहना एक हद तक विचारणीय है। पर सामान्यस्वरूपकी व्याख्या न केवल तर्कसिद्ध ही है किन्तु अनुभवगम्य भी है। इनका सबसे मौलिक सिद्धान्त यह है कि—प्रत्येक वस्तुमें स्वभावसे ही दो विरोधी शक्तियाँ मौजूद है, जिनके संघर्षसे उसे गति मिलती है, उसका परिवर्तन होता है और जगत्‌का समस्त कार्यकारण-चक्र चलता है। मैं पहले लिख आया हूँ कि जैनदर्शनकी द्रव्यव्यवस्थाका मूल मन्त्र उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप त्रिलक्षणता है। भौतिकवादियोने जब वस्तुके कार्यकारण-प्रवाहको अनादि और अनन्त स्वीकार किया है, और वे सत्‌का सर्वथा विनाश और असत्‌की उत्पत्ति जब नही मानते तो उन्होने द्रव्यकी अविच्छिन्न धारा रूप ध्रौव्यत्वको स्पष्ट स्वीकार किया ही है। ध्रौव्यका अर्थ सर्वथा अपरिणामी नित्य और कूटस्थ नही है, किन्तु जो द्रव्य अनादि कालसे इस विश्वके रगमचपर परि-वर्तन करता हुआ चला आ रहा है, उसकी परिवर्तन धाराका कभी समूलोच्छेद नही होना है। इसके कारण एक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी पर्यायोमें बदलता हुआ भी, कभी न तो समाप्त होता है और न द्रव्यान्तरमे विलीन ही होता है। इस द्रव्यान्तर-असंक्रान्तिका और द्रव्यकी किसी न किसी रूपमें स्थितिका नियामक ध्रौव्यांश है। जिससे भौतिकवादी भी इनकार नही कर सकते।

विरोधी समागम अर्थात् उत्पाद और व्यय :

जिस विरोधी शक्तियोके समागमकी चर्चा उन्होंने द्वन्द्ववाद (Dialectism) के रूपमें की है वह प्रत्येक द्रव्यमें रहनेवाले उनके निजी स्वभाव उत्पाद और व्यय है। इन दो विरोधी शक्तियोकी वजहसे प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षण उत्पन्न होता है और नष्ट होता है। यानि पूर्वपर्यायका विनाश और उत्तरपर्यायका उत्पाद प्रतिक्षण वस्तुमे निरपवादरूपसे होता रहता है।[1] पूर्व पर्यायका विनाश ही उत्तरका उत्पाद है। ये दोनो शक्तियाँ एक साथ वस्तुमें अपना काम करती है और ध्रौव्य-शक्ति द्रव्यका मौलिकत्व सुरक्षित रखती है। इस तरह अनन्तकाल तक परिवर्तन करते रहने पर भी द्रव्य कभी निःशेप नही हो सकता। उसमें चाहे गुणात्मक परिवर्तन हों या परिमाणात्मक, किन्तु उसका अपना अस्तित्व किसी न किसी अवस्था मे अवश्य ही रहेगा। इस तरह प्रतिक्षण त्रिलक्षण पदार्थ एक क्रमसे अपनी पर्यायोमे

---

१. 'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात्"—आप्तमी० श्लोक० ५८।

बदलता हुआ और परस्पर परिणमनोको प्रभावित करता हुआ भी निश्चित कार्यकारणपरम्परासे आबद्ध है।

इस तरह 'भौतिकवाद'के वस्तुविवर्तनके सामान्य सिद्धान्त जैनदर्शनके अनन्त द्रव्यवाद और उत्पादादि त्रयात्मक सत्के मूल सिद्धान्तसे जरा भी भिन्न नही है। जिस तरह आजका विज्ञान अपनी प्रयोगशालामें भौतिकवादके इन सामान्य सिद्धान्तोकी कडी परीक्षा दे रहा है इसी तरह भगवान् महावीरने अपने अनुभव-प्रसूत तत्त्वज्ञानके बलपर आजसे २५०० वर्ष पहले जो यह घोषणा की थी कि—'प्रत्येक पदार्थ चाहे जड हो या चेतन, उ पाद व्यय और ध्रौव्यरूपसे परिणामी है। "उपपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" (स्थाना० स्था० १०) अर्थात् प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है, और स्थिर रहता है।' उनकी इस मातृकात्रिदीमें जिस त्रयात्मक परिणामवादका प्रतिपादन हुआ था, वही सिद्धान्त विज्ञानकी प्रयोग-शालामें भी अपनी सत्यताको सिद्ध कर रहा है।

चेतनसृष्टि :

विचारणीय प्रश्न इतना रह जाता है कि भौतिकवादमे इन्ही जड परमाणुओसे ही जो जीवसृष्टि और चेतनसृष्टिका विकास गुणात्मक परिवर्तनके द्वारा माना है, वह कहाँ तक ठीक है ? अचेतनको चेतन बननेमें करोडो वर्ष लगे है। इस चेतन सृष्टिके होनेमें करोडो वर्ष या अरब वर्ष जो भी लगे हो उनका अनुमान तो आजका भौतिक विज्ञान कर लेता है, पर वह जिस तरह ऑक्सीजन और हाइड्रोजनको मिलाकर जल बना देता है और जलका विश्लेषण कर पुन ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन रूपसे भिन्न-भिन्न कर देता है उस तरह असख्य प्रयोग करनेके बाद भी न तो आज वह एक भी जीव तैयार कर सका है, और न स्वत.सिद्ध जीवका विश्लेषण कर उस अदृश्य शक्तिका साक्षात्कार ही करा सका है, जिसके कारण जीवित शरीरमें ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि उत्पन्न होते हैं।

यह तो निश्चित है कि—भौतिकवादने जीवसृष्टिकी परम्परा करोडो वर्ष पूर्वसे स्वीकार की है और आज जो नया जीव विकसित होता है, वह किसी पुराने जीवित सेलको केन्द्र बनाकर ही। ऐसी दशामें यह अनुमान कि 'किसी समय जड पृथ्वी तरल रही होगी, फिर उसमें घनत्व आया और अमीवा आदि उत्पन्न हुए' केवल कल्पना ही मालूम होती है। जो हो, व्यवहारसे भौतिकवाद भी मनुष्य या प्राणिसृष्टिको प्रकृतिकी सर्वोत्तम सृष्टि मानता है, और उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व भी स्वीकार करता है।

विचारणीय बात इतनी ही है कि एक ही तत्त्व परस्पर विरुद्ध चेतन और अचेतन दोनो रूपसे परिणमन कर सकता है क्या ? एक ओर तो ये जडवादी है जो जडका परिणमन चेतनरूपसे मानते है, तो दूसरी ओर एक ब्रह्मवाद तो इससे भी अधिक काल्पनिक है, जो चेतनाका ही जडरूपसे परिणमन मानता है। जडवादमें परिवर्तनका प्रकार, अनन्त जडोका स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करलेसे बन जाता है। इसमें केवल एक ही प्रश्न शेष रहता है कि क्या जड़ भी चेतन बन सकता है ? पर इस अद्वैत चेतनवादमें तो परिवर्तन भी असत्य है, अनेकत्व भी असत्य है, और जड चेतनका भेद भी असत्य है। एक किसी अनिर्वचनीय मायाके कारण एक ही ब्रह्म जड-चेतन नानारूपसे प्रतिभासित होने लगता है। जडवादके सामान्य सिद्धान्तोका परीक्षण विज्ञानकी प्रयोगशालामें किया जा सकता है और उसकी तथ्यता सिद्ध की जा सकती है। पर इस ब्रह्मवादके लिए तो सिवाय विश्वासके कोई प्रबल युक्तिबल भी प्राप्त नही है। विभिन्न मनुष्योमे जन्मसे ही विभिन्न रुझान और बुद्धिका कविता, संगीत और कला आदिके विविध क्षेत्रोमें विकास आकस्मिक नही हो सकता। इसका कोई ठोस और सत्य कारण अवश्य होना ही चाहिए।

समाजव्यवस्थाके लिए जड़वादकी अनुपयोगिता :

जिस सहयोगात्मक समाजव्यवस्थाके लिए भौतिकवाद मनुष्यका ससार गर्भसे मरण तक ही मानना चाहता है, उस व्यवस्थाके लिए यह भौतिकवादी प्रणाली कोई प्राभाविक उपाय नही है। जब मनुष्य यह सोचता है कि मेरा अस्तित्व शरीरके साथ ही समाप्त होनेवाला है, तो वह भोगविलास आदिकी वृत्तिसे विरक्त होकर क्यो राष्ट्रनिर्माण और समाजवादी व्यवस्थाकी ओर झुकेगा ? चेतन आत्माओके स्वतन्त्र अस्तित्व और व्यक्तित्व स्वीकार कर लेनेपर उनमें प्रतिक्षण स्वाभाविक परिवर्तन योग्यता मान लेनेपर तो अनुकूल विकासका अनन्त क्षेत्र सामने उपस्थित हो जाता है, जिसमें मनुष्य अपने समग्र पुरुषार्थका, खुलकर उपयोग कर सकता है। यदि मनुष्योको केवल भौतिक माना जाता है, तो भूतजन्य वर्ण और वंश आदिकी श्रेष्ठता और कनिष्ठताका प्रश्न सीधा सम्मने आता है। किन्तु इस भूतजन्य वंश, रंग आदिके स्थूल भेदोंकी ओर दृष्टि न क॰ जब समस्त मनुष्य-आत्माओका मूलत. समान अधिकार और स्वतन्त्र व्यक्तित्व माना जाता है, तो ही सहयोगमूलक समाज-व्यवस्थाके लिए उपयुक्त भूमिका प्रस्तुत होती है।

समाजव्यवस्थाका आधार समता :

जैनदर्शनने प्रत्येक जड-चेतन तत्त्वका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। मूलत एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यपर कोई अधिकार नही है। सब अपने-अपने परिणामी

स्वभावके अनुसार प्रतिक्षण परिवर्तित होते जा रहे है। जब इस प्रकारकी स्वाभाविक समभूमिका द्रव्योंकी स्वीकृत है, तब यह अनधिकार चेष्टासे इकट्ठे किये गये परिग्रहके संग्रहसे प्राप्त विषमता, अपने आप अस्वाभाविक और अप्राकृतिक सिद्ध होती जाती है। यदि प्रतिबुद्ध मानव-समाज समान अधिकारके आधारपर अपने व्यवहारके लिए सर्वोदयकी दृष्टिसे कोई भी व्यवस्थाका निर्माण करते है तो वह उनकी सहजसिद्ध प्रवृत्ति ही मानी जानी चाहिए। एक ईश्वरको जगन्नियन्ता मानकर उसके आदेश या पैगामके नामपर किसी जातिकी उच्चता और विशेषाधिकार तथा पवित्रताका ढिंढोरा पीटना और उसके द्वारा जगत्में वर्गस्वार्थकी सृष्टि करना, तात्त्विक अपराध तो है ही, साथ ही यह नैतिक भी नही है। इस महाप्रभुका नाम लेकर वर्गस्वार्थी गुटने संसारमें जो अशान्ति युद्ध और खूनकी नदियाँ बहाई है उसे देखकर यदि सचमुच कोई ईश्वर होता तो वह स्वयं आकर अपने इन भक्तोको साफ-साफ कह देता कि 'मेरे नामपर इस निकृष्टरूपमे स्वार्थका नग्न पोषण न करो।' तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें दृष्टि-विपर्यास होनेसे मनुष्यको दूसरे प्रकारसे सोचनेका अवसर ही नही मिला। भगवान् महावीर और बुद्धने अपने-अपने ढंगसे इस दुर्दृष्टिकी ओर ध्यान दिलाया, और मानवको समता और अहिंसाकी सर्वोदयी भूमिपर खडे होकर सोचनेकी प्रेरणा दी।

जगत्के स्वरूपके दो पक्ष : १ विज्ञानवाद :

जगत्के स्वरूपके सम्बन्धमें स्थूल रूपसे दो पक्ष पहलेसे ही प्रचलित रहे है। एक पक्ष तो इन भौतिकवादियोका था, जो जगत्को ठोस सत्य मानते रहे। दूसरा पक्ष विज्ञानवादियोका था, जो सवित्ति या अनुभवके सिवाय किसी बाह्य ज्ञेयकी सत्ताको स्वीकार नही करना चाहते। उनके मतसे[1] बुद्धि ही विविध वासनाओके कारण नाना रूपमें प्रतिभासित होती है। विशप, बर्कले, योम और हेगल आदि पश्चिमी तत्त्ववेत्ता भी सवेदनओके प्रवाहसे भिन्न संवेद्यका अस्तित्व नही मानना चाहते। जिस प्रकार स्वप्नमें बाह्य पदार्थोके अभावमें भी अनेक प्रकारके अर्थक्रियाकारी दृश्य उपस्थित होते है उसी तरह जागृति भी एक लम्बा सपना है। स्वप्नज्ञानकी तरह जागृतज्ञान भी निरालम्बन है, केवल प्रतिभासमात्र है। इसके मतसे मात्र ज्ञानकी ही पारमार्थिक सत्ता है। इनमे भी अनेक मतभेद है—

१ वेदान्ती एक नित्य और व्यापक ब्रह्मका ही पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते है। यही ब्रह्म नानाविध जीवात्माओ और घट-पटादि बाह्य अर्थोके रूपमें प्रतिभासित होता है।

---

१ "अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा विपर्यासितदर्शनै.।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥"—प्रमाणवा० ३।४३५।

२. संवेदनाद्वैतवादी क्षणिक परमाणुरूप अनेक ज्ञानक्षणोका पृथक् पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते है। इनके मतसे ज्ञानसंतान ही अपनी-अपनी वासनाओंके अनुसार विभिन्न पदार्थोके रूपमें भासित होती है।

३ एक ज्ञानसन्तान माननेवाले भी संवेदनाद्वैतवादी हैं।

बाह्यार्थलोपकी इस विचारधाराका आधार यह मालूम होता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी कल्पनाके अनुसार पदार्थोमें शब्द-संकेत करके व्यवहार करता है। जैसे एक पुस्तकको देखकर उस धर्मका अनुयायी उसे 'धर्मग्रन्थ' समझकर पूज्य मानता है, पुस्तकाध्यक्ष उसे अन्य पुस्तकोकी तरह एक 'सामान्य पुस्तक' समझता है, तो दुकानदार उसे 'रद्दी'के भाव खरीदकर उससे पुडिया बाँधता है, भंगी उसे 'कूडा कचडा' समझकर झाड देता है और गाय-भैंस आदि उसे 'पुद्गलोका पुंज' समझकर 'घास'की तरह खा जाते है। अब आप विचार कीजिये कि पुस्तकमे धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी, कचरा और एक खाद्य आदिकी सज्ञाएँ तत्-तत् व्यक्तियोके ज्ञानसे ही आयी है, अर्थात् धर्मग्रन्थ पुस्तक आदिका सद्भाव उन व्यक्तियोके ज्ञानमें है, बाहर नही। इस तरह धर्मग्रन्थ और पुस्तक आदिकी व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक नही। यदि इनकी पारमार्थिक सत्ता होती तो बिना किसी सकेत और संस्कारके वह सबको उसी रूपमें दिखनी चाहिए थी। अत जगत् केवल कल्पना-मात्र है, उसका कोई बाह्य अस्तित्व नही।

बाह्य पदार्थोके स्वरूपपर जैसे-जैसे विचार करते है—उनका स्वरूप एक, अनेक, उभय और अनुभय आदि किसी रूपमें भी सिद्ध नही हो पाता। अन्तत. उनका अस्तित्व तदाकार ज्ञानसे ही तो सिद्ध किया जा सकता है। यदि नीलाकार ज्ञान मौजूद है, तो बाह्य नीलके माननेकी क्या आवश्यकता है?[1] और यदि नीलाकार ज्ञान नही है तो उस बाह्य नीलका अस्तित्व ही कैसे सिद्ध किया जा सकता है? अत. ज्ञान ही बाह्य और आन्तर, ग्राह्य और ग्राहक रूपमें स्वयं प्रकाशमान है, कोई बाह्यार्थ नही है।

सबसे बडा प्रश्न यह है कि—ज्ञान या अनुभव किसी पदार्थका ही तो होता है। विज्ञानवादी स्वप्नका दृष्टान्त देकर बाह्यपदार्थका लोप करना चाहते है। किन्तु स्वप्नकी अग्नि और बाह्य सत् अग्निमे जो वास्तविक अन्तर है, वह तो एक छोटा बालक भी समझ सकता है। समस्त प्राणी घट पट आदि बाह्य पदार्थोसे

---

१. "धियो नीलादिरूपत्वे बाह्योऽर्थः किंप्रमाणक ?
धियोऽनीलादिरूपत्वे स तस्यानुभव कथम् ॥"
—प्रमाणवा० ३।४३३।

अपनी इष्ट अर्थक्रिया करके आकांक्षाओको शान्त करते हैं और संतोषका अनुभव करते है, जबकि स्वप्नदृष्टि वा ऐन्द्रजालिक पदार्थोंसे न तो अर्थक्रिया हो होती है न तज्जन्य संतोषका अनुभव ही। उनकी काल्पनिकता तो प्रतिभासकालमें ही ज्ञात हो जाती है। धर्मग्रन्थ, पुस्तक, रद्दी आदि संज्ञाएँ मनुष्यकृत और काल्पनिक हो सकती हैं, पर जिस वजनवाले रूप-रस-गंध-स्पर्शवाले स्थूल ठोस पदार्थमें ये संज्ञाएँ की जाती हैं, वह तो काल्पनिक नही है। वह तो ठोस, वजनदार, सप्रतिघ और रूप-रसादि-गुणोंका आधार परमार्थसत् पदार्थ है। इस पदार्थको अपने-अपने संकेतके अनुसार चाहे कोई धर्मग्रन्थ कहे, कोई पुस्तक, कोई किताब, कोई बुक या अन्य कुछ कहे, ये संकेत व्यवहारके लिये अपनी परम्परा और वासनाओंके अनुसार होते है, उसमें कोई आपत्ति नही है, पर उस ठोस पुद्गलसे इनकार नही किया जा सकता।

दृष्टि-सृष्टिका भी अर्थ यही है कि सामने रखे हुए परमार्थसत् ठोस पदार्थमें अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार अनेक पुरुष अनेक प्रकारके व्यवहार करते है। उनकी व्यवहारसंज्ञायें भले ही प्रातिभासिक हों, पर वह पदार्थ, जिसमें ये संज्ञायें की जाती हैं, विज्ञानकी तरह ही परमार्थसत् हैं। ज्ञान पदार्थपर निर्भर हो सकता है, न कि पदार्थ ज्ञानपर। जगत्में अनन्त ऐसे पदार्थ भरे पडे हैं, जिनका हमें ज्ञान नहीं होता। ज्ञानके पहले भी वे पदार्थ थे और ज्ञानके बाद भी रहेंगे। हमारा इन्द्रिय-ज्ञान तो पदार्थकी उपस्थितिके विना हो ही नही सकता। नीलाकार ज्ञानसे तो कपडा नही रंगा जा सकता। कपड़ा रंगनेके लिए ठोस जड नील चाहिए, जो ठोस और जड़ कपडेके प्रत्येक तन्तुको नीला बनाता है। यदि कोई परमार्थसत् नील अर्थ न हो, तो नीलाकार वासना कहाँसे उत्पन्न होगी? वासना तो पूर्वानुभवकी उत्तर दशा है। यदि जगत्में नील अर्थ नही है तो ज्ञानमें नीलाकार कहाँसे आया? वासना नीलाकार कैसे बन गई?

तात्पर्य यह कि व्यवहारके लिए की जानेवाली संज्ञाएँ, इष्ट-अनिष्ट और सुन्दर-असुन्दर आदि कल्पनाएँ भले ही विकल्पकल्पित हो, और दृष्टि-सृष्टिकी सीमामें हों, पर जिस आधारपर ये कल्पनाएँ कल्पित होती हैं, वह आधार ठोस और सत्य है।[1] विषके ज्ञानसे मरण नही होता। विषका ज्ञान जिस प्रकार परमार्थसत् है, उसी तरह विष पदार्थ, विषका खानेवाला और विषके संयोगसे होनेवाला शरीरगत रासायनिक परिणमन भी परमार्थसत् ही हैं। पर्वत, मकान, नदी आदि पदार्थ यदि ज्ञानात्मक ही हैं, तो उनमें मूर्तत्व, स्थूलत्व और तरलता आदि कैसे

१ "न हि ज्ञात विषज्ञानं मरणं प्रति धावति।"—न्यायवि० १।६९।

आ सकते हैं ? ज्ञानस्वरूप नदीमें स्नान या ज्ञानात्मक जलसे तृषाकी शान्ति और ज्ञानात्मक पत्थरसे सिर तो नहीं फूट सकता ?

यदि ज्ञानसे भिन्न मूर्त शब्दकी सत्ता न हो तो संसारका समस्त शाब्दिक व्यवहार लुप्त हो जायगा। परप्रतिपत्तिके लिए ज्ञानसे अतिरिक्त वचनकी सत्ता मानना आवश्यक है। फिर, 'अमुक ज्ञान प्रमाण है और अमुक अप्रमाण' यह भेद ज्ञानोंमें कैसे किया जा सकता है। ज्ञानमें तत्त्व-अतत्त्व, अर्थ-अनर्थ, और प्रमाण-अप्रमाणका भेद बाह्यवस्तुकी सत्ता पर ही निर्भर करता है। स्वामी समन्तभद्रने ठीक ही कहा है—

"बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नाऽसति।
सत्यानृतव्यवस्थैवं युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु॥"

—आप्तमी० श्लोक ८७।

अर्थात् बुद्धि और शब्दकी प्रमाणता बाह्यपदार्थके होनेपर ही सिद्ध की जा सकती है, अभावमें नहीं। इसी तरह अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही सत्यता और मिथ्यापन बताया जा सकता है।

बाह्यपदार्थोंमें परस्पर विरोधी अनेक धर्मोंका समागम देखकर उसके विराट् स्वरूप तक न पहुँच सकनेके कारण उसकी सत्तासे ही इनकार करना, अपनी अशक्ति या नासमझीको बिचारे पदार्थपर लाद देना है।

यदि हम बाह्यपदार्थोंके एकानेक स्वभावोंका विवेचन नहीं कर सकते, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उन पदार्थोंके अस्तित्वसे ही सर्वथा इनकार किया जाय। अनन्तधर्मात्मक पदार्थका पूर्ण विवेचन, अपूर्ण ज्ञान और शब्दोंके द्वारा असम्भव भी है। जिस प्रकार एक संवेदन ज्ञान स्वयं ज्ञेयाकार, ज्ञानाकार और ज्ञप्ति रूपसे अनेक आकार-प्रकारका अनुभवमें आता है उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ अनेक विरोधी धर्मोंका अविरोधी आधार है।

अफलातूँ तर्क करता था कि—'कुर्सीका काठ कड़ा है। कड़ा न होता तो हमारे बोझको कैसे सहारता ? और काठ नर्म है, यदि नर्म न होता तो कुल्हाड़ा उसे कैसे काट सकता ? और चूँकि दो विरोधी गुणोंका एक जगह होना असम्भव है, इसलिए यह कड़ापन, यह नरमपन और कुर्सी सभी असत्य हैं।" अफलातूँ विरोधी दो धर्मोंको देखकर ही घबड़ा जाता है और उन्हें असत्य होनेका फतवा दे देता है, जब कि स्वयं ज्ञान भी ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार इन विरोधी दो धर्मोंका आधार बना हुआ उसके सामने है। अतः ज्ञान जिस प्रकार अपनेमें सत्य पदार्थ है, उसी तरह संसारके अनन्त जड़ पदार्थ भी अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। ज्ञान

पदार्थ को उत्पन्न नही करता किन्तु अपने-अपने कारणोंसे उत्पन्न अनन्त जड़ पदार्थोको ज्ञान मात्र जानता है। पृथक् सिद्ध ज्ञान और पदार्थमे ज्ञेयज्ञायकभाव होता है। चेतन और अचेतन दोनो प्रकारके पदार्थ स्वय सिद्ध है और स्वयं अपनी पृथक् सत्ता रखते है।

लोक और अलोक :

चेतन अचेतन द्रव्योका समुदाय यह लोक शाश्वत और अनादि इसलिए है कि इसके घटक द्रव्य प्रतिक्षण परिवर्तन करते रहनेपर भी अपनी सख्यामें न तो एककी कमी करते है और न एककी बढती ही। इसीलिए यह अवस्थित कहा जाता है। आकाश अनन्त है। पुद्गलद्रव्य परमाणु रूप है। काल द्रव्य कालाणुरूप हैं। धर्म, अधर्म और जीव असंख्यात प्रदेशवाले है। इनमें धर्म, अधर्म, आकाश और काल निष्क्रिय है। जीव और पुद्गलमें ही क्रिया होती है। आकाश के जितने हिस्से तक ये छहो द्रव्य पाये जाते है, वह लोक कहलाता है और उससे परे केवल आकाशमात्र अलोक। चूँकि जीव और पुद्गलोकी गति और स्थितिमें धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य साधारण निमित्त होते है। अत. जहाँतक धर्म और अधर्म द्रव्यका सद्भाव है, वही तक जीव और पुद्गलका गमन और स्थान सम्भव है। इसीलिए आकाशके उस पुरुषाकार मध्य भागको लोक कहते है जो धर्मद्रव्यके बराबर है। यदि इन धर्म और अधर्म द्रव्यको स्वीकार न किया जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नही बन सकता। ये तो लोकके मापदण्डके समान है।

लोक स्वयं सिद्ध है :

यह लोक स्वयं सिद्ध है; क्योकि इनके घटक सभी द्रव्य स्वयं सिद्ध है। उनकी कार्यकारणपरम्परा, परिवर्तन स्वभाव, परस्पर निमित्तता और अन्योन्य प्रभावकता, अनादि कालसे बराबर चली आ रही है। इसके लिए किसी विधाता, नियन्ता, अधिष्ठाता या व्यवस्थापककी आवश्यकता नही है। ऋतुओका परिवर्तन, रात-दिनका विभाग, नदी-नाले, पहाड आदिका विवर्तन आदि सब पुद्गलद्रव्योके परस्पर संयोग, विभाग, संश्लेप और विश्लेप आदिके कारण स्वय होते रहते है। सामान्यत हर द्रव्य अपनी पर्यायोका उपादान है, और सम्प्राप्त सामग्रीके अनुसार अपनेको बदलता रहता है। इसी तरह अनन्त कार्यकारणभावोकी स्वयमेव सृष्टि होती रहती है। हमारी स्थूल दृष्टि जिन परिवर्तनोको देखकर आश्चर्यचकित होती है, वे अचानक नही हो जाते। किन्तु उनके पीछे परिणमनोंकी सुनिश्चित परम्परा है। हमें तो असख्य परिणमनोका औसत और स्थूल रूप ही दिखाई देता है। प्रतिक्षणभावी सूक्ष्म परिणमन और उनके अनन्त कार्यकारणजालको समझना

साधारण बुद्धिका कार्य नही हैं। दूरकी बात जाने दीजिये, सर्वथा और सर्वदा अतिसमीप शरीरको ही ले लीजिए। उनके भीतर नसाजाल, रुधिरप्रवाह और पाकयन्त्रमें कितने प्रकारके परिवर्तन प्रतिक्षण होते रहते है, जिनका स्पष्ट ज्ञान करना दुःशक्य हैं। जब वे परिवर्तन एक निश्चित धाराको पकड़कर किसी विस्फोटक रोगके रूपमें हमारे सामने उपस्थित होते हैं, तब हमें चेत आता है।

जगत् पारमार्थिक और स्वतःसिद्ध है :

दृश्य जगत् परमाणुरूप स्वतन्त्र द्रव्योका मात्र दिखाव ही नही है, किन्तु अनन्त पुद्गलपरमाणुओके बने हुए स्कन्धोका बनाव है। हर स्कन्धके अन्तर्गत परमाणुओंमें परस्पर इतना प्रभावक रासायनिक सम्बन्ध है कि सबका अपना स्वतंत्र परिणमन होते हुए भी उनके परिणमनोमे इतना सादृश्य होता है कि लगता है, जैसे इनकी पृथक् सत्ता ही न हो। एक आमके फलरूप स्कन्धमे सम्बद्ध परमाणु अमुक काल तक एक-जैसा परिणमन करते हुए भी परिपाक कालमे कही पीले, कही हरे, कही खट्टे, कही मीठे, कही पक्वगन्धी, कही आमगन्धी, कही कोमल और कही कठोर आदि विविध प्रकारके परिणमनोको करते हुए स्पष्ट दिखाई देते है। इसी तरह पर्वत आदि महास्कन्ध सामान्यतया स्थूलदृष्टिसे एक दिखाई देते है, पर है वे असंख्य पुद्गलाणुओके विशिष्ट सम्बन्धको प्राप्त पिण्ड ही।

जब परमाणु किसी स्कन्धमें शामिल होते हैं, तब भी उनका व्यक्तिश परिणमन रुकता नही है, वह तो अविरामगतिसे चलता रहता है। उसके घटक सभी परमाणु अपने बलाबलके अनुसार मोर्चेबन्दी करके परिणमनयुद्ध आरम्भ करते है और विजयी परमाणुसमुदाय शेष परमाणुओको अमुक प्रकारका परिणमन करनेके लिए बाध्य कर देते हैं। यह युद्ध अनादि कालसे चला है और अनन्तकाल तक बराबर चलता जायगा। प्रत्येक परमाणुमे भी अपनी उत्पादन और व्यय शक्तिका द्वन्द्व सदा चलता रहता है। यदि आप सीमेन्ट फैक्टरीके उस बायलरको ठण्डे शीशेसे देखें तो उसमे असख्य परमाणुओकी अतितीव्र गतिसे होनेवाली उथल-पुथल आपके माथेको चकरा देगी।

तात्पर्य यह कि मूलत उत्पाद-व्ययशील और गतिशील परमाणुओके विशिष्ट समुदायरूप विभिन्न स्कन्धोका समुदाय यह दृश्य जगत् "प्रतिक्षण गच्छतीति जगत्" अपनी इस गतिशील 'जगत्' सज्ञाको सार्थक कर रहा है। इस स्वाभाविक, सुनियमित, सुव्यवस्थित, सुयोजित और सुसम्बद्ध विश्वका नियोजन स्वत है उसे किसी सर्वान्तर्यामीकी बुद्धिकी कोई अपेक्षा नही है।

यह ठीक है कि मनुष्य प्रकृतिके स्वाभाविक कार्यकारणतत्त्वोको जानकारी करके उनमें तारतम्य, हेर-फेर और उनपर एक हद तक प्रभुत्व त

सकता है, और इस यांत्रिक युगमें मनुष्यने विशालकाय यन्त्रोंमें प्रकृतिके अणुपुञ्जों-को स्वेच्छित परिणमन करनेके लिए बाध्य भी किया है। और जब तक यंत्रका पंजा उनको दबोचे है तब तक वे बराबर अपनी द्रव्ययोग्यताके अनुसार उस रूपसे परिणमन कर भी रहे हैं और करते भी रहेंगे, किन्तु अनन्त महासमुद्रमें बुद्बुदके समान इन यंत्रोंका कितना-सा प्रभुत्व ? इसी तरह अनन्त परमाणुओंके नियन्त्रक एक ईश्वरकी कल्पना मनुष्यके अपने कमजोर और आश्चर्यचकित दिमागकी उपज है। जब बुद्धिके उषाकालमें मानवने एकाएक भयंकर तूफान, गगनचुम्बी पर्वत-मालाएँ, विकराल समुद्र और फटती हुई ज्वालामुखीके भीषण फैलाव देखे तो वह सिर पकड़कर बैठ गया और अपनी समझमें न आनेवाली अदृश्य शक्तिके आगे उसने माथा टेका, और हर आश्चर्यकारी वस्तुमें उसे देवत्वकी कल्पना हुई। इन्हीं असंख्य देवोंमेंसे एक देवोंका देव महादेव भी बना, जिसकी बुनियाद भय, कौतूहल और आश्चर्यकी भूमिपर खड़ी हुई है और कायम भी उसी भूमिपर रह सकती है।

५. पदार्थका स्वरूप

हम पहले बता आये है कि प्रत्येक पदार्थ उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूपसे त्रिलक्षण है। द्रव्यका सामान्यलक्षण परिणमनकी दृष्टिसे उत्पादव्यय-ध्रौव्यात्मकत्व ही है। प्रत्येक पदार्थ अनेक गुण और पर्यायोका आधार है[१]। गुण द्रव्यमे रहते है, पर स्वय निर्गुण होते है[२]। ये गुण द्रव्यके स्वभाव होते है। इन्ही गुणोके परिणमनसे द्रव्यका परिणमन लक्षित होता है। जैसे कि चेतन द्रव्यमे ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि अनेक सहभावी गुण है। ये गुण प्रतिक्षण द्रव्यके उत्पाद-व्यय स्वभावके अनुसार किसी-न-किसी अवस्थाको प्रतिक्षण धारण करते रहते है। ज्ञान गुण जिस समय जिस पदार्थको जानता है, उस समय तदाकार होकर 'घटज्ञान, पटज्ञान' आदि विशेप पर्यायोको प्राप्त होता है। इसी तरह सुख आदि गुण भी अपनी वाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार तरतमादि पर्यायोको धारण करते है। पुद्गलका एक परमाणु रूप, रस, गध और स्पर्श इन विशेप गुणोका युगपत् अविरोधी आधार है। परिवर्तनपर चढा हुआ यह पुद्गल परमाणु अपने उत्पाद और व्ययको भी इन्ही गुणोके द्वारा प्रकट करता है, अर्थात् रूप, रस, गध और स्पर्श आदि गुणोका परिवर्तन ही द्रव्यका परिवर्तन है। इन गुणोकी वर्तमान-कालीन जो अवस्था होती है वह पर्याय कहलाती है। गुण किसी-न-किसी पर्यायको प्रतिक्षण धारण करता है। गुण और पर्यायका द्रव्य ही ठोस और मौलिक आधार है। यह द्रव्य गुणोकी कोई-न-कोई पर्याय प्रतिक्षण धारण करता है और किसी-न-किसी पूर्व पर्यायको छोडता है।

गुण और धर्म :

वस्तुमे गुण परिगणित है, किन्तु परकी अपेक्षा व्यवहारमे आनेवाले धर्म अनन्त होते है। गुण स्वभावभूत है और इनकी प्रतीति परनिरपेक्ष होती है, जब कि धर्मोकी प्रतीति परसापेक्ष होती है और व्यवहारके लिए इनकी अभिव्यक्ति वस्तुकी योग्यताके अनुसार होती रहती है। जीवके असाधारण गुण है ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य आदि और साधारण गुण है वस्तुत्व, प्रमेयत्व, सत्त्व आदि। पुद्गलके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श असाधारण गुण है। धर्म द्रव्यका गतिहेतुत्व, अधर्म द्रव्यका स्थितिहेतुत्व, आकाशका अवगाहननिमित्तत्व और कालका वर्तना-

---

१. "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

२. "द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ४०।

हेतुत्व असाधारण गुण हैं। इनके साधारण गुण वस्तुत्व, सत्त्व, प्रमेयत्व और अभिधेयत्व आदि हैं। जीवमें ज्ञानादि गुणोकी सत्ता और प्रतीति परनिरपेक्ष अर्थात् स्वाभाविक है, किन्तु छोटापन-बडापन, पितृत्व-पुत्रत्व और गुरुत्व-शिष्यत्व आदि धर्म परसापेक्ष है। यद्यपि इनकी योग्यता जीवमें है, पर ज्ञानादिके समान ये स्वरसत. गुण नही हैं। इसी तरह पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो स्वाभाविक—परनिरपेक्ष गुण हैं, परन्तु छोटापन, बड़ापन, एक, दो, तीन आदि संख्याएँ और सकेतके अनुसार होनेवाली शब्दवाच्यता आदि ऐसे धर्म है जिनकी अभिव्यक्ति व्यवहारार्थ होती हैं। एक ही पदार्थ अपनेसे भिन्न अनन्त दूर-दूरतर और दूरतम पदार्थोकी अपेक्षा अनन्त प्रकारकी दूरी और समीपता रखता है। इसी तरह अपनेसे छोटे और बडे अनन्त परपदार्थोकी अपेक्षा अनन्त प्रकारका छोटापन और बड़ापन रखता है। पर ये सब धर्म चूँकि परसापेक्ष प्रकट होनेवाले हैं, अत इन्हें गुणोकी श्रेणीमें नही रख सकते। गुणका लक्षण आचार्यने निम्नलिखित प्रकारसे किया है—

[1]"गुण इति दव्वविहाणं दव्ववियारो य पज्जवो भणियो।"

अर्थात्—गुण द्रव्यका विधान, यानी निज प्रकार है, और पर्याय द्रव्यका विकार अर्थात् अवस्थाविशेष है। इस तरह द्रव्य परिणमनकी दृष्टिसे गुणपर्यायात्मक होकर भी व्यवहारमें अनन्त परद्रव्योकी अपेक्षा अनन्तधर्मा रूपसे प्रतीतिका विषय होता है।

अर्थ सामान्यविशेषात्मक है :

बाह्य अर्थकी पृथक् सत्ता सिद्ध हो जानेके बाद विचारणीय प्रश्न यह है कि अर्थका वास्तविक स्वरूप क्या है? हम पहले बता आये है कि सामान्यत. प्रत्येक पदार्थ अनन्तधर्मात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यशाली है। इसका संक्षेपमें हम सामान्यविशेषात्मकके[2] रूपमे भी विवेचन कर सकते है। प्रत्येक पदार्थमें दो प्रकारके अस्तित्व है—स्वरूपास्तित्व और सादृश्यास्तित्व। प्रत्येक द्रव्यको अन्य सजातीय या विजातीय द्रव्यसे असंकीर्ण रखनेवाला और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्वका प्रयोजक स्वरूपास्तित्व है। इसीके कारण प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायें अपनेसे भिन्न किसी भी सजातीय या विजातीय द्रव्यकी पर्यायोसे असंकीर्ण बनी रहती हैं और अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखती है। यह स्वरूपास्तित्व जहाँ इतर द्रव्योंसे

---

१. उद्धृत-सर्वार्थसिद्धि ५। ३८।

२. "द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषात्मार्थवेदनम्।" —न्यायविनि० १।३।

विवक्षितद्रव्यकी व्यावृत्ति कराता है, वहाँ अपनी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायोंमें अनुगत भी रहता है। इस स्वरूपास्तित्वसे अपनी पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय उत्पन्न होता है, और इतर द्रव्योंसे व्यावृत्त प्रत्यय। इस स्वरूपास्तित्वको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। यही द्रव्य कहलाता है, क्योंकि यही अपनी क्रमिक पर्यायोंमें द्रवित होता है संततिपरपरासे प्राप्त होता है। बौद्धोंकी संतति और इस स्वरूपास्तित्वमें निम्नलिखित भेद विचारणीय हैं।

स्वरूपा तित्व और सन्तान :

जिस तरह जैन एक स्वरूपास्तित्व अर्थात् ध्रौव्य या द्रव्य मानते हैं, उसी तरह बौद्ध सन्तान स्वीकार करते हैं। प्रत्येक द्रव्य प्रतिक्षण अपनी अर्थपर्याय रूपमे परिणमन करता है, उसमें ऐसा कोई भी स्थायी अंश नही बचता जो द्वितीय क्षणमें पर्यायोके रूपमें न बदलता हो। यदि यह माना जाय कि उसका कोई एक अश बिलकुल अपरिवर्तनशील रहता है, और कुछ अंश परिवर्तनशील, तो नित्य तथा क्षणिक दोनो पक्षोंमें दिये जानेवाले दोप ऐसी वस्तुमें आयेंगे। कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध माननेके कारण पर्यायोंके परिवर्तित होने पर द्रव्यमें कोई अपरिवर्तिष्णु अश बच ही नहीं सकता। अन्यथा उस अपरिवर्तिष्णु अंशसे तादात्म्य रखनेके कारण शेप अंश भी अपरिवर्तनशील ही सिद्ध होंगे। इस तरह कोई एक मार्ग ही पकड़ना होगा—या तो वस्तु नित्य मानी जाय, या बिलकुल परिवर्तन-शील यानी चेतन वस्तु भी अचेतनरूपसे परिणमन करनेवाली। इन दोनों अन्तिम सीमाओंके मध्यका ही वह मार्ग है, जिसे हम द्रव्य कहते हैं। जो न बिलकुल अपरिवर्तनशील है और न इतना विलक्षण परिवर्तन करनेवाला, जिससे एक द्रव्य अपने द्रव्यत्वकी सीमाको लाँघकर दूसरे किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यरूपसे परिणत हो जाय।

सीधे शब्दोंमें ध्रौव्यकी यही परिभापा हो सकती है कि 'किसी एक द्रव्यके प्रतिक्षण परिणमन करते रहने पर भी उसका किसी सजातीय या विजातीय द्रव्यान्तररूपसे परिणमन नही होना।' इस स्वरूपास्तित्वका नाम ही द्रव्य, ध्रौव्य, या गुण है। बौद्धोंके द्वारा मानी गई संतानका भी यही कार्य है। वह नियत पूर्वक्षणका नियत उत्तरक्षणके साथ ही समनन्तरप्रत्ययके रूपमें कार्यकारणभाव बनाता है, अन्य सजातीय या विजातीय क्षणान्तरसे नही। तात्पर्य यह है कि इस सतानके कारण एक पूर्वचेतनक्षण अपनी धाराके उत्तरचेतनक्षणके लिए ही सम-नन्तरप्रत्यय यानी उपादान होता है, अन्य चेतनान्तर या अचेतनक्षणका नहीं।

इस तरह तात्त्विक दृष्टिसे द्रव्य या संतानके कार्य या उपयोगमें कोई अन्तर नही है। अन्तर है तो केवल उसके शाब्दिक स्वरूपके निरूपणमें।

बौद्ध[1] इस संतानको पंक्ति और सेना व्यवहारकी तरह 'मृषा' कहते हैं। जैसे दस मनुष्य एक लाइनमें खडे है और अमुक मनुष्य घोड़े आदि का एक समुदाय है, तो उनमें पंक्ति या सेना नामकी कोई एक अनुस्यूत वस्तु नही है, फिर भी उनमें पंक्ति और सेना व्यवहार हो जाता है, उसी तरह पूर्व और उत्तर क्षणोंमे व्यवहृत होनेवाली सन्तान भी 'मृषा' याने असत्य है। इस संतानकी स्थितिसे द्रव्यकी स्थिति विलक्षण प्रकारकी है। वह किसी मनुष्यके दिमागमें रहनेवाली केवल कल्पना नही है, किन्तु क्षणकी तरह सत्य है। जैसे पंक्तिके अन्तर्गत दस भिन्न सत्तावाले पुरुषोमे एक पंक्ति नामका वास्तविक पदार्थ नही है, फिर भी इस प्रकारके संकेतसे पंक्ति व्यवहार हो जाता है, उसी तरह अपनी क्रमिक पर्यायोंमे पाया जानेवाला स्वरूपास्तित्व भी सांकेतिक नही है, किन्तु परमार्थसत् है। 'मृषा' से सत्यव्यवहार नही हो सकता। बिना एक तात्त्विक स्वरूपास्तित्वके क्रमिक पर्यायें एक धारामें असंकरभावसे नही चल सकती। पंक्तिके अन्तर्गत एक पुरुष अपनी इच्छानुसार उस पंक्तिसे विच्छिन्न हो सकता है, पर कोई भी पर्याय चाहनेपर भी न तो अपने द्रव्यसे विच्छिन्न हो सकती है, और न द्रव्यान्तरमें विलीन ही, और न अपना क्रम छोड़कर आगे जा सकती है और न पीछे।

संतानका खोखलापन :

बौद्धके संतानकी अवास्तविकता और खोखलापन तब समझमें आता है, जब वे निर्वाणमें चित्तसंततिका समूलोच्छेद स्वीकार कर लेते है, अर्थात् सर्वथा अभाववादी निर्वाणमें यदि चित्त दीपककी तरह बुझ जाता है, तो वह चित्त एक दीर्घकालिक धाराके रूपमें ही रहनेवाला अस्थायी पदार्थ रहा। उसका अपना मौलिकत्व भी सार्वकालिक नही हुआ, किन्तु इस तरह एक स्वतंत्र पदार्थका सर्वथा उच्छेद स्वीकार करना युक्ति और अनुभव दोनोसे विरुद्ध है। यद्यपि बुद्धने निर्वाणके स्वरूपके सम्बन्धमें अपना मौन रखकर इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमें रखा था, किन्तु आगेके आचार्योंने उसकी प्रदीप-निर्वाणकी तरह जो व्याख्या की है, उससे निर्वाणका उच्छेदात्मक स्वरूप ही फलित होता है। यथा—

---

१. "सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।"

—बोधिचर्या० पृ० ३३४।

"दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्,
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतः
स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
दिशं न काञ्चित् विदिशं न काञ्चित्
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
आत्मा तथा निर्वृतिमभ्युपेतः
क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥"
—सौन्दरनन्द १६।२८-२९।

अर्थात्—जिस प्रकार बुझा हुआ दीपक न किसी दिशाको जाता है, न विदिशाको, न आकाशको और न पातालको, किन्तु तेलके क्षय हो जाने पर केवल बुझ जाता है, उसी तरह निर्वाण अवस्थामें चित्त न दिशाको जाता है, न विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वीको। वह क्लेशके क्षयसे केवल शान्त हो जाता है।

उच्छेदात्मक निर्वाण अप्रातीतिक है :

इस तरह जब उच्छेदात्मक निर्वाणमें चित्तकी सन्तान भी समाप्त हो जाती है, तो उस 'मृषा' सन्तानके बलपर संसार अवस्थामें कर्मफलसम्बन्ध, बन्ध, मोक्ष, स्मृति और प्रत्यभिज्ञान आदिकी व्यवस्थाएँ बनाना कच्ची नींवपर मकान बनानेके समान है। झूठी संतानमें कर्मवासनाका संस्कार मानकर उसीमें कपासके बीजमें लाखके संस्कारसे रंगभेदकी[1] कल्पनाकी तरह फलकी संगति बैठाना भी नहीं जम सकता। कपासके बीजके जिन परमाणुओंको लाखके रंगसे सींचा था, वे ही स्वरूपसत् परमाणुपर्याय बदलकर रुईके पौधेकी शकलमें विकसित हुए हैं, और उन्हींमें उस संस्कारका फल विलक्षण लाल रंगके रूपमें आया है। यानी इस दृष्टान्तमें सभी चीजें वस्तुसत् हैं, 'मृषा' नहीं, किन्तु जिस सन्तानपर बौद्ध कर्मवासनाओंका संस्कार देना चाहते हैं और जिसे उसका फल भुगतवाना चाहते हैं, उस सन्तानको पंक्तिकी तरह बुद्धिकल्पित नहीं माना जा सकता, और न उसका निर्वाण अवस्थामें समूलोच्छेद ही स्वीकार किया जा सकता है। अतः निर्वाणका यदि कोई युक्तिसिद्ध और तात्त्विक स्वरूप बन सकता है तो वह निरास्रवचित्तोत्पाद

१. "यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"
—तत्त्वसं० पं० पृ० १८२ में उद्धृत।

रूप हो, जैसा कि तत्त्वसंग्रहपञ्जिका (पृष्ठ १८४) में उद्धृत निम्नलिखित श्लोकसे फलित होता है—

"चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते॥"

अर्थात्—रागादि क्लेशसे दूषित चित्त ही संसार है और रागादिसे रहित वीतराग चित्त ही भवान्त अर्थात् मुक्ति है।

जब वही चित्त संसार अवस्थासे बदलता-बदलता मुक्ति अवस्थामें निरास्रव हो जाता है, तब उसकी परंपरारूप संततिको सर्वथा अवास्तविक नहीं कहा जा सकता। इस तरह द्रव्यका प्रतिक्षण पर्यायरूपसे परिवर्तन होने पर भी जो उसकी अनाद्यनन्त स्वरूपस्थिति है और जिसके कारण उसका समूलोच्छेद नहीं हो पाता, वह स्वरूपास्तित्व या ध्रौव्य है। यह काल्पनिक न होकर परमार्थसत्य है। इसीको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं।

दो सामान्य :

दो भिन्न द्रव्योंमें अनुगत व्यवहार करानेवाला सादृश्यास्तित्व होता है, इसे तिर्यक्सामान्य या सादृश्यसामान्य कहते हैं। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्योंमें 'गौः गौः' या 'मनुष्यः मनुष्यः' इस प्रकारके अनुगत व्यवहारके लिये नित्य, एक और अनेकानुगत गोत्व या मनुष्यत्व नामके सामान्यकी कल्पना करना उचित नहीं है; क्योंकि दो स्वतंत्र सत्तावाले द्रव्योंमें अनुस्यूत कोई एक पदार्थ हो ही नहीं सकता। वह उन दोनों द्रव्योंकी संयुक्त पर्याय तो कहा नहीं जा सकता; क्योंकि एक पर्यायमें दो अतिभिन्नक्षेत्रवर्ती द्रव्य उपादान नहीं होते। फिर अनुगत व्यवहार तो संकेत-ग्रहणके बाद होता है। जिस व्यक्तिने अनेक मनुष्योंमें बहुतसे अवयवोंकी समानता देखकर सादृश्यकी कल्पना की है, उसीको उस सादृश्यके संस्कारके कारण 'मनुष्यः मनुष्यः' ऐसी अनुगत प्रतीति होती है। अतः दो भिन्न द्रव्योंमें अनुगत प्रतीतिका कारणभूत सादृश्यास्तित्व मानना चाहिए, जो कि प्रत्येक द्रव्यमें परिसमाप्त होता है। ऊर्ध्वता सामान्य, जो स्वरूपास्तित्वरूप है, ऊपर कहा जा चुका है। इस तरह दो सामान्य हैं।

दो विशेष :

इसी तरह एक द्रव्यकी पर्यायोंमें कालक्रमसे व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला पर्याय नामका विशेष है। दो द्रव्योंमें व्यावृत्त प्रत्यय करानेवाला व्यतिरेक नामका विशेष

है। तात्पर्य यह है कि एक द्रव्यकी दो पर्यायोंमें अनुगत प्रत्यय ऊर्ध्वता[1] सामान्यसे होता है और व्यावृत्तप्रत्यय पर्याय[2] नामके विशेषसे। दो विभिन्न द्रव्योंमें अनुवृत्त प्रत्यय तिर्यक् सामान्य[3] (सादृश्यास्तित्व) से तथा व्यावृत्त प्रत्यय व्यतिरेक[4] नामक विशेषसे होता है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक :

जगत्का प्रत्येक पदार्थ इस प्रकार सामान्य-विशेषात्मक है। पदार्थका सामान्य-विशेषात्मक विशेषण धर्मरूप है जो अनुगत प्रत्यय और व्यावृत्त प्रत्ययका विषय होता है। पदार्थकी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकता परिणमनसे सम्बन्ध रखती है। ऊपर जो सामान्य और विशेषको धर्म बताया है, वह तिर्यक् सामान्य और व्यतिरेक विशेषसे ही सम्बन्ध रखता है। द्रव्यके ध्रौव्यांशको ही ऊर्ध्वता सामान्य और उत्पाद-व्ययको ही पर्याय नामक विशेष कहते हैं। वर्तमानके प्रति अतीतका और भविष्यके प्रति वर्तमानका उपादान कारण होना, यह सिद्ध करता है कि तीनो क्षणोंकी अविच्छिन्न कार्यकारणपरंपरा है। प्रत्येक पदार्थकी यह सामान्यविशेषात्मकता उसके अनन्तधर्मात्मकत्वका ही लघु स्वरूप है।

तिर्यक् सामान्यरूप सादृश्यकी अभिव्यक्ति यद्यपि परसापेक्ष है, किन्तु उसका आधारभूत प्रत्येक द्रव्य जुदा-जुदा है। यह उभयनिष्ठ न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है।

पदार्थ न तो केवल सामान्यात्मक ही है और न विशेषात्मक ही। यदि केवल ऊर्ध्वतासामान्यात्मक अर्थात् सर्वथा नित्य अविकारी पदार्थ स्वीकार किया जाता है तो वह त्रिकालमें सर्वथा एकरस, अपरिवर्तनशील और कूटस्थ बना रहेगा। ऐसे पदार्थमें कोई परिणमन न होनेसे जगत्के समस्त व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। कोई भी क्रिया फलवती नही हो सकेगी। पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था नष्ट हो जायगी। अत उस वस्तुमें परिवर्तन तो अवश्य ही स्वीकार करना होगा। हम नित्यप्रति देखते हैं कि बालक दोजके चन्द्रमाके समान बढ़ता है, सीखता है और जीवन-विकासको प्राप्त कर रहा है। जड जगत्के विचित्र परिवर्तन तो हमारी आँखोके सामने है। यदि पदार्थ सर्वथा नित्य हो तो उनमे क्रम या युगपत् किसी

---

१ "परापरविवर्तव्यापि द्रव्यम् ऊर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।"-परी० ४.५।

२ "एकस्मिद् द्रव्ये क्रमभाविन. परिणामा' पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।" —परी० ४।८।

३ "सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।"—परी० ४।४।

४ "अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।"—परीक्षामुख ४।९।

भी रूपसे कोई अर्थक्रिया नही हो सकेगी। और अर्थक्रियाके अभावमें उनकी सत्ता ही सन्दिग्ध हो जाती है।

इसी तरह यदि पदार्थको पर्याय नामक विशेषके रूपमें ही स्वीकार किया जाय, अर्थात् सर्वथा क्षणिक माना जाय, याने पूर्वक्षणका उत्तरक्षणके साथ कोई सम्बन्ध स्वीकार न किया जाय, तो देन-लेन, गुरु-शिष्यादि व्यवहार तथा बन्ध-मोक्षादि व्यवस्थाएँ समाप्त हो जाँयगी। न कारण-कार्यभाव होगा और न अर्थक्रिया ही। अत. पदार्थको ऊर्ध्वता सामान्य और पर्याय नामक विशेषके रूपमें सामान्य-विशेषात्मक यह द्रव्यपर्यायात्मक ही स्वीकार करना चाहिये।

स शंकाका उचित समा-
मय अणु आत्माका
न्द्रियोके साथ
इन्द्रियमें
गपत्

६. षट्द्रव्य विवेचन

छह द्रव्य :

द्रव्यका सामान्य लक्षण यह है—जो मौलिक पदार्थ अपनी पर्यायोको क्रम-प्राप्त हो वह द्रव्य है। द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यसे युक्त[1] होता है। इसका विशेष विवेचन पहले किया जा चुका है। उसके मूल छह भेद है—१ जीव, २. पुद्गल, ३ धर्म, ४. अधर्म, ५ आकाश और ६. काल। ये छहों द्रव्य प्रमेय होते हैं।

१. जीव द्रव्य :

जीव द्रव्यको, जिसे आत्मा भी कहते हैं, जैनदर्शनमें एक स्वतंत्र मौलिक माना है। उसका सामान्यलक्षण उपयोग[2] है। उपयोग अर्थात् चैतन्यपरिणति। चैतन्य ही जीवका असाधारण गुण है जिससे वह समस्त जड़द्रव्योंसे अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंसे इस चैतन्यके ज्ञान और दर्शन रूपसे दो परिणमन होते हैं। जिस समय चैतन्य 'स्व' से भिन्न किसी ज्ञेयको जानता है उस समय वह 'ज्ञान' कहलाता है और जब चैतन्य मात्र चैतन्याकार रहता है, तब वह 'दर्शन' कहलाता है। जीव असख्यात प्रदेशवाला है। चूंकि उसका अनादि-कालसे सूक्ष्म कार्मण शरीरसे सम्बन्ध है, अत. वह कर्मोदयसे प्राप्त शरीरके आकारके अनुसार छोटे-बडे आकारको धारण करता है। इसका स्वरूप निम्न-लिखित गाथामें बहुत स्पष्ट बताया गया है—

> "जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेहपरिमाणो।
> भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई॥"
>
> —द्रव्यसंग्रह गाथा २।

अर्थात्—जीव उपयोगरूप है, अमूर्तिक है, कर्त्ता है, स्वदेहपरिमाण है, भोक्ता है, ससारी है, सिद्ध है और स्वभावसे ऊर्ध्वगमन करनेवाला है।

यद्यपि जीवमें रूप, रस, गंध और स्पर्श ये चार पुद्गलके धर्म नही पाये जाते,

---

१. "अपरिच्चत्तसहावेणुप्पायव्वयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्व त्ति वुच्चति ॥३॥"—प्रवचनसार।
"दवियदि गच्छदि ताइं ताइं सब्भावपज्जयाइं।"—पंचा० गा० ९।

२. "उपयोगो लक्षणम्"—तत्त्वार्थसूत्र २।८।

भी रूपसे कोई अर्थक्रिया नर्के है। फिर भी प्रदेशोमें सकोच और विस्तार होनेसे ही सन्दिग्ध हो जाती उंरके परिमाण हो जाता है। आत्माके आकारके विषयमें

इसी तरह मुख्यतया तीन मत पाये जाते है।[1] उपनिषद्में आत्माके सर्वगत जाय, अर्थात् होनेका जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ उसके [2]अंगुष्ठमात्र तथा अणुरूप सम्बन्ध भी कथन है।

व्यापक आत्मवाद :

वैदिक दर्शनोमें प्राय. आत्माको अमूर्त और व्यापी स्वीकार किया है। व्यापक होने पर भी शरीर और मनके सम्बन्धसे शरीरावच्छिन्न (शरीरके भीतरके) आत्मप्रदेशोमें ज्ञानादि विशेषगुणोकी उत्पत्ति होती है। अमूर्त्त होनेके कारण आत्मा निष्क्रिय भी है। उसमे गति नही होती। शरीर और मन चलता है, और अपनेसे सम्बद्ध आत्मप्रदेशोमें ज्ञानादिकी अनुभूतिका साधन बनता जाता है।

इस व्यापक आत्मवादमें सबसे बडा प्रश्न यह है कि—एक अखण्ड द्रव्य कुछ भागोमें सगुण और कुछ भागोमें निर्गुण कैसे रह सकता है? फिर जब सब आत्माओका सम्बन्ध सबके शरीरोके साथ है, तब अपने-अपने सुख, दुख और भोगका नियम बनना कठिन है। अदृष्ट भी नियामक नही हो सकता, क्योकि प्रत्येकके अदृष्टका सम्बन्ध उसकी आत्माकी तरह अन्य शेष आत्माओके साथ भी है। शरीरसे बाहर अपनी आत्माकी सत्ता सिद्ध करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यापकपक्षमे एकके भोजन करने पर दूसरेको तृप्ति होनी चाहिए, और इस तरह समस्त व्यवहारोका सांकर्य हो जायगा। मन और शरीरके सम्बन्धकी विभिन्नतासे व्यवस्था बैठाना भी कठिन है। सबसे बडी बात तो यह है कि इसमें संसार और मोक्षकी व्यवस्थाएँ ही चौपट हो जाती है। यह सर्वसम्मत नियम है कि जहाँ गुण पाये जाते है, वही उसके आधारभूत द्रव्यका सद्भाव माना जाता है। गुणोके क्षेत्रसे गुणीका क्षेत्र न तो बडा होता है, और न छोटा ही। सर्वत्र आकृतिमें गुणीके बराबर ही गुण होते है। अब यदि हम विचार करते है तो जब ज्ञानदर्शनादि आत्माके गुण हमे शरीरके बाहर उपलब्ध नही होते तब गुणोके बिना गुणीका सद्भाव शरीरके बाहर कैसे माना जा सकता है?

अणु आत्मवाद :

इसी तरह आत्माको अणुरूप मानने पर, अंगूठेमें काँटा चुभनेसे सारे शरीरके आत्मप्रदेशोमें कम्पन और दु खका अनुभव होना असम्भव हो जाता है। अणुरूप

---

१ "सर्वव्यापिनमात्मानम्।"—श्वे० १।१६।

२ "अङ्गुष्ठमात्र· पुरुष." —श्वे० ३।१३। कठो० ४।१२।
"अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा " —छान्दो० ३।१४।३।

आत्माकी सारे शरीरमें अतिशीघ्र गति माननेपर भी इस शंकाका उचित समाधान नहीं होता, क्योंकि क्रम अनुभवमें नहीं आता। जिस समय अणु आत्माका चक्षुके साथ सम्बन्ध होता है, उस समय भिन्नक्षेत्रवर्ती रसना आदि इन्द्रियोंके साथ युगपत् सम्बन्ध होना असभव है। किन्तु नीबूको आँखसे देखते ही जिह्वा इन्द्रियमें पानीका आना यह सिद्ध करता है कि दोनो इन्द्रियोके प्रदेशोंसे आत्मा युगपत् सम्बन्ध रखता है। सिरसे लेकर पैर तक अणुरूप आत्माके चक्कर लगानेमे कालभेद होना स्वाभाविक है जो कि सर्वांगीण रोमाञ्चादि कार्यसे ज्ञात होनेवाली युगपत् सुखानुभूतिके विरुद्ध है। यही कारण है कि जैन दर्शनमे आत्माके प्रदेशोमे संकोच और विस्तारकी शक्ति मानकर उसे शरीरपरिमाणवाला स्वीकार किया है। एक ही प्रश्न इस सम्बन्धमे उठता है कि—'अमूर्तिक आत्मा कैसे छोटे-बड़े शरीरमें भरा रह सकता है, उसे तो व्यापक ही होना चाहिए या फिर अणुरूप ?' किन्तु जब अनादिकालसे इस आत्मामें पौद्गलिक कर्मोका सम्बन्ध है, तब उसके शुद्ध स्वभावका आश्रय लेकर किये जानेवाले तर्क कहाँ तक संगत है ? 'इस प्रकारका एक अमूर्तिक द्रव्य है जिसमे कि स्वभावसे संकोच और विस्तार होता है।' यह माननेमें युक्तिका बल अधिक है, क्योंकि हमे अपने ज्ञान और सुखादि गुणोका अनुभव अपने शरीरके भीतर ही होता है।

भूत-चैतन्यवाद :

चार्वाक पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इस भूतचतुष्टयके विशिष्ट रासायनिक मिश्रणसे शरीरकी उत्पत्तिकी तरह आत्माकी भी उत्पत्ति मानते है। जिस प्रकार महुआ आदि पदार्थोके सडानेसे शराब बनती है और उसमें मादक शक्ति स्वय आ जाती है उसी तरह भूतचतुष्टयके विशिष्ट संयोगसे चैतन्य शक्ति भी उत्पन्न हो जाती है। अत चैतन्य आत्माका धर्म न होकर शरीरका ही धर्म है और इसलिए जीवनकी धारा गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही चलती है। मरण-कालमें शरीरयन्त्रमें विकृति आ जानेसे जीवन-शक्ति समाप्त हो जाती है। यह देहात्मवाद बहुत प्राचीन कालसे प्रचलित है और इसका उल्लेख उपनिषदोंमें भी देखा जाता है।

देहसे भिन्न आत्माकी सत्ता सिद्ध करनेके लिए 'अहम्' प्रत्यय ही सबसे बड़ा प्रमाण है, जो 'अहं सुखी, अहं दु खी' आदिके रूपमें प्रत्येक प्राणीके अनुभवमें आता है। मनुष्योके अपने-अपने जन्मान्तरीय संस्कार होते है, जिनके अनुसार वे इस जन्ममें अपना विकास करते है। जन्मान्तरस्मरणकी अनेको घटनाएँ सुनी गई हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इस वर्तमान शरीरको छोडकर आत्मा नये शरीरको धारण करता है। यह ठीक है कि—इस कर्मपरतंत्र आत्माकी स्थिति बहुत

कुछ शरीर और शरीरके अवयवोंके आधीन हो रही है। मस्तिष्कके किसी रोगसे विकृत हो जाने पर समस्त अर्जित ज्ञान विस्मृतिके गर्भमें चला जाता है। रक्त-चापकी कमी-बेशी होने पर उसका हृदयकी गति और मनोभावोंके ऊपर प्रभाव पड़ता है।

आधुनिक भूतवादियोंने भी थाइराइड और पिचुयेटरी (Thyroyd and Pituatury) ग्रन्थियोंमेंसे उत्पन्न होनेवाले हारमोन (Hormone) नामक द्रव्यके कम हो जाने पर ज्ञानादिगुणोंमें कमी आ जाती है, यह सिद्ध किया है। किन्तु यह सब देहपरिमाणवाले स्वतंत्र आत्मतत्त्वके मानने पर ही संभव हो सकता है, क्योंकि संसारी दशामें आत्मा इतना परतन्त्र है कि उसके अपने निजी गुणोंका विकास भी बिना इन्द्रियादिके सहारे नही हो पाता। ये भौतिक द्रव्य उसके गुणविकासमें उसी तरह सहारा देते है, जैसे कि झरोखेसे देखनेवाले पुरुषको देखनेमे झरोखा सहारा देता है। [1]कही-कही जैन ग्रन्थोंमें जीवके स्वरूपका वर्णन करते समय पुद्गल विशेषण भी दिया है, यह एक नई बात है। वस्तुत. वहाँ उसका तात्पर्य इतना ही है कि जीवका वर्तमान विकास और जीवन जिन आहार, शरीर, इन्द्रिय, भाषा और मन पर्याप्तियोंके सहारे होता है वे सब पौद्गलिक हैं। इस तरह निमित्तकी दृष्टिसे उसमें 'पुद्गल' विशेषण दिया गया है, स्वरूपकी दृष्टिसे नही। आत्मवादके प्रसंगमें जैनदर्शनका उसे शरीररूप न मानकर पृथक् द्रव्य स्वीकार करके भी शरीरपरिमाण मानना अपनी अनोखी सूझ है और इससे भौतिकवादियोंके द्वारा दिये जानेवाले आक्षेपोंका निराकरण हो जाता है।

इच्छा आदि स्वतंत्र आत्माके धर्म हैं :

इच्छा, सकल्पशक्ति और भावनाएँ केवल भौतिक मस्तिष्ककी उपज नही कही जा सकती, क्योंकि किसी भी भौतिक यंत्रमें स्वय चलने, अपने आपको टूटनेपर सुधारने और अपने सजातीयको उत्पन्न करनेकी क्षमता नही देखी जाती। अवस्थाके अनुसार बढ़ना, घावका अपने आप भर जाना, जीर्ण हो जाना इत्यादि ऐसे धर्म है, जिनका समाधान केवल भौतिकतासे नही हो सकता। हजारों प्रकारके छोटे-बड़े यन्त्रोंका आविष्कार, जगत्के विभिन्न कार्य-कारणभावोंका स्थिर करना, गणितके आधारपर ज्योतिषविद्याका विकास, मनोरम कल्पनाओंसे साहित्याकाशको रग-विरगा करना आदि बातें, एक स्वयं समर्थ, स्वयं चैतन्यशाली द्रव्यका ही कार्य हो सकती हैं। प्रश्न उसके व्यापक, अणु-परिमाण या मध्यम परिणामका

---

१. "जीवो कत्ता य वत्ता य पाणी भोत्ता य पोग्गलो।"
—उद्धृत, धवला टी० प्र० पु०, पृष्ठ ११८।

हमारे सामने है। अनुभव-सिद्ध कार्यकारणभाव हमे उसे संकोच और विस्तार-स्वभाववाला स्वभावत अमूर्तिक द्रव्य माननेको प्रेरित करता है। किसी असंयुक्त अखण्ड द्रव्यके गुणोका विकास नियत प्रदेशोमें नही हो सकता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि जिस प्रकार आत्माको शरीरपरिमाण माननेपर भी देखनेकी शक्ति आँखमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोमें ही मानी जाती है और सूँघनेकी शक्ति नाकमें रहनेवाले आत्मप्रदेशोमें ही, उसी तरह आत्माको व्यापक मान करके शरीरान्तर्गत आत्मप्रदेशोमें ज्ञानादि गुणोंका विकास माना जा सकता है? परन्तु शरीरप्रमाण आत्मामें देखने और सूँघनेकी शक्ति केवल उन-उन आत्मप्रदेशोमें ही नही मानी गई है. अपितु सम्पूर्ण आत्मामें। वह आत्मा अपने पूर्ण शरीरमें सक्रिय रहता है, अतः वह उन-उन चक्षु, नाक आदि उपकरणोंके झरोखोंसे रूप और गंध आदिका परिज्ञान करता है। अपनी वासनाओं और कर्म-सस्कारोंके कारण उसकी अनन्त शक्ति इसी प्रकार छिन्न-विच्छिन्न रूपसे प्रकट होती है। जब कर्मवासनाओ और सूक्ष्म कर्मशरीरका संपर्क छूट जाता है, तब यह अपने अनन्त चैतन्य स्वरूपमें लीन हो जाता है। उस समय इसके आत्म-प्रदेश अन्तिम समयके आकार रह जाते है, क्योकि उनके फैलने और सिकुड़नेका कारण जो कर्म था, वह नष्ट हो चुका है; इसलिए उनका अन्तिम शरीरके आकार रह जाना स्वाभाविक ही है।

ससार अवस्थामें उसकी इतनी परतंत्र दशा हो गई है कि वह अपनी किसी भी शक्तिका विकास विना शरीर और इन्द्रियोके सहारे नही कर सकता है। और तो जाने दीजिए, यदि उपकरण नष्ट हो जाता है, तो वह अपनी जाग्रत शक्तिको भी उपयोगमें नही ला सकता। देखना, सूँघना, चखना, सुनना और स्पर्श करना ये क्रियायें जैसे इन्द्रियोंके विना नही हो सकती, उसी प्रकार विचारना, संकल्प और इच्छा आदि भी विना मनके नही हो सकते; और मनकी गति-विधि समग्र शरीर-यन्त्रके चालू रहनेपर निर्भर करती है। इसी अत्यन्त परनिर्भरताके कारण जगत्के अनेक विचारक इसकी स्वतंत्र सत्ता माननेको भी प्रस्तुत नहीं है। वर्तमान शरीरके नष्ट होते ही जीवनभरका उपार्जित ज्ञान, कला-कौशल और चिरभावित भावनाएँ सब अपने स्थूलरूपमे समाप्त हो जाती है। इनके अतिसूक्ष्म संस्कार-बीज ही शेष रह जाते है। अत. प्रतीति, अनुभव और युक्ति हमें सहज ही इस नतीजे-पर पहुँचा देती है, कि आत्मा केवल भूतचतुष्टयरूप नहीं है, किन्तु उनसे भिन्न, पर उनके सहारे अपनी शक्तिको विकसित करनेवाला, स्वतंत्र, अखण्ड और अमूर्तिक पदार्थ है। इसकी आनन्द और सौन्दर्यानुभूति स्वयं इसके स्वतन्त्र अस्तित्वके साक्षी प्रमाण है। राग और द्वेषका होना तथा उनके कारण हिंसा

आदिके आरम्भमे जुट जाना भौतिकयंत्रका काम नही हो सकता। कोई भी यन्त्र अपने आप चले, स्वय बिगड जाय और बिगडने पर अपनी मरम्मत भी स्वयं कर ले, स्वयं प्रेरणा ले, और समझ-बूझकर चले, यह असंभव है।

कर्त्ता और भोक्ता :

आत्मा स्वयं कर्मोका कर्त्ता है और उनके फलोका भोक्ता है। साख्यकी तरह वह अकर्त्ता और अपरिणामी नही है और न प्रकृतिके द्वारा किये गए कर्मोका भोक्ता ही। इस सर्वदा परिणामी जगत्मे प्रत्येक पदार्थका परिणमन-चक्र प्राप्त सामग्रीसे प्रभावित होकर और अन्यको प्रभावित करके प्रतिक्षण चल रहा है। आत्माकी कोई भी क्रिया, चाहे वह मनसे विचारात्मक हो, या वचनव्यवहाररूप हो, या शरीरकी प्रवृत्तिरूप हो, अपने कार्मण शरीरमें और आसपासके वातावरणमें निश्चित असर डालती है। आज यह वस्तु सूक्ष्म कैमरा यन्त्रसे प्रमाणित की जा चुकी है। जिस कुर्सीपर एक व्यक्ति बैठता है, उस व्यक्तिके उठ जानेके वाद अमुक समय तक वहाँके वातावरणमे उस व्यक्तिका प्रतिविम्ब कैमरेसे लिया गया है। विभिन्न प्रकारके विचारो और भावनाओकी प्रतिनिधिभूत रेखाएँ मस्तिष्कमें पड़ती है। यह भी प्रयोगोसे सिद्ध किया जा चुका है।

चैतन्य इन्द्रियोका धर्म भी नही हो सकता, क्योकि इन्द्रियोके बने रहनेपर चैतन्य नष्ट हो जाता है। यदि प्रत्येक इन्द्रियका धर्म चैतन्य माना जाता है, तो एक इन्द्रियके द्वारा जाने गये पदार्थका इन्द्रियान्तरसे अनुसन्धान नही होना चाहिए। पर इमलीको या आमकी फाँकको देखते ही जीभमें पानी आ जाता है। अतः ज्ञात होता है कि आँख और जीभ आदि इन्द्रियोका प्रयोक्ता कोई पृथक् सूत्र-संचालक है। जिस प्रकार शरीर अचेतन है उसी तरह इन्द्रियाँ भी अचेतन है, अत अचेतनसे चैतन्यकी उत्पत्ति नही हो सकती। यदि हो, तो उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदिका अन्वय चैतन्यमें उसी तरह होना चाहिए, जैसे कि मिट्टीके रूपादिका अन्वय मिट्टीसे उत्पन्न घडेमें होता है।

तुरन्त उत्पन्न हुए वालकमें दूध पीने आदिकी चेष्टाएँ उसके पूर्वभवके संस्कारों को सूचित करती है। कहा भी है—

"तदहर्जस्तनेहातो रक्षोदृष्टे. भवस्मृते.।
भूतानन्वयनात् सिद्ध. प्रकृतिज्ञ: सनातन.॥"

—उद्धृत, प्रमेयरत्नमाला ४।८।

अर्थात्—तत्काल उत्पन्न हुए वालककी स्तनपानकी चेष्टासे, भूत, राक्षस आदिके सद्भावसे, परलोकके स्मरणसे और भौतिक रूपादि गुणोका चैतन्यमें

अन्वय न होनेसे एक अनादि अनन्त आत्मा पृथक् द्रव्य सिद्ध होता है, जो सबका ज्ञाता है।

रागादि वातपित्तादिके धर्म नहीं :

राग, द्वेष, क्रोध आदि विकार भी चैतन्यके ही होते हैं। वे वात, पित्त और कफ आदि भौतिक द्रव्योके धर्म नही है, क्योंकि[1] वातप्रकृतिवालेके भी पित्तजन्य द्वेप और पित्तप्रकृतिवालेके भी कफजन्य राग और कफ-प्रकृतिवालेके भी वातजन्य मोह आदि देखे जाते हैं। वातादिकी वृद्धिमें रागादिकी वृद्धि नही देखी जाती, अत इन्हें वात, पित्त आदिका धर्म नही माना जा सकता। यदि ये रागादि वातादिजन्य हो, तो सभी वातादि-प्रकृतिवालोके समान रागादि होने चाहिये। पर ऐसा नही देखा जाता। फिर वैराग्य, क्षमा और शान्ति आदि प्रतिपक्षी भावनाओ-से रागादिका क्षय नही होना चाहिये।

विचार वातावरण बनाते हैं :

इस तरह जब आत्मा और भौतिक पदार्थोका स्वभाव ही प्रतिक्षण परिणमन करनेका है और वातावरणके अनुसार प्रभावित होनेका तथा वातावरणको भी प्रभावित करनेका है, तब इस बातके सिद्ध करनेकी विशेप आवश्यकता नही रहती कि हमारे अमूर्त व्यापारोका भौतिक जगत्पर क्या असर पडता है? हमारा छोटे-से छोटा शब्द ईथरकी तरंगोमें अपने वेगके अनुसार, गहरा या उथला कम्पन पैदा करता है। यह झनझनाहट रेडियो-यन्त्रोके द्वारा कानोसे सुनी जा सकती हैं। और जहाँ प्रेपक रेडियो-यन्त्र मौजूद है, वहाँसे तो यथेच्छ शब्दोको निश्चित स्थानोपर भेजा जा सकता है। ये सस्कार वातावरणपर सूक्ष्म और स्थूल रूपमें बहुत काल-तक बने रहते हैं। कालकी गति उन्हे धुंधला और नष्ट करती है। इसी तरह जब आत्मा कोई अच्छा या बुरा विचार करता है, तो उसकी इस क्रियासे आस-पासके वातावरणमें एक प्रकारकी खलबली मच जाती है, और उस विचारकी शक्तिके अनुसार वातावरणमें क्रिया-प्रतिक्रिया होती हैं। जगत्के कल्याण और मगल-कामनाके विचार चित्तको हलका और प्रसन्न रखते हैं। वे प्रकाशरूप होते हैं और उनके सस्कार वातावरणपर एक रोशनी डालते हैं, तथा अपने अनुरूप पुद्गल परमाणुओको अपने शरीरके भीतरसे ही, या शरीरके बाहरसे खीच लेते हैं। उन विचारोके सस्कारोसे प्रभावित उन पुद्गल द्रव्योका सम्बन्ध अमुक कालतक उस आत्माके साथ बना रहता है। इसीके परिपाकसे आत्मा कालान्तरमें अच्छे और बुरे अनुभव और प्रेरणाओको पाता है। जो पुद्गल द्रव्य एक बार किन्ही विचारो-

1. "व्यभिचारान्न वातादिधर्म., प्रकृतिसकराद्।"—प्रमाणवा० १। १५०।

से प्रभावित होकर खिंचा या बँधा है, उसमें भी कालान्तरमें दूसरे-दूसरे विचारोंसे बराबर हेरफेर होता रहता है। अन्तमें जिस-जिस प्रकारके जितने संस्कार बचे रहते हैं; उस-उस प्रकारका वातावरण उस व्यक्तिको उपस्थित हो जाता है।

वातावरण और आत्मा इतने सूक्ष्म प्रतिविम्बग्राही होते हैं कि ज्ञात या अज्ञात भावसे होनेवाले प्रत्येक स्पन्दनके संस्कारोंको वे प्रतिक्षण ग्रहण करते रहते हैं। इस परस्पर प्रतिबिम्ब ग्रहण करनेकी क्रियाको हम 'प्रभाव' शब्दसे कहते है। हमें अपने समान स्वभाववाले व्यक्तिको देखते ही क्यों प्रसन्नता होती है ? और क्यो अचानक किसी व्यक्तिको देखकर जी घृणा और क्रोधके भावोसे भर जाता है ? इसका कारण चित्तकी वह प्रतिविम्बग्राहिणी सूक्ष्म शक्ति है, जो आँखोकी दूरवीन-से शरीरकी स्थूल दीवारको पार करके सामनेवालेके मनोभावोका बहुत कुछ आभास पा लेती हैं। इसीलिए तो एक प्रेमीने अपने मित्रके इस प्रश्नके उत्तरमें कि "तुम मुझे कितना चाहते हो ?" कहा था कि "अपने हृदयमें देख लो।" कविश्रेष्ठ कालिदास तथा विश्वकवि टैगोरने प्रेमकी व्याख्या इन शब्दोमें की है कि जिसको देखते ही हृदय किसी अनिर्वचनीय भावोमें बहने लगे वही प्रेम है और सौंदर्य वह है जिसको देखते ही आँखें और हृदय कहने लगें कि 'न जाने तुम क्यो मुझे अच्छे लगते हो ?" इसीलिए प्रेम और सौंदर्यकी भावनाओके कम्पन एकाकार होकर भी उनके बाह्य आधार परस्पर इतने भिन्न होते हैं कि स्थूल विचारसे उनका विश्लेषण कठिन हो जाता है। तात्पर्य यह कि प्रभावका परस्पर आदान-प्रदान प्रतिक्षण चालू है। इसमें देश, काल और आकारका भेद भी व्यवधान नहीं दे सकता। परदेशमें गये पतिके ऊपर आपत्ति आने पर पतिपरायणा नारीका सहसा अनमना हो जाना इसी प्रभावसूत्रके कारण होता है।

इसीलिए जगत्के महापुरुषोंने प्रत्येक भव्यको एक ही बात कही है कि 'अच्छा वातावरण बनाओ, मंगलमय भावोको चारो ओर बिखेरो।' किसी प्रभावशाली योगीके अचिन्त्य प्रेम और अहिंसाकी विश्वमैत्री रूप सजीवन धारासे आसपासकी वनस्पतियोका असमयमे पुष्पित हो जाना और जातिविरोधी साँप-नेवला आदि प्राणियोका अपना साधारण वैर भूलकर उनके अमृतपूत वातावरणमें परस्पर मैत्रीके क्षणोका अनुभव करना कोई बहुत अनहोनी बात नही है, यह तो प्रभावकी अचिन्त्य शक्तिका साधारण स्फुरण है।

जैसी करनी वैसी भरनी :

निष्कर्ष यह है कि आत्मा अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओके द्वारा वातावरणसे उन पुद्गल परमाणुओको खीच लेता है, या प्रभावित करके कर्मरूप

बना देता है, जिनके सम्पर्कमें आते ही वह फिर उसी प्रकारके भावोको प्राप्त होता है। कल्पना कीजिए कि एक निर्जन स्थानमे किसी हत्यारेने दुष्टबुद्धिसे किसी निर्दोष व्यक्तिकी हत्या की। मरते समय उसने जो शब्द कहे और चेष्टाएँ की वे यद्यपि किसी दूसरेने नही देखी, फिर भी हत्यारेके मन और उस स्थानके वातावरणमें उनके फोटो बराबर अंकित हुए है। जब कभी भी वह हत्यारा शान्तिके क्षणोमें बैठता है, तो उसके चित्तपर पडा हुआ वह प्रतिबिम्ब उसकी आँखोके सामने झूलता है, और वे शब्द उसके कानोसे टकराते हैं। वह उस स्थानमें जानेसे घबडाता है और स्वयं अपनेमें परेशान होता है। इसीको कहते है कि 'पाप सिरपर चढकर बोलता है।' इससे यह बात स्पष्ट समझमे आ जाती है कि हर पदार्थ एक कैमरा है, जो दूसरेके प्रभावको स्थूल या सूक्ष्म रूपसे ग्रहण करता रहता है, और उन्हो प्रभावोकी औसतसे चित्र-विचित्र वातावरण और अनेक प्रकारके अच्छे-बुरे मनोभावोका सर्जन होता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि हर पदार्थ अपने सजातीयमे घुल-मिल जाता है, और विजातीयसे संघर्ष करता है। जहाँ हमारे विचारोके अनुकूल वातावरण होता है, यानी दूसरे लोग भी करीब-करीब हमारी विचार-धाराके होते हैं वहाँ हमारा चित्त उनमें रच-पच जाता है, किन्तु प्रतिकूल वातावरणमे चित्तको आकुलता-व्याकुलता होती है। हर चित्त इतनी पहचान रखता है। उसे भुलावेमें नही डाला जा सकता। यदि तुम्हारे चित्तमें दूसरेके प्रति घृणा है, तो तुम्हारा चेहरा, तुम्हारे शब्द और तुम्हारी चेष्टाएँ सामनेवाले व्यक्तिमें सद्भावका संचार नही कर सकती और वातावरणको निर्मल नही बना सकती। इसके फलस्वरूप तुम्हे भी घृणा और तिरस्कार ही प्राप्त होता है। इसे कहते है—'जैसी करनी तैसी भरनी।'

हृदयसे अहिंसा और सद्भावनाका समुद्र कोई महात्मा अहिंसाकाअमृत लिए क्यो खूँखार और बर्बरोके बीच छाती खोलकर चला जाता है? उसे इस सिद्धान्त-पर विश्वास रहता है कि जब हमारे मनमें इनके प्रति लेशमात्र दुर्भाव नही है और हम इन्हें प्रेमका अमृत पिलाना चाहते है तो ये कब तक हमारे सद्भावको ठुकरायेंगे। उसका महात्मत्व यही है कि वह सामनेवाले व्यक्तिके लगातार अनादर करनेपर भी सच्चे हृदयसे सदा उसकी हित-चिन्तना ही करता है। हम सब ऐसी जगह खडे हुए है जहाँ चारो ओर हमारे भीतर-बाहरके प्रभावको ग्रहण करनेवाले कैमरे लगे है, और हमारी प्रत्येक क्रियाका लेखा-जोखा प्रकृतिकी उस महाबहीमें अंकित होता जाता है, जिसका हिसाब-किताब हमें हर समय भुगतना पडता है। वह भुगतान कभी तत्काल हो जाता है और कभी कालान्तरमें। पापकर्मा व्यक्ति

स्वयं अपनेमें शंकित रहता है, और अपने ही मनोभावोंसे परेशान रहता है। उसकी यह परेशानी ही बाहरी वातावरणसे उसकी इष्टसिद्धि नही करा पाती।

चार व्यक्ति एक ही प्रकारके व्यापारमें जुटते हैं, पर चारोको अलग-अलग प्रकारका जो नफा-नुकसान होता है, वह अकारण ही नही है। कुछ पुराने और कुछ तत्कालीन भाव वातावरणोका निचोड उन-उन व्यक्तियोके सफल, असफल या अर्धसफल होनेमें कारण पड जाते है। पुरुषकी बुद्धिमानी और पुरुषार्थ यही है कि वह सद्भाव और प्रशस्त वातावरणका निर्माण करे। इसीके कारण वह जिनके सम्पर्कमें आता है उनकी सद्बुद्धि और हृदयकी रुझानको अपनी ओर खीच लेता है, जिसका परिणाम होता है—उसकी लौकिक कार्योकी सिद्धिमे अनुकूलता मिलना। एक व्यक्तिके सदाचरण और सद्विचारोंकी शोहरत जब चारो ओर फैलती है, तो वह जहाँ जाता है, आदर पाता है, उसे सन्मान मिलता और ऐसा वातावरण प्रस्तुत होता है, जिससे उसे अनुकूलता ही अनुकूलता प्राप्त होती जाती है। इस वातावरणसे जो बाह्य विभूति या अन्य सामग्रीका लाभ हुआ है उसमें यद्यपि परम्परासे व्यक्तिके पुराने संस्कारोने काम लिया है, पर सीधे उन संस्कारोने उन पदार्थोको नही खीचा है। हाँ, उन पदार्थोके जुटने और जुटानेमे पुराने सस्कार और उसके प्रतिनिधि पुद्गल द्रव्यके विपाकने वातावरण अवश्य बनाया है। उससे उन-उन पदार्थोका संयोग और वियोग रहता है। यह तो बलाबलकी बात है। मनुष्य अपनी क्रियाओंसे जितने गहरे या उथले संस्कार और प्रभाव, वातावरण और अपनी आत्मापर डालता है उसीके तारतम्यसे मनुष्योके इष्टानिष्टका चक्र चलता है। तत्काल किसी कार्यका ठीक कार्यकारण-भाव हमारी समझमे न भी आये, पर कोई भी कार्य अकारण नही हो सकता, यह एक अटल सिद्धान्त है। इसी तरह जीवन और मरणके क्रममें भी कुछ हमारे पुराने संस्कार और कुछ संस्कारप्रेरित प्रवृत्तियाँ तथा इह लोकका जीवन-व्यापार सब मिलाकर कारण बनते हैं।

नूतन शरीर धारणकी प्रक्रिया :

जब कोई भी प्राणी अपने पूर्व शरीरको छोड़ता है, तो उसके जीवन भरके विचारो, वचन-व्यवहारों और शरीरकी क्रियाओंसे जिस-जिस प्रकारके संस्कार आत्मापर और आत्मासे चिरसंयुक्त कार्मण-शरीरपर पड़े है, अर्थात् कार्मण-शरीरके साथ उन संस्कारोके प्रतिनिधिभूत पुद्गल द्रव्योका जिस प्रकारके रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादि परिणमनोसे युक्त होकर सम्बन्ध हुआ है, कुछ उसी प्रकारके अनुकूल परिणमनवाली परिस्थितिमे यह आत्मा नूतन जन्म ग्रहण

करनेका अवसर खोज लेता है और वह पुराने शरीरके नष्ट होते ही अपने सूक्ष्म कार्मण शरीरके साथ उस स्थान तक पहुँच जाता है। इस क्रियामें प्राणीके शरीर छोडनेके समयके भाव और प्रेरणाएँ बहुत कुछ काम करती हैं। इसीलिए जैन परम्परामें समाधिमरणको जीवनकी अन्तिम परीक्षाका समय कहा है; क्योंकि एक बार नया शरीर धारण करनेके बाद उस शरीरकी स्थिति तक लगभग एक जैसी परिस्थितियाँ बनी रहनेकी सम्भावना रहती है। मरणकालकी इस उत्क्रान्तिको सम्हाल लेनेपर प्राप्त परिस्थितियोंके अनुसार बहुत कुछ पुराने संस्कार और बँधे हुए कर्मोंमें हीनाधिकता होनेकी सम्भावना भी उत्पन्न हो जाती है।

जैन शास्त्रोंमें एक मारणान्तिक समुद्घात नामकी क्रियाका वर्णन आता है। इस क्रियामें मरणकालके पहले इस आत्माके कुछ प्रदेश अपने वर्तमान शरीरको छोडकर भी बाहर निकलते हैं और अपने अगले जन्मके योग्य क्षेत्रको स्पर्श कर वापिस आ जाते हैं। इन प्रदेशोंके साथ कार्मण शरीर भी जाता है और उसमें जिस प्रकारके रूप, रस, गंध और स्पर्श आदिके परिणमनोंका तारतम्य है, उस प्रकारके अनुकूल क्षेत्रकी ओर ही उसका झुकाव होता है। जिसके जीवनमें सदा धर्म और सदाचारकी परम्परा रही है, उनके कार्मण शरीरमें प्रकाशमय, लघु और स्वच्छ परमाणुओंकी बहुलता होती है। इसलिए उसका गमन लघु होनेके कारण स्वभावतः प्रकाशमय लोककी ओर होता है। और जिसके जीवनमें हत्या, पाप, छल, प्रपञ्च, माया, मूर्छा आदिके काले, गुरु और मैले परमाणुओंका सम्बन्ध विशेषरूपसे हुआ है, वह स्वभावतः अन्धकारलोककी ओर नीचेकी तरफ जाता है। यही बात सांख्य शास्त्रोंमें—

"धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्तात् भवत्यधर्मेण।"

—सांख्यका० ४४।

इस वाक्यके द्वारा कही गई है। तात्पर्य यह है कि आत्मा परिणामी होनेके कारण प्रतिसमय अपनी मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे उन-उन प्रकारके शुभ और अशुभ संस्कारोंमें स्वयं परिणत होता जाता है, और वातावरणको भी उसी प्रकारसे प्रभावित करता है। ये आत्मसंस्कार अपने पूर्वबद्ध कार्मण शरीरमें कुछ नये कर्मपरमाणुओंका सम्बन्ध करा देते है, जिनके परिपाकसे वे संस्कार आत्मामें अच्छे या बुरे भाव पैदा करते हैं। आत्मा स्वयं उन संस्कारोंका कर्त्ता है और स्वयं ही उनके फलोंका भोक्ता है। जब यह अपने मूल स्वरूपकी ओर दृष्टि फेरता है, तब इस स्वरूपदर्शनके द्वारा धीरे-धीरे पुराने कुसंस्कारोंको काटकर स्वरूपस्थितिरूप मुक्ति पा लेता है। कभी-कभी किन्हीं विशेष आत्माओंमें

स्वरूपज्ञानकी इतनी तीव्र ज्योति जग जाती है, कि उसके महाप्रकाशमें कुसंस्कारोका पिण्ड क्षणभरमे ही विलीन हो जाता है और वह आत्मा इस शरीरको धारण किये हुए भी पूर्ण वीतराग और पूर्ण ज्ञानी बन जाता है। यह जीवन्मुक्त अवस्था है। इस अवस्थामें आत्मगुणोके घातक संस्कारोंका समूल नाश हो जाता है। मात्र शरीरको धारण करनेमें कारणभूत कुछ अघातिया संस्कार शेष रहते है, जो शरीरके साथ समाप्त हो जाते हैं; तब यह आत्मा पूर्णरूपसे सिद्ध होकर अपने स्वभावानुसार ऊर्ध्वगति करके लोकके ऊपरी छोरमें जा पहुँचता है। इस तरह यह आत्मा स्वयं कर्त्ता और स्वयं भोक्ता है, स्वय अपने संस्कारों और बद्धकर्मोंके अनुसार असंख्य जीव-योनियोमें जन्म-मरणके भारको ढोता रहता है। यह सर्वथा अपरिणामी और निर्लिप्त नही है, किन्तु प्रतिक्षण परिणामी है और वैभाविक या स्वाभाविक किसी भी अवस्थामें स्वयं बदलनेवाला है। यह निश्चित है कि एक बार स्वाभाविक अवस्थामें पहुँचनेपर फिर वैभाविक परिणमन नही होता, सदा शुद्ध परिणमन ही होता रहता है। ये सिद्ध कृतकृत्य होते है। उन्हें सृष्टि-कर्तृत्व आदिका कोई कार्य शेष नही रहता।

सृष्टिचक्र स्वयं चालित है :

संसारी जीव और पुद्गलोके परस्पर प्रभावित करनेवाले संयोग-वियोगोंसे इस सृष्टिका महाचक्र स्वयं चल रहा है। इसके लिए किसी नियंत्रक, व्यवस्थापक, सुयोजक और निर्देशककी आवश्यकता नही है। भौतिक जगत्का चेतन जगत् स्वयं अपने बलाबलके अनुसार निर्देशक और प्रभावक बन जाता है। फिर यह आवश्यक भी नही है कि प्रत्येक भौतिक परिणमनके लिए किसी चेतन अधिष्ठाताकी नितान्त आवश्यकता हो। चेतन अधिष्ठाताके बिना भी असंख्य भौतिक परिवर्तन स्वयमेव अपनी कारणसामग्रीके अनुसार होते रहते है। इस स्वभावत. परिणामी द्रव्योके महासमुदायरूप जगत्को किसीने सर्वप्रथम किसी समय चलाया हो, ऐसे कालकी कल्पना नही की जा सकती। इसीलिए इस जगत्को स्वयंसिद्ध और अनादि कहा जाता है। अतः न तो सर्वप्रथम इस जगत्-यन्त्रको चलानेके लिए किसी चालककी आवश्यकता है और न इसके अन्तर्गत जीवोंके पुण्य-पापका लेखा-जोखा रखनेवाले किसी महालेखककी, और अच्छे-बुरे कर्मोंका फल देनेवाले और स्वर्ग या नरक भेजनेवाले किसी महाप्रभुकी ही। जो व्यक्ति शराब पियेगा उसका नशा तीव्र या मन्द रूपमें उस व्यक्तिको अपने आप आयगा ही।

एक ईश्वर संसारके प्रत्येक अणु-परमाणुकी क्रियाका सचालक बने और प्रत्येक जीवके अच्छे-बुरे कार्योका भी स्वय वही प्रेरक हो और फिर वही बैठकर संसारी जीवोके अच्छे-बुरे कर्मोका न्याय करके उन्हें सुगति और दुर्गतिमें भेजे, उन्हें सुख-दुख भोगनेको विवश करे यह कैसी क्रीडा है! दुराचारके लिए प्रेरणा भी वही दे, और दण्ड भी वही। यदि सचमुच कोई एक ऐसा नियन्ता है तो जगत्की विषमस्थितिके लिए मूलत. वही जवाबदेह है। अत. इस भूल-भुलैयाके चक्रसे निकलकर हमें वस्तुस्वरूपकी दृष्टिसे ही जगत्का विवेचन करना होगा और उस आधारसे ही जब तक हम अपने ज्ञानको सच्चे दर्शनकी भूमिपर नही पहुँचायेंगे, तब तक तत्त्वज्ञानकी दिशामें नही बढ सकते। यह कैसा अन्धेर है कि ईश्वर हत्या करनेवालेको भी प्रेरणा देता है, और जिसकी हत्या होती है उसे भी; और जब हत्या हो जाती है, तो वही एकको हत्यारा ठहराकर दण्ड भी दिलाता है। उसकी यह कैसी विचित्र लीला है। जब व्यक्ति अपने कार्यमें स्वतन्त्र ही नही है, तब वह हत्याका कर्त्ता कैसे? अत प्रत्येक जीव अपने कार्योका स्वय प्रभु है, स्वयं कर्त्ता है और स्वय भोक्ता है।

अत जगत्-कल्याणकी दृष्टिसे और वस्तुके स्वाभाविक परिणमनकी स्थितिपर गहरा विचार करनेसे यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि यह जगत् स्वय अपने परिणामी स्वभावके कारण प्राप्त सामग्रीके अनुसार परिवर्तमान है। उसमे विभिन्न व्यक्तियोकी अनुकूलता और प्रतिकूलतासे अच्छेपन और बुरेपनकी कल्पना होती रहती है। जगत् तो अपनी गतिसे चला जा रहा है। 'जो करेगा, वही भोगेगा। जो बोयेगा, वही काटेगा।' यह एक स्वाभाविक व्यवस्था है। द्रव्योके परिणमन कही चेतनसे प्रभावित होते हैं, कही अचेतनसे प्रभावित और कही परस्पर प्रभावित। इनका कोई निश्चित नियम नही है, जब जैसी सामग्री प्रस्तुत हो जाती है, तब वैसा परिणमन बन जाता है।

जीवोके भेद संसारी और मुक्त :

जैसा कि ऊपरके विवेचनसे स्पष्ट होता है, कि यह जीव अपने सस्कारोके कारण स्वय बँधा है और अपने पुरुषार्थसे स्वय छूटकर मुक्त हो सकता है, उसीके अनुसार जीव दो श्रेणियोमें विभाजित हो जाते हैं। एक ससारी—जो अपने सस्कारोंके कारण नाना योनियोमें शरीरोको धारणकर जन्म-मरण रूपसे ससरण कर रहे हैं। (२) दूसरे मुक्त—जो समस्त कर्मसस्कारोंसे छूटकर अपने शुद्ध चैतन्यमें सदा परिवर्तमान हैं। जब जीव मुक्त होता है, तब वह दीपशिखाकी तरह अपने ऊर्ध्व-गमन स्वभावके कारण शरीरके बन्धनोको तोड़कर लोकाग्रमें जा

पहुँचता है, और वही अनन्त काल तक शुद्धचैतन्यस्वरूपमे लीन रहता है। उसके आत्मप्रदेशोका आकार अन्तिम शरीरके आकारके समान बना रहता है, क्योकि आगे उसके विस्तारका कारण नामकर्म नही रहता। जीवोंके प्रदेशोका संकोच और विस्तार दोनो ही कर्मनिमित्तसे होते हैं। निमित्तके हट जाने पर जो अन्तिम स्थिति है, वही रह जाती है। यद्यपि जीवका स्वभाव ऊपरको गति करनेका है, किन्तु गति करनेमें सहायक धर्मद्रव्य चूँकि लोकके अन्तिम भाग तक ही है, अत. मुक्त जीवकी गति लोकाग्र तक ही होती है, आगे नही। इसीलिए सिद्धोको 'लोकाग्रनिवासी' कहते हैं।

सिद्धात्माएँ चूँकि शुद्ध हो गई है, अत उनपर किसी दूसरे द्रव्यका कोई प्रभाव नही पडता, और न वे परस्पर ही प्रभावित होती हैं। जिनका संसारचक्र एक बार रुक गया, फिर उन्हें ससारमें रुलनेका कोई कारण शेष नही रहता। इसलिए इन्हें अनन्तसिद्ध कहते हैं। जीवकी 'संसार-यात्रा कबसे शुरू' हुई, यह नही बताया जा सकता, पर 'कब समाप्त होगी' यह निश्चित बताया जा सकता है। असख्य जीवोने अपनी संसारयात्रा समाप्त करके मुक्ति पाई भी है। इन सिद्धोंके सभी गुणोका परिणमन सदा शुद्ध ही रहता है। ये कृतकृत्य है, निरजन है और केवल अपने शुद्धचित्परिणमनके स्वामी है। इनकी यह सिद्धावस्था नित्य इस अर्थमे है कि वह स्वाभाविक परिणमन करते रहने पर भी कभी विकृत या नष्ट नही होती।

यह प्रश्न प्राय उठता है कि 'यदि सिद्ध सदा एक-से रहते है, तो उनमें परिणमन माननेकी क्या आवश्यकता है?' परन्तु इसका उत्तर अत्यन्त सहज है। और वह यह है कि जब द्रव्यकी मूलस्थिति ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप है, तब किसी भी द्रव्यको चाहे वह शुद्ध हो या अशुद्ध, इस मूलस्वभावका अपवाद कैसे माना जा सकता है? उसे तो अपने मूल स्वभावके अनुसार परिणमन करना ही होगा। चूकि उनके विभाव परिणमनका कोई हेतु नही है, अतः उनका सदा स्वभावरूपसे ही परिणमन होता रहता है। कोई भी द्रव्य कभी भी परिणमन-चक्रसे बाहर नही जा सकता। 'तब परिणमनका क्या प्रयोजन?' इसका सीधा उत्तर है—'स्वभाव'। चूंकि प्रत्येक द्रव्यका यह निज स्वभाव है, अतः उसे अनन्त काल तक अपने स्वभावमें रहना ही होगा। द्रव्य अपने अगुरुलघुगुणके कारण न कम होता है और न बढता है। वह परिणमनकी तीक्ष्ण धारपर चढा रहनेपर भी अपना द्रव्यत्व नष्ट नही होने देता। यही अनादि अनन्त अविच्छिन्नता द्रव्यत्व है, और यही उसकी अपनी मौलिक विशेषता है। अगुरुलघुगुणके कारण

उसके न तो प्रदेशोंमें ही न्यूनाधिकता होती है, और न गुणोंमें ही। उसके आकार और प्रकार भी सन्तुलित रहते हैं।

सिद्धका स्वरूप निम्नलिखित गाथामें बहुत स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

"णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्ग-ठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता॥"

—नियमसार गा० ७२।

अर्थात्—सिद्ध ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंसे रहित हैं। सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरुलघुत्व और अव्याबाध इन आठ गुणोंसे युक्त हैं। अपने पूर्व अन्तिम शरीरसे कुछ न्यून आकारवाले हैं। नित्य हैं और उत्पाद-व्ययसे युक्त हैं, तथा लोकके अग्रभागमें स्थित हैं।

इस तरह जीवद्रव्य संसारी और मुक्त दो प्रकारोंमें विभाजित होकर भी मूल स्वभावसे समान गुण और समानशक्तिवाला है।

पुद्गल द्रव्य :

'पुद्गल' द्रव्यका सामान्य लक्षण[1] है—रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त होना। जो द्रव्य स्कन्ध अवस्थामें पूरण अर्थात् अन्य-अन्य परमाणुओंसे मिलना और गलन अर्थात् कुछ परमाणुओंका बिछुडना, इस तरह उपचय और अपचयको प्राप्त होता है, वह 'पुद्गल' कहलाता है। समस्त दृश्य जगत् इस 'पुद्गल'का ही विस्तार है। मूल दृष्टिसे पुद्गलद्रव्य परमाणुरूप ही है। अनेक परमाणुओंसे मिलकर जो स्कन्ध बनता है, वह संयुक्तद्रव्य (अनेकद्रव्य) है। स्कन्धपर्याय स्कन्धान्तर्गत सभी पुद्गल-परमाणुओंकी संयुक्त पर्याय है। वे पुद्गल-परमाणु जब तक अपनी बंधशक्तिसे शिथिल या निविडरूपमें एक-दूसरेसे जुटे रहते हैं, तब तक स्कन्ध कहे जाते हैं। इन स्कन्धोंका बनाव और बिगाड परमाणुओंकी बंधशक्ति और भेदशक्तिके कारण होता है।

प्रत्येक[2] परमाणुमें स्वभावसे एक रस, एक रूप, एक गन्ध और दो स्पर्श होते हैं। लाल, पीला, नीला, सफेद और काला इन पाँच रूपोंमेंसे कोई एक रूप परमाणुमें होता है जो बदलता भी रहता है। तीता, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा इन पाँच रसोंमेंसे कोई एक रस परमाणुओंमें होता है, जो परिवर्तित भी

१ "स्पर्शरसगन्धवर्णवन्त पुद्गला."—तत्त्वार्थसू० ५।२३।
२ "एयरसवण्णगंध दो फासं सद्दकारणमसद्दं।"
—पंचास्तिकाय गा० ८१।

होता रहता है। सुगन्ध और दुर्गन्ध इन दो गन्धोंमेंसे कोई एक गन्ध परमाणुमें अवश्य होती है। शीत और उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, इन दो युगलोंमेंसे कोई एक-एक स्पर्श अर्थात् शीत और उष्णमेंसे एक और स्निग्ध तथा रूक्षमेंसे एक, इस तरह दो स्पर्श प्रत्येक परमाणुमे अवश्य होते हैं। बाकी मृदु, कर्कश, गुरु और लघु ये चार स्पर्श स्कन्ध-अवस्थाके है। परमाणु-अवस्थामें ये नही होते। यह एकप्रदेशी होता है। यह स्कन्धोका कारण भी है और स्कन्धोके भेदसे उत्पन्न होनेके कारण उनका कार्य भी है। पुद्‌गलकी परमाणु-अवस्था स्वाभाविक पर्याय है, और स्कन्ध-अवस्था विभाव-पर्याय है।

स्कन्धोंके भेद :

स्कन्ध अपने परिणमनोकी अपेक्षा छह प्रकारके होते है[1]:—

(१) अतिस्थूल-स्थूल (बादर-बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वय न मिल सके, वे लकडी, पत्थर, पर्वत, पृथ्वी आदि अतिस्थूल-स्थूल है।

(२) स्थूल (बादर)—जो स्कन्ध छिन्न-भिन्न होनेपर स्वयं आपसमें मिल जाँय, वे स्थूल स्कन्ध है। जैसे कि दूध, घी, तेल, पानी आदि।

(३) स्थूल-सूक्ष्म (बादर-सूक्ष्म)—जो स्कन्ध दिखनेमें तो स्थूल हो, लेकिन छेदने-भेदने और ग्रहण करनेमे न आवें, वे छाया, प्रकाश, अन्धकार, चाँदनी आदि स्थूल-सूक्ष्म स्कन्ध हैं।

(४) सूक्ष्म-स्थूल (सूक्ष्म-बादर)—जो सूक्ष्म होकरके भी स्थूल रूपमें दिखें, वे पाँचो इन्द्रियोके विषय—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द सूक्ष्म-स्थूल स्कन्ध है।

(५) सूक्ष्म—जो सूक्ष्म होनेके कारण इन्द्रियोके द्वारा ग्रहण न किये जा सकते हों, वे कर्मवर्गणा आदि सूक्ष्म स्कन्ध है।

(६) अतिसूक्ष्म—कर्मवर्गणासे भी छोटे द्व्यणुक स्कन्ध तक सूक्ष्मसूक्ष्म है।

परमाणु परमातिसूक्ष्म है। वह अविभागी है। शब्दका कारण होकर भी स्वयं अशब्द है, शाश्वत होकर भी उत्पाद और व्ययवाला है—यानी त्रयात्मक परिणमन करनेवाला है।

---

१. "अइथूलथूलथूलं थूल सुहुम च सुहुमथूलं च
सुहुम अइसुहुमं इति धरादियं होइ छब्भेयं ॥"

—नियमसार गा० २१-२४।

स्कन्ध आदि चार भेद :

[1]पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध, स्कन्धदेश, स्कन्धप्रदेश और परमाणु ये चार विभाग भी होते है। अनन्तानन्त परमाणुओंसे स्कन्ध बनता है, उससे आधा स्कन्धदेश और स्कन्धदेशका आधा स्कन्धप्रदेश होता है। परमाणु सर्वत. अविभागी होता है। इन्द्रियाँ, शरीर, मन, इन्द्रियोंके विषय और श्वासोच्छ्वास आदि सब कुछ पुद्गल द्रव्यके ही विविध परिणमन[2] हैं।

बन्धकी प्रक्रिया :

इन परमाणुओंमे स्वाभाविक स्निग्धता और रूक्षता होनेके कारण परस्पर बन्ध[3] होता है, जिससे स्कन्धोंकी उत्पत्ति होती है। स्निग्ध और रूक्ष गुणोंमें शक्त्यंशकी अपेक्षा असख्य भेद होते है, और उनमे तारतम्य भी होता रहता है। एक शक्त्यश (जघन्यगुण) वाले स्निग्ध और रूक्ष परमाणुओंका परस्पर बन्ध (रासायनिक मिश्रण) नही होता। स्निग्ध और स्निग्ध, रूक्ष और रूक्ष, स्निग्ध और रूक्ष, तथा रूक्ष और स्निग्ध परमाणुओंमें बन्ध तभी होगा, जब इनमें परस्पर गुणोके शक्त्यंश दो अधिक हो, अर्थात् दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुका बन्ध चार गुणवाले स्निग्ध या रूक्ष परमाणुसे होगा। बन्धकालमें जो अधिक गुणवाला परमाणु है, वह कम गुणवाले परमाणुका अपने रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रूपमें परिणमन करा लेता है। इस तरह दो परमाणुओंसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंसे त्र्यणुक और चार, पांच आदि परमाणुओंसे चतुरणुक, पञ्चाणुक आदि स्कन्ध उत्पन्न होते रहते है। महास्कन्धोंके भेदमे भी दो अल्पस्कन्ध हो सकते हैं। यानी स्कन्ध, संघात और भेद दोनोंसे बनते हैं। स्कन्ध अवस्थामें परमाणुओंका परस्पर इतना सूक्ष्म परिणमन हो जाता है कि थोडी-सी जगहमें असंख्य परमाणु समा जाते हैं। एक सेर रुई और एक सेर लोहेमें साधारणतया परमाणुओंकी संख्या बराबर होने पर भी उनके निबिड और शिथिल बन्धके कारण रुई पुलपुली है और लोहा ठोस। रुई अधिक स्थानको रोकती है और लोहा कम स्थानको। इन पुद्गलोंके इसी सूक्ष्म परिणमनके कारण असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनन्तानन्त परमाणु समाए

---

1. 'खंधा य खंधदेसा खंधपदेसा य होंति परमाणू।
   इदि ते चदुव्वियप्पा पुग्गलकाया मुणेयव्वा ॥'
   —पञ्चास्तिकाय गा० [illegible]
2. "शरीरवाङ्मनःप्राणापानाः पुद्गलानाम्।"
   —तत्त्वार्थसूत्र ५, १९।
3. "स्निग्धरूक्षत्वाद् बन्धः। न जघन्यगुणानाम्। गुणसाम्ये सदृशानाम्। द्व्यधिकादिगुणानां तु। बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च।"
   —तत्त्वार्थसूत्र ५।३३-३७

हुए हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि प्रत्येक द्रव्य परिणामी है। उसी तरह ये पुद्गल द्रव्य भी उस परिणमनके अपवाद नही है और प्रतिक्षण उपयुक्त स्थूल-बादरादि स्कन्धोके रूपमें बनते बिगड़ते रहते हैं।

शब्द आदि पुद्गलकी पर्याय हैं :

[1]शब्द, बन्ध, सूक्ष्मता, स्थूलता, संस्थान, भेद, अन्धकार, छाया, प्रकाश, उद्योत और गर्मी आदि पुद्गल द्रव्यकी ही पर्यायें हैं। शब्दको वैशेषिक आदि आकाशका गुण मानते है, किन्तु आजके विज्ञानने अपने रेडियो और ग्रामोफोन आदि विविध यन्त्रोसे शब्दको पकडकर और उसे इष्ट स्थानमें भेजकर उसकी पौद्गलिकता प्रयोगसे सिद्ध कर दी है। यह शब्द पुद्गलके द्वारा ग्रहण किया जाता है, पुद्गलसे धारण किया जाता है, पुद्गलोसे रुकता है, पुद्गलोको रोकता है, पुद्गल कान आदिके पर्दोको फाड देता है और पौद्गलिक वातावरणमें अनुकम्पन पैदा करता है, अत. पौद्गलिक है। स्कन्धोके परस्पर संयोग, ,संघर्षण और विभागसे शब्द उत्पन्न होता है। जिह्वा और तालु आदि के संयोगसे नाना प्रकारके भाषात्मक प्रायोगिक शब्द उत्पन्न होते है। इसके उत्पादक उपादान कारण तथा स्थूल निमित्त कारण दोनो ही पौद्गलिक हैं,

जब दो स्कन्धोंके संघर्षसे कोई एक शब्द उत्पन्न होता है, तो वह आस-पासके स्कन्धोको अपनी शक्तिके अनुसार शब्दायमान कर देता है, अर्थात् उसके निमित्तसे उन स्कन्धोमें भी शब्दपर्याय उत्पन्न हो जाती है। जैसे जलाशयमे एक कंकड डालने पर जो प्रथम लहर उत्पन्न होती है, वह अपनी गतिशक्तिसे पासके जलको क्रमश तरगित करती जाती है और यह 'वीचीतरगन्याय' किसी-न-किसी रूपमें अपने वेगके अनुसार काफी दूर तक चालू रहता है।

शब्द शक्तिरूप नहीं है :

शब्द केवल शक्ति नही है, किन्तु शक्तिमान् पुद्गलद्रव्य-स्कन्ध है, जो वायु स्कन्धके द्वारा देशान्तरको जाता हुआ आसपासके वातावरणको झनझता जाता है। यन्त्रोंसे उसकी गति बढाई जा सकती है और उसकी सूक्ष्म लहरको सुदूर देशसे पकडा जा सकता है। वक्ताके तालु आदिके संयोगसे उत्पन्न हुआ एक शब्द मुखसे बाहर निकलते ही चारो तरफके वातावरणको उसी शब्दरूप कर देता है। वह स्वय भी नियत दिशामें जाता है और जाते-जाते, शब्दसे शब्द और शब्दसे शब्द पैदा करता जाता है। शब्दके जानेका अर्थ पर्यायवाले स्कन्धका जाना है और

---

१ "शब्दबन्धसौक्ष्म्यस्थौल्यसंस्थानभेदतमश्छायातपोद्योतवन्तश्च।"
—तत्त्वार्थसूत्र ५।२४।

वास्तविक अस्तित्व रखनेवाले पदार्थ हैं। विज्ञानने एटममें जिन इलेक्ट्रोन और प्रोटोनको अविराम गतिसे चक्कर लगाते हुए देखा है, वह सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म पुद्गल स्कन्धमें बँधे हुए परमाणुओंका ही गतिचक्र है। सब अपने-अपने क्रमसे जब जैसी कारणसामग्री पा लेते हैं, वैसा परिणमन करते हुए अपनी अनन्त यात्रा कर रहे हैं। पुरुषकी कितनी-सी शक्ति! वह कहाँ तक इन द्रव्योंके परिणमनोंको प्रभावित कर सकता है? हाँ, जहाँ तक अपनी सूझ-बूझ और शक्तिके अनुसार वह यन्त्रोंके द्वारा इन्हे प्रभावित और नियन्त्रित कर सकता था, वहाँ तक उसने किया भी है। पुद्गलका नियन्त्रण पौद्गलिक साधनोंसे ही हो सकता है और वे साधन भी परिणमनशील हैं। अतः हमें द्रव्यकी मूल स्थितिके आधारसे ही तत्त्वविचार करना चाहिये और विश्वव्यवस्थाका आधार ढूंढ़ना चाहिए।

छाया पुद्गलकी ही पर्याय है :

सूर्य आदि प्रकाशयुक्त द्रव्यके निमित्तसे आस-पास पुद्गलस्कन्ध भासुररूपको धारणकर प्रकाशस्कन्ध बन जाते हैं। इसी प्रकाशको जितनी जगह कोई स्थूल स्कन्ध यदि रोक लेता है तो उतनी जगहके स्कन्ध काले रूपको धारण कर लेते हैं, यही छाया या अन्धकार है। ये सभी पुद्गल द्रव्यके खेल हैं। केवल मायाकी आंखमिचौनी नहीं हैं और न 'एकोऽहं बहु स्याम्'की लीला। ये तो ठोस वजनदार परमार्थसत् पुद्गल परमाणुओंकी अविराम गति और परिणतिके वास्तविक दृश्य हैं। यह आँख मूंदकर की जानेवाली भावना नहीं है, किन्तु प्रयोगशालामें रासायनिक प्रक्रियासे किये जानेवाले प्रयोगसिद्ध पदार्थ हैं। यद्यपि पुद्गलाणुओंमें समान अनन्त शक्ति है फिर भी विभिन्न स्कन्धोंमें जाकर उनकी शक्तियोंके भी जुदे-जुदे अनन्त भेद हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक परमाणुमें सामान्यतः मादकशक्ति होने पर भी उसकी प्रकटताकी योग्यता महुवा, दाख और कोदों आदिके स्कन्धोंमें ही साक्षात् है, सो भी अमुक जलादिके रासायनिक मिश्रणसे। ये पर्याययोग्यताएँ कहलाती हैं, जो उन-उन स्थूल पर्यायोंमें प्रकट होती हैं। और इन स्थूल पर्यायोंके घटक सूक्ष्म स्कन्ध भी अपनी उस अवस्थामें विशिष्ट शक्तिको धारण करते हैं।

एक ही पुद्गल मौलिक है :

आधुनिक विज्ञानने पहले ९२ मौलिक तत्त्व (Elements) खोजे थे। उन्होंने इनके वजन और शक्तिके अंश निश्चित किये थे। मौलिक तत्त्वका अर्थ होता है—'एक तत्त्वका दूसरे रूप न होना।' परन्तु अब एक एटम (Atom) ही मूल तत्त्व बच गया है। यही एटम अपनेमें चारो ओर गतिशील इलेक्ट्रोन

और प्रोटोनकी सख्याके भेदसे ऑक्सीजन, हॉइड्रोजन, चाँदी, सोना, लोहा, ताँबा, यूरेनियम, रेडियम आदि अवस्थाओको धारण कर लेता है। ऑक्सीजनके अमुक इलेक्ट्रोन या प्रोटोनको तोडने या मिलानेपर वही हॉइड्रोजन बन जाता है। इस तरह ऑक्सीजन और हॉइड्रोजन दो मौलिक न होकर एक तत्त्वकी अवस्था-विशेष ही सिद्ध होते है। मूलतत्त्व केवल अणु (Atom) है।

पृथिवी आदि स्वतन्त्र द्रव्य नहीं :

नैयायिक-वैशेपिक पृथ्वीके परमाणुओमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि चारो गुण, जलके परमाणुओमे रूप, रस और स्पर्श ये तीन गुण, अग्निके परमाणुओमे रूप और स्पर्श ये दो गुण और वायुमें केवल स्पर्श, इस तरह गुणभेद मानकर चारोको स्वतन्त्र द्रव्य मानते है। किन्तु जब प्रत्यक्षसे सीपमें पडा हुआ जल, पार्थिव मोती बन जाता है, पार्थिव लकडी अग्नि बन जाती है, अग्नि भस्म बन जाती है पार्थिव हिम पिघलकर जल हो जाता है और ऑक्सीजन और हाइड्रोजन दोनो वायु मिलकर जल बन जाती है, तब इनमें परस्पर गुणभेदकृत जातिभेद मानकर पृथक् द्रव्यत्व कैसे सिद्ध हो सकता है ? जैनदर्शनने पहलेसे ही समस्त पुद्गलपरमाणुओका परस्पर परिणमन देखकर एक ही पुद्गल द्रव्य स्वीकार किया है। यह तो हो सकता है कि अवस्थाविशेषमें कोई गुण प्रकट हो और कोई अप्रकट। अग्निमें रस अप्रकट रह सकता है, वायुमें रूप और जलमें गन्ध, किन्तु उक्त द्रव्योमे उन गुणोका अभाव नही माना जा सकता। यह एक सामान्य नियम है कि 'जहाँ स्पर्श होगा वहाँ रूप, रस और गन्ध अवश्य ही होगे।' इसी तरह जिन दो पदार्थोका एक-दूसरेके रूपसे परिणमन हो जाता है वे दोनो पृथक्-जातीय द्रव्य नही हो सकते। इसीलिए आजके विज्ञानको अपने प्रयोगोंसे उसी एकजातिक अणुवादपर आना पडा है।

प्रकाश और गर्मी भी शक्तियाँ नहीं :

यद्यपि विज्ञान प्रकाश, गर्मी और शब्दको अभी केवल (Energy) शक्ति मानता है। पर, वह शक्ति निराधार न होकर किसी-न-किसी ठोस आधारमें रहनेवाली ही सिद्ध होगी, क्योकि शक्ति या गुण निराश्रय नही रह सकते। उन्हें किसी-न-किसी मौलिक द्रव्यके आश्रयमें रहना ही होगा। ये शक्तियाँ जिन माध्यमोंसे गति करती है, उन माध्यमोको स्वय उस रूपसे परिणत कराती हुई ही जाती है। अत यह प्रश्न मनमे उठता है कि जिसे हम शक्तिकी गति कहते है वह आकाशमें निरन्तर प्रचित परमाणुओमें अविराम गतिसे उत्पन्न होनेवाली शक्तिपरपरा ही तो नही है ? हम पहले बता आये है कि शब्द, गर्मी और प्रकाश

किसी निश्चित दिशाको गति भी कर सकते है और समीपके वातावरणको शब्दायमान, प्रकाशमान और गरम भी कर देते है। यो तो जब प्रत्येक परमाणु गतिशील है और उत्पाद-व्ययस्वभावके कारण प्रतिक्षण नूतन पर्यायोको धारण कर रहा है, तब शब्द, प्रकाश और गर्मीको इन्ही परमाणुओकी पर्याय माननेमे ही वस्तुस्वरूपका सरक्षण रह पाता है।

जैन ग्रन्थोमें पुद्गल द्रव्योकी जिन—कर्मवर्गणा, नोकर्मवर्गणा, आहारवर्गणा, भाषावर्गणा आदि रूपसे—२३ प्रकारकी वर्गणाओका वर्णन मिलता है,[1] वे स्वतन्त्र द्रव्य नही हैं। एक ही पुद्गलजातीय स्कन्धोमे ये विभिन्न प्रकारके परिणमन, विभिन्न सामग्रीके अनुसार विभिन्न परिस्थितियोमे बन जाते हैं। यह नही है कि जो परमाणु एक बार कर्मवर्गणारूप हुए है, वे सदा कर्मवर्गणारूप ही रहेंगे, अन्यरूप नही होगे, या अन्यपरमाणु कर्मवर्गणारूप न हो सकेंगे। ये भेद तो विभिन्न स्कन्ध-अवस्थामे विकसित शक्तिभेदके कारण है। प्रत्येक द्रव्यमें अपनी-अपनी द्रव्यगत मूल योग्यताओके अनुसार, जैसी-जैसी सामग्रीका जुटाव हो जाता है, वैसा-वैसा प्रत्येक परिणमन सभव है। जो परमाणु शरीर-अवस्थामे नोकर्मवर्गणा बनकर शामिल हुए थे, वही परमाणु मृत्युके बाद शरीरके खाक हो जानेपर अन्य विभिन्न अवस्थाओको प्राप्त हो जाते हैं। एकजातीय द्रव्योमें किसी भी द्रव्यव्यक्तिके परिणमनोका बन्धन नही लगाया जा सकता।

यह ठीक है कि कुछ परिणमन किसी स्थूलपर्यायको प्राप्त पुद्गलोसे साक्षात् हो सकते है, किसीसे नही। जैसे मिट्टी-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु ही घट-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, अग्नि-अवस्थाको प्राप्त पुद्गल परमाणु नही, यद्यपि अग्नि और घट दोनो ही पुद्गलकी ही पर्यायें हैं। यह तो सम्भव है कि अग्निके परमाणु कालान्तरमे मिट्टी बन जायँ और फिर घडा बने, पर सीधे अग्निसे घडा नही बनाया जा सकता। मूलत पुद्गलपरमाणुओमें न तो किसी प्रकारका जातिभेद है, न शक्तिभेद है और न आकारभेद ही। ये सब भेद तो बीचकी स्कन्ध पर्यायोमे होते है।

गतिशीलता :

पुद्गल परमाणु स्वभावत क्रियाशील है। उसकी गति तीव्र, मन्द और मध्यम अनेक प्रकारकी होती है। उसमें वजन भी होता है, किन्तु उसकी प्रकटता स्कन्ध अवस्थामे होती है। इन स्कन्धोमें अनेक प्रकारके स्थूल, सूक्ष्म, प्रतिघाती और अप्रतिघाती परिणमन अवस्थाभेदके कारण सम्भव होते है। इस तरह यह

१. देखो, गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा ५९३–९४।

अणुजगत् अपनी बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार दृश्य और अदृश्य अनेक प्रकारकी अवस्थाओंको स्वयमेव धारण करता रहता है। उसमे जो कुछ भी नियतता या अनियतता, व्यवस्था या अव्यवस्था है, वह स्वयमेव है। बीचके पडावमे पुरुषका प्रयत्न इनके परिणमनोको कुछ कालतक किसी विशेष रूपमे प्रभावित और नियन्त्रित भी करता है। बीचमें होनेवाली अनेक अवस्थाओका अध्ययन और दर्शन करके जो स्थूल कार्यकारणभाव नियत किये जाते है, वे भी इन द्रव्योंकी मूल-योग्यताओंके ही आधारसे किये जाते हैं।

धर्म द्रव्य और अधर्म द्रव्य :

अनन्त आकाशमें लोकके अमुक आकारको निश्चित करनेके लिए यह आवश्यक है कि कोई ऐसी विभाजक रेखा किसी वास्तविक आधारपर निश्चित हो, जिसके कारण जीव और पुद्गलोका गमन वही तक हो सके, बाहर नही। आकाश एक अमूर्त, अखण्ड और अनन्तप्रदेशी द्रव्य है। उसकी अपनी सब जगह एक सामान्य सत्ता है। अत उसके अमुक प्रदेशो तक पुद्गल और जीवोंका गमन हो और आगे नही, यह नियन्त्रण स्वय अखण्ड आकाशद्रव्य नही कर सकता, क्योकि उसमे प्रदेशभेद होकर भी स्वभावभेद नही है। जीव और पुद्गल स्वय गतिस्वभाववाले है, अत यदि वे गति करते है तो स्वय रुकनेका प्रश्न ही नही है, इसलिए जैन आचार्योंने लोक और अलोकके विभागके लिए लोकवर्ती आकाशके बराबर एक अमूर्तिक, निष्क्रिय और अखण्ड धर्मद्रव्य माना है, जो गतिशील जीव और पुद्गलोको गमन करनेमें साधारण कारण होता है। यह किसी भी द्रव्यको प्रेरणा करके नही चलाता, किन्तु जो स्वय गति करते है, उनको माध्यम बनकर सहारा देता है। इसका अस्तित्व लोकके भीतर तो साधारण है पर लोककी सीमाओपर नियन्त्रकके रूपमे है। सीमाओपर पता चलता है कि धर्म-द्रव्य भी कोई अस्तित्वशाली द्रव्य है, जिसके कारण समस्त जीव और पुद्गल अपनी यात्रा उसी सीमा तक समाप्त करनेको विवश है, उससे आगे नही जा सकते।

जिस प्रकार गतिके लिए एक साधारण कारण धर्मद्रव्य अपेक्षित है उसी तरह जीव और पुद्गलोंकी स्थितिके लिए भी एक साधारण कारण होना चाहिए और वह है—अधर्म द्रव्य। यह भी लोकाकाशके बराबर है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दसे रहित—अमूर्तिक है, निष्क्रिय है और उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमन करते हुए भी नित्य है। अपने स्वाभाविक [illegible] अनन्त अगुरुलघुगुणोंसे उत्पाद-व्यय करता हुआ, ठहरनेवाले जीव-पुद्गलोंकी स्थिति-

साधारण कारण होता है। इसके अस्तित्वका पता भी लोककी सीमाओपर ही चलता है। जब आगे धर्मद्रव्य न होनेके कारण जीव और पुद्गल द्रव्य गति नही कर सकते तब स्थितिके लिए इसकी सहकारिता अपेक्षित होती है। ये दोनो द्रव्य स्वयं गति नही करते, किन्तु गमन करनेवाले और ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोकी गति और स्थितिमे साधारण निमित्त होते है। लोक और अलोकका विभाग ही इनके सद्भावका अचूक प्रमाण है।

यदि आकाशको ही स्थितिका कारण मानते है, तो आकाश तो अलोकमें भी मौजूद है। वह चूंकि अखण्ड द्रव्य है, अतः यदि वह लोकके बाहरके पदार्थोंकी स्थितिमें कारण नही हो सकता, तो लोकके भीतर भी उसकी कारणता नही बन सकती। इसलिए स्थितिके साधारण कारणके रूपमे अधर्मद्रव्यका पृथक् अस्तित्व है।

ये धर्म और अधर्म द्रव्य, पुण्य और पापके पर्यायवाची नही है—स्वतंत्र द्रव्य है। इनके असख्यात प्रदेश है, अत बहुप्रदेशी होनेके कारण इन्हें 'अस्तिकाय' कहते है और इसलिए इनका 'धर्मास्तिकाय' और 'अधर्मास्तिकाय' के रूपमें भी निर्देश होता है। इनका सदा शुद्ध परिणमन होता है। द्रव्यके मूल परिणामीस्वभावके अनुसार पूर्व पर्यायको छोडने और उत्तर पर्यायको धारण करनेका क्रम अपने प्रवाही अस्तित्वको बनाये रखते हुए अनादिकालसे चला आ रहा है और अनन्त काल तक चालू रहेगा।

आकाश द्रव्य :

समस्त जीव-अजीवादि द्रव्योको जो जगह देता है अर्थात् जिसमें ये समस्त जीव-पुद्गलादि द्रव्य युगपत् अवकाश पाये हुए है, वह आकाश द्रव्य है। यद्यपि पुद्गलादि द्रव्योमें भी परस्पर हीनाधिक रूपमें एक दूसरेको अवकाश देना देखा जाता है, जैसे कि टेबिल पर किताब या बर्तनमे पानी आदिका, फिर भी समस्त द्रव्योको एक साथ अवकाश देनेवाला आकाश ही हो सकता है। इसके अनन्त प्रदेश है। इसके मध्य भागमे चौदह राजू ऊँचा पुरुषाकार लोक है, जिसके कारण आकाश लोकाकाश और अलोकाकाशके रूपमे विभाजित हो जाता है। लोकाकाश असख्यात प्रदेशोमें है, शेष अनन्त अलोक है, जहाँ केवल आकाश ही आकाश है। यह निष्क्रिय है और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दादिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। 'अवकाश दान' ही इसका एक असाधारण गुण है, जिस प्रकार कि धर्मद्रव्यका गमनकारणत्व और अधर्मद्रव्यका स्थितिकारणत्व। यह सर्वव्यापक है और अखण्ड है।

दिशा स्वतन्त्र द्रव्य नही :

इसी आकाशके प्रदेशोमें सूर्योदयकी अपेक्षा पूर्व, पश्चिम आदि दिशाओंकी कल्पना की जाती है। दिशा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही है। आकाशके प्रदेशोकी पंक्तियाँ सब तरफ कपडेमे तन्तुकी तरह श्रेणीबद्ध है। एक परमाणु जितने आकाशको रोकता है उसे प्रदेश कहते है। इस नापसे आकाशके अनन्त प्रदेश है। यदि पूर्व, पश्चिम आदि व्यवहार होनेके कारण दिशाको एक स्वतन्त्र द्रव्य माना जाता है, तो पूर्वदेश, पश्चिमदेश आदि व्यवहारोसे 'देश द्रव्य' भी स्वतन्त्र मानना पडेगा। फिर प्रान्त, जिला, तहसील आदि बहुतसे स्वतन्त्र द्रव्योकी कल्पना करनी पडेगी।

शब्द आकाशका गुण नहीं :

आकाशमें शब्द गुणकी कल्पना भी आजके वैज्ञानिक प्रयोगोने असत्य सिद्ध कर दी है। हम पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें उसे पौद्गलिक सिद्ध कर आये है। यह तो मोटी-सी बात है कि जो शब्द पौद्गलिक इन्द्रियोसे गृहीत होता है, पुद्गलोंसे टकराता है, पुद्गलोसे रोका जाता है, पुद्गलोको रोकता है, पुद्गलोंमें भरा जाता है, वह पौद्गलिक ही हो सकता है। अत. शब्द गुणके आधारके रूपमें आकाशका अस्तित्व नही माना जा सकता। न 'पुद्गल द्रव्य' का ही परिणमन आकाश हो सकता है, क्योकि एक ही द्रव्यके मूर्त्त और अमूर्त्त, व्यापक और अव्यापक आदि दो विरुद्ध परिणमन नही हो सकते।

आकाश प्रकृतिका विकार नहीं :

सांख्य एक प्रकृति तत्त्व मानकर उसीके पृथिवी आदि भूत तथा आकाश ये दोनो परिणमन मानते है। परन्तु विचारणीय बात यह है कि—एक प्रकृतिका घट, पट, पृथिवी, जल, अग्नि और वायु आदि अनेक रूपी भौतिक कार्योके आकारमें ही परिणमन करना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है, क्योकि संसार-के अनन्त रूपी भौतिक कार्योकी अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता देखी जाती है। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोका सादृश्य देखकर इन सबको एकजातीय या समान-जातीय तो कहा जा सकता है, पर एक नही। किञ्चित् समानता होनेके कारण कार्योका एक कारणसे उत्पन्न होना भी आवश्यक नही है। भिन्न-भिन्न कारणोसे उत्पन्न होनेवाले सैकडो घट-पटादि कार्य कुछ-न-कुछ जडत्व आदिके रूपसे समानता रखते ही है। फिर मूर्तिक और अमूर्तिक, रूपी और अरूपी, व्यापक और अव्यापक, सक्रिय और निष्क्रिय आदि रूपसे विरुद्ध धर्मवाले पृथिवी आदि

और आकाशको एक प्रकृतिका परिणमन मानना ब्रह्मवादकी मायामे ही एक अंशसे समा जाना है। ब्रह्मवाद कुछ आगे बढकर चेतन और अचेतन सभी पदार्थोको एक ब्रह्मका विवर्त मानता है, और ये साख्य समस्त जडोको एक जड प्रकृतिकी पर्याय।

यदि त्रिगुणात्मकत्वका अन्वय होनेसे सब एक त्रिगुणात्मक कारणसे समुत्पन्न है, तो आत्मत्वका अन्वय सभी आत्माओमे पाया जाता है, और सत्ताका अन्वय सभी चेतन और अचेतन पदार्थोमें पाया जाता है, तो इन सबको भी एक 'अद्वैत-सत्' कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पडेगा, जो कि प्रतीति और वैज्ञानिक प्रयोग दोनोंसे विरुद्ध है। अपने-अपने विभिन्न कारणोसे उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र जड-चेतन और मूर्त्त-अमूर्त्त आदि विविध पदार्थोमें अनेक प्रकारके पर-अपर सामान्योका सादृश्य देखा जाता है, पर इतने मात्रसे सब एक नही हो सकते। अत आकाश प्रकृतिकी पर्याय न होकर एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जो अमूर्त्त, निष्क्रिय, सर्वव्यापक और अनन्त है।

जल आदि पुद्गल द्रव्य अपनेमे जो अन्य पुद्गलादि द्रव्योको अवकाश या स्थान देते है, वह उनके तरल परिणमन और शिथिल बन्धके कारण बनता है। अन्तत- जलादिके भीतर रहनेवाला आकाश ही अवकाश देनेवाला सिद्ध होता है।

इस आकाशसे ही धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका गति और स्थितिरूप काम नही निकाला जा सकता, क्योकि यदि आकाश ही पुद्गलादि द्रव्योकी गति और स्थितिमें निमित्त हो जाय तो लोक और अलोकका विभाग ही नही बन सकेगा, और मुक्त जीव, जो लोकान्तमें ठहरते है, वे सदा अनन्त आकाशमें ऊपरकी ओर उडते रहेंगे। अत आकाशको गमन और स्थितिमें साधारण कारण नही माना जा सकता।

यह आकाश भी अन्य द्रव्योकी भाँति 'उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य' इस सामान्य द्रव्यलक्षणसे युक्त है, और इसमें प्रतिक्षण अपने अगुरु-लघु गुणके कारण पूर्व पर्यायका विनाश और उत्तर पर्यायका उत्पाद होते हुए भी सतत अविच्छिन्नता बनी रहती है। अत. यह भी परिणामीनित्य है।

आजका विज्ञान प्रकाश और शब्दकी गतिके लिए जिस ईथररूप माध्यमकी कल्पना करता है, वह आकाश नही है। वह तो एक सूक्ष्म परिणमन करनेवाला लोकव्यापी पुद्गल-स्कन्ध ही है, क्योकि मूर्त्त-द्रव्योकी गतिका अन्तरंग आधार अमूर्त्त पदार्थ नही हो सकता। आकाशके अनन्त प्रदेश इसलिए माने जाते है कि

जो आकाशका भाग काशीमें है, वही पटना आदिमें नही है, अन्यथा काशी और पटना एक ही क्षेत्रमें आ जायँगे।

बौद्ध-परम्परामें आकाशका स्वरूप :

बौद्ध परम्परामे आकाशको असंस्कृत धर्मोमे गिनाया है और उसका 'वर्णन'[1] 'अनावृति' (आवरणाभाव) रूपसे किया है। यह किसीको आवरण नही करता और न किसीसे आवृत होता है। संस्कृतका अर्थ है, जिसमें उत्पादादि धर्म पाये जायँ। किन्तु सर्वक्षणिकवादी बौद्धका, आकाशको असंस्कृत अर्थात् उत्पादादि धर्मसे रहित मानना कुछ समझमें नही आता। इसका वर्णन भले ही अनावृति रूपसे किया जाय, पर वह भावात्मक पदार्थ है, यह वैभाषिकोके[2] विवेचनसे सिद्ध होता है। कोई भी भावात्मक पदार्थ बौद्धके मतसे उत्पादादिशून्य कैसे हो सकता है ? यह तो हो सकता है कि उसमें होनेवाले उत्पादादिका हम वर्णन न कर सकें, पर स्वरूपभूत उत्पादादिसे इनकार नहीं किया जा सकता और न केवल वह आवरणाभावरूप ही माना जा सकता है। 'अभिधम्मत्थसगह' में आकाशधातुको परिच्छेदरूप माना है। वह चार महाभूतोकी तरह निष्पन्न नही होता, किन्तु अन्य पृथ्वी आदि धातुओके परिच्छेद-दर्शन मात्रसे इसका ज्ञान होता है, इसलिए इसे परिच्छेदरूप कहते हैं; पर आकाश केवल परिच्छेदरूप नही हो सकता, क्योकि वह अर्थक्रियाकारी है। अत. वह उत्पादादि लक्षणोसे युक्त एक संस्कृत पदार्थ है।

कालद्रव्य :

समस्त द्रव्योके उत्पादादिरूप परिणमनमें सहकारी 'कालद्रव्य' होता है। इसका लक्षण है वर्तना। यह स्वय परिवर्तन करते हुए अन्य द्रव्योके परिवर्तनमें सहकारी होता है और समस्त लोकाकाशमे घडी, घटा, पल, दिन, रात आदि व्यवहारोमें निमित्त होता है। यह भी अन्य द्रव्योकी तरह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदिसे रहित होनेके कारण अमूर्तिक है। प्रत्येक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक काल-द्रव्य अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। धर्म और अधर्म द्रव्यकी तरह वह लोकाकाशव्यापी एकद्रव्य नही है, क्योंकि प्रत्येक आकाश प्रदेशपर समयभेद इसे अनेकद्रव्य माने विना नही बन सकता।

---

१ "तत्राकाशमनावृतिः"—अभिधर्मकोश १।५।

२ "छिद्रमाकाशधात्वाख्यम् आलोकतमसी किल।"
—अभिधर्मकोश १।२८।

लका और कुरुक्षेत्रमे दिन, रात आदिका पृथक्-पृथक् व्यवहार तत्तत्स्थानोके कालभेदके कारण ही होता है। एक अखण्ड द्रव्य माननेपर कालभेद नही हो सकता। द्रव्योमें परत्व-अपरत्व (लहुरा-जेंठा) आदि व्यवहार कालसे ही होते है। पुरानापन-नयापन भी कालकृत ही है। अतीत, वर्तमान और भविष्य ये व्यवहार भी कालकी क्रमिक पर्यायोसे होते है। किसी भी पदार्थके परिणमनको अतीत, वर्तमान या भविष्य कहना कालकी अपेक्षासे ही हो सकता है।

वैशेषिककी मान्यता :

वैशेषिक कालको एक और व्यापक द्रव्य मानते है, परन्तु नित्य और एक द्रव्यमें जब स्वय अतीतादि भेद नही है, तब उसके निमित्तसे अन्य पदार्थोमें अतीतादि भेद कैसे नापे जा सकते है ? किसी भी द्रव्यका परिणमन किसी समयमे ही तो होता है। बिना समयके उस परिणमनको अतीत, अनागत या वर्तमान कैसे कहा जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक आकाश-प्रदेशपर विभिन्न द्रव्योंके जो विलक्षण परिणमन हो रहे है, उनमें एक साधारण निमित्त काल है, जो अणुरूप है और जिसकी समयपर्यायोके समुदायमें हम घडी घटा आदि स्थूल कालका नाप बनाते है। अलोकाकाशमें जो अतीतादि व्यवहार होता है, वह लोकाकाशवर्ती कालके कारण ही। चूंकि लोक और अलोकवर्ती आकाश, एक अखण्ड द्रव्य है, अत लोकाकाशमें होनेवाला कोई भी परिणमन समूचे आकाशमे ही होता है। काल एकप्रदेशी होनेके कारण द्रव्य होकर भी 'अस्तिकाय' नही कहा जाता, क्योकि बहुप्रदेशी द्रव्योकी ही 'अस्तिकाय' संज्ञा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परामें कुछ आचार्य कालको स्वतन्त्र द्रव्य नही मानते।

बौद्ध परम्परामें काल :

बौद्ध परम्परामें काल केवल व्यवहारके लिए कल्पित होता है। यह कोई स्वभावसिद्ध पदार्थ नही है, प्रज्ञप्तिमात्र है। (अट्ठशालिनी १।३।१६)। किन्तु अतीत, अनागत और वर्तमान आदि व्यवहार मुख्य कालके विना नही हो सकते। जैसे कि बालकमें शेरका उपचार मुख्य शेरके सद्भावमें ही होता है, उसी तरह समस्त कालिक व्यवहार मुख्य कालद्रव्यके विना नही बन सकते।

इस तरह जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छ द्रव्य अनादि-सिद्ध मौलिक है। सबका एक ही सामान्य लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता। इस लक्षणका अपवाद कोई भी द्रव्य कभी भी नही हो सकता। द्रव्य चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, वे इस सामान्य लक्षणसे हर समय संयुक्त रहते है।

वैशेषिककी द्रव्यमान्यताका विचार :

वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नव द्रव्य मानते हैं। इनमें पृथ्वी आदिक चार द्रव्य तो 'रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्व' इस सामान्य लक्षणसे युक्त होनेके कारण पुद्गल द्रव्यमें अन्तर्भूत हैं। दिशाका आकाशमें अन्तर्भाव होता है। मन स्वतन्त्र द्रव्य नही है, वह यथासम्भव जीव और पुद्गलकी ही पर्याय है। मन दो प्रकारका होता है—एक द्रव्यमन और दूसरा भावमन। द्रव्यमन आत्माको विचार करनेमें सहायता देनेवाले पुद्गल-परमाणुओका स्कन्ध है।[1] शरीरके जिस जिस भागमें आत्माका उपयोग जाता है, वहाँ-वहाँके शरीरके परमाणु भी तत्काल मनरूपसे परिणत हो जाते हैं। अथवा, हृदय-प्रदेशमें अष्टदल कमलके आकारका द्रव्यमन होता है, जो हिताहितके विचारमें आत्माका उपकरण बनता है। विचार-शक्ति आत्माकी है। अत भावमन आत्मरूप ही होता है। जिस प्रकार भावेन्द्रियाँ आत्माकी ही विशेष शक्तियाँ हैं, उसी तरह भावमन भी नोइन्द्रियावरणकर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होनेवाली आत्माकी एक विशेष शक्ति है, अतिरिक्त द्रव्य नही।

बौद्ध परंपरामें हृदय-वस्तुको एक पृथक् धातु माना है[2], जो कि द्रव्यमनका स्थानीय हो सकता है। 'अभिधर्मकोश' में[3] छह ज्ञानोके समनन्तर कारणभूत पूर्वज्ञानको मन कहा है। यह भावमनका स्थान ग्रहण कर सकता है, क्योंकि चेतनात्मक है। इन्द्रियाँ मनकी सहायताके विना अपने विषयोका ज्ञान नही कर सकती, परन्तु मन अकेला ही गुणदोषविचार आदि व्यापार कर सकता है। मनका कोई निश्चित विषय नही है, अत वह सर्वविषयक होता है।

गुण आदि स्वतन्त्र पदार्थ नही :

वैशेषिकने द्रव्यके सिवाय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये छह पदार्थ और माने हैं। वैशेषिककी मान्यता प्रत्ययके आधारसे चलती है। चूंकि 'गुण गुण' इस प्रकारका प्रत्यय होता है, अत. गुण एक पदार्थ होना

---

१ "द्रव्यमनश्च ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमलाभप्रत्यया गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानाभिमुखस्यात्मनोऽनुग्राहका पुद्गला वीर्यविशेषावर्जनसमर्था मनस्त्वेन परिणता इति कृत्वा पौद्गलिकम्। मनस्त्वेन हि परिणता पुद्गला. गुणदोषविचारस्मरणादिकार्यं कृत्वा तदनन्तरसमय एव मनस्त्वात् प्रच्यवन्ते।"—तत्त्वार्थवा० ५। १९।

२ "ताम्रपर्णीया अपि हृदयवस्तु मनोविज्ञानधातोराश्रय कल्पयन्ति।"

—स्फुटार्थ अभि० पृ० ४९।

३ "षण्णामनन्तरातीत विज्ञान यद्धि तन्मन.।"—अभिधर्मकोश १। १७।

चाहिए। 'कर्म कर्म' इस प्रत्ययके कारण कर्म एक स्वतन्त्र पदार्थ माना गया है। 'अनुगताकार, प्रत्ययसे पर और अपर रूपसे अनेक प्रकारके सामान्य माने गये है। 'अपृथक्सिद्ध' पदार्थोके सम्बन्ध स्थापनके लिए 'समवाय' की आवश्यकता हुई। नित्य परमाणुओमे, शुद्ध आत्माओमें, तथा मुक्त आत्माओके मनोमें परस्पर विलक्षणताका बोध करानेके लिए प्रत्येक नित्य द्रव्यपर एक एक विशेप पदार्थ माना गया है। कार्योत्पत्तिके पहले वस्तुके अभावका नाम प्रागभाव है। उत्पत्तिके बाद होनेवाला विनाश प्रध्वंसाभाव है। परस्पर पदार्थोंके स्वरूपका अभाव अन्योन्याभाव और त्रैकालिक ससर्गका निषेध करनेवाला अत्यन्ताभाव होता है। इस तरह जितने प्रकारके प्रत्यय पदार्थोमे होते है, उतने प्रकारके पदार्थ वैशेपिकने माने है। वैशेषिकको 'सम्प्रत्ययोपाध्याय' कहा गया है। उसका यही अर्थ है कि वैशेषिक प्रत्ययके आधारसे पदार्थकी कल्पना करनेवाला उपाध्याय है।

परन्तु विचार कर देखा जाय तो गुण, क्रिया, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव ये सब द्रव्यकी पर्यायें ही है। द्रव्यके स्वरूपसे बाहर गुणादिकी कोई सत्ता नही है। द्रव्यका लक्षण है[1] गुणपर्यायवाला होना। ज्ञानादिगुणोका आत्मासे तथा रूपादि गुणोका पुद्गलसे पृथक् अस्तित्व न तो देखा ही जाता है, और न युक्तिसिद्ध ही है। गुण और गुणीको, क्रिया और क्रियावान्को, सामान्य और सामान्यवान्को, विशेष और नित्य द्रव्योको स्वय वैशेषिक अयुतसिद्ध मानते है, अर्थात् उक्त पदार्थ परस्पर पृथक् नही किये जा सकते। गुण आदिको छोडकर द्रव्यकी अपनी पृथक् सत्ता क्या है? इसी तरह द्रव्यके बिना गुणादि निराधार कहाँ रहेंगे? इनका द्रव्यके साथ कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध है। इसीलिए कही "गुणसन्द्रावो द्रव्यम्" यह भी द्रव्यका लक्षण मिलता है[2]।

एक ही द्रव्य जिस प्रकार अनेक गुणोका अखण्ड पिण्ड है, उसी तरह जो द्रव्य सक्रिय है उनमें होनेवाली क्रिया भी उसी द्रव्यकी पर्याय है, स्वतन्त्र नही है। क्रिया या कर्म क्रियावान्से भिन्न अपना अस्तित्व नही रखते।

इसी तरह पृथ्वीत्वादि भिन्न द्रव्यवर्ती सामान्य सदृशपरिणामरूप ही है। कोई एक, नित्य और व्यापक सामान्य अनेक द्रव्योमें मोतियोमें सूतकी तरह पिरोया हुआ नही है। जिन द्रव्योमें जिस रूपसे सादृश्य प्रतीत होता है, उन द्रव्योंका वह सामान्य मान लिया जाता है। वह केवल बुद्धिकल्पित भी नही

---

१ "गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।"—तत्त्वार्थसूत्र ५। ३८।

२ "अन्वर्थं खल्वपि निर्वचनं गुणसन्द्रावो द्रव्यमिति।"

—पात० महाभाष्य ५। १। ११९।

है, किन्तु सादृश्य रूपसे वस्तुनिष्ठ है; और वस्तुकी तरह ही उत्पादविनाश-ध्रौव्यशाली है।

समवाय सम्बन्ध है। यह जिनमें होता है उन दोनों पदार्थोंकी ही पर्याय है। ज्ञानका सम्बन्ध आत्मामें माननेका यही अर्थ है कि ज्ञान और उसका सम्बन्ध आत्माकी ही सम्पत्ति है, आत्मासे भिन्न उसकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। कोई भी सम्बन्ध अपने सम्बन्धियोकी अवस्थारूप हो हो सकता है। दो स्वतन्त्र पदार्थोंमें होनेवाला सयोग भी दोमें न रहकर प्रत्येकमें रहता है, इसका संयोग उसमें और उसका सयोग इसमें। याने संयोग प्रत्येकनिष्ठ होकर भी दोके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

विशेप पदार्थको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता इसलिए नही है कि जब सभी द्रव्योका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है, तब उनमें विलक्षणप्रत्यय भी अपने निजी व्यक्तित्वके कारण ही हो सकता है। जिस प्रकार विशेप पदार्थोमे विलक्षण प्रत्यय उत्पन्न करनेके लिए अन्य विशेप पदार्थोंकी आवश्यकता नही है, वह स्वयं उनके स्वरूपसे ही हो जाता है, उसी तरह द्रव्योके निजरूपसे ही विलक्षणप्रत्यय माननेमें कोई बाधा नही है।

इसी तरह प्रत्येक द्रव्यकी पूर्वपर्याय उसका प्रागभाव है, उत्तरपर्याय प्रध्वंसाभाव है, प्रतिनियत निजस्वरूप अन्योन्याभाव है और असंसर्गीयरूप अत्यन्ताभाव है। अभाव भावान्तररूप होता है, वह अपनेमे कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है। एक द्रव्यका अपने स्वरूपमें स्थिर होना ही उसमे पररूपका अभाव है। एक ही द्रव्यकी दो भिन्न पर्यायोमें परस्पर अभाव-व्यवहार कराना इतरेतराभावका कार्य है और दो द्रव्योमें परस्पर अभाव अत्यन्ताभावसे होता है। अत. गुणादि पृथक् सत्ता रखनेवाले स्वतन्त्र पदार्थ नही है, किन्तु द्रव्यकी ही पर्यायें है। भिन्न प्रत्ययके आधारसे ही यदि पदार्थोंकी व्यवस्था की जाय, तो पदार्थोंकी गिनती करना ही कठिन है।

इसी तरह अवयवी द्रव्यको अवयवोसे जुदा मानना भी प्रतीतिविरुद्ध है। तन्तु आदि अवयव ही अमुक आकारमें परिणत होकर पटसंज्ञा पा लेते है। कोई अलग पट नामका अवयवी तन्तु नामक अवयवोमें समवाय-सम्बन्धसे रहता हो, यह अनुभवगम्य नही है, क्योकि पट नामके अवयवीकी सत्ता तन्तुरूप अवयवोसे भिन्न कही भी और कभी भी नही मालूम होती। स्कन्ध अवस्था पर्याय है, द्रव्य नही। जिन मिट्टीके परमाणुओसे घडा बनता है, वे परमाणु स्वय घडेके आकारको ग्रहण कर लेते है। घडा उन परमाणुओकी सामुदायिक अभिव्यक्ति है। ऐसा

नही है कि घडा पृथक् अवयवी बनकर कहीसे आ जाता हो, किन्तु मिट्टीके परमाणुओका अमुक आकार, अमुक पर्याय और अमुक प्रकारमें क्रमबद्ध परिणमनोकी औसतसे ही घटके रूपमे हो जाता है और घटव्यवहारकी संगति बैठ जाती है। घट-अवस्थाको प्राप्त परमाणुद्रव्योका अपना निजी स्वतन्त्र परिणमन भी उस अवस्थामे बराबर चालू रहता है। यही कारण है कि घटके अमुक-अमुक हिस्सोंमें रूप, स्पर्श और टिकाऊपन आदिका अन्तर देखा जाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक परमाणु अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और स्वतन्त्र परिणमन रखनेपर भी सामुदायिक समान परिणमनकी धारामें अपने व्यक्तिगत परिणमनको विलीन-सा कर देता है और जब तक यह समान परिणमनकी धारा अवयवभूत परमाणुओमें चालू रहती है, तब तक उस पदार्थकी एक-जैसी स्थिति बनी रहती है। जैसे-जैसे उन परमाणुओमें सामुदायिक धारासे असहयोग प्रारम्भ होता है, वैसे-वैसे उस सामुदायिक अभिव्यक्तिमें न्यूनता, शिथिलता और जीर्णता आदि रूपसे विविधता आ चलती है। तात्पर्य यह कि मूलत. गुण और पर्यायोका आधार जो होता है वही द्रव्य कहलाता और उसीकी सत्ता द्रव्यरूपमें गिनी जाती है। अनेक द्रव्योके-समान या असमान परिणमनोकी औसतसे जो विभिन्न व्यवहार होते हैं, वे स्वतन्त्र द्रव्यकी संज्ञा नही पा सकते।

जिन परमाणुओसे घट बनता है उन परमाणुओमें घट नामके निरंश अवयवीको स्वीकार करनेमें अनेको दूषण आते है। यथा—निरंश अवयवी अपने अवयवोंमें एकदेशसे रहता है, या सर्वात्मना ? यदि एकदेशसे रहता है; तो जितने अवयव है, उतने ही देश अवयवीके मानना होंगे। यदि सर्वात्मना प्रत्येक अवयवमें रहता है, तो जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी हो जायँगे। यदि अवयवी निरंश है, तो वस्त्रादिके एक हिस्सेको ढँकनेपर सम्पूर्ण वस्त्र ढँका जाना चाहिये और एक अवयवमें क्रिया होनेपर पूरे अवयवीमें क्रिया होनी चाहिए, क्योंकि अवयवी निरंश है। यदि अवयवी अतिरिक्त हैं, तो चार छटाँक सूतसे तैयार हुए वस्त्रका वजन बढ जाना चाहिये, पर ऐसा देखा नही जाता। वस्त्रके एक अंशके फट जानेपर फिर उतने परमाणुओसे नये अवयवीकी उत्पत्ति माननेमें कल्पनागौरव और प्रतीतिबाधा है, क्योंकि जब प्रतिसमय कपड़ेका उपचय और अपचय होता है तब प्रतिक्षण नये अवयवीकी उत्पत्ति मानना पड़ेगी।

वैशेषिकका आठ, नव, दस आदि क्षणोमें परमाणुकी क्रिया, संयोग आदि क्रमसे अवयवीकी उत्पत्ति और विनाशका वर्णन एक प्रक्रियामात्र है। वस्तुत. जैसे-जैसे कारणकलाप मिलते जाते है, वैसे-वैसे उन परमाणुओके संयोग और

वियोगसे उस-उस प्रकारके आकार और प्रकार बनते और बिगड़ते रहते हैं। परमाणुओंसे लेकर घट तक अनेक स्वतन्त्र अवयवियोंकी उत्पत्ति और विनाशकी प्रक्रियासे तो यह निष्कर्ष निकलता है कि जो द्रव्य पहले नहीं है, वे उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं, जबकि किसी नये द्रव्यका उत्पाद और उसका सदाके लिए विनाश वस्तुसिद्धान्तके प्रतिकूल है। यह तो सभव है और प्रतीतिसिद्ध है कि उन-उन परमाणुओंकी विभिन्न अवस्थाओंमें पिण्ड, स्थास, कोश, कुशूल आदि व्यवहार होते हुए पूर्ण कलश-अवस्थामें घटव्यवहार हो। इसमें किसी नये द्रव्यके उत्पादकी बात नही है, और न वजन बढ़नेकी बात है।

यह ठीक है कि प्रत्येक परमाणु जलधारण नही कर सकता और घटमे जल भरा जा सकता है, पर इतने मात्रासे उसे पृथक् द्रव्य नही माना जा सकता। ये तो परमाणुओंके विशिष्ट संगठनके कार्य है, जो उस प्रकारके सगठन होनेपर स्वत होते है। एक परमाणु आँखसे नही दिखाई देता, पर अमुक परमाणुओंका समुदाय जब विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त हो जाता है, तो वह दिखाई देने लगता है। स्निग्धता और रूक्षताके कारण परमाणुओंके अनेक प्रकारके सम्बन्ध होते रहते हैं, जो अपनी दृढता और शिथिलताके अनुसार अधिक टिकाऊ या कम टिकाऊ होते हैं। स्कन्ध-अवस्थामें चूँकि परमाणुओंका स्वतन्त्र द्रव्यत्व नष्ट नही होता, अत उन-उन हिस्सोंके परमाणुओंमें पृथक् रूप और रसादिका परिणमन भी होता जाता है। यही कारण है कि एक कपडा किसी हिस्सेमें अधिक मैला, किसीमें कम मैला और किसीमें उजला बना रहता है।

यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि जो परमाणु किसी स्थूल घट आदि कार्य रूपसे परिणत हुए हैं, वे अपनी परमाणु-अवस्थाको छोडकर स्कन्ध-अवस्थाको प्राप्त हुए है। यह स्कन्ध-अवस्था किसी नये द्रव्यकी नही, किन्तु उन सभी परमाणुओंकी अवस्थाओंका योग है। यदि परमाणुओंको सर्वथा पृथक् और सदा परमाणुरूप ही स्वीकार किया जाता है, तो जिस प्रकार एक परमाणु आँखोंसे नही दिखाई देता उसी तरह सैकडो परमाणुओंके अति-समीप रखे रहने पर भी, वे इन्द्रियोंके गोचर नही हो सकेंगे। अमुक स्कन्ध-अवस्थामें आने पर उन्हें अपनी अदृश्यताको त्यागकर दृश्यता स्वीकार करनी ही चाहिए। किसी भी वस्तुकी मजबूती या कमजोरी उसके घटक अवयवोंके दृढ और शिथिल बंधके ऊपर निर्भर करती है। वे ही परमाणु लोहेके स्कन्धकी अवस्थाको प्राप्त कर कठोर और चिरस्थायी बनते हैं, जब कि रुई अवस्थामें मृदु और अचिरस्थायी रहते हैं। यह सब तो उनके बन्धके प्रकारोंसे होता रहता है। यह तो समझमें आता है कि प्रत्येक पुद्गल परमाणु-

द्रव्यमें पुद्गलकी सभी शक्तियाँ हो, और विभिन्न स्कन्धोंमें उनका न्यूनाधिकरूपमें अनेक तरहका विकास हो। घटमें ही जल भरा जाता है कपड़ेमें नही, यद्यपि परमाणु दोनोंमें ही हैं और परमाणुओंसे दोनो ही बने हैं। वही परमाणु चन्दन-अवस्थामें शीतल होते हैं और वे ही जब अग्निका निमित्त पाकर आग बन जाते हैं, तब अन्य लकड़ियोंकी आगकी तरह दाहक होते हैं। पुद्गलद्रव्योके परस्पर न्यूनाधिक सम्बन्धसे होनेवाले परिणमनोकी न कोई गिनती निर्धारित है और न आकार और प्रकार ही। किसी भी पर्यायकी एकरूपता और चिरस्थायिता उसके प्रतिसमयभावी समानपरिणमनो पर निर्भर करती है। जब तक उसके घटक परमाणुओंमें समानपर्याय होती रहेगी, तब तक वह वस्तु एक-सी रहेगी और ज्यों ही कुछ परमाणुओंमें परिस्थितिके अनुसार असमान परिणमन शुरू होगा; तैसे ही वस्तुके आकार-प्रकारमें विलक्षणता आती जायगी। आजके विज्ञानसे जल्दी सड़नेवाले आलूको बरफमें या बद्धवायु (Airtite) में रखकर जल्दी सड़नेसे बचा लिया है।

तात्पर्य यह कि सतत गतिशील पुद्गल-परमाणुओंके आकार और प्रकारकी स्थिरता या अस्थिरताकी कोई निश्चित जवाबदारी नही ली जा सकती। यह तो परिस्थिति और वातावरण पर निर्भर है कि वे कब, कहाँ और कैसे रहें। किसी लम्बे चौड़े स्कन्धके अमुक भागके कुछ परमाणु यदि विद्रोह करके स्कन्धत्वको कायम रखनेवाली परिणतिको स्वीकार नही करते हैं तो उस भागमें तुरन्त विलक्षणता आ जाती है। इसीलिए स्थायी स्कन्ध तैयार करनेके समय इस बातका विशेष ध्यान रखा जाता है कि उन परमाणुओंका परस्पर एकरस मिलाव हुआ है या नही। जैसा मावा तैयार होगा वैसा ही तो कागज बनेगा। अतः न तो परमाणुओको सर्वथा नित्य यानी अपरिवर्तनशील माना जा सकता है और न इतना स्वतन्त्र परिणमन करनेवाले कि जिससे एक समान पर्यायका विकास ही न हो सके।

अवयवीका स्वरूप :

यदि बौद्धोंकी तरह अत्यन्त समीप रखे हुए किन्तु परस्पर असम्बद्ध परमाणुओंका पुञ्ज ही स्थूल घटादि रूपसे प्रतिभासित होता है, यह माना जाय; तो बिना सम्बन्धके तथा स्थूल आकारकी प्राप्तिके बिना ही वह अणुपुञ्ज स्कन्ध रूपसे कैसे प्रतिभासित हो सकता है? यह केवल भ्रम नही है, किन्तु प्रकृतिकी प्रयोगशालामें होनेवाला वास्तविक रासायनिक मिश्रण है, जिसमें सभी परमाणु बदलकर एक नई ही अवस्थाको धारण कर रहे हैं। यद्यपि 'तत्त्वसंग्रह' (पृ० १९५) में यह स्वीकार किया है कि परमाणुओंमें विशिष्ट अवस्थाकी प्राप्ति

हो जानेसे वे स्थूलरूपमें इन्द्रियग्राह्य होते है, तो भी जब सम्बन्धका निषेध किया जाता है, तब इस 'विशिष्ट अवस्थाप्राप्ति' का क्या अर्थ हो सकता है ? अन्तत उसका यही अर्थ सम्भव है कि जो परमाणु परस्पर विलग और अतीन्द्रिय थे वे ही परस्परबद्ध और इन्द्रियग्राह्य बन जाते है । इस प्रकारकी परिणतिके माने बिना बालूके पुञ्जसे घटके परमाणुओके सम्बन्धमे कोई विशेषता नही बताई जा सकती । परमाणुओमे जब स्निग्धता और रूक्षताके कारण अमुक प्रकारके रासायनिक बन्धके रूपमें सम्बन्ध होता है, तभी वे परमाणु स्कन्ध-अवस्थाको धारण कर सकते हैं, केवल परस्पर निरन्तर अवस्थित होनेके कारण ही नही । यह ठीक है कि उस प्रकारका बन्ध होने पर भी कोई नया द्रव्य उत्पन्न नही होता, पर नई अवस्था तो उत्पन्न होती ही है, और वह ऐसी अवस्था है, जो केवल साधारण सयोगसे जन्य नही है, किन्तु विशेष प्रकारके उभयपारिणामिक रासायनिक बन्धसे उत्पन्न होती है । परमाणुओके सयोग-सम्बन्ध अनेक प्रकारके होते है—कही मात्र प्रदेशसयोग होता है, कही निबिड, कही शिथिल और कही रासायनिक बन्धरूप ।

बन्ध-अवस्थामें ही स्कन्धकी उत्पत्ति होती है और अचाक्षुष स्कन्धको चाक्षुष बननेके लिए दूसरे स्कन्धके विशिष्ट संयोगकी उस रूपमे आवश्यकता है, जिस रूपसे वह उसकी सूक्ष्मताका विनाश कर स्थूलता ला सके, यानी जो स्कन्ध या परमाणु अपनी सूक्ष्म अवस्थाका त्याग कर स्थूल अवस्थाको धारण करता है, वह इन्द्रियगम्य हो सकता है । प्रत्येक परमाणुमें अखण्डता और अविभागिता होनेपर भी यह खूबी तो अवश्य है कि अपनी स्वाभाविक लचकके कारण वे एक दूसरेको स्थान दे देते है, और असख्य परमाणु मिलाकर अपने सूक्ष्म परिणमनरूप स्वभावके कारण थोडी-सी जगहमें समा जाते है । परमाणुओकी सख्याका अधिक होना ही स्थूलताका कारण नही । बहुतसे कमसख्यावाले परमाणु भी अपने स्थूल परिणमनके द्वारा स्थूल स्कन्ध बन जाते है, जब कि उनसे कई गुने परमाणु कार्मण शरीर आदिमें सूक्ष्म परिणमनके द्वारा इन्द्रिय-अग्राह्य स्कन्धके रूपमें ही रह जाते है । तात्पर्य यह कि इन्द्रियग्राह्यताके लिए परमाणुओकी सख्या अपेक्षित नही है, किन्तु उनका अमुक रूपमें स्थूल परिणमन ही विशेषरूपसे अपेक्षणीय होता है । ये अनेक प्रकारके बन्ध परमाणुओंके अपने स्निग्ध और रूक्ष स्वभावके कारण प्रतिक्षण होते रहते है, और परमाणुओके अपने निजी परिणमनोके योगसे उस स्कन्धसे रूपादिका तारतम्य घटित हो जाता है ।

एक स्थूल स्कन्धमे सैकडो प्रकारके बन्धवाले छोटे-छोटे अवयव-स्कन्ध शामिल रहते है, और उनमें प्रतिसमय किसी अवयवका टूटना, नयेका जुडना तथा अनेक

प्रकारके उपचय-अपचयरूप परिवर्तन होते हैं। यह निश्चित है कि स्कन्ध-अवस्था बिना रासायनिक बन्धके नही होती। यो साधारण सयोगके आधारसे भी एक स्थूल प्रतीति होती है और उसमें व्यवहारके लिए नई सज्ञा भी कर ली जाती है, पर इतने मात्रसे स्कन्ध अवस्था नही बनती। इस रासायनिक बन्धके लिए पुरुषका प्रयत्न भी क्वचित् काम करता है और बिना प्रयत्नके भी अनेको बन्ध प्राप्त सामग्रीके अनुसार होते हैं। पुरुषका प्रयत्न उनमे स्थायिता और सुन्दरता तथा विशेष आकार उत्पन्न करता है। सैकडो प्रकारके भौतिक आविष्कार इसी प्रकारकी प्रक्रियाके फल हैं।

असंख्यात प्रदेशी लोकमें अनन्त पुद्गल परमाणुओका समा जाना आकाशकी अवगाहशक्ति और पुद्गलाणुओके सूक्ष्मपरिणमनके कारण सम्भव हो जाता है। कितनी भी सुसम्बद्ध लकडीमे कील ठोकी जा सकती है। पानीमे हाथीका डूब जाना हमारी प्रतीतिका विषय होता ही है। परमाणुओकी अनन्त शक्तियाँ अचिन्त्य हैं। आजके एटम बमने उसकी भीषण सहारक शक्तिका कुछ अनुभव तो हमलोगोको करा ही दिया है।

गुण आदि द्रव्यरूप ही हैं :

प्रत्येक द्रव्य सामान्यतया यद्यपि अखण्ड है, परन्तु वह अनेक सहभावी गुणोका अभिन्न आधार होता है। अत उसमें गुणकृत विभाग किया जा सकता है। एक पुद्गलपरमाणु युगपत् रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि अनेक गुणोका आधार होता है। प्रत्येक गुणका भी प्रतिसमय परिणमन होता है। गुण और द्रव्यका कथञ्चित् तादात्म्य सम्बन्ध है। द्रव्यसे गुण पृथक् नही किया जा सकता, इसलिए वह अभिन्न हैं, और सज्ञा, सख्या, प्रयोजन आदिके भेदसे उसका विभिन्नरूपसे निरूपण किया जाता है, अत वह भिन्न है। इस दृष्टिसे द्रव्यमें जितने गुण है, उतने उत्पाद और व्यय प्रतिसमय होते हैं। हर गुण अपनी पूर्व पर्यायको छोडकर उत्तर पर्यायको धारण करता है, पर वे सब हैं अपृथक्सत्ताक ही, उनकी द्रव्यसत्ता एक है। बारीकीसे देखा जाय तो पर्याय और गुणको छोडकर द्रव्यका कोई पृथक् अस्तित्व नही है, यानी गुण और पर्याय ही द्रव्य है और पर्यायोमें परिवर्तन होनेपर भी जो एक अविच्छिन्नताका नियामक अश है, वही तो गुण है। हाँ, गुण अपनी पर्यायोमे सामान्य एकरूपताके प्रयोजक होते हैं। जिस समय पुद्गलाणुमें रूप अपनी किसी नई पर्यायको लेता है, उसी समय रस, गन्ध और स्पर्श आदि भी बदलते हैं। इस तरह प्रत्येक द्रव्यमे प्रतिसमय गुणकृत अनेक उत्पाद और व्यय होते हैं। ये सब उस गुणकी सम्पत्ति (Property) या स्वरूप हैं।

रूपादि गुण प्रातिभासिक नहीं हैं :

एक पक्ष यह भी है कि परमाणुमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि गुणोंकी सत्ता नही है। वह तो एक ऐसा अविभागी पदार्थ है, जो आँखोंसे रूप, जीभसे रस, नाकसे गन्ध और हाथ आदिसे स्पर्शके रूपमें जाना जाता है, यानी विभिन्न इन्द्रियोंके द्वारा उसमें रूपादि गुणोंकी प्रतीति होती है, वस्तुत- उसमें इन गुणोकी सत्ता नही है। किन्तु यह एक मोटा सिद्धान्त है कि इन्द्रियाँ जाननेवाली है, गुणोकी उत्पादक नही। जिस समय हम किसी आमको देख रहे हैं, उस समय उसमें रस, गन्ध या स्पर्श है ही नहीं, यह नहो कहा जा सकता। हमारे न सूँघनेपर भी उसमें गन्ध है और न चखने और न छूनेपर भी उसमे रस और स्पर्श है, यह बात प्रतिदिनके अनुभवकी है, इसे समझानेकी आवश्यकता नही है। इसी तरह चेतन आत्मामें एक साथ ज्ञान, सुख, शक्ति, विश्वास, धैर्य और साहस आदि अनेको गुणोका युगपत् सद्‌भाव पाया जाता है, और इनका प्रतिक्षण परिवर्तन होते हुए भी उसमें एक अविच्छिन्नता बनी रहती है। चैतन्य इन्ही अनेक रूपोमे विकसित होता है। इसीलिये गुणोको सहभावी और अन्वयी बताया है, पर्यायें व्यतिरेकी और क्रमभावी होती हैं। वे इन्ही गुणोके विकार या परिणाम होती हैं। एक चेतन द्रव्यमें जिस क्षण ज्ञानकी अमुक पर्याय हो रही है, उसी क्षण दर्शन, सुख और शक्ति आदि अनेक गुण अपनी-अपनी पर्यायोके रूपसे बराबर परिणत हो रहे है। यद्यपि इन समस्त गुणोमें एक चैतन्य अनुस्यूत है, फिर भी यह नही है कि एक ही चैतन्य स्वयं निर्गुण होकर विविध गुणोके रूपमें केवल प्रतिभासित हो जाता हो। गुणोकी अपनी स्थिति स्वय है और यही एकसत्ताक गुण और पर्याय द्रव्य कहलाते है। द्रव्य इनसे जुदा कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है, किन्तु इन्ही सबका तादात्म्य है।

गुण केवल दृष्टि-सृष्टि नही है कि अपनी-अपनी भावनाके अनुसार उस द्रव्यमें जब कभी प्रतिभासित हो जाते हो और प्रतिभासके बाद या पहले अस्तित्व-विहीन हों। इस तरह प्रत्येक चेतन-अचेतन द्रव्यमें अपने सहभावी गुणोके परिणमनके रूपमें अनेको उत्पाद और व्यय स्वभावसे होते है और द्रव्य उन्हींमें अपनी अखण्ड अनुस्यूत सत्ता रखता है, यानी अखण्ड-सत्तावाले गुण-पर्याय ही द्रव्य है। गुण प्रतिसमय किसी-न-किसी पर्याय रूपसे परिणत होगा ही और ऐसे अनेक गुण अनन्तकाल तक जिस एक अखण्ड सत्तासे अनुस्यूत रहते है, वह द्रव्य है। द्रव्यका अर्थ है, उन-उन क्रमभावी पर्यायोंको प्राप्त होना। और इस तरह प्रत्येक गुण भी द्रव्य कहा जा सकता है, क्योंकि वह अपनी क्रमभावी पर्यायोमें अनुस्यूत रहता ही

है, किन्तु इस प्रकार गुणमें औपचारिक द्रव्यता ही बनती है, मुख्य नही। एक द्रव्यसे तादात्म्य रखनेके कारण सभी गुण एक तरहसे द्रव्य ही है, पर इसका यह अर्थ कदापि नही है कि प्रत्येक गुण उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य स्वरूप सत् होनेके कारण स्वय एक परिपूर्ण द्रव्य होता है। अर्थात् गुण वस्तुत. द्रव्याश कहे जा सकते है, द्रव्य नही। यह अशकल्पना भी वस्तुस्थितिपर प्रतिष्ठित है, केवल समझानेके लिए ही नही है। इस तरह द्रव्य गुण-पर्यायोका एक अखण्ड, तादात्म्य रखनेवाला और अपने हरएक प्रदेशमे सम्पूर्ण गुणोकी सत्ताका आधार होता है।

इस विवेचनका यह फलितार्थ है कि एक द्रव्य अनेक उत्पाद और व्ययोका और गुणरूपसे ध्रौव्यका युगपत् आधार होता है। यह अपने विभिन्न गुण और पर्यायोमें जिस प्रकारका वास्तविक तादात्म्य रखता है, उस प्रकारका तादात्म्य दो द्रव्योमे नही हो सकता। अत अनेक विभिन्न सत्ताके परमाणुओके बन्ध-कालमे जो स्कन्ध-अवस्था होती है, वह उन्ही परमाणुओके सदृश परिणमनका योग है, उनमें कोई एक नया द्रव्य नही आता, अपितु विशिष्ट अवस्थाको प्राप्त वे परमाणु ही विभिन्न स्कन्धोके रूपमें व्यवहृत होते है। यह विशिष्ट अवस्था उनकी कथञ्चित् एकत्व-परिणतिरूप है।

कार्योत्पत्ति विचार

सांख्यका सत्कार्यवाद :

कार्योत्पत्तिके सम्बन्धमें मुख्यतया तीन वाद है। पहला सत्कार्यवाद, दूसरा असत्कार्यवाद और तीसरा सत्-असत्कार्यवाद। सांख्य सत्कार्यवादी हैं। उनका यह आशय है[1] कि प्रत्येक कारणमें उससे उत्पन्न होनेवाले कार्योकी सत्ता है, क्योकि सर्वथा असत् कार्यकी खरविषाणकी तरह उत्पत्ति नही हो सकती। गेहूँके अकुरके लिए गेहूँके बीजको ही ग्रहण किया जाता है, यवादिके बीजको नही। अतः ज्ञात होता है कि उपादानमें कार्यका सद्भाव है। जगत्में सब कारणोसे सब कार्य पैदा नहीं होते, किन्तु प्रतिनियत कारणोंसे प्रतिनियत कार्य होते है। इसका सीधा अर्थ है कि जिन कारणोमें जिन कार्योका सद्भाव है, वे ही उनसे पैदा होते है, अन्य नही। इसी तरह समर्थ भी कारण शक्य ही कार्यको पैदा करता है, अशक्यको नही। यह शक्यता कारणमें कार्यके सद्भावके सिवाय और क्या हो

---

१. "असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
कारणकार्यविभागादविभागात् वैश्वरूप्यस्य॥"
—सांख्यका० ९।

सकती है ? और यदि कारणमें कार्यका तादात्म्य स्वीकार न किया जाय तो संसारमें कोई किसीका कारण नही हो सकता। कार्यकारणभाव स्वय ही कारणमें किसी रूपसे कार्यका सद्भाव सिद्ध कर देता है। सभी कार्य प्रलयकालमें किसी एक कारणमें लीन हो जाते हैं। वे जिसमें लीन होते है, उसमें उनका सद्भाव किसी रूपसे रहा आता है। ये कारणोंमें कार्यकी सत्ता शक्तिरूपसे मानते हैं, अभिव्यक्ति-रूपसे नही। इनका कारणतत्त्व एक प्रधान—प्रकृति है, उसीसे संसारके समस्त कार्यभेद उत्पन्न हो जाते हैं।

नैयायिकका असत्कार्यवाद :

नैयायिकादि असत्कार्यवादी है। इनका यह मतलब है कि जो स्कन्ध पर-माणुओंके सयोगसे उत्पन्न होता है वह एक नया ही अवयवी द्रव्य है। उन परमाणुओके सयोगके विखर जाने पर वह नष्ट हो जाता है। उत्पत्तिके पहले उस अवयवी द्रव्यकी कोई सत्ता नही थी। यदि कार्यकी सत्ता कारणमे स्वीकृत हो तो कार्यको अपने आकार-प्रकारमें उसी समय मिलना चाहिए था, पर ऐसा देखा नही जाता। अवयव द्रव्य और अवयवी द्रव्य यद्यपि भिन्न द्रव्य है, किन्तु उनका क्षेत्र पृथक् नही है, वे अयुतसिद्ध है। कही भी अवयवीकी उपलब्धि यदि होती है, तो वह केवल अवयवोंमें ही। अवयवोंसे भिन्न अर्थात् अवयवोसे पृथक् अवयवीको जुदा निकालकर नही दिखाया जा सकता।

बौद्धोका असत्कार्यवाद :

बौद्ध प्रतिक्षण नया उत्पाद मानते है। उनकी दृष्टिमें पूर्व और उत्तरके साथ वर्तमानका कोई सम्बन्ध नही। जिस कालमें जहाँ जो है, वह वही और उसी कालमें नष्ट हो जाता है। सदृशता ही कार्य-कारणभाव आदि व्यवहारोंकी निया-मिका है। वस्तुत दो क्षणोका परस्पर कोई वास्तविक सम्बन्ध नही है।

जैनदर्शनका सदसत्कार्यवाद :

जैनदर्शन 'सदसत्कार्यवादी' है। उसका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थमें मूलभूत द्रव्ययोग्यताएँ होनेपर भी कुछ तत्पर्याययोग्यताएँ भी होती है। ये पर्याययोग्यताएँ मूल द्रव्ययोग्यताओंसे बाहरकी नही है, किन्तु उन्हीमेंसे विशेष अवस्थाओंमे साक्षात् विकासको प्राप्त होनेवाली है। जैसे मिट्टीरूप पुद्गलके परमाणुओंमे पुद्गलकी घट-पट आदिरूपसे परिणमन करनेकी सभी द्रव्ययोग्यताएँ है, पर मिट्टीकी तत्पर्याययोग्यता घटको ही साक्षात् उत्पन्न कर सकती है, पट आदिको नही। तात्पर्य यह है कि कार्य अपने कारणद्रव्यमें द्रव्ययोग्यताके साथ ही तत्पर्याय-

योग्यता या शक्तिके रूपमें रहता ही है। यानी उसका अस्तित्व योग्यता अर्थात् द्रव्यरूपसे ही है, पर्यायरूपसे नहीं है।

सांख्यके यहाँ कारणद्रव्य तो केवल एक 'प्रधान' ही है, जिसमें जगत्के समस्त कार्योंके उत्पादनकी शक्ति है। ऐसी दशामें जबकि उसमें शक्तिरूपसे सब कार्य मौजूद हैं, तब अमुक समयमें अमुक ही कार्य उत्पन्न हो यह व्यवस्था नहीं बन सकती। कारणके एक होनेपर परस्परविरोधी अनेक कार्योंकी युगपत् उत्पत्ति सम्भव ही नहीं है। अत: सांख्यके यह कहनेका कोई विशेष अर्थ नहीं रहता कि 'कारणमें कार्य शक्तिरूपसे है, व्यक्तिरूपसे नहीं', क्योंकि शक्तिरूपसे तो सब सब जगह मौजूद है। 'प्रधान' चूँकि व्यापक और निरंश है, अतः उससे एक साथ विभिन्न देशोंमें परस्पर विरोधी अनेक कार्योंका आविर्भाव होना प्रतीतिविरुद्ध है। सीधा प्रश्न तो यह है कि जब सर्वशक्तिमान् 'प्रधान' नामका कारण सर्वत्र मौजूद है, तो मिट्टीके पिण्डसे घटकी तरह कपड़ा और पुस्तक क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

जैन दर्शनका उत्तर तो स्पष्ट है कि मिट्टीके परमाणुओंमें यद्यपि पुस्तक और पटरूपसे परिणमन करनेकी मूल द्रव्ययोग्यता है, किन्तु मिट्टीकी पिण्डरूप पर्यायमें साक्षात् कपड़ा और पुस्तक बननेकी तत्पर्याययोग्यता नहीं है, इसलिए मिट्टीका पिण्ड पुस्तक या कपड़ा नहीं बन पाता। फिर कारण द्रव्य भी एक नहीं, अनेक हैं; अतः सामग्रीके अनुसार परस्पर विरुद्ध अनेक कार्योंका युगपत् उत्पाद बन जाता है। महत्ता तत्पर्याययोग्यताकी है। जिस क्षणमें कारणद्रव्योंमें जितनी तत्पर्याययोग्यताएँ होंगी उनमेंसे किसी एकका विकास प्राप्त कारणसामग्रीके अनुसार हो जाता है। पुरुषका प्रयत्न उसे इष्ट आकार और प्रकारमें परिणत करानेके लिए विशेष साधक होता है। उपादानव्यवस्था इसी तत्पर्याययोग्यताके आधारपर होती है, मात्र द्रव्ययोग्यताके आधारसे नहीं; क्योंकि द्रव्ययोग्यता तो गेहूँ और कोदों दोनों बीजोंके परमाणुओंमें सभी अंकुरोंको पैदा करनेकी समानरूपसे है परन्तु तत्पर्याययोग्यता कोदोंके बीजमें कोदोंके अंकुरको ही उत्पन्न करनेकी है। तथा गेहूँके बीजमें गेहूँके अंकुरको ही उत्पन्न करने की है। इसीलिए भिन्न-भिन्न कार्यों-की उत्पत्तिके लिए भिन्न-भिन्न उपादानोंका ग्रहण होता है।

धर्मकीर्तिके आक्षेपका समाधान :

अत: बौद्धका[1] यह दूषण कि "दहीको खाओ, यह कहने पर व्यक्ति ऊँटको क्यों नहीं खाने दौड़ता ? जब कि दही और ऊँटके पुद्गलोंमें पुद्गलद्रव्यरूपसे कोई

---

१. "सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृतेः ।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति ॥"
—प्रमाणवा० ३।१८१।

भेद नही है।" उचित मालूम नही होता, क्योकि जगत्का व्यवहार मात्र द्रव्य-योग्यतासे ही नही चलता, किन्तु तत्पर्याययोग्यतासे चलता है। ऊँटके शरीरके पुद्गल और दहीके पुद्गल, द्रव्यरूपसे समान होनेपर भी 'एक' नही है और चूँकि वे स्थूल पर्यायरूपसे भी अपना परस्पर भेद रखते है तथा उनकी तत्पर्याययोग्यताएँ भी जुदी-जुदी है, अत. दही ही खाया जाता है, ऊँटका शरीर नही। साख्यके मतसे यह समाधान नही हो सकता, क्योकि जब एक ही प्रधान दही और ऊँट दोनो रूपसे विकसित हुआ है, तब उनमे भेदका नियामक क्या है ? एक तत्त्वमे एक ही समय विभिन्न देशोमें विभिन्न प्रकारके परिणमन नही हो सकते। इसी तरह यदि घट अवयवी और उसके उत्पादक मिट्टीके परमाणु परस्पर सर्वथा विभिन्न है, तो क्या नियामक है जो घडा वही उत्पन्न हो अन्यत्र नही ? प्रतिनियत कार्य-कारणकी व्यवस्थाके लिए कारणमें योग्यता या शक्तिरूपसे कार्यका सद्भाव मानना आवश्यक है। यानी कारणमे कार्योत्पादनकी योग्यता या शक्ति रहनी ही चाहिए। योग्यता, शक्ति और सामर्थ्य आदि एकजातीय मूलद्रव्योमें समान होनेपर भी विभिन्न अवस्थाओमें उनकी सीमा नियत हो जाती है और इसी नियतताके कारण जगत्में अनेक प्रकारके कार्यकारणभाव बनते है। यह तो हुई अनेक पुद्गल-द्रव्योके संयुक्त स्कन्धकी बात।

एक द्रव्यकी अपनी क्रमिक अवस्थाओमें अमुक उत्तर पर्यायका उत्पन्न होना केवल द्रव्ययोग्यतापर ही निर्भर नही करता, किन्तु कारणभूत पर्यायकी तत्पर्याय-योग्यतापर भी। प्रत्येक द्रव्यके प्रतिसमय स्वभावत उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे परिणामी होनेके कारण सारी व्यवस्थाएँ सदसत्कार्यवादके आधारसे जम जाती हैं। विवक्षित कार्य अपने कारणमें कार्याकारसे असत् होकर भी योग्यता या शक्तिके रूपमें सत् है। यदि कारणद्रव्यमें वह शक्ति न होती तो उससे वह कार्य उत्पन्न ही नही हो सकता था। एक अविच्छिन्न प्रवाहमें चलनेवाली धाराबद्ध पर्यायोका परस्पर ऐसा कोई विशिष्ट सम्बन्ध तो होना ही चाहिए, जिसके कारण अपनी पूर्व पर्याय ही अपनी उत्तर पर्यायमें उपादान कारण हो सके, दूसरेकी उत्तर पर्यायमें नही। यह अनुभवसिद्ध व्यवस्था न तो सांख्यके सत्कार्यवादमे सम्भव है, और न बौद्ध तथा नैयायिक आदिके असत्कार्यवादमें ही। साख्यके पक्षमें कारणके एक होनेसे इतनी अभिन्नता है कि कार्यभेदको सिद्ध करना असम्भव है, और बौद्धोंके यहाँ इतनी भिन्नता है कि अमुक क्षणके साथ अमुक क्षणका उपादान-उपादेयभाव बनना कठिन है।

इसी तरह नैयायिकोके अवयवी द्रव्यका अमुक अवयवोके ही साथ समवाय-

सम्बन्ध सिद्ध करना इसलिए कठिन है कि उनमें परस्पर अत्यन्त भेद माना गया है।

इस तरह जैन दर्शनमें ये जीवादि छह द्रव्य प्रमाणके प्रमेय माने गये हैं। ये सामान्य-विशेषात्मक और गुणपर्यायात्मक हैं। गुण और पर्याय द्रव्यसे कथञ्चित्तादाम्य सम्बन्ध रखनेके कारण सत् तो हैं, पर वे द्रव्यकी तरह मौलिक नहीं हैं, किन्तु द्रव्यांश हैं। ये ही अनेकान्तात्मक पदार्थ प्रमेय हैं और इन्हींके एक-एक धर्मोमें नयोंकी प्रवृत्ति होती है। जैनदर्शनकी दृष्टिमें द्रव्य ही एकमात्र मौलिक पदार्थ है, शेष गुण, कर्म, सामान्य, समवाय आदि उसी द्रव्यकी पर्यायें हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं हैं।

-

●

७. तत्त्व-निरूपण

तत्त्वव्यवस्थाका प्रयोजन :

पदार्थव्यवस्थाकी दृष्टिसे यह विश्व षट्द्रव्यमय है, परन्तु मुमुक्षुको जिनके तत्त्वज्ञानकी आवश्यकता मुक्तिके लिए है, वे तत्त्व सात है। जिस प्रकार रोगीको रोग-मुक्तिके लिए रोग, रोगके कारण, रोगमुक्ति और रोगमुक्तिका उपाय इन चार बातोका जानना चिकित्साशास्त्रमें आवश्यक बताया है, उसी तरह मोक्षकी प्राप्तिके लिए ससार, संसारके कारण, मोक्ष और मोक्षके उपाय इस मूलभूत चतुर्व्यूहका जानना नितान्त आवश्यक है। विश्वव्यवस्था और तत्त्वनिरूपणके जुदे-जुदे प्रयोजन है। विश्वव्यवस्थाका ज्ञान न होनेपर भी तत्त्वज्ञानसे मोक्षकी साधना की जा सकती है, पर तत्त्वज्ञान न होनेपर विश्वव्यवस्थाका समग्र ज्ञान भी निरर्थक और अनर्थक हो सकता है।

रोगीके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह अपनेको रोगी समझे। जब तक उसे अपने रोगका भान नही होता, तब तक वह चिकित्साके लिए प्रवृत्त ही नही हो सकता। रोगके ज्ञानके बाद रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि उसका रोग नष्ट हो सकता है। रोगकी साध्यताका ज्ञान ही उसे चिकित्सामें प्रवृत्ति कराता है। रोगीको यह जानना भी आवश्यक है कि यह रोग अमुक कारणोंसे उत्पन्न हुआ है, जिससे वह भविष्यमें उन अपथ्य आहार-विहारोंसे बचा रहकर अपनेको नीरोग रख सके। रोगको नष्ट करनेके उपायभूत औषधोपचारका ज्ञान तो आवश्यक है ही, तभी तो मौजूदा रोगका औषधोपचारसे समूल नाश करके वह स्थिर आरोग्यको पा सकता है। इसी तरह 'आत्मा बँधा है, इन कारणोंसे बँधा है, वह बन्धन टूट सकता है और इन उपायोंसे टूट सकता है।' इन मूल-भूत चार मुद्दोंमें तत्त्वज्ञानकी परिसमाप्ति भारतीय दर्शनोंने की है।

बौद्धोंके चार आर्यसत्य :

म० बुद्धने भी निर्वाणके लिए चिकित्साशास्त्रकी तरह दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्यसत्योंका[1] उपदेश दिया है। वे कभी भी 'आत्मा क्या है, परलोक क्या है' आदिके दार्शनिक विवादोंमें न तो स्वयं गये और न शिष्योंको ही जाने दिया। इस सम्बन्धका बहुत उपयुक्त उदाहरण मिलिन्द प्रश्नमें दिया गया

---

१ "सत्यान्युक्तानि चत्वारि दुःखं समुदयस्तथा।
निरोधो मार्ग एतेषां यथाभिसमयं क्रमः ॥"—अभिध० को० ६।२।

है कि 'जैसे किसी व्यक्तिको विषसे बुझा हुआ तीर लगा हो और जब बन्धुजन उस तीरको निकालनेके लिए विषवैद्यको बुलाते है, तो उस समय उसकी यह मीमासा करना जिस प्रकार निरर्थक है कि 'यह तीर किस लोहेसे बना है? किसने इसे बनाया? कब बनाया? यह कबतक स्थिर रहेगा? यह विषवैद्य किस गोत्रका है?' उसी तरह आत्माकी नित्यता और परलोक आदिका विचार निरर्थक है, वह न तो बोधिके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है।

इन आर्यसत्योका वर्णन इस प्रकार है। दुःख-सत्य—जन्म भी दु.ख है, जरा भी दु ख है, मरण भी दु ख है, शोक, परिवेदन, विकलता, इष्टवियोग, अनिष्ट-संयोग, इष्टाप्राप्ति आदि सभी दु.ख है। संक्षेपमें पाँचो उपादान स्कन्ध ही दु खरूप है। समुदय-सत्य—कामकी तृष्णा, भवकी तृष्णा और विभवकी तृष्णा दु खको उत्पन्न करनेके कारण समुदय कही जाती है। जितने इन्द्रियोके प्रिय विषय है, इष्ट रूपादि है, इनका वियोग न हो, वे सदा बने रहे, इस तरह उनसे संयोगके लिए चित्तकी अभिनन्दिनी वृत्तिको तृष्णा कहते है। यही तृष्णा समस्त दु.खोका कारण है। निरोध-सत्य—तृष्णाके अत्यन्त निरोध या विनाशको निरोध-आर्यसत्य कहते है। दु.ख-निरोधका मार्ग है—आष्टागिक मार्ग। सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यक्वचन, सम्यक्कर्म, सम्यक् आजीवन, सम्यक् प्रयत्न, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। नैरात्म्य-भावना ही मुख्यरूपसे मार्ग है। बुद्धने आत्मदृष्टि या सत्त्वदृष्टिको ही मिथ्यादर्शन कहा है। उनका कहना[1] है कि एक आत्माको शाश्वत या स्थायी समझकर ही व्यक्ति स्नेहवश उसके सुखमें तृष्णा करता है। तृष्णाके कारण उसे दोष नही दिखाई देते और गुणदर्शन कर पुनः तृष्णावश सुखसाधनोमें ममत्व करता है, उन्हें ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक 'आत्माभिनिवेश' है तब तक वह संसारमें रुलता है। इस एक आत्माके माननेसे वह अपनेको स्व और अन्यको पर समझता है। स्व-परविभागसे राग और

---

१ "य. पश्यत्यात्मान तत्रास्याहमिति शाश्वत. स्नेहः।
स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषास्तिरस्कुरुते॥
गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत्स संसारे॥
आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥"
—प्र० वा० १।२१९–२१।

द्वेष होते हैं, और ये राग-द्वेष ही समस्त ससार परम्पराके मूल स्रोत हैं। अत इस सर्वानर्थमूल[1] आत्मदृष्टिका नाश कर नैरात्म्य-भावनासे दु ख-निरोध होता है।

बुद्धका दृष्टिकोण :

उपनिषद्का तत्त्वज्ञान जहाँ आत्मदर्शनपर जोर देता है और आत्मदर्शनको ही मोक्षका परम साधन मानता है और मुमुक्षके लिए आत्मज्ञानको ही जीवनका सर्वोच्च साध्य समझता है, वहाँ बुद्धने इस आत्मदर्शनको ही ससारका मूल कारण माना है। आत्मदृष्टि, सत्त्वदृष्टि, सत्कायदृष्टि, ये सब मिथ्या दृष्टियाँ हैं। औपनिषद तत्त्वज्ञानकी ओटमें, याज्ञिक क्रियाकाण्डको जो प्रश्रय मिल रहा था उसीकी यह प्रतिक्रिया थी कि बुद्धको 'आत्मा' शब्दसे ही घृणा हो गई थी। आत्माको स्थिर मानकर उसे स्वर्गप्राप्ति आदिके प्रलोभनसे अनेक क्रूर यज्ञोंमें होनेवाली हिंसाके लिए उकसाया जाता था। इस शाश्वत आत्मवादसे ही राग और द्वेषकी अमरवेलें फैलती हैं। मजा तो यह है कि बुद्ध और उपनिषद्वादी दोनों ही राग, द्वेष और मोहका अभाव कर वीतरागता और वासनानिर्मुक्तिको अपना चरम लक्ष्य मानते थे, पर साधन दोनोके इतने जुदे थे कि एक जिस आत्मदर्शनको मोक्षका कारण मानता था, दूसरा उसे संसारका मूलबीज। इसका एक कारण और भी था कि बुद्धका मानस दार्शनिककी अपेक्षा सन्त ही अधिक था। वे ऐसे गोलगोल शब्दोको बिलकुल हटा देना चाहते थे, जिनका निर्णय न हो सके या जिनकी ओटमें मिथ्या धारणाओ और अन्धविश्वासोकी सृष्टि होती हो। 'आत्मा' शब्द उन्हें ऐसा ही लगा। बुद्धकी नैरात्म्य-भावनाका उद्देश्य 'बोधिचर्य्यावतार' (पृ० ४४९) में इस प्रकार बताया है—

> "यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
> अहमेव न किञ्चिच्चेत् कस्य भीतिर्भविष्यति ॥"

अर्थात्—यदि 'मैं' नामका कोई पदार्थ होता तो उसे इससे या उससे भय हो सकता था, परन्तु जब 'मैं' ही नही है, तब भय किसे होगा ?

बुद्ध जिस प्रकार इस 'शश्वत आत्मवाद' रूपी एक अन्तको खतरा मानते थे, उसी तरह वे भौतिकवादको भी दूसरा अन्त समझकर उसे खतरा ही मानते थे। उन्होंने न तो भौतिकवादियोके उच्छेदवादको ही माना और न उपनिषद्वादियोके

---

१. "तस्मादनादिसन्तानतुल्यजातीयबीजिकाम्।
उत्खातमूलां कुरुत सत्त्वदृष्टिं मुमुक्षव. ॥"

—प्रमाणवा० १।२५८।

शाश्वतवादको ही । इसीलिए उनका मत 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के रूपमे व्यवहृत होता है । उन्होने आत्मासम्बन्धी प्रश्नोको अव्याकृत कोटिमे डाल दिया था और भिक्षुओको स्पष्ट रूपसे कह दिया था कि 'आत्माके सम्बन्धमें कुछ भी कहना या सुनना न बोधिके लिए, न ब्रह्मचर्यके लिए और न निर्वाणके लिए ही उपयोगी है ।' इस तरह बुद्धने उस आत्माके ही सम्बन्धमें कोई भी निश्चित बात नही कही, जिसे दु ख होता है और जो दु ख-निवृत्तिकी साधना करना चाहता है ।

१ आत्मतत्त्व .

जैनोंके सात तत्त्वोंका मूल आत्मा :

निग्गंठ नाथपुत्त महाश्रमण महावीर भी वैदिक क्रियाकाण्डको निरर्थक और श्रेय प्रतिरोधी मानते थे, जितना कि बुद्ध । वे आचार अर्थात् चारित्रको ही मोक्ष-का अन्तिम साधन मानते थे । परन्तु उनने यह साक्षात्कार किया कि जब तक विश्वव्यवस्था और खासकर उस आत्माके विषयमें शिष्य निश्चित विचार नही बना लेते, जिस आत्माको दु ख होता है और जिसे निर्वाण पाना है, तब तक वे मानस-संशयसे मुक्त होकर साधना कर ही नही सकते । जब मगध और विदेहके कोनेमें ये प्रश्न गूंज रहे हो कि—'आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न ? परलोक क्या है ? निर्वाण क्या है ?' और अन्य तीर्थिक इन सबके सम्बन्धमें अपने मतोका प्रचार कर रहे हो, और इन्ही प्रश्नोपर वाद रोपे जाते हो, तब शिष्योको यह कहकर तत्काल भले ही चुप कर दिया जाय कि "क्या रखा है इस विवादमें कि आत्मा क्या है और कैसी है ? हमे तो दु खनिवृत्तिके लिए प्रयत्न करना चाहिये ।" परन्तु इससे उनके मनकी शल्य और बुद्धिकी विचिकित्सा नही निकल सकती थी, और वे इस बौद्धिक हीनता और विचार-दीनताके हीनतर भावोसे अपने चित्तकी रक्षा नही कर सकते थे । संघमे तो विभिन्न मतवादियोके शिष्य, विशेपकर वैदिक ब्राह्मण विद्वान् भी दीक्षित होते थे । जब तक इन सब पँचमेल व्यक्तियोके, जो आत्माके विषयमे विभिन्न मत रखते थे और उसकी चर्चा भी करते थे; सशयका वस्तुस्थितिमूलक समाधान न हो जाता, तब तक वे परस्पर समता और मानस अहिंसाका वातावरण नही बना सकते थे । कोई भी धर्म अपने सुस्थिर और सुदृढ दर्शनके बिना परीक्षक-शिष्योंको अपना अनुयायी नही बना सकता । श्रद्धामूलक भावना तत्काल कितना ही समर्पण क्यो न करा ले पर उसका स्थायित्व विचार-शुद्धिके बिना कथमपि संभव नही है ।

यही कारण है कि भगवान् महावीरने उस मूलभूत आत्मतत्त्वके स्वरूपके विषयमें मौन नही रखा और अपने शिष्योको यह बताया कि धर्म वस्तुके यथार्थ

स्वरूपकी प्राप्ति ही है। जिस वस्तुका जो स्वरूप है, उसका उस पूर्ण स्वरूपमें स्थिर होना ही धर्म है। अग्नि जब तक अपनी उष्णताको कायम रखती है, तब-तक वह धर्मस्थित है। यदि दीपशिखा वायुके झोंकोंसे स्पन्दित हो रही है और चंचल होनेके कारण अपने निश्चल स्वरूपसे च्युत हो रही है, तो कहना होगा कि वह उतने अशमें धर्मस्थित नही है। जल जब तक स्वाभाविक शीतल है, तभी तक धर्म-स्थित है। यदि वह अग्निके ससर्गसे स्वरूपच्युत होकर गर्म हो जाता है, तो वह धर्म-स्थित नही है। इस परसयोगजन्य विकार-परिणतिको हटा देना ही जलकी धर्म-प्राप्ति है। उसी तरह आत्माका वीतरागत्व, अनन्तचैतन्य, अनन्तसुख आदि स्वरूप परसयोगसे राग, द्वेष, तृष्णा, दु ख आदि विकाररूपसे परिणत होकर अधर्म बन रहा है। जबतक आत्माके यथार्थ स्वरूपका निश्चय और वर्णन न किया जाय तब तक यह विकारी आत्मा कैसे अपने स्वतन्त्र स्वरूपको पानेके लिए उच्छ्वास भी ले सकता है? रोगीको जब तक अपने मूलभूत आरोग्य स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक उसे यही निश्चय नही हो सकता कि मेरी यह अस्वस्थ अवस्था रोग है। वह उस रोगको विकार तो तभी मानेगा जब उसे अपनी आरोग्य अवस्थाका यथार्थ दर्शन हो, और जब तक वह रोगको विकार नही मानता तब तक वह रोग-निवृत्तिके लिए चिकित्सामे क्यो प्रवृत्ति करेगा? जब उसे यह ज्ञात हो जाता है कि मेरा स्वरूप तो आरोग्य है, अपथ्यसेवन आदि कारणोंसे मेरा मूल स्वरूप विकृत हो गया है, तभी वह उस स्वरूपभूत आरोग्य-की प्राप्तिके लिए चिकित्सा कराता है। रोगनिवृत्ति स्वयं साध्य नही है, साध्य है स्वरूपभूत आरोग्यकी प्राप्ति। उसी तरह जब तक उस मूल-भूत आत्माके स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नही होगा और परसंयोगसे होनेवाले विकारोको आगन्तुक होनेसे विनाशी न माना जायगा, तब तक दु खनिवृत्तिके लिए प्रयत्न ही नही बन सकता।

यह ठीक है कि जिसे बाण लगा है, उसे तत्काल प्राथमिक सहायता (First aid) के रूपमें आवश्यक है कि वह पहले तीरको निकलवा ले; किन्तु इतनेमें ही उसके कर्तव्यकी समाप्ति नहीं हो जाती। वैद्यको यह अवश्य देखना होगा कि वह तीर किस विषसे बुझा हुआ है और किस वस्तुका बना हुआ है। यह इसलिए कि शरीरमें उसने कितना विकार पैदा किया होगा और उस घावको भरनेके लिए कौन-सी मलहम आवश्यक होगी। फिर यह जानना भी आवश्यक है कि वह तीर अचानक लग गया या किसीने दुश्मनीसे मारा है और ऐसे कौन उपाय हो सकते है, जिनसे आगे तीर लगनेका अवसर न आवे। यही कारण है

कि तीरकी भी परीक्षा की जाती है, तीर मारनेवालेकी भी तलाश की जाती है और घावकी गहराई आदि भी देखी जाती है। इसीलिये यह जानना और समझना मुमुक्षुके लिए नितान्त आवश्यक है कि आखिर मोक्ष है क्या वस्तु ? जिसकी प्राप्तिके लिए मैं प्राप्त सुखका परित्याग करके स्वेच्छासे साधनाके कष्ट झेलनेके लिए तैयार होऊँ ? अपने स्वातन्त्र्य स्वरूपका भान किये विना और उसके सुखद रूपकी झाँकी पाये विना केवल परतन्त्रता तोड़नेके लिए वह उत्साह और सन्नद्धता नही आ सकती, जिसके बलपर मुमुक्षु तपस्या और साधनाके घोर कष्टोको स्वेच्छासे झेलता है। अत उस आधारभूत आत्माके मूल स्वरूपका ज्ञान मुमुक्षुको सर्वप्रथम होना ही चाहिए, जो कि बँधा है और जिसे छूटना है। इसीलिए भगवान् महावीरने बंध (दु ख), आस्रव (दु खके कारण), मोक्ष (निरोध), संवर और निर्जरा (निरोध-मार्ग) इन पाँच तत्त्वोके साथ ही साथ उस जीव तत्त्वका ज्ञान करना भी आवश्यक बताया, जिस जीवको यह ससार होता है और जो बन्धन काटकर मोक्ष पाना चाहता है।

बंध दो वस्तुओका होता है। अत जिस अजीवके सम्पर्कसे इसकी विभावपरिणति हो रही है और जिसमें राग-द्वेष करनेके कारण उसकी धारा चल रही है और जिन कर्मपुद्गलोसे बद्ध होनेके कारण यह जीव स्वस्वरूपसे च्युत है उस अजीवतत्त्वका ज्ञान भी आवश्यक है। तात्पर्य यह कि जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व मुमुक्षुके लिए सर्वप्रथम ज्ञातव्य हैं।

तत्त्वोके दो रूप :

आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तत्त्व दो दो प्रकारके होते हैं। एक द्रव्यरूप और दूसरे भावरूप। जिन मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूप आत्मपरिणामोंसे कर्मपुद्गलोका आना होता है, वे भाव भावास्रव कहे जाते है और पुद्गलोमें कर्मत्वका आ जाना द्रव्यास्रव है, अर्थात् भावास्रव जीवगत पर्याय है और द्रव्यास्रव पुद्गलगत। जिन कषायोसे कर्म बँधते है वे जीवगत कषायादि भाव भावबंध है और पुद्गलकर्मका आत्मासे सम्बन्ध हो जाना द्रव्यबन्ध है। भावबन्ध जीवरूप है और द्रव्यबन्ध पुद्गलरूप। जिन क्षमा आदि धर्म, समिति, गुप्ति और चारित्रोसे नये कर्मोका आना रुकता है वे भाव भावसंवर है और कर्मोका रुक जाना द्रव्यसंवर है। इसी तरह पूर्वसंचित कर्मोका निर्जरण जिन तप आदि भावोसे होता है वे भाव भावनिर्जरा है और कर्मोका झड़ना द्रव्यनिर्जरा

है। जिन ध्यान आदि साधनोंसे मुक्ति प्राप्त होती है वे भाव भावमोक्ष है और कर्मपुद्गलोंका आत्मासे सम्बन्ध टूट जाना द्रव्यमोक्ष है।

तात्पर्य यह कि आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूपमें जीवकी पर्याय है और द्रव्यरूपमें पुद्गलकी। जिस भेदविज्ञानसे—आत्मा और परके विवेकज्ञानसे—कैवल्यकी प्राप्ति होती है उस आत्मा और परमें ये सातो तत्त्व समा जाते है। वस्तुत जिस परकी परतन्त्रताको हटाना है और जिस स्वको स्वतन्त्र होना है उन स्व और परके ज्ञानमें ही तत्त्वज्ञानकी पूर्णता हो जाती है। इसीलिए संक्षेपमें मुक्तिका मूल साधन 'स्वपर-विवेकज्ञान' को बताया गया है।

तत्त्वोंकी अनादिता :

भारतीय दर्शनोंमें सबने कोई-न-कोई पदार्थ अनादि माने ही है। नास्तिक चार्वाक भी पृथ्वी आदि महाभूतोंको अनादि मानता है। ऐसे किसी क्षणकी कल्पना नही की जा सकती, जिसके पहले कोई अन्य क्षण न रहा हो। समय कबसे प्रारम्भ हुआ और कब तक रहेगा, यह बतलाना सम्भव नही है। जिस प्रकार काल अनादि और अनन्त है और उसकी पूर्वावधि निश्चित नही की जा सकती, उसी तरह आकाशकी भी कोई क्षेत्रगत मर्यादा नही बताई जा सकती—"सर्वतो हि अनन्तं तत्" आदि अन्त सभी ओरसे आकाश अनन्त है। आकाश और कालकी तरह हम प्रत्येक सत्के विषयमें यह कह सकते है कि उसका न किसी खास क्षणमें नूतन उत्पाद हुआ है और न किसी समय उसका समूल विनाश ही होगा।

"भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।"

—पंचास्तिकाय गा० १५।

"नाऽसतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

—भगवद्गीता २।१६।

अर्थात्—किसी असत्का सत् रूपसे उत्पाद नही होता और न किसी सत्का अत्यन्त विनाश ही होता है। जितने गिने हुए सत् है, उनकी संख्यामें न एककी वृद्धि हो सकती है और न एककी हानि। हाँ, रूपान्तर प्रत्येकका होता रहता है, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्तके अनुसार आत्मा एक स्वतन्त्र सत् है और पुद्गलपरमाणु भी स्वतन्त्र सत्। अनादिकालसे यह आत्मा पुद्गलसे उसी तरह सम्बद्ध मिलता है जैसे कि खानिसे निकाला गया सोना मैलसे संयुक्त मिलता है।

आत्माको अनादिबद्ध माननेका कारण :

आज आत्मा स्थूल शरीर और सूक्ष्म कर्मशरीरसे बद्ध मिलता है। इसका ज्ञान संवेदन, सुख, दु ख और यहाँ तक कि जीवन-शक्ति भी शरीराधीन है। शरीरमे विकार होनेसे ज्ञानतंतुओमें क्षीणता आ जाती है और स्मृतिभ्रंश तथा पागलपन आदि देखे जाते है। संसारी आत्मा शरीरबद्ध होकर ही अपनी गतिविधि करता है। यदि आत्मा शुद्ध होता तो शरीरसम्बन्धका कोई कारण नही था। शरीरसम्बन्ध या पुनर्जन्मके कारण है—राग, द्वेष, मोह और कषायादिभाव। शुद्ध आत्मामें ये विभाव परिणाम हो ही नही सकते। चूंकि आज ये विभाव और उनका फल—शरीरसम्बन्ध प्रत्यक्षसे अनुभवमें आ रहा है, अतः मानना होगा कि आज तक इनकी अशुद्ध परम्परा ही चली आई है।

भारतीय दर्शनोंमें यही एक ऐसा प्रश्न है, जिसका उत्तर विधिमुखसे नही दिया जा सकता। ब्रह्ममें अविद्या कब उत्पन्न हुई ? प्रकृति और पुरुषका संयोग कब हुआ ? आत्मासे शरीरसम्बन्ध कब हुआ ? इन सब प्रश्नोंका एक मात्र उत्तर है—'अनादि' से। किसी भी दर्शनने ऐसे समयकी कल्पना नही की है जिस समय समग्र भावसे ये समस्त संयोग नष्ट होंगे और संसार समाप्त हो जायगा। व्यक्तिशः अमुक आत्माओसे पुद्गलसंसर्ग या प्रकृतिसंसर्गका वह रूप समाप्त हो जाता है, जिसके कारण उसे ससरण करना पड़ता है। इस प्रश्नका दूसरा उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि ये शुद्ध होते तो इनका संयोग ही नही हो सकता था। शुद्ध होनेके बाद कोई ऐसा हेतु नही रह जाता जो प्रकृतिसंसर्ग, पुद्गलसम्बन्ध या अविद्योत्पत्ति होने दे। इसीके अनुसार यदि आत्मा शुद्ध होता तो कोई कारण उसके अशुद्ध होनेका या शरीरसम्बन्धका नही था। जब ये दो स्वतन्त्रसत्ताक द्रव्य है तब उनका सयोग चाहे वह जितना ही पुराना क्यो न हो, नष्ट किया जा सकता है और दोनोको पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। उदाहरणार्थ—खदानसे सर्व-प्रथम निकाले गये सोनेमें कीट आदि मैल कितना ही पुराना या असंख्य कालसे लगा हुआ क्यो न हो, शोधक प्रयोगोंसे अवश्य पृथक् किया जा सकता है और सुवर्ण अपने शुद्ध रूपमें लाया जा सकता है। तब यह निश्चय हो जाता है कि सोनेका शुद्ध रूप यह है तथा मैल यह है। साराश यह कि जीव और पुद्गलका बध अनादिसे है और वह बन्ध जीवके अपने राग-द्वेष आदि भावोके कारण उत्त-रोत्तर बढता जाता है। जब ये रागादिभाव क्षीण होते हैं, तब वह बंध आत्मामें नये विभाव उत्पन्न नही कर सकता और धीरे-धीरे या एक झटकेमें ही समाप्त हो सकता है। चूंकि यह बन्ध दो स्वतन्त्र द्रव्योका है, अत टूट सकता है या उस

अवस्थामें तो अवश्य पहुँच सकता है जब साधारण संयोग बना रहनेपर भी आत्मा उससे निस्संग और निर्लेप बन जाता है।

आज इस अशुद्ध आत्माकी दशा अर्धभौतिक जैसी हो रही है। इन्द्रियाँ यदि न हो तो सुनने और देखने आदिकी शक्ति रहनेपर भी वह शक्ति जैसी-की-तैसी रह जाती है और देखना और सुनना नही होता। विचारशक्ति होनेपर भी यदि मस्तिष्क ठीक नही है तो विचार और चिन्तन नही किये जा सकते। यदि पक्षाघात हो जाय तो शरीर देखनेमे वैसा ही मालूम होता है पर सब शून्य हो जाता है। निष्कर्ष यह कि अशुद्ध आत्माकी दशा और इसका सारा विकास बहुत कुछ पुद्गलके अधीन हो रहा है। और तो जाने दीजिए, जीभके अमुक-अमुक हिस्सोमे अमुक-अमुक रसोके चखनेकी निमित्तता देखी जाती है। यदि जीभके आधे हिस्सेमे लकवा मार जाय तो शेष हिस्सेसे कुछ रसोका ज्ञान हो पाता है, कुछका नही। इस जीवनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, राग, द्वेष, कलाविज्ञान आदि सभी भाव बहुत कुछ इसी जीवनपर्यायके अधीन है।

एक मनुष्य जीवन भर अपने ज्ञानका उपयोग विज्ञान या धर्मके अध्ययनमे लगाता है, जवानीमें उसके मस्तिष्कमें भौतिक उपादान अच्छे और प्रचुर मात्रामें थे, तो उसके तन्तु चैतन्यको जगाये रखते थे। बुढापा आनेपर जब उसका मस्तिष्क शिथिल पड जाता है तो विचारशक्ति लुप्त होने लगती है और स्मरण मन्द पड जाता है। वही व्यक्ति अपनी जवानीमें लिखे गए लेखको यदि बुढापेमे पढता है तो उसे स्वयं आश्चर्य होता है। कभी-कभी तो उसे यह विश्वास ही नही होता कि यह उसीने लिखा होगा। मस्तिष्ककी यदि कोई ग्रन्थि बिगड जाती है तो मनुष्य पागल हो जाता है। दिमागका यदि कोई पुरजा कस गया, ढीला हो गया तो उन्माद, सन्देह, विक्षेप और उद्वेग आदि अनेक प्रकारकी धाराएँ जीवनको ही बदल देती है। मस्तिष्कके विभिन्न भागोमें विभिन्न प्रकारके चेतनभावोंको जागृत करनेके विशेष उपादान रहते है।

मुझे एक ऐसे योगीका अनुभव है जिसे शरीरके नसोका विशिष्ट ज्ञान था। वह मस्तिष्ककी किसी खास नसको दबाता था तो मनुष्यको हिंसा और क्रोधके भाव उत्पन्न हो जाते थे। दूसरे ही क्षण किसी अन्य नसके दबाते ही दया और करुणाके भाव जागृत होते थे और वह व्यक्ति रोने लगता था, तीसरी नसके दबाते ही लोभका तीव्र उदय होता था और यह इच्छा होती थी कि चोरी कर लें। इन सब घटनाओंसे हम एक क्रम निश्चित परिणामपर तो पहुँच ही जाते है कि हमारी सारी पर्यायशक्तियाँ, जिनमें ज्ञान, दर्शन, सुख, धैर्य, राग, द्वेष और कषाय

आदि शामिल है, इस शरीरपर्यायके निमित्तसे विकसित होती है। शरीरके नष्ट होते ही समस्त जीवन भरमें उपार्जित ज्ञानादि पर्यायशक्तियाँ प्राय बहुत कुछ नष्ट हो जाती है। परलोक तक इनके कुछ सूक्ष्म संस्कार हो जाते हैं।

व्यवहारसे जीव मूर्तिक भी है :

जैनदर्शनमे व्यवहारसे जीवको मूर्तिक माननेका अर्थ है कि अनादिसे यह जीव शरीरसम्बद्ध ही मिलता आया है। स्थूल शरीर छोड़नेपर भी सूक्ष्म कर्मशरीर सदा इसके साथ रहता है। इसी सूक्ष्म कर्मशरीरके नाशको ही मुक्ति कहते हैं। चार्वाकका देहात्मवाद देहके साथ ही आत्माकी समाप्ति मानता है जब कि जैनके देहपरिमाण-आत्मवादमें आत्माकी स्वतन्त्र सत्ता होकर भी उसका विकास अशुद्ध दशामे देहाश्रित यानी देहनिमित्तिक माना गया है।

आत्माकी दशा :

आजका विज्ञान हमें बताता है कि जीव जो भी विचार करता है उसकी टेढी-सीधी, और उथली-गहरी रेखायें मस्तिष्कमे भरे हुए मक्खन जैसे श्वेत पदार्थमें खिचती जाती है, और उन्हीके अनुसार स्मृति तथा वासनाएँ उद्बुद्ध होती है। जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेको पानीमे छोडनेपर वह गोला जलके बहुतसे परमाणुओको अपने भीतर सोख लेता है और भाप बनाकर कुछ परमाणुओ-को बाहर निकालता है। जब तक वह गर्म रहता है, पानीमें उथल-पुथल पैदा करता है। कुछ परमाणुओको लेता है, कुछको निकालता है, कुछको भाफ बनाता, यानी एक अजीब ही परिस्थिति आस-पासके वातावरणमें उपस्थित कर देता है। उसी तरह जब यह आत्मा राग-द्वेष आदिसे उत्तप्त होता है, तब शरीरमें एक अद्भुत हलन-चलन उत्पन्न करता है। क्रोध आते ही आँखें लाल हो जाती है, खूनकी गति बढ जाती है, मुँह सूखने लगता है, और नथने फडकने लगते है। जब कामवासना जागृत होती है तो सारे शरीरमें एक विशेष प्रकारका मन्थन शुरू होता है, और जब तक वह कषाय या वासना शान्त नही हो लेती, तब तक यह चहल-पहल और मन्थन आदि नही रुकता। आत्माके विचारोके अनुसार पुद्गलद्रव्योमें भी परिणमन होता है और उन विचारोके उत्तेजक पुद्गल आत्माके वासनामय सूक्ष्म कर्मशरीरमें शामिल होते जाते हैं। जब-जब उन कर्मपुद्गलोपर दबाव पडता है तब-तब वे फिर रागादि भावोको जगाते है। फिर नये कर्मपुद्गल आते हैं और उन कर्मपुद्गलोके परिपाकके अनुसार नूतन रागादि भावोकी सृष्टि होती है। इस तरह रागादि भाव और कर्मपुद्गलोके सम्बन्धका चक्र तबतक

बराबर चालू रहता है, जब तक कि अपने विवेक और चारित्रसे रागादि भावोको नष्ट नही कर दिया जाता।

साराश यह कि जीवकी ये राग-द्वेषादि वासनाएँ और पुद्गलकर्मबन्धकी धारा बीज-वृक्षसन्ततिकी तरह अनादिसे चालू है। पूर्व सचित कर्मके उदयसे इस समय राग, द्वेप आदि उत्पन्न होते है और तत्कालमे जो जीवकी आसक्ति या लगन होती है, वही नूतन कर्मबन्ध कराती है। यह आशंका करना कि 'जब पूर्वकर्मसे रागादि और रागादिसे नये कर्मका बन्ध होता है तब इस चक्रका उच्छेद कैसे हो सकता है?' उचित नही है, कारण यह है कि केवल पूर्वकर्मके फलका भोगना ही नये कर्मका बन्धक नही होता, किन्तु उस भोगकालमें जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते है, उनसे बन्ध होता है। यही कारण है कि सम्यग्दृष्टिके पूर्वकर्मके भोग नूतन रागादिभावोको नही करनेकी वजहसे निर्जराके कारण होते है जब कि मिथ्यादृष्टि नूतन रागादिसे बध ही बंध करता है। सम्यग्दृष्टि पूर्वकर्मके उदयसे होनेवाले रागादिभावोको अपने विवेकसे शान्त करता है और उनमें नई आसक्ति नही होने देता। यही कारण है कि उसके पुराने कर्म अपना फल देकर झड जाते हैं और किसी नये कर्मका उनकी जगह बन्ध नही होता। अत सम्यग्दृष्टि तो हर तरफसे हलका हो चलता है, जब कि मिथ्यादृष्टि नित नयी वासना और आसक्तिके कारण तेजीसे कर्मबन्धनोमे जकडता जाता है।

जिस प्रकार हमारे भौतिक मस्तिष्कपर अनुभवोकी सीधी, टेढी, गहरी, उथली आदि असख्य रेखाएँ पडती रहती है, जब एक प्रबल रेखा आती है तो वह पहलेकी निर्बल रेखाको साफकर उस जगह अपना गहरा प्रभाव कायम कर देती है। यानी यदि वह रेखा सजातीय सस्कारकी है तो उसे और गहरा कर देती है और यदि विजातीय सस्कारकी है तो उसे पोछ देती है। अन्तमें कुछ ही अनुभव-रेखाएँ अपना गहरा या उथला अस्तित्व कायम रखती है। इसी तरह आज जो रागद्वेषादिजन्य सस्कार उत्पन्न होते है और कर्मबन्धन करते है, वे दूसरे ही क्षण शील, व्रत और सयम आदिकी पवित्र भावनाओंसे धुल जाते हैं, या क्षीण हो जाते हैं। यदि दूसरे ही क्षण अन्य रागादिभावोका निमित्त मिलता है, तो प्रथमबद्ध पुद्गलोमें और भी काले पुद्गलोका सयोग तीव्रतामे होता जाता है। इस तरह जीवनके अन्तमे कर्मोका बन्ध, निर्जरा, अपकर्षण (घटती), उत्कर्षण (बढती), सक्रमण (एक दूसरेके रूपमें बदलना) आदि होते-होते जो रोकड बाकी रहती है वही सूक्ष्म कर्म-शरीरके रूपमे परलोक तक जाती है। जैसे तेज अग्निपर उबलती हुई बटलोईमें दाल, चावल, शाक आदि जो भी डाला जाता है उसकी ऊपर-नीचे

अगल-बगलमे उफान लेकर अन्तमे एक खिचडी-सी बन जाती है, उसी तरह प्रतिक्षण बँधनेवाले अच्छे या बुरे कर्मोंमें, शुभभावोसे शुभकर्मोंमें रस-प्रकर्ष और स्थितिवृद्धि होकर अशुभ कर्मोमे रसहीनता और स्थितिच्छेद हो जाता है। अन्तमें एक पाकयोग्य स्कन्ध बच रहता है, जिसके क्रमिक उदयसे रागादि भाव और सुखादि उत्पन्न होते है।

अथवा जैसे पेटमे जठराग्निसे आहारका मल, मूत्र, स्वेद आदिके रूपसे कुछ भाग बाहर निकल जाता है, कुछ वही हजम होकर रक्तादि रूपसे परिणत होता है और आगे जाकर वीर्यादिरूप बन जाता है। बीचमें चूरण-चटनी आदिके संयोगसे उसकी लघुपाक, दीर्घपाक आदि अवस्थाएँ भी होती है, पर अन्तमे होनेवाले परिपाकके अनुसार ही भोजनको सुपच या दुष्पच कहा जाता है, उसी तरह कर्मका भी प्रतिसमय होनेवाले अच्छे और बुरे भावोके अनुसार तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मध्यम, मृदुतर और मृदुतम आदि रूपसे परिवर्तन बराबर होता रहता है और अन्तमें जो स्थिति होती है, उसके अनुसार उन कर्मोको शुभ या अशुभ कहा जाता है।

यह भौतिक जगत् पुद्गल और आत्मा दोनोसे प्रभावित होता है। जब कर्मका एक भौतिक पिण्ड, जो विशिष्ट शक्तिका स्रोत है, आत्मासे सम्बद्ध होता है, तो उसकी सूक्ष्म और तीव्रशक्तिके अनुसार बाह्य पदार्थ भी प्रभावित होते है और प्राप्तसामग्रीके अनुसार उस सचित कर्मका तीव्र, मन्द और मध्यम आदि फल मिलता है। इस तरह यह कर्मचक्र अनादिकालसे चल रहा है और तब तक चालू रहेगा जब तक कि बन्धकारक मूलरागादिवासनाओका नाश नही कर दिया जाता।

बाह्य पदार्थोंके—नोकर्मोंके समवधानके अनुसार कर्मोका यथासम्भव प्रदेशोदय या फलोदय रूपसे परिपाक होता रहता है। उदयकालमें होनेवाले तीव्र, मध्यम और मन्द शुभाशुभ भावोके अनुसार आगे उदयमें आनेवाले कर्मोके रसदानमें भी अन्तर पड जाता है। तात्पर्य यह कि कर्मोका फल देना, अन्य रूपमे देना या न देना, बहुत कुछ हमारे पुरुषार्थके ऊपर निर्भर करता है।

इस तरह जैन दर्शनमे यह आत्मा अनादिसे अशुद्ध माना गया है और प्रयोगसे यह शुद्ध हो सकता है। एक बार शुद्ध होनेके बाद फिर अशुद्ध होनेका कोई कारण नही रह जाता। आत्माके प्रदेशोमे सकोच और विस्तार भी कर्मके निमित्तसे ही होता है। अत कर्मनिमित्तिके हट जानेपर आत्मा अपने अन्तिम आकारमें रह जाता है और ऊर्ध्व लोकके अग्र भागमें स्थिर हो अपने चैतन्यमे प्रतिष्ठित हो जाता है।

अतः भ० महावीरने बन्ध-मोक्ष और उसके कारणभूत तत्त्वोंके सिवाय उस आत्माका ज्ञान भी आवश्यक बताया जिसे शुद्ध होना है और जो वर्तमानमें अशुद्ध हो रहा है। आत्माकी अशुद्ध दशा स्वरूप-प्रच्युतिरूप है। चूँकि यह दशा स्वस्वरूप-को भूलकर परपदार्थोंमें ममकार और अहङ्कार करनेके कारण हुई है, अत इस अशुद्ध दशाका अन्त भी स्वरूपके ज्ञानसे ही हो सकता है। इस आत्माको यह तत्त्वज्ञान होता है कि मेरा स्वरूप तो अनन्त चैतन्य, वीतराग, निर्मोह, निष्कषाय, शान्त, निश्चल, अप्रमत्त और ज्ञानरूप है। इस स्वरूपको भुलाकर परपदार्थोंमें ममकार और शरीरको अपना माननेके कारण, राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद और मिथ्यात्व आदि विकाररूप मेरी दशा हो गयी है। इन कषायोंकी ज्वालासे मेरा स्वरूप समल और योगके कारण चञ्चल हो गया है। यदि पर-पदार्थोंसे ममकार और रागादि भावोंसे अहङ्कार हट जाय तथा आत्मपरविवेक हो जाय तो यह अशुद्ध दशा और ये रागादि वासनाएँ अपने आप क्षीण हो जाँयगी। इस तत्त्वज्ञानसे आत्मा विकारोंको क्षीण करता हुआ निर्विकार चैतन्यरूप हो जाता है। इसी शुद्धिको मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष जब तक शुद्ध आत्मस्वरूपका बोध न हो, तब तक कैसे हो सकता है?

आत्मदृष्टि ही सम्यग्दृष्टि :

बुद्धके तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ दुःखसे होता है और उसकी समाप्ति होती है दुःखनिवृत्तिमें। वे समझते हैं कि आत्मा अर्थात् उपनिषद्वादियोंका नित्य आत्मा और नित्य आत्मामे स्वबुद्धि और दूसरे पदार्थोंमें परबुद्धि होने लगती है। स्वपर विभागसे राग-द्वेष और राग-द्वेषसे यह संसार बन जाता है। अत समस्त अनर्थों-की जड आत्मदृष्टि है। वे इस ओर ध्यान नही देते कि आत्माकी नित्यता और अनित्यता राग और विरागका कारण नही है। राग और विराग तो स्वरूपके अज्ञान और स्वरूपके सम्यग्ज्ञानसे होते हैं। रागका कारण है परपदार्थोंमें ममकार करना। जब इस आत्माको समझाया जाता है कि मूर्ख, तेरा स्वरूप तो निर्विकार अखण्ड चैतन्य है, तेरा इन स्त्री-पुत्रादि तथा शरीरमें ममत्व करना विभाव है, स्वभाव नही, तब यह सहज ही अपने निर्विकार स्वभावकी ओर दृष्टि डालने लगता है और इसी विवेकदृष्टि या सम्यग्दर्शनसे परपदार्थोंसे रागद्वेष हटाकर स्वरूपमें लीन होने लगता है। इसीके कारण आस्रव रुकते हैं और चित्त निरास्रव होने लगता है। इस प्रतिक्षण परिवर्तनशील अनन्त द्रव्यमय लोकमें मैं एक आत्मा हूँ, मेरा किसी दूसरे आत्मा या पुद्गलद्रव्योंसे कोई सम्बन्ध नही है। मैं अपने चैतन्यका स्वामी हूँ। मात्र चैतन्यरूप हूँ। यह शरीर अनन्त पुद्गलपरमाणुओंका

एक पिण्ड है। इसका मैं स्वामी नही हूँ। यह सब पर द्रव्य हैं। परपदार्थोंमें इष्टानिष्ट बुद्धि करना ही ससार है। आजतक मैंने परपदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन करानेकी अनधिकार चेष्टा ही की है। मैंने यह भी अनधिकार चेष्टा की है कि संसारके अधिक-से-अधिक पदार्थ मेरे अधीन हो, जैसा मैं चाहूँ, वैसा वे परिणमन करें। उनकी वृत्ति मेरे अनुकूल हो। पर मूर्ख, तू तो एक व्यक्ति है। तू तो केवल अपने परिणमनपर अर्थात् अपने विचारो और क्रियापर ही अधिकार रख सकता है। परपदार्थोपर तेरा वास्तविक अधिकार क्या है? तेरी यह अनधिकार चेष्टा ही राग और द्वेषको उत्पन्न करती है। तू चाहता है कि शरीर, स्त्री पुत्र, परिजन आदि सब तेरे इशारेपर चलें। संसारके समस्त पदार्थ तेरे अधीन हो, तू त्रैलोक्यको अपने इशारेपर नचानेवाला एकमात्र ईश्वर बन जाय। यह सब तेरी निरधिकार चेष्टाएँ है। तू जिस तरह संसारके अधिकतम पदार्थोंको अपने अनुकूल परिणमन कराके अपने अधीन करना चाहता है उसी तरह तेरे जैसे अनन्त मूढ चेतन भी यही दुर्वासना लिये हुए है और दूसरे द्रव्योको अपने अधीन करना चाहते है। इसी छीना-झपटीमे सघर्ष होता है, हिंसा होती है, राग-द्वेष होते हैं और होता है अन्तत दुःख ही दुःख।

सुख और दुःखकी स्थूल परिभाषा यह है कि 'जो चाहे सो होवे, इसे कहते है सुख और चाहे कुछ और होवे कुछ या जो चाहे वह न होवे इसे कहते हैं दुःख।' मनुष्यकी चाह सदा यही रहती है कि मुझे सदा इष्टका संयोग रहे और अनिष्टका संयोग न हो। समस्त भौतिक जगत् और अन्य चेतन मेरे अनुकूल परिणति करते रहे, शरीर नीरोग हो, मृत्यु न हो, धनधान्य हो, प्रकृति अनुकूल रहे आदि न जाने कितने प्रकारकी चाह इस शेखचिल्ली मानवको होती रहती है। बुद्धने जिस दुःखको सर्वानुभूत बताया है, वह सब अभावकृत ही तो है। महावीरने इस तृष्णाका कारण बताया है 'स्वरूपकी मर्यादाका अज्ञान', यदि मनुष्यको यह पता हो कि—'जिनकी मैं चाह करता हूँ, और जिनकी तृष्णा करता हूँ, वे पदार्थ मेरे नही है, मैं तो एक चिन्मात्र हूँ' तो उसे अनुचित तृष्णा ही उत्पन्न न होगी। साराश यह कि दुःखका कारण तृष्णा है, और तृष्णाकी उद्भूति स्वाधिकार एव स्वरूपके अज्ञान या मिथ्याज्ञानके कारण होती है, परपदार्थोंको अपना माननेके कारण होती है। अत उसका उच्छेद भी स्वस्वरूपके सम्यग्ज्ञान यानी स्वपर-विवेकसे ही हो सकता है। इस मानवने अपने स्वरूप और अधिकारकी सीमाको न जानकर सदा मिथ्याज्ञान किया है और परपदार्थोंके निमित्तसे जगत्में अनेक कल्पित ऊँच-नीच भावोकी सृष्टि कर मिथ्या अहकारका पोषण किया है। शरीरा-

श्रित या जीविकाश्रित ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्णोको लेकर ऊँच-नीच व्यवहारकी भेदक भित्ति खडी कर, मानवको मानवसे इतना जुदा कर दिया, जो एक उच्चाभिमानी मासपिण्ड दूसरेकी छायासे या दूसरेको छूनेसे अपनेको अपवित्र मानने लगा। बाह्य परपदार्थोके सग्रही और परिग्रहीको महत्त्व देकर इसने तृष्णाकी पूजा की। जगत्में जितने सघर्ष और हिंसाएँ हुई है वे सब परपदार्थोकी छीना-झपटीके कारण हुई हैं। अत जब तक मुमुक्षु अपने वास्तविक स्वरूपको तथा तृष्णाके मूल कारण 'परमे आत्मबुद्धि'को नही समझ लेता तब तक दु ख-निवृत्तिकी समुचित भूमिका ही तैयार नही हो सकती।

बुद्धने सक्षेपमे पाँच स्कन्धोको दु.ख कहा हैं। पर महावीरने उसके भीतरी तत्त्वज्ञानको भी बताया। चूंकि ये स्कन्ध आत्मस्वरूप नही है, अत इनका ससर्ग ही अनेक रागादिभावोका सर्जक है और दु खस्वरूप है। निराकुल सुखका उपाय आत्ममात्रनिष्ठा और परपदार्थोसे ममत्वका हटाना ही है। इसके लिए आत्माकी यथार्थ दृष्टि ही आवश्यक है। आत्मदर्शनका यह रूप परपदार्थोमे द्वेष करना नही सिखाता, किन्तु यह बताता ह कि इनमे जो तुम्हारी यह तृष्णा फैल रही है, वह अनधिकार चेष्टा है। वास्तविक अधिकार तो तुम्हारा मात्र अपने विचार अपने व्यवहारपर ही हैं। अत आत्माके वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान हुए विना दु खनिवृत्ति या मुक्तिकी सम्भावना ही नही की जा सकती।

नैरात्म्यवादकी असारता :

अत आ० धर्मकीर्तिकी यह आशका भी निर्मूल है कि—

"आत्मनि सति परसज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयो सम्प्रतिवद्धा· सर्वे दोषा: प्रजायन्ते ॥"

—प्रमाणवा० १।२२१।

अर्थात्—आत्माको 'स्व' माननेसे दूसरोको 'पर' मानना होगा। स्व और पर विभाग होते ही स्वका परिग्रह और परसे द्वेष होगा। परिग्रह और द्वेष होनेसे रागद्वेषमूलक सैकडो अन्य दोष उत्पन्न होते हैं।

यहाँ तक तो ठीक है कि कोई व्यक्ति आत्माको स्व माननेसे आत्मेतरको पर मानेगा। पर स्वपरविभागसे परिग्रह और द्वेष कैसे होगे? आत्मस्वरूपका परिग्रह कैसा? परिग्रह तो शरीर आदि परपदार्थोका और उसके सुखसाधनोका होता है, जिन्हे आत्मदर्शी व्यक्ति छोडेगा ही, ग्रहण नही करेगा। उसे तो जैसे स्त्री आदि सुख-साधन 'पर' है वैसे शरीर भी। राग और द्वेष भी शरीरादिके सुख-साधनो

और असाधनोंमें होते हैं, वो आत्मदर्शीको क्यों होंगे ? उलटे आत्मद्रष्टा शरीरादि-निमित्तक रागद्वेष आदि द्वन्द्वोंके त्यागका ही स्थिर प्रयत्न करेगा। हां, जिसने शरीरस्कन्धको ही आत्मा माना है उसे अवश्य आत्मदर्शनसे शरीरदर्शन प्राप्त होगा और शरीरके इष्टानिष्टनिमित्तक पदार्थोंमें परिग्रह और द्वेष हो सकते हैं, किन्तु जो शरीरको भी 'पर' ही मान रहा है तथा दुःखका कारण समझ रहा है वह क्यों उसमें तथा उसके इष्टानिष्ट साधनोंमें रागद्वेष करेगा ? अतः शरीरादिसे भिन्न आत्मस्वरूपका परिज्ञान ही रागद्वेषकी जड़को काट सकता है और वीतरागताको प्राप्त करा सकता है। अतः धर्मकीर्तिका आत्मदर्शनकी बुराइयोंका यह वर्णन भी नितान्त भ्रमपूर्ण है—

> "यः पश्यत्यात्मानं तत्रास्याहमिति शाश्वतः स्नेहः।
> स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते॥
> गुणदर्शी परितृष्यन् ममेति तत्साधनान्युपादत्ते।
> तेनात्माभिनिवेशो यावत् तावत् स संसारे॥"
>
> —प्रमाणवार्तिक १।२१९-२०।

अर्थात्—जो आत्माको देखता है, उसे यह मेरा आत्मा है ऐसा नित्य स्नेह होता है। स्नेहसे आत्मसुखमें तृष्णा होती है। तृष्णासे आत्माके अन्य दोषोंपर दृष्टि नहीं जाती, गुण-ही-गुण दिखाई देते हैं। आत्मसुखमें गुण देखनेसे उसके साधनोंमें ममकार उत्पन्न होता है, उन्हें वह ग्रहण करता है। इस तरह जब तक आत्माका अभिनिवेश है तब तक संसार ही है।

क्योंकि आत्मदर्शी व्यक्ति जहाँ अपने आत्मस्वरूपको उपादेय समझता है वहाँ यह भी समझता है कि शरीरादि परपदार्थ आत्माके हितकारक नहीं हैं। इनमें रागद्वेष करना ही आत्माको बंधमें डालनेवाला है। आत्माके स्वरूपभूत सुखके लिए किसी अन्य साधनके ग्रहणकी आवश्यकता नहीं है किन्तु जिन शरीरादि परपदार्थोंमें मिथ्याबुद्धिकर रखी है उस मिथ्याबुद्धिका ही छोड़ना और आत्मगुणका दर्शन, आत्ममात्रमें लीनताका कारण होगा न कि बन्धनकारक परपदार्थोंके ग्रहणका। शरीरादि परपदार्थोंमें होनेवाला आत्माभिनिवेश अवश्य रागादिका वर्द्धक होता है, किन्तु शरीरादिसे भिन्न आत्म-तत्त्वका दर्शन शरीरादिमें रागादि क्यों उत्पन्न करेगा ?

पञ्चस्कन्ध रूप आत्मा नहीं :

यह तो धर्मकीर्ति तथा उनके अनुयायियोंका आत्मतत्त्वके अव्याकृत होनेका कारण दृष्टिव्यामोह ही है; जो वे उसका मात्र शरीरस्कन्ध ही स्वरूप मान रहे हैं

और आत्मदृष्टिको मिथ्यादृष्टि कह रहे हैं। एक ओर वे पृथिव्यादि महाभूतोंसे आत्माकी उत्पत्तिका खण्डन भी करते हैं और दूसरी ओर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे भिन्न किसी आत्माको मानना भी नहीं चाहते। इनमें वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान ये चार स्कन्ध चेतनात्मक हो सकते हैं पर, रूपस्कन्धको चेतन कहना चार्वाकके भूतात्मवादसे कोई विशेषता नहीं रखता है। जब बुद्ध स्वयं आत्माको अव्याकृत कोटिमें डाल गए हैं तो उनके शिष्योंका दार्शनिक क्षेत्रमें भी आत्माके विषयमें परस्परविरोधी दो विचारोंमें दोलित रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। आज महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन बुद्धके इन विचारोंको 'अभौतिक अनात्मवाद जैसे उभय प्रतिषेधक' नामसे पुकारते हैं। वे यह नहीं बता सकते कि आखिर आत्माका स्वरूप है क्या ? क्या वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान स्कन्ध भी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत् हैं ? क्या आत्माकी रूपस्कन्धकी तरह स्वतंत्र सत्ता है ? और यदि निर्वाणमें चित्तसंतति निरुद्ध हो जाती है तो चार्वाकके एक जन्म तक सीमित देहात्मवादसे इस अनेकजन्म-सीमित पर निर्वाणमें विनष्ट होनेवाले अभौतिक अनात्मवादमें क्या मौलिक विशेषता रह जाती है ? अन्तमें तो उसका निरोध हो ही जाता है।

महावीर इस असंगतिके जालमें न तो स्वयं पड़े और न शिष्योंको ही उनने इसमें डाला। यही कारण है जो उन्होंने आत्माका समग्रभावसे निरूपण किया है और उसे स्वतन्त्र द्रव्य माना है।

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि धर्मका लक्षण है स्वभावमें स्थिर होना। आत्माका अपने शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होना ही धर्म है और इसकी निर्मल और निश्चल शुद्ध परिणति ही मोक्ष है। यह मोक्ष आत्मतत्त्वकी जिज्ञासाके बिना हो ही नहीं सकता। परतंत्रताके बन्धनको तोड़ना स्वातंत्र्य सुखके लिए होता है। कोई वैद्य रोगीसे यह कहे कि 'तुम्हें इससे क्या मतलब कि आगे क्या होगा, दवा खाये जाओ, तो रोगी तत्काल वैद्य पर विश्वास करके दवा भले ही खाता जाय, परन्तु आयुर्वेदकी कक्षामें विद्यार्थियोंकी जिज्ञासाका समाधान इतने मात्रसे नहीं किया जा सकता। रोगकी पहचान भी स्वास्थ्यके स्वरूपको जाने बिना नहीं हो सकती। जिन जन्मरोगियोंको स्वास्थ्यके स्वरूपकी झाँकी ही नहीं मिली वे तो उस रोगको रोग ही नहीं मानते और न उसकी निवृत्तिकी चेष्टा ही करते हैं। अतः हर तरह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वका समग्र ज्ञान आवश्यक है।

आत्माके तीन प्रकार :

आत्मा तीन प्रकारके हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। जो शरीर आदि परपदार्थोंको अपना रूप मानकर उनकी ही प्रियभोगसामग्रीमें आसक्त हैं वे

वहिर्मुख जीव वहिरात्मा हैं। जिन्हे स्वपरविवेक या भेदविज्ञान उत्पन्न हो गया है, जिनकी शरीर आदि वाह्यपदार्थोंसे आत्मदृष्टि हट गई है वे सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा है। जो समस्त कर्ममल-कलंकोसे रहित होकर शुद्ध चिन्मात्र स्वरूपमे मग्न हैं वे परमात्मा हैं। यही संसारी आत्मा अपने स्वरूपका यथार्थ परिज्ञानकर अन्तर्दृष्टि हो क्रमश. परमात्मा वन जाता है। अत आत्मधर्मकी प्राप्ति या वन्धन-मुक्तिके लिये आत्मतत्त्वका परिज्ञान नितान्त आवश्यक है।

चारित्रका आधार :

चारित्र अर्थात् अहिंसाकी साधनाका मुख्य आधार जीवतत्त्वके स्वरूप और उसके समान अधिकारकी मर्यादाका तत्त्वज्ञान ही वन सकता है। जव हम यह जानते और मानते है कि जगत्में वर्तमान सभी आत्माएँ अखड और मूलतः एक-एक स्वतन्त्र समानशक्तिवाले द्रव्य हैं। जिस प्रकार हमें अपनी हिंसा रुचिकर नही है, हम उससे विकल होते है और अपने जीवनको प्रिय समझते हैं, सुख चाहते है, दु खसे घवडाते है उसी तरह अन्य आत्माएँ भी यही चाहती हैं। यही हमारी आत्मा अनादिकालसे सूक्ष्म निगोद, वृक्ष, वनस्पति, कीडा, मकोडा, पशु, पक्षी आदि अनेक शरीरोको धारण करती रही है और न जाने इसे कौन-कौन शरीर धारण करना पडेंगे। मनुष्योमें जिन्हे हम नीच, अछूत आदि कहकर दुरदुराते है और अपनी स्वार्थपूर्ण सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाओ और वन्धनो-से उन समानाधिकारी मनुष्योके अधिकारोका निर्दलन करके उनके विकासको रोकते हैं, उन नीच और अछूतोमे भी हम उत्पन्न हुए होगे। आज मनमे दूसरोके प्रति उन्ही कुत्सित भावोको जाग्रत करके उस परिस्थितिका निर्माण अवश्य ही कर रहे है जिससे हमारी उन्हीमें उत्पन्न होनेकी अधिक सम्भावना है। उन सूक्ष्म निगोदसे लेकर मणुष्योतकके हमारे सीधे सम्पर्कमें आनेवाले प्राणियोके मूलभूत स्वरूप और अधिकारको समझे विना हम उनपर करुणा, दया आदिके भाव ही नही ला सकते, और न समानाधिकारमूलक परम अहिंसाके भाव ही जाग्रत कर सकते हैं। चित्तमें जव उन समस्त प्राणियोमें आत्मौपम्यकी पुण्य भावना लहर मारती है तभी हमारा प्रत्येक उच्छ्वास उनकी मंगलकामनासे भरा हुआ निकलता है और इस पवित्र धर्मको नही समझनेवाले संघर्षशील हिंसकोके शोषण और निर्दलनसे पिसती हुई आत्माके उद्धारकी छटपटाहट उत्पन्न हो सकती है। इस तत्त्वज्ञानकी सुवाससे ही हमारी परिणति परपदार्थोके संग्रह और परिग्रहकी दुष्प्रवृत्तिसे हटकर लोककल्याण और जीवसेवाकी ओर झुकती है। अत अहिंसाकी सर्वभूतमैत्रीकी उत्कृष्ट साधनाके लिए सर्वभूतोके स्वरूप और अधिकारका ज्ञान तो पहले चाहिये ही। न केवल ज्ञान ही, किन्तु चाहिये उसके प्रति दृढ निष्ठा।

इसी सर्वात्मसमत्वकी मूलज्योति महावीर बननेवाले क्षत्रियराजकुमार वर्धमानके मनमे जगी थी और तभी वे प्राप्तराजविभूतिको वन्धन मानकर वाहर-भीतरकी सभी गांठे खोलकर परमनिर्ग्रन्थ बने और जगत्में मानवताको वर्णभेदकी चक्कीमें पीसनेवाले तथोक्त उच्चाभिमानियोको झकझोरकर एक वार रुककर सोचनेका शीतल वातावरण उपस्थित कर सके। उनने अपने त्याग और तपस्याके साधक जीवनसे महत्ताका मापदण्ड ही वदल दिया और उन समस्त त्रासित शोषित अभिद्रावित और पीडित मनुष्यतनधारियोको आत्मवत् समझ धर्मके क्षेत्रमें समानरूपसे अवसर देनेवाले समवसरणकी रचना की। तात्पर्य यह कि अहिंसाकी विविध प्रकारकी साधनाओके लिए आत्माके स्वरूप और उसके मूल अधिकार-मर्यादाका 'ज्ञान उतना ही आवश्यक है जितना कि परपदार्थोंसे विवेक प्राप्त करनेके लिए 'पर' पुद्गलका ज्ञान। विना इन दोनोका वास्तविक ज्ञान हुए सम्यग्दर्शनकी वह अमरज्योति नही जल सकती, जिसके प्रकाशमे मानवता मुसकुराती है और सर्वात्मसमताका उदय होता है।

इस आत्मसमानाधिकारका ज्ञान और उसको जीवनमें उतारनेकी दृढनिष्ठा ही सर्वोदयकी भूमिका हो सकती है। अत वैयक्तिक दु खकी निवृत्ति तथा जगत्मे शान्ति स्थापित करनेके लिए जिन व्यक्तियोसे यह जगत् वना है उन व्यक्तियोके स्वरूप और अधिकारकी सीमाको हमे समझना ही होगा। हम उसकी तरफसे आँख मूंदकर तात्कालिक करुणा या दयाके आँसू वहा भी लें, पर उसका स्थायी इलाज नही कर सकते। अत भगवान् महावीरने वन्धनमुक्तिके लिये जो 'वधा है तथा जिससे वंधा है' इन दोनो तत्त्वोका परिज्ञान आवश्यक वताया। बिना इसके वन्धपरम्पराके समूलोच्छेद करनेका सङ्कल्प ही नही हो सकता और न चारित्रके प्रति उत्साह ही हो सकता है। चारित्रकी प्रेरणा तो विचारोसे ही मिलती है।

२. अजीवतत्त्व :

जिस प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान आवश्यक है, उसी प्रकार जिस अजीवके सम्बन्धसे आत्मा विकृत होता है, उसमें विभावपरिणति होती है उस अजीवतत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है। जब तक हम इस अजीवतत्त्वको नही जानेंगे तब तक 'किन दोमे वन्ध हुआ है' यह मूल वात ही अज्ञात रह जाती है। अजीवतत्त्वमें धर्म, अधर्म, आकाश और कालका भले ही सामान्यज्ञान हो, क्योकि इनसे आत्माका कोई भला वुरा नही होता, परन्तु पुद्गल द्रव्यका किंचित् विशेषज्ञान अपेक्षित है। शरीर, मन, इन्द्रियाँ, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि सब पुद्गलका ही है। जिसमे शरीर तो चेतनके ससर्गसे चेतनायमान हो रहा है। जगत्में रूप,

रस, गन्ध और स्पर्शवाले यावत् पदार्थ पौद्गलिक है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि सभी पौद्गलिक हैं। इनमे किसीमें कोई गुण प्रकट रहता है और कोई अनुद्भूत। यद्यपि अग्निमें रस, वायुमें रूप और जलमे गन्ध अनुद्भूत है फिर भी ये सब पुद्गलजातीय ही पदार्थ है। शब्द, प्रकाश, छाया, अन्धकार, सर्दी, गर्मी सभी पुद्गल स्कन्धोकी अवस्थाएँ हैं। मुमुक्षुके लिए शरीरकी पौद्गलिकताका ज्ञान तो इसलिए अत्यन्त जरूरी है कि उसके जीवनकी आसक्तिका मुख्य केन्द्र वही है। यद्यपि आज आत्माका ९९ प्रतिशत विकास और प्रकाश शरीराधीन है, शरीरके पुर्जोके बिगडते ही वर्तमान ज्ञान-विकास रुक जाता है और शरीरके नाश होनेपर वर्तमान शक्तियाँ प्राय समाप्त हो जाती है, फिर भी आत्माका अपना स्वतंत्र अस्तित्व तेल-बत्तीसे भिन्न ज्योतिकी तरह है ही। शरीरका अणु-अणु जिसकी शक्तिसे सचालित और चेतनायमान हो रहा है वह अन्त ज्योति दूसरी ही है। यह आत्मा अपने सूक्ष्म कार्मणशरीरके अनुसार वर्तमान स्थूल शरीरके नष्ट हो जानेपर दूसरे स्थूल शरीरको धारणा करता है। आज तो आत्माके सात्त्विक, राजस और तामस सभी प्रकारके विचार और संस्कार कार्मणशरीर और प्राप्त स्थूल शरीरके अनुसार ही विकसित हो रहे है। अत मुमुक्षुके लिए इस शरीर—पुद्गलकी प्रकृतिका परिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है, जिससे वह इसका उपयोग आत्माके विकासमें कर सके, ह्रासमे नही। यदि आहार-विहार उत्तेजक होता है तो कितना ही पवित्र विचार करनेका प्रयास किया जाय, पर सफलता नही मिल सकती। इसलिये बुरे संस्कार और विचारोका शमन करनेके लिए या क्षीण करनेके लिए उनके प्रबल निमित्तभूत शरीरकी स्थिति आदिका परिज्ञान करना ही होगा। जिन परपदार्थोसे आत्माको विरक्त होना है और जिन्हें 'पर' समझकर उनकी छीना-झपटीकी द्वन्द्वदशासे ऊपर उठना है और उनके परिग्रह और सग्रहमे ही जीननका बहुभाग नही नष्ट करना है तो उस परको 'पर' समझना ही होगा।

३. बन्धतत्त्व :

दो पदार्थोके विशिष्ट सम्बन्धको बन्ध कहते हैं। बन्ध दो प्रकारका है—एक भावबन्ध और दूसरा द्रव्यबन्ध। जिन राग-द्वेष और मोह आदि विकारी भावोसे कर्मका बन्धन होता है उन भावोको भावबन्ध कहते है। कर्मपुद्गलोका आत्मप्रदेशोसे सम्बन्ध होना द्रव्यबन्ध कहलाता है। द्रव्यबन्ध आत्मा और पुद्गलका सम्बन्ध है। यह तो निश्चित है कि दो द्रव्योका संयोग ही हो सकता है, तादात्म्य अर्थात् एकत्व नही। दो मिलकर एक दिखें, पर एककी सत्ता मिटकर एक शेष

नही रह सकता। जब पुद्गलाणु परस्परमें बन्धको प्राप्त होते हैं तो भी वे एक विशेष प्रकारके सयोगको ही प्राप्त करते हैं। उनमे स्निग्धता और रूक्षताके कारण एक रासायनिक मिश्रण होता है, जिसमे उस स्कन्धके अन्तर्गत सभी परमाणुओकी पर्याय बदलती है और वे ऐसी स्थितिमे आ जाते है कि अमुक समय तक उन सबकी एक जैसी पर्याय होती रहती है। स्कन्ध अपनेमे कोई स्वतन्त्र द्रव्य नही हैं किन्तु वह अमुक परमाणुओकी विशेष अवस्था ही है और अपने आधारभूत परमाणुओके अधीन ही उसकी दशा रहती है। पुद्गलोके बन्धमें यही रासायनिकता है कि उस अवस्थामे उनका स्वतन्त्र विलक्षण परिणमन नही होकर प्राय एक जैसा परिणमन होता है परन्तु आत्मा और कर्मपुद्गलोका ऐसा रासायनिक मिश्रण हो ही नही सकता। यह बात जुदा है कि कर्मस्कन्धके आ जानेसे आत्माके परिणमनमे विलक्षणता आ जाती है और आत्माके निमित्तसे कर्मस्कन्धकी परिणति विलक्षण हो जाती है, पर इतने मात्रसे इन दोनोके सम्बन्धको रासायनिकमिश्रण सज्ञा नही दी जा सकती, क्योकि जीव और कर्मके बन्धमें दोनोकी एक जैसी पर्याय नही होती। जीवकी पर्याय चेतनरूप होती है और पुद्गलकी अचेतनरूप। पुद्गलका परिणमन रूप, रस, गन्ध और स्पर्शादिरूपसे होता है और जीवका चैतन्यके विकासरूपसे।

चार बन्ध :

यह वास्तविक स्थिति है कि नूतन कर्मपुद्गलोका पुराने बधे हुए कर्मशरीरके साथ रासायनिक मिश्रण हो जाय और वह नूतन कर्म उस पुराने कर्मपुद्गलके साथ बँधकर उसी स्कन्धमें शामिल हो जाय और होता भी यही है। पुराने कर्मशरीरसे प्रतिक्षण अमुक परमाणु खिरते हैं और उसमें कुछ दूसरे नये शामिल होते है। परन्तु आत्मप्रदेशोसे उनका बन्ध रासायनिक हर्गिज नही है। वह तो मात्र सयोग है। यही प्रदेशबन्ध कहलाता है। प्रदेशबन्धकी व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र (८।२४) में इस प्रकारकी है—"नामप्रत्ययाः सर्वतो योगविशेषात् सूक्ष्मैकक्षेत्रावगाहस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्तप्रदेशा.।" अर्थात् योगके कारण समस्त आत्मप्रदेशोपर सभी ओरसे सूक्ष्म कर्मपुद्गल आकर एकक्षेत्रावगाही हो जाते हैं—जिस क्षेत्रमें आत्मप्रदेश है उसी क्षेत्रमें वे पुद्गल ठहर जाते है। इसीका नाम प्रदेशबन्ध है और द्रव्यबन्ध भी यही है। अत आत्मा और कर्मशरीरका एकक्षेत्रावगाहके सिवाय अन्य कोई रासायनिक मिश्रण नही हो सकता। रासायनिक मिश्रण यदि होता है तो प्राचीन कर्मपुद्गलोसे ही नवीन कर्मपुद्गलोका, आत्मप्रदेशोसे नही।

जीवके रागादिभावोसे जो योग अर्थात् आत्मप्रदेशोमे हलन-चलन होता है उससे कर्मके योग्य पुद्गल खिचते है। वे स्थूल शरीरके भीतरसे भी खिचते है और वाहरसे भी। इस योगसे उन कर्मवर्गणाओंमें प्रकृति अर्थात् स्वभाव पडता है। यदि वे कर्मपुद्गल किसीके ज्ञानमे वाधा डालनेवाली क्रियासे खिचे है तो उनमें ज्ञानके आवरण करनेका स्वभाव पडेगा और यदि रागादि कषायोसे खिचे है, तो चरित्रके नष्ट करनेका। तात्पर्य यह कि आए हुए कर्मपुद्गलोको आत्मप्रदेशोसे एकक्षेत्रावगाही कर देना तथा उनमे ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि स्वभावोका पड जाना योगसे होता है। इन्हें प्रदेशवन्ध और प्रकृतिवन्ध कहते हैं। कषायोकी तीव्रता और मन्दताके अनुसार उस कर्मपुद्गलमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति पडती है, यह स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध कहलाता है। ये दोनो वन्ध कषायसे होते है। केवली अर्थात् जीवन्मुक्त व्यक्तिको रागादि कषाय नही होती, अत उनके योगके द्वारा जो कर्मपुद्गल आते है वे द्वितीय समयमें झड जाते है। उनका स्थितिवन्ध और अनुभागवन्ध नही होता। यह वन्धचक्र, जबतक राग, द्वेष, मोह और वासनाएँ आदि विभाव भाव है, तब तक बराबर चलता रहता है।

३. आस्रव-तत्त्व :

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच वन्धके कारण है। इन्हें आस्रव-प्रत्यय भी कहते हैं। जिन भावोसे कर्मोका आस्रव होता है उन्हें भावास्रव कहते है और कर्मद्रव्यका आना द्रव्यास्रव कहलाता है। पुद्गलोमें कर्मत्वपर्यायका विकास होना भी द्रव्यास्रव कहा जाता है। आत्मप्रदेशो तक उनका आना भी द्रव्यास्रव है। यद्यपि इन्ही मिथ्यात्व आदि भावोको भाववन्ध कहा है, परन्तु प्रथमक्षणभावी ये भाव चूँकि कर्मोको खीचनेकी साक्षात् कारणभूत योगक्रियामे निमित्त होते हैं अत. भावास्रव कहे जाते है और अग्रिमक्षणभावी भाव भाववन्ध। भावास्रव जैसा तीव्र, मन्द और मध्यम होता है, तज्जन्य आत्म-प्रदेशोका परिस्पन्द अर्थात् योग क्रियासे कर्म भी वैसे ही आते है और आत्मप्रदेशो-से बंधते है।

मिथ्यात्व :

इन आस्रवोमे मुख्य अनन्तकर्मवन्धक है मिथ्यात्व अर्थात् मिथ्यादृष्टि। यह जीव अपने आत्मस्वरूपको भूलकर शरीरादि परद्रव्यमें आत्मबुद्धि करता है। इसके समस्त विचार और क्रियाएँ शरीराश्रित व्यवहारोमें उलझी रहती है। लौकिक यश, लाभ आदिकी दृष्टिसे यह धर्मका आचरण करता है। इसे स्वपरविवेक नही रहता।

पदार्थोके स्वरूपमें भ्रान्ति वनी रहती है। तात्पर्य यह कि कल्याणमार्गमें इसकी सम्यक् श्रद्धा नही होती। यह मिथ्यात्व सहज और गृहीत दो प्रकारका होता है। इन दोनो मिथ्यादृष्टियोसे इसे तत्त्वरुचि जागृत नही होती। यह अनेक प्रकारकी देव, गुरु तथा लोकमूढताओको धर्म मानता है। अनेक प्रकारके ऊँच-नीच भेदो-की सृष्टि करके मिथ्या अहकारका पोपण करता है। जिस किसी देवको, जिस किसी भी वेपधारी गुरुको, जिस किसी भी शास्त्रको भय, आशा, स्नेह और लोभ-से माननेको तैयार हो जाता है। न उसका अपना कोई सिद्धान्त होता है और न व्यवहार। थोडेसे प्रलोभनसे वह सभी अनर्थ करनेको प्रस्तुत हो जाता है। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप और शरीरके मदसे मत्त होता है और दूसरो-को तुच्छ समझ उनका तिरस्कार करता है। भय, स्वार्थ, घृणा, परनिन्दा आदि दुर्गुणोका केन्द्र होता है। इसकी समस्त प्रवृत्तियोके मूलमे एक ही कुटेव रहती है और वह है स्वरूपविभ्रम। उसे आत्मस्वरूपका कोई श्रद्धान नही होता, अत वह वाह्यपदार्थोमें लुभाया रहता है। यही मिथ्यादृष्टि समस्त दोपोकी जननी है, इसीसे अनन्त संसारका वन्ध होता है।

अविरति :

सदाचार या चारित्र धारण करनेकी ओर रुचि या प्रवृत्ति नही होना अविरति है। मनुष्य कदाचित् चाहे भी, पर कपायोका ऐसा तीव्र उदय होता है जिससे न तो वह सकलचारित्र धारण कर पाता है और न देशचारित्र ही।

क्रोधादि कपायोके चार भेद चारित्रको रोकनेकी शक्तिकी अपेक्षासे भी होते है—

१. अनन्तानुवन्धी—अनन्त संसारका वन्ध करानेवाली, स्वरूपाचरण चारित्र न होने देनेवाली, पत्थरकी रेखाके समान कपाय। यह मिथ्यात्वके साथ रहती है।
२ अप्रत्याख्यानावरण—देशचारित्र अर्थात् श्रावकके अणुव्रतोको रोकनेवाली, मिट्टीकी रेखाके समान कपाय।
३ प्रत्याख्यानावरण—सकलचारित्रको न होने देनेवाली, धूलिकी रेखाके समान कपाय।
४. सज्वलन कपाय—पूर्ण चारित्रमें किंचित् दोप उत्पन्न करनेवाली, जलरेखाके समान कपाय। इसके उदयसे यथाख्यातचारित्र नही हो पाता।

इस तरह इन्द्रियोके विपयोमे तथा प्राणिविषयक असयममें निरर्गल प्रवृत्ति होनेसे कर्मोका आस्रव होता है।

प्रमाद :

असावधानीको प्रमाद कहते हैं। कुशल कर्मोंमें अनादर होना प्रमाद है। पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें लीन होनेके कारण, राजकथा, चोरकथा, स्त्रीकथा और भोजन-कथा आदि विकथाओंमें रस लेनेके कारण, क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायोंसे कलुषित होनेके कारण, तथा निद्रा और प्रणयमें मग्न होनेके कारण कुशल कर्त्तव्य मार्गमें अनादरका भाव उत्पन्न होता है। इस असावधानीसे कुशलकर्मके प्रति अनास्था तो होती ही है साथ-ही-साथ हिंसाकी भूमिका भी तैयार होने लगती है। हिंसाके मुख्य हेतुओंमें प्रमादका प्रमुख स्थान है। दूसरे प्राणीका घात हो या न हो, प्रमादी व्यक्तिको हिंसाका दोष सुनिश्चित है। प्रयत्नपूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले अप्रमत्त साधकके द्वारा बाह्य हिंसा होनेपर भी वह अहिंसक ही है। अत. प्रमाद हिंसाका मुख्य द्वार है। इसीलिए भगवान् महावीरने बार-बार गौतम गणधरको चेताया था कि "समयं गोयम मा पमायए" अर्थात् गौतम, क्षणभर भी प्रमाद कर।

कषाय :

आत्माका स्वरूप स्वभावत शान्त और निर्विकारी है। पर क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषायें उसे कस देती हैं और स्वरूपसे च्युत कर देती हैं। ये चारो आत्माकी विभाव दशाएँ हैं। क्रोध कषाय द्वेषरूप है। यह द्वेषका कारण और द्वेषका कार्य है। मान यदि क्रोधको उत्पन्न करता है तो द्वेषरूप है। लोभ रागरूप है। माया यदि लोभको जागृत करती है तो रागरूप है। तात्पर्य यह कि राग, द्वेष और मोहकी दोष-त्रिपुटीमें कषायका भाग ही मुख्य है। मोहनी मिथ्यात्वके दूर हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको राग और द्वेष बने रहते हैं। इनमें लोभ कषाय तो पद, प्रतिष्ठा, यशकी लिप्सा और संघवृद्धि आदिके रूपमें बड़े-बड़े मुनियोंको भी स्वरूपस्थित नहीं होने देती। यह राग-द्वेषरूप द्वन्द्व ही समस्त अनर्थोंका मूल है। यही प्रमुख आस्रव है। न्यायसूत्र, गीता और पाली पिटकोंमें भी इस द्वन्द्वको पापका मूल बताया है। जैनागमोंका प्रत्येक वाक्य कषाय-शमनका ही उपदेश देता है। जैन उपासनाका आदर्श परम निर्ग्रन्थ दशा है। यही कारण है कि जैन मूर्तियाँ वीतरागता और अकिञ्चनताकी प्रतीक होती हैं। न उनमें द्वेषका साधन आयुध है और न रागका आधार स्त्री आदिका साहचर्य ही। वे सर्वथा निर्विकार होकर परमवीतरागता और अकिञ्चनताका पावन संदेश देती हैं।

इन कषायोंके सिवाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद ये नव नोकषायें हैं। इनके कारण भी आत्मामें विकार-परिणति उत्पन्न होती है। अत वे भी आस्रव हैं।

योग :

मन, वचन और कायके निमित्तसे आत्माके प्रदेशोंमें जो परिस्पन्द अर्थात् क्रिया होती है उसे 'योग' कहते है। योगकी साधारण प्रसिद्धि योगभाष्य आदिमे यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधरूप ध्यानके अर्थमें है, परन्तु जैन परम्परामें चूंकि मन, वचन और कायसे होनेवाली आत्माकी क्रिया कर्मपरमाणुओसे आत्माका योग अर्थात् सम्बन्ध कराती है, इसलिए इसे ही योग कहते है और इसके निरोधको ध्यान कहते है। आत्मा सक्रिय है, उसके प्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है। मन, वचन और कायके निमित्तसे सदा उसमें क्रिया होती रहती है। यह क्रिया जीवन्मुक्तके बराबर होती है। परममुक्तिसे कुछ समय पहले अयोगकेवली अवस्थामें मन, वचन और कायकी क्रियाका निरोध होता है, और तब आत्मा निर्मल और निश्चल बन जाता है। सिद्ध अवस्थामें आत्माके पूर्ण शुद्ध रूपका आविर्भाव होता है। न तो उसमें कर्मजन्य मलिनता ही रहती है और न योगकी चंचलता ही। सच पूछा जाय तो योग ही आस्रव है। इसीके द्वारा कर्मोंका आगमन होता है। शुभ योग पुण्यकर्मका आस्रव कराता है और अशुभयोग पापकर्मका। सबका शुभ चिन्तन यानी अहिंसक विचारधारा शुभ मनोयोग है। हित, मित, प्रिय वचन बोलना शुभ वचनयोग है और परको बाधा न देनेवाली यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति शुभकाय योग है। और इनसे विपरीत चिन्तन, वचन तथा काय-प्रवृत्ति अशुभ मन-वचन-काययोग है।

दो आस्रव :

सामान्यतया आस्रव दो प्रकारका होता है। एक तो कषायानुरंजित योगसे होनेवाला साम्परायिक आस्रव—जो बन्धका हेतु होकर ससारकी वृद्धि करता है। दूसरा मात्र योगसे होनेवाला ईर्यापथ आस्रव—जो कषायका चेंप न होनेके कारण आगे बन्धन नही कराता। यह आस्रव जीवन्मुक्त महात्माओके जब तक शरीरका सम्बन्ध है, तब तक होता है। इस तरह योग और कषाय, दूसरेके ज्ञानमे बाधा पहुँचाना, दूसरेको कष्ट पहुँचाना, दूसरेकी निन्दा करना आदि जिस-जिस प्रकारके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय आदि क्रियाओमें संलग्न होते है, उस-उस प्रकारसे उन-उन कर्मोंका आस्रव और बन्ध कराते है। जो क्रिया प्रधान होती है उससे उस कर्मका बन्ध विशेषरूपसे होता है, शेष कर्मोंका गौण। परभवमें शरीरादिकी प्राप्तिके लिए आयु कर्मका आस्रव वर्तमान आयुके त्रिभागमें होता है। शेष सात कर्मोंका आस्रव प्रतिसमय होता रहता है।

४ मोक्षतत्त्व :

बन्धन-मुक्तिको मोक्ष कहते हैं। बन्धके कारणोका अभाव होनेपर तथा संचित कर्मोकी निर्जरा होनेसे समस्त कर्मोका समूल उच्छेद होना मोक्ष है। आत्माकी वैभाविकी शक्तिका ससार अवस्थामे विभाव परिणमन होता है। विभाव परिणमनके निमित्त हट जानेसे मोक्ष दशामे उसका स्वाभाविक परिणमन हो जाता है। जो आत्माके गुण विकृत हो रहे थे वे ही स्वाभाविक दशामें आ जाते है। मिथ्यादर्शन सम्यग्दर्शन वन जाता है, अज्ञान ज्ञान वन जाता है और अचारित्र चारित्र। इस दशामे आत्माका सारा नकशा ही वदल जाता है। जो आत्मा अनादि कालसे मिथ्यादर्शन आदि अशुद्धियो और कलुषताओका पुञ्ज वना हुआ था, वही निर्मल, निश्चल और अनन्त चैतन्यमय हो जाता है। उसका आगे सदा शुद्ध परिणमन ही होता है। वह निस्तरग समुद्रकी तरह निर्विकल्प, निश्चल और निर्मल हो जाता है। न तो निर्वाण दशामे आत्माका अभाव होता है और न वह अचेतन ही हो जाता है। जब आत्मा एक स्वतन्त्र मौलिक द्रव्य है, तब उसके अभावकी या उसके गुणोके उच्छेदकी कल्पना ही नही की जा सकती। प्रतिक्षण कितने ही परिवर्तन होते जाँय, पर विश्वके रगमञ्चसे उसका समूल उच्छेद नही हो सकता।

दीपनिर्वाणकी तरह आत्मनिर्वाण नहीं होता :

बुद्धसे जब प्रश्न किया गया कि 'मरनेके वाद तथागत होते है या नही ?' तो उन्होने इस प्रश्नको अव्याकृत कोटिमे डाल दिया था। यही कारण हुआ कि बुद्धके शिष्योने निर्वाणके सम्बन्धमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की। एक निर्वाण वह, जिसमें चित्तसन्तति निरास्रव हो जाती है, यानी चित्तका मैल धुल जाता है। इसे 'सोपधिशेष' निर्वाण कहते हैं। दूसरा निर्वाण वह, जिसमें दीपकके समान चित्तसतति भी वुझ जाती है अर्थात् उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। यह 'निरुपधिशेष' निर्वाण कहलाता है। रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और सस्कार इन पंच स्कन्धरूप आत्मा माननेका यह सहज परिणाम था कि निर्वाण दशामें उसका अस्तित्व न रहे। आश्चर्य है कि वुद्ध निर्वाण और आत्माके परलोकगामित्वका निर्णय वताये विना ही मात्र दु खनिवृत्तिके सर्वाङ्गीण औचित्यका समर्थन करते रहे।

यदि निर्वाणमे चित्तसन्ततिका निरोध हो जाता है, वह दीपककी लौकी तरह वुझ जाती है, तो वुद्ध उच्छेदवादके दोषसे कैसे वच सके ? आत्माके

नास्तित्वसे इनकार तो वे इसी भयसे करते थे कि आत्माको नास्ति माना जाता है तो चार्वाककी तरह उच्छेदवादका प्रसंग आता है। निर्वाण अवस्थामें उच्छेद मानने और मरणके बाद उच्छेद माननेमे तात्त्विक दृष्टिसे कोई अन्तर नही है। बल्कि चार्वाकका सहज उच्छेद सबको सुकर क्या अनायाससाध्य होनेसे सुग्राह्य होगा और बुद्धका निर्वाणोत्तर उच्छेद अनेक प्रकारके ब्रह्मचर्यवास और ध्यान आदिके कष्टसे साध्य होनेके कारण दुर्ग्राह्य होगा। जब चित्तसन्तति भौतिक नही है और उसकी ससार-कालमें प्रतिसधि (परलोकगमन) होती है, तब निर्वाण अवस्थामें उसके समूलोच्छेदका कोई औचित्य समझमें नही आता। अत मोक्ष अवस्थामें उस चित्तसततिकी सत्ता मानना ही चाहिए, जो कि अनादिकालसे आस्रवमलोसे मलिन हो रही थी और जिसे साधनाके द्वारा निरास्रव अवस्थामें पहुँचाया गया है। तत्त्वसग्रहपञ्जिका (पृष्ठ १०४) में आचार्य कमलशीलने ससार और निर्वाणके स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाला यह प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है—

"चित्तमेव हि ससारो रागादिक्लेशवासितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यते ॥"

अर्थात्—रागादि क्लेश और वासनामय चित्तको संसार कहते हैं और जब वही चित्त रागादि क्लेश और वासनाओसे मुक्त हो जाता है, तब उसे भवान्त अर्थात् निर्वाण कहते हैं। इस श्लोकमें प्रतिपादित संसार और मोक्षका स्वरूप ही युक्तिसिद्ध और अनुभवगम्य है। चित्तकी रागादि अवस्था ससार है और उसीकी रागादिरहितता मोक्ष[1] है। अत समस्त कर्मोके क्षयसे होनेवाला स्वरूप-लाभ ही मोक्ष[2] है। आत्माके अभाव या चैतन्यके उच्छेदको मोक्ष नही कह सकते। रोगकी निवृत्तिका नाम आरोग्य है, न कि रोगीकी निवृत्ति या समाप्ति। दूसरे शब्दोंमें स्वास्थ्यलाभको आरोग्य कहते है, न कि रोगके साथ-साथ रोगीकी मृत्यु या समाप्तिको।

निर्वाणमे ज्ञानादि गुणोका सर्वथा उच्छेद नहीं होता :

वैशेषिक बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और सस्कार इन नव विशेषगुणोके उच्छेदको मोक्ष कहते है। उनका मानना है कि इन विशेष-

१. "मुक्तिर्निर्मलता धिय ।"—तत्त्वसग्रह पृष्ठ १८४।
२ "आत्मलाभ विदुर्मोक्ष जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥"
—सिद्धिवि० पृ० ३८४।

गुणोकी उत्पत्ति आत्मा और मनके सयोगसे होती है। मनके सयोगके हट जानेसे ये गुण मोक्ष अवस्थामे उत्पन्न नही होते और आत्मा उस दशामें निर्गुण हो जाता है। जहाँ तक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और सासारिक दु ख-सुखका प्रश्न है, ये सब कर्मजन्य अवस्थाये हैं, अत मुक्तिमें इनकी सत्ता नही रहती। पर बुद्धिका अर्थात् ज्ञानका, जो कि आत्माका निज गुण है, उच्छेद सर्वथा नही माना जा सकता। हाँ, ससार अवस्थामें जो खंडज्ञान मन और इन्द्रियके संयोगसे उत्पन्न होता था, वह अवश्य ही मोक्ष अवस्थामें नही रहता, पर जो इसका स्वरूपभूत चैतन्य है, जो इन्द्रिय और मनसे परे है, उसका उच्छेद किसी भी तरह नही हो सकता। आखिर निर्वाण अवस्थामे जब आत्माकी स्वरूप-स्थिति वैशेषिकको स्वीकृत ही है तब यह स्वरूप यदि कोई हो सकता है तो वह उसका इन्द्रियातीत चैतन्य ही हो सकता है। ससार अवस्थामें यही चैतन्य इन्द्रिय, मन और पदार्थ आदिके निमित्तसे नानाविध विषयाकार बुद्धियोके रूपमें परिणति करता था। इन उपाधियोके हट जानेपर उसका स्वस्वरूपमग्न होना स्वाभाविक ही है। कर्मके क्षयोपशमसे होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञान तथा कर्मजन्य सुखदु खादिका विनाश तो जैन भी मोक्ष अवस्थामे मानते हैं, पर उसके निज चैतन्यका विनाश तो स्वरूपोच्छेदक होनेसे कथमपि स्वीकार नही किया जा सकता।

मिलिन्द-प्रश्नके निर्वाण वर्णनका तात्पर्य :

मिलिन्द-प्रश्नमें निर्वाणका जो वर्णन है उसके निम्नलिखित वाक्य ध्यान देने योग्य है। "तृष्णाके निरोध हो जानेसे उपादानका निरोध हो जाता है, उपादानके निरोधसे भवका निरोध हो जाता है, भवका निरोध होनेसे जन्म लेना बन्द हो जाता है, पुनर्जन्मके बन्द होनेसे बूढा होना, मरना, शोक, रोना, पीटना, दु ख, बेचैनी और परेशानी सभी दु ख रुक जाते हैं। महाराज, इस तरह निरोध हो जाना ही निर्वाण है।" (पृ० ८५)

"निर्वाण न कर्मके कारण, न हेतुके कारण और न ऋतुके कारण उत्पन्न होता है।" (पृ० ३२९)

"हाँ महाराज, निर्वाण निर्गुण है, किसीने इसे बनाया नही है। निर्वाणके साथ उत्पन्न होने और न उत्पन्न होनेका प्रश्न ही नही उठता। उत्पन्न किया जा सकता है अथवा नही, इसका भी प्रश्न नही आता। निर्वाण वर्तमान, भूत और भविष्यत् तीनो कालोके परे है। निर्वाण न आँखसे देखा जा सकता है, न कानसे सुना जा सकता है, न नाकसे सूँघा जा सकता है, न जीभसे चखा जा सकता है और न शरीरसे छुआ जा सकता है। निर्वाण मनसे जाना जा सकता है। अर्हत्

पदको पाकर भिक्षु विशुद्ध, प्रणीत, ऋजु तथा आवरणो और सासारिक कामोसे रहित मनसे निर्वाणको देखता है।" (पृ० ३३२)

"निर्वाणमे सुख ही सुख है, दु खका लेश भी नही रहता" (पृ० ३८६) ·

"महाराज, निर्वाणमें ऐसी कोई भी बात नही है, उपमाएँ दिखा, व्याख्या कर, तर्क और कारणके साथ निर्वाणके रूप, स्थान, काल या डीलडौल नही दिखाये जा सकते।" (पृ० ३८८)

"महाराज, जिस तरह कमल पानीसे सर्वथा अलिप्त रहता है उसी तरह निर्वाण सभी क्लेशोसे अलिप्त रहता है। निर्वाण भी लोगोकी कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णाकी प्यासको दूर कर देता है।" (पृ० ३९१)

"निर्वाण दवाकी तरह क्लेशरूपी विषको शान्त करता है, दु खरूपी रोगोका अन्त करता है और अमृतरूप है। वह महासमुद्रकी तरह अपरम्पार है। वह आकाशकी तरह न पैदा होता है, न पुराना होता है, न मरता है, न आवागमन करता है, दुर्ज्ञेय है, चोरोसे नही चुराया जा सकता, किसी दूसरे पर निर्भर नही रहता, स्वच्छन्द खुला और अनन्त है। वह मणिरत्नकी तरह सारी इच्छाओको पूरा कर देता है, मनोहर है, प्रकाशमान है और वडे कामका होता है। वह लाल चन्दनकी तरह दुर्लभ, निराली गंधवाला और सज्जनो द्वारा प्रशंसित है। वह पहाडकी चोटीकी तरह अत्यन्त ही ऊँचा, अचल, अगम्य, राग-द्वेषरहित और क्लेश बीजोके उपजनेके अयोग्य है। वह जगह न तो पूर्व दिशाकी ओर है, न पश्चिम दिशाकी ओर, न उत्तर दिशाकी ओर, और न दक्षिण दिशाकी ओर, न ऊपर, न नीचे और न टेढे। जहाँ कि निर्वाण छिपा है। निर्वाणके पाये जानेकी कोई जगह नही है, फिर भी निर्वाण है। सच्ची राह पर चल, मनको ठीक ओर लगा निर्वाणका साक्षात्कार किया जा सकता है।" (पृ० ३९२-४०३ तक हिन्दी अनुवादका सार)

इन अवतरणोसे यह मालूम होता है कि बुद्ध निर्वाणका कोई स्थानविशेष नही मानते थे और न किसी कालविशेषमे उत्पन्न या अनुत्पन्नकी चर्चा इसके सम्बन्धमे की जा सकती है। वैसे उसका जो स्वरूप "इन्द्रियातीत सुखमय, जन्म, जरा, मृत्यु आदिके क्लेशोसे शून्य" इत्यादि शब्दोके द्वारा वर्णित होता है, वह शून्य या अभावात्मक निर्वाणका न होकर सुखरूप निर्वाणका है।

निर्वाणको बुद्धने आकाशकी तरह असस्कृत कहा है। असंस्कृतका अर्थ है जिसके उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य न हो। जिसकी उत्पत्ति या अनुत्पत्ति आदिका कोई विवेचन नही हो सकता हो, वह असस्कृत पदार्थ है। माध्यमिक कारिकाकी

संस्कृत-परीक्षामें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यको संस्कृतका लक्षण बताया है। सो यदि यह असंस्कृतता निर्वाणके स्थानके सम्बन्धमें है तो उचित ही है, क्योंकि यदि निर्वाण किसी स्थानविशेषपर है, तो वह जगत्की तरह सन्ततिकी दृष्टिसे अनादि अनन्त ही होगा, उसके उत्पाद-अनुत्पादकी चर्चा ही व्यर्थ है। किन्तु उसका स्वरूप जन्म, जरा, मृत्यु आदि समस्त क्लेशोसे रहित सुखमय ही हो सकता है।

अश्वघोषने सौन्दरनन्दमें (१६ । २८, २९) निर्वाण प्राप्त आत्माके सम्बन्धमें जो यह लिखा है[1] कि तेलके चुक जाने पर दीपक जिस तरह न किसी दिशाको, न किसी विदिशाको, न आकाशको और न पृथ्वीको जाता है किन्तु केवल बुझ जाता है, उसी तरह कृती क्लेशोंका क्षय होने पर किसी दिशा-विदिशा, आकाश या पातालको नहीं जाकर शान्त हो जाता है। यह वर्णन निर्वाणके स्थानविशेषकी तरफ ही लगता है, न कि स्वरूपकी तरफ। जिस तरह संसारी आत्माका नाम, रूप और आकारादि बताया जा सकता है, उस तरह निर्वाण अवस्थाको प्राप्त व्यक्तिका स्वरूप नहीं समझाया जा सकता।

वस्तुत बुद्धने आत्माके स्वरूपके प्रश्नको ही जब अव्याकृत करार दिया, तब उसकी अवस्थाविशेष—निर्वाणके सम्बन्धमें विवाद होना स्वाभाविक ही था। भगवान् महावीरने मोक्षके स्वरूप और स्थान दोनोके सम्बन्धमे सयुक्तिक विवेचन किया है। समस्त कर्मोंके विनाशके बाद आत्माके निर्मल और निश्चल चैतन्य-स्वरूपकी प्राप्ति ही मोक्ष है और मोक्ष अवस्थामें यह जीव समस्त स्थूल और सूक्ष्म शारीरिक बन्धनोसे सर्वथा मुक्त होकर लोकके अग्रभागमें अन्तिम शरीरके आकार होकर ठहरता है। आगे गतिके सहायक धर्मद्रव्यके न होनेसे गति नही होती।

मोक्ष न कि निर्वाण :

जैन परम्परामें मोक्ष शब्द विशेष रूपसे व्यवहृत होता है और उसका सीधा अर्थ है छूटना अर्थात् अनादिकालसे जिन कर्मबन्धनोसे यह आत्मा जकड़ा हुआ था, उन बन्धनोकी परतन्त्रताको काट देना। बन्धन कट जाने पर जो बंधा था, वह स्वतन्त्र हो जाता है। यही उसकी मुक्ति है। किन्तु बौद्ध परम्परामें 'निर्वाण' अर्थात् दीपककी तरह बुझ जाना, इस शब्दका प्रयोग होनेसे उसके स्वरूपमें ही घुटाला हो गया है। क्लेशोके बुझनेकी जगह आत्माका बुझना ही निर्वाण समझ लिया गया है। कर्मोंके नाश करनेका अर्थ भी इतना ही है कि कर्मपुद्गल जीवसे

---

१ श्लोक पृ० १३९ पर देखो।

भिन्न हो जाते हैं, उनका अत्यन्त विनाश नही होता[1] । किसी भी सत्‌का अत्यन्त विनाश न कभी हुआ है और न होगा । पर्यायान्तर होना ही 'नाश' कहा जाता है। जो कर्मपुद्‌गल अमुक आत्माके साथ सयुक्त होनेके कारण उस आत्माके गुणोका घात करनेकी वजहसे उसके लिए कर्मत्व पर्यायको धारण किये थे, मोक्षमे उनकी कर्मत्व पर्याय नष्ट हो जाती है । यानी जिस प्रकार आत्मा कर्मबन्धनसे छूट कर शुद्ध सिद्ध हो जाता है उसी तरह कर्मपुद्‌गल भी अपनी कर्मत्व पर्यायसे उस समय मुक्त हो जाते है । यो तो सिद्ध स्थानपर रहनेवाली आत्माओके साथ पुद्‌गलो या स्कन्धोका सयोग सम्बन्ध होता रहता है, पर उन पुद्‌गलोकी उनके प्रति कर्मत्व पर्याय नही होती, अत वह बन्ध नही कहा जा सकता। अत जैन परम्परामें आत्मा और कर्मपुद्‌गलका सम्बन्ध छूट जाना ही मोक्ष है । इस मोक्षमें दोनो द्रव्य अपने निज स्वरूपमे बने रहते है, न तो आत्मा दीपककी तरह बुझ जाता है और न कर्मपुद्‌गलका ही सर्वथा समूल नाश होता है । दोनोंकी पर्यायान्तर हो जाती है । जीवकी शुद्ध दशा और पुद्‌गलकी यथासभव शुद्ध या अशुद्ध कोई भी अवस्था हो जाती है ।

५ संवर-तत्त्व :

संवर रोकनेको कहते है । सुरक्षाका नाम संवर है । जिन द्वारोंसे कर्मोंका आस्रव होता था, उन द्वारोंका निरोध कर देना सवर कहलाता है । आस्रव योगसे होता है, अत योगकी निवृत्ति ही मूलत सवरके पदपर प्रतिष्ठित हो सकती है । किन्तु मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिको सर्वथा रोकना सभव नही है । शारीरिक आवश्यकताओकी पूर्तिके लिये आहार करना, मलमूत्रका विसर्जन करना, चलना-फिरना, बोलना, रखना, उठाना आदि क्रियाएँ करना ही पडती है । अत जितने अशोमें मन, वचन और कायकी क्रियाओका निरोध है, उतने अशको गुप्ति कहते है । गुप्ति अर्थात् रक्षा । मन, वचन और कायकी अकुशल प्रवृत्तियोंसे रक्षा करना । यह गुप्ति ही संवरणका साक्षात् कारण है । गुप्तिके अतिरिक्त समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र आदिसे भी संवर होता है । समिति आदिमें जितना निवृत्तिका अश है उतना सवरका कारण होता है और प्रवृत्तिका अश शुभ बन्धका हेतु होता है ।

समिति :

समिति अर्थात् सम्यक् प्रवृत्ति, सावधानीसे कार्य करना । समिति पाँच प्रकारकी है । ईर्या समिति—चार हाथ आगे देखकर चलना । भाषा समिति—हित-मित-प्रिय वचन बोलना । एषणा समिति—विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेना ।

---

१. "द्रव्याद् विश्लेषणं भेदः सतो नात्यन्तसंक्षयः ।" आप्तप० श्लो० ११५ ।

आदान-निक्षेपण समिति—देख-शोधकर किसी वस्तुका रखना, उठाना। उत्सर्ग समिति—देख-शोधकर निर्जन्तु स्थानपर मलमूत्रादिका विसर्जन करना।

धर्म :

आत्मस्वरूपकी ओर ले जानेवाले और समाजको संधारण करनेवाले विचार और प्रवृत्तियाँ धर्म हैं। धर्म दश हैं। उत्तम क्षमा—क्रोधका त्याग करना। क्रोधके कारण उपस्थित होनेपर वस्तुस्वरूपका विचारकर विवेकजलसे उसे शान्त करना। जो क्षमा कायरताके कारण हो और आत्मामें दीनता उत्पन्न करे वह धर्म नहीं है, वह क्षमाभास है, दूषण है। उत्तम मार्दव—मृदुता, कोमलता, विनयभाव, मानका त्याग। ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप और शरीर आदिकी किंचित् विशिष्टताके कारण आत्मस्वरूपको न भूलना, इनका मद न चढने देना। अहंकार दोष है और स्वाभिमान गुण। अहंकारमें दूसरेका तिरस्कार छिपा है और स्वाभिमानमें दूसरेके मानका सम्मान है। उत्तम आर्जव—ऋजुता, सरलता, मायाचारका त्याग। मन वचन और कायकी कुटिलताको छोडना। जो मनमें हो, वही वचनमें और तदनुसार ही कायकी चेष्टा हो, जीवन-व्यवहारमें एकरूपता हो। सरलता गुण है और भोंदूपन दोष। उत्तम शौच—शुचिता, पवित्रता, निर्लोभ वृत्ति, प्रलोभनमें नहीं फँसना। लोभ कषायका त्यागकर मनमें पवित्रता लाना। शौच गुण है, परन्तु बाह्य सोला और चौकापथ आदिके कारण छू-छू करके दूसरोंसे घृणा करना दोष है। उत्तम सत्य—प्रामाणिकता, विश्वास-परिपालन, तथ्य और स्पष्ट भाषण। सच बोलना धर्म है, परन्तु परनिन्दाके अभिप्रायसे दूसरोंके दोषोंका ढिंढोरा पीटना दोष है। परको बाधा पहुँचानेवाला सत्य भी कभी दोष हो सकता है। उत्तम संयम—इन्द्रिय-विजय और प्राणि-रक्षा। पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-प्रवृत्तिपर अंकुश रखना, उनकी निरर्गल प्रवृत्तिको रोकना, इन्द्रियोंको वशमें करना। प्राणियोंकी रक्षाका ध्यान रखते हुए, खान-पान और जीवन-व्यवहारको अहिंसाकी भूमिकापर चलाना। संयम गुण है, पर भावशून्य बाह्य क्रियाकाण्डका अत्यधिक आग्रह दोष है। उत्तम तप—इच्छानिरोध। मनकी आशा और तृष्णाओंको रोककर प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य (सेवा), स्वाध्याय और व्युत्सर्ग (परिग्रहत्याग) की ओर चित्तवृत्तिका मोडना। ध्यान करना भी तप है। उपवास, एकाशन, रसत्याग, एकान्तवास, मौन, कायक्लेश, शरीरको सुकुमार न होने देना आदि बाह्य तप है। इच्छानिवृत्ति करके अकिंचन बननारूप तप गुण है और मात्र कायक्लेश करना, पंचाग्नि तपना, हठयोगकी कठिन क्रियाएँ आदि बालतप है। उत्तम त्याग—दान देना, त्यागकी भूमिकापर आना। शक्त्य-

नुसार भूखोंको भोजन, रोगीको औषध, अज्ञाननिवृत्तिके लिए ज्ञानके साधन जुटाना और प्राणिमात्रको अभय देना। देश और समाजके निर्माणके लिये, तन, धन आदिका त्याग। लाभ, पूजा और ख्याति आदिके उद्देश्यसे किया जानेवाला त्याग या दान उत्तम त्याग नहीं है। उत्तम आकिञ्चन्य—अकिञ्चनभाव, बाह्य-पदार्थोंमें ममत्वका त्याग। धन-धान्य आदि बाह्य परिग्रह तथा शरीरमें यह मेरा नहीं है, आत्माका धन तो उसके चैतन्य आदि गुण है, 'नास्ति मे किंचन'—मेरा कुछ नहीं, आदि भावनाएँ आकिञ्चन्य है। भौतिकतासे हटकर विशुद्ध आध्यात्मिक दृष्टि प्राप्त करना। उत्तम ब्रह्मचर्य—ब्रह्म अर्थात् आत्मस्वरूपमें विचरण करना। स्त्री-सुखसे विरक्त होकर समस्त शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको आत्मविकासोन्मुख करना। मनकी शुद्धिके बिना केवल शारीरिक ब्रह्मचर्य न तो शरीरको ही लाभ पहुँचाता है और न मन तथा आत्मामें ही पवित्रता लाता है।

अनुपेक्षा :

सद्विचार, उत्तम भावनाएँ और आत्मचिन्तन अनुप्रेक्षा है। जगत्की अनित्यता, अशरणता, संसारका स्वरूप, आत्माका अकेला ही फल भोगना, देहकी भिन्नता और उसकी अपवित्रता, रागादिभावोंकी हेयता, सदाचारकी उपादेयता, लोकस्वरूपका चिन्तन और बोधिकी दुर्लभता आदिका बार-बार विचार करके चित्तको सुसंस्कारी बनाना, जिससे वह द्वन्द्व दशामें समताभाव रख सके। ये भावनाएँ चित्तको आस्रवकी ओरसे हटाकर संवरकी तरफ झुकाती हैं।

परीषहजय :

साधकको भूख, प्यास, ठंडी, गरमी, डाँस-मच्छर, चलने-फिरने-सोने आदिमें कंकड, काँटे आदिकी बाधाएँ, वध, आक्रोश और मल आदिकी बाधाओंको शान्तिसे सहना चाहिए। नग्न रहकर भी स्त्री आदिको देखकर प्रकृतिस्थ बने रहना, चिरतपस्या करनेपर भी यदि ऋद्धि-सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके प्रति अनादर नहीं होना और यदि कोई ऋद्धि प्राप्त हो जाय तो उसका गर्व नहीं करना, किसीके सत्कार-पुरस्कारमें हर्ष और अपमानमें खेद नहीं करना, भिक्षा-भोजन करते हुए भी आत्मामें दीनता नहीं आने देना इत्यादि परीषहोंके जयसे चारित्रमें दृढनिष्ठा होती है और कर्मोंका आस्रव रुक कर संवर होता है।

चारित्र :

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका संपूर्ण परिपालन करना पूर्ण चारित्र है। चारित्रके सामायिक आदि अनेक भेद है। सामायिक—समस्त

पापक्रियाओंका त्याग और समताभावकी आराधना। छेदोपस्थापना—व्रतोंमें दूषण लग जानेपर दोषका परिहार कर पुनः व्रतोंमें स्थिर होना। परिहारविशुद्धि—इस चारित्रके धारक व्यक्तिके शरीरमें इतना हलकापन आ जाता है कि सर्वत्र गमन आदि प्रवृत्तियाँ करनेपर भी उसके शरीरसे जीवोंकी विराधना—हिंसा नहीं होती। सूक्ष्मसाम्पराय—समस्त क्रोधादिकषायोंका नाश होनेपर बचे हुए सूक्ष्म लोभके नाशकी भी तैयारी करना। यथाख्यात—समस्त कषायोंके क्षय होनेपर जीवन्मुक्त व्यक्तिका पूर्ण आत्मस्वरूपमें विचरण करना। इस तरह गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्रसे कर्मशत्रुके आनेके द्वार बन्द हो जाते हैं। यही संवर है।

६ निर्जरा तत्त्व :

गुप्ति आदिसे सर्वत: संवृत—सुरक्षित व्यक्ति आगे आनेवाले कर्मोंको तो रोक ही देता है, साथ ही पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करके क्रमश: मोक्षको प्राप्त करता है। निर्जरा झड़नेको कहते हैं। यह दो प्रकार की है—एक औपक्रमिक या अविपाक निर्जरा और दूसरी अनौपक्रमिक या सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओंके द्वारा कर्मोंको बलात् उदयमें लाकर बिना फल दिये झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। स्वाभाविक क्रमसे प्रतिसमय कर्मोंका फल देकर झड़ते जाना सविपाक निर्जरा है। यह सविपाक निर्जरा प्रतिसमय हर एक प्राणीके होती ही रहती है। इसमें पुराने कर्मोंकी जगह नूतन कर्म लेते जाते हैं। गुप्ति, समिति और खासकर तपरूपी अग्निसे कर्मोंको फल देनेके पहले ही भस्म कर देना अविपाक या औपक्रमिक निर्जरा है। 'कर्मोंकी गति टल ही नहीं सकती' यह एकान्त नियम नहीं है। आखिर कर्म है क्या ? अपने पुराने संस्कार ही वस्तुत: कर्म है। यदि आत्मामें पुरुषार्थ है, और वह साधना करे, तो क्षणमात्रमें पुरानी वासनाएँ क्षीण हो सकती हैं।

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।"

अर्थात् 'सैकड़ों कल्पकाल बीत जानेपर भी बिना भोगे कर्मोंका नाश नहीं हो सकता।' यह मत प्रवाहपतित साधारण प्राणियोंको लागू होता है। पर जो आत्मपुरुषार्थी साधक हैं उनकी ध्यानरूपी अग्नि तो क्षणमात्रमें समस्त कर्मोंको भस्म कर सकती है—

"ध्यानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते क्षणात्।"

ऐसे अनेक महात्मा हुए हैं, जिन्होंने अपनी साधनाका इतना बल प्राप्त कर लिया था कि साधु-दीक्षा लेते ही उन्हें कैवल्यकी प्राप्ति हो गई थी। पुरानी

वासनाओ और राग, द्वेप तथा मोहके कुसंस्कारोको नष्ट करनेका एक मात्र मुख्य साधन है—'ध्यान'—अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंका निरोध करके उसे एकाग्र करना।

इस प्रकार भगवान् महावीरने बन्ध (दु ख), बन्धके कारण (आस्रव), मोक्ष और मोक्षके कारण (संवर और निर्जरा) इन पाँच तत्त्वोंके साथ-ही-साथ उस आत्मतत्त्वके ज्ञानकी खास आवश्यकता बताई जिसे बन्धन और मोक्ष होता है। इसी तरह उस अजीव तत्त्वके ज्ञानकी भी आवश्यकता है जिससे बँधकर यह जीव अनादि कालसे स्वरूपच्युत हो रहा है।

मोक्षके साधन :

वैदिक सस्कृतिमें विचार या तत्त्वज्ञानको मोक्षका साधन माना है जब कि श्रमणसस्कृति चारित्र अर्थात् आचारको मोक्षका साधन स्वीकार करती है। यद्यपि वैदिक संस्कृतिने तत्त्वज्ञानके साथ-ही-साथ वैराग्य और सन्यासको भी मुक्तिका अङ्ग माना है, पर वैराग्यका उपयोग तत्त्वज्ञानकी पुष्टिमें किया है, अर्थात् वैराग्यसे तत्त्वज्ञान पुष्ट होता है और फिर उससे मुक्ति मिलती है। पर जैनतीर्थंकरोंने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग.।" (त० सू० १।१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका मार्ग बताया है। ऐसा सम्यग्ज्ञान जो सम्यक्चारित्रका पोपक या वर्धक नही है, मोक्षका साधन नही होता। जो ज्ञान जीवनमें उतरकर आत्मशोधन करे, वही मोक्षका साधन है। अन्तत. सच्ची श्रद्धा और ज्ञानका फल चारित्र-शुद्धि ही है। ज्ञान थोडा भी हो, पर यदि वह जीवनशुद्धिमें प्रेरणा देता है तो सार्थक है। अहिंसा, सयम और तप साधनाएँ है, मात्र ज्ञानरूप नही है। कोरा ज्ञान भार ही है यदि वह आत्मशोधन नही करता। तत्त्वोंकी दृढ श्रद्धा अर्थात् सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी पहिली सीढी है। भय, आशा, स्नेह और लोभसे जो श्रद्धा चल और मलिन हो जाती है वह श्रद्धा अन्धविश्वासकी सीमामें ही है। जीवन्त श्रद्धा वह है जिसमें प्राणो तककी बाजी लगाकर तत्त्वको कायम रखा जाता है। उस-परम अवगाढ दृढ निष्ठाको दुनियाका कोई भी प्रलोभन विचलित नही कर सकता, उसे हिला नही सकता। इस ज्योतिके जगते ही साधकको अपने लक्ष्यका स्पष्ट दर्शन होने लगता है। उसे प्रतिक्षण भेदविज्ञान और स्वानुभूति होती है। वह समझता है कि धर्म आत्मस्वरूपकी प्राप्तिमें है, न कि शुष्क बाह्य क्रियाकाण्डमें। इसलिये उसकी परिणति एक विलक्षण प्रकारकी हो जाती है। आत्मकल्याण, समाजहित, देशनिर्माण और मानवताके उद्धारका स्पष्ट मार्ग उसकी आँखोंमें झूलता है और वह उसके लिये प्राणोकी बाजी तक लगा देता है। स्वरूपज्ञान और स्वाधिकारकी मर्यादाका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और

अपने अधिकार और स्वरूपकी सुरक्षाके अनुकूल जीवनव्यवहार बनाना सम्यक्-चारित्र है। तात्पर्य यह कि आत्माकी वह परिणति सम्यक्चारित्र है जिसमें केवल अपने गुण और पर्यायो तक ही अपना अधिकार माना जाता है और जीवन-व्यवहारमें तदनुकूल ही प्रवृत्ति होती है, दूसरेके अधिकारोको हडपनेकी भावना भी नही होती। यह व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी स्वावलम्वी चर्या ही परम सम्यक्चारित्र है। अत श्रमणसस्कृतिने जीवनसाधना अहिंसाके मौलिक समत्वपर प्रतिष्ठित की हैं, और प्राणिमात्रके अभय और जीवित रहनेका सतत विचार किया है। निष्कर्ष यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परिपुष्ट सम्यक्चारित्र ही मोक्षका साक्षात् साधन होता है।

●

८. प्रमाणमीमांसा

ज्ञान और दर्शन :

जड पदार्थोंसे आत्माको भिन्न करनेवाला आत्माका गुण और स्वरूप चैतन्य है, यह बात सिद्ध है। यही चैतन्य अवस्थाविशेषमें निराकार रहकर 'दर्शन' कहलाता है और साकार होकर 'ज्ञान'। आत्माके अनन्त गुणोंमें यह चैतन्यात्मक उपयोग ही ऐसा असाधारण गुण है, जिससे आत्मा लक्षित होता है। जब यह उपयोग आत्मेतर पदार्थोंको जाननेके समय ज्ञेयाकार या साकार होता है; तब उसकी ज्ञान-पर्याय विकसित होती है और जब वह बाह्य पदार्थोंमें उपयुक्त न होकर मात्र चैतन्यरूप रहता है, तब निराकार अवस्थामें दर्शन कहलाता है। यद्यपि दार्शनिक कालमें 'दर्शन' की व्याख्या बदली है और वह चैतन्याकारकी परिधिको लाँघकर पदार्थोंके सामान्यावलोकन तक पहुँची। परन्तु सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें [1]दर्शनका वर्णन अन्तरंगार्थविषयक और निराकार रूपसे मिलता है। दर्शनका काल विषय और विषयी (इन्द्रियाँ) के सन्निपातके पहले है। जब[2] आत्मा अमुक पदार्थ-विषयक ज्ञानोपयोगसे हटकर अन्यपदार्थविषयक ज्ञानमें प्रवृत्त होता है तब बीचकी वह चैतन्याकार या निराकार अवस्था दर्शन कहलाती है, जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास नहीं होता। दार्शनिक ग्रन्थोंमे दर्शनका काल[3] विषय और विषयीके सन्निपातके अनन्तर है। यही कारण है कि पदार्थके सामान्यावलोकनके रूपमें दर्शनकी प्रसिद्धि हुई। बौद्धका निर्विकल्पक ज्ञान और नैयायिकादिसम्मत निर्विकल्पप्रत्यक्ष यही है।

---

१ "तत सामान्यविशेषात्मकबाह्यार्थग्रहण ज्ञान तदात्मकस्वरूपग्रहण दर्शनमिति सिद्धम्।··· भावाना बाह्यार्थानामाकार प्रतिकर्मव्यवस्थामकृत्वा यद् ग्रहणं तद् दर्शनम् (पृ० १४७) प्रकाशवृत्तिर्वा दर्शनम्। अस्य गमनिका—प्रकाशो ज्ञानम्, तदर्थमात्मनो वृत्ति. प्रकाशवृत्ति तद्दर्शनम्, विषयविषयिसम्पातात् पूर्वावस्था इत्यर्थ.। (पृ० १४९) नैते दोषा. दर्शनमाढौकन्ते, तस्य अन्तरङ्गार्थविषयत्वात्।" —धवला टीका, सत्प्ररू० प्रथम पुस्तक।

२ "उत्तरज्ञानोत्पत्तिनिमित्त यत्प्रयत्न तद्रूप यत् स्वस्यात्मन परिच्छेदनमवलोकन तद्दर्शन भण्यते। तदनन्तर यद्बहिर्विषयविकल्परूपेण पदार्थग्रहण तज्ज्ञानमिति वार्त्तिकम्। यथा कोऽपि पुरुषो घटविषयविकल्प कुर्वन्नास्ते, पश्चात् पटपरिज्ञानार्थं चित्ते जाते सति घटविकल्पाद् व्यावृत्त्य यत् स्वरूपे प्रथममवलोकन परिच्छेदन करोति तद्दर्शनमिति। तदनन्तर पटोऽयमिति निश्चय यद् बहिर्विषयरूपेण पदार्थग्रहणविकल्प करोति तज्ज्ञान भण्यते।" —बृहद्द्रव्यस० टी० गा० ४३।

३ "विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति।"—सर्वार्थसि० १।१५।

प्रमाणादिव्यवस्थाका आधार :

ज्ञान, प्रमाण और प्रमाणाभास इनकी व्यवस्था बाह्य अर्थके प्रतिभास करने, और प्रतिभासके अनुसार बाह्य पदार्थके प्राप्त होने और न होने पर निर्भर करती है। जिस ज्ञानका प्रतिभासित पदार्थ ठीक उसी रूपमें मिल जाय, जिस रूपमें कि उसका बोध हुआ है तो वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है अन्य प्रमाणाभास। यहाँ मुख्य प्रश्न यह है कि प्रमाणाभासोंमें जो 'दर्शन' गिनाया गया[1] है वह क्या वही निराकार चैतन्यरूप दर्शन है ? जिस चैतन्यमें पदार्थका स्पर्श ही नहीं हुआ उस चैतन्यको ज्ञानकी विशेषकक्षा—प्रमाण और प्रमाणाभासमें दाखिल करना किसी तरह उचित नहीं है। ये व्यवहार तो ज्ञानमें होते हैं। दर्शन तो प्रमाण और प्रमाणाभाससे परेकी वस्तु है। विषय और विषयीके सन्निपातके बाद जो सामान्यावलोकनरूप दर्शन है वह तो बौद्ध और नैयायिकोंके निर्विकल्प ज्ञानकी तरह वस्तुस्पर्शी होनेसे प्रमाण और प्रमाणाभासकी विवेचनाके क्षेत्रमें आ जाता है। उस सामान्यवस्तुग्राही दर्शनको प्रमाणाभास इसलिए कहा है कि वह किसी वस्तुका व्यवसाय अर्थात् निर्णय नहीं करता। वह सामान्य अंशका भी मात्र आलोचन ही करता है; निश्चय नहीं। यही कारण है कि बौद्ध, नैयायिकादि-सम्मत निर्विकल्पको प्रमाणसे बहिर्भूत अर्थात् प्रमाणाभास माना गया है।

[2]आगमिक क्षेत्रमें ज्ञानको सम्यक्त्व और मिथ्यात्व माननेके आधार जुदे हैं। वहाँ तो जो ज्ञान मिथ्यादर्शनका सहचारी है वह मिथ्या और जो सम्यग्दर्शनका सहभागी है वह सम्यक् कहलाता है। यानी मिथ्यादर्शनवालेका व्यवहारसत्य प्रमाणज्ञान भी मिथ्या है और सम्यग्दर्शनवालेका व्यवहारमें असत्य अप्रमाण ज्ञान भी सम्यक् है। तात्पर्य यह कि सम्यग्दृष्टिका प्रत्येक ज्ञान मोक्षमार्गोपयोगी होनेके कारण सम्यक् है और मिथ्यादृष्टिका प्रत्येक ज्ञान संसारमें भटकानेवाला होनेसे मिथ्या है। परन्तु दार्शनिक क्षेत्रमें ज्ञानके मोक्षोपयोगी या संसारवर्धक होनेके आधारसे प्रमाणता-अप्रमाणताका विचार प्रस्तुत नहीं है। यहाँ तो प्रतिभासित विषयका अव्यभिचारी होना ही प्रमाणताकी कुञ्जी है। जिस ज्ञानका प्रतिभासित पदार्थ जैसा-का-तैसा मिल जाता है वह अविसंवादी ज्ञान सत्य है और प्रमाण है;[3] शेष अप्रमाण हैं, भले ही उसका उपयोग संसारमें हो या मोक्षमें।

---

१. देखो, परीक्षामुख ६।१।

२. "मतिश्रुतावधयो विपर्ययश्च"—त० सू० १।३१।

३ "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।"—सिद्धिवि० १।२०।

आगमोंमें जो पाँच ज्ञानोंका वर्णन आता है वह ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे या क्षयसे प्रकट होनेवाली ज्ञानकी अवस्थाओंका निरूपण है। आत्माके 'ज्ञान' गुणको एक ज्ञानावरणकर्म रोकता है और इसीके क्षयोपशमके तारतम्यसे मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यय ये चार ज्ञान प्रकट होते है और सम्पूर्ण ज्ञानावरणका क्षय हो जाने पर निरावरण केवलज्ञानका आविर्भाव होता है। इसी तरह मति-ज्ञानावरणकर्मके क्षयोपशमसे होनेवाली मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनि-बोध आदि मतिज्ञानकी अवस्थाओंका अनेक रूपसे विवेचन मिलता है[1] जो मति-ज्ञानके विविध आकार और प्रकारोंका निर्देश मात्र है। वह निर्देश भी तत्त्वाधिगम के उपयोगोंके रूपमें है। जिन तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान करके मोक्षमार्गमें जुटा जा सकता है उन तत्त्वोंका अधिगम ज्ञानसे ही तो संभव है। यही ज्ञान प्रमाण और नयके रूपसे अधिगमके उपायोंको दो रूपमें विभाजित कर देता है। यानी तत्त्वाधिगमके दो मूल भेद होते हैं—प्रमाण और नय। इन्ही पाँच ज्ञानोंका प्रत्यक्ष और परोक्ष इन दो प्रमाणोंके रूपमें विभाजन भी आगमिक परम्परामें पहलेसे ही रहा है; किन्तु यहाँ प्रत्यक्षता और परोक्षताका आधार बिलकुल भिन्न है। जो ज्ञान स्वावलम्बी है—इन्द्रिय और मनकी सहायताकी भी अपेक्षा नहीं करता, वह आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष है और इन्द्रिय तथा मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान परोक्ष। इस तरह आगमिक क्षेत्रके सम्यक्-मिथ्या विभाग और प्रत्यक्ष-परोक्ष विभागके आधार दार्शनिक क्षेत्रसे बिलकुल ही जुदे प्रकारके है। जैन दार्शनिकोंके सामने उपर्युक्त आगमिक परम्पराको दार्शनिक ढाँचेमें ढालनेका महान् कार्यक्रम था, जिसे सुव्यवस्थित रूपमें निभानेका प्रयत्न किया गया है।

प्रमाणका स्वरूप :

प्रमाणका सामान्यतया व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—"प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्" अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थोंका ज्ञान हो उस द्वारका नाम प्रमाण है। दूसरे शब्दोंमे जो प्रमाका साधकतम करण हो वह प्रमाण है। इस सामान्यनिर्वचनमें कोई विवाद न होने पर भी उस द्वारमें विवाद है। नैयायिकादि प्रमामें साधकतम इन्द्रिय और सन्निकर्षको मानते है जब कि जैन और बौद्ध ज्ञानको ही प्रमामें साध-कतम कहते हैं। जैनदर्शनकी दृष्टि है कि जानना या प्रमारूप क्रिया चूँकि चेतन है, अत उसमें साधकतम उसीका गुण—ज्ञान ही हो सकता है, अचेतन सन्निक-र्षादि नही, क्योंकि सन्निकर्षादिके रहने पर भी ज्ञान उत्पन्न नही होता और सन्नि-

1. त० सू० १।१३। नन्दी प्र० मति० गा० ८०।

कर्षादिके अभावमे भी ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। अत जाननेरूप क्रियाका साक्षात्-अव्यवहित करण ज्ञान ही है, सन्निकर्षादि नही। प्रमिति या प्रमा अज्ञाननिवृत्ति-रूप होती है। इस अज्ञाननिवृत्तिमे अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही करण हो सकता है जैसे कि अंधकारकी निवृत्तिमे अंधकारका विरोधी प्रकाश। इन्द्रिय[1], सन्निकर्षादि स्वयं अचेतन है, अत एव अज्ञानरूप होनेके कारण प्रमितिमे साक्षात् करण नही हो सकते। यद्यपि कही-कही इन्द्रिय-सन्निकर्षादि ज्ञानकी उत्पादक सामग्रीमे शामिल है, पर सार्वत्रिक और सार्वकालिक अन्वय-व्यतिरेक न मिलनेके कारण उनकी कारणता अव्यास हो जाती है। अन्तत इन्द्रियादि ज्ञानके उत्पादक भी हो, फिर भी जानने रूप क्रियामें साधकतमता—अव्यवहितकारणता ज्ञानकी ही है, न कि ज्ञानसे व्यवहित इन्द्रियादिकी। जैसे कि अन्धकारकी निवृत्तिमें दीपक ही साधकतम हो सकता है, न कि तेल, बत्ती और दिया आदि। सामान्यतया जो क्रिया जिस गुणकी पर्याय होती है उसमें वही गुण साधकतम हो सकता है। चूंकि 'जानाति क्रिया'—जाननेरूप क्रिया ज्ञानगुणकी पर्याय है, अत. उसमें अव्यवहित करण ज्ञान ही हो सकता है। प्रमाण[2] चूंकि हितप्राप्ति और अहितपरिहार करनेमे समर्थ है, अत वह ज्ञान ही हो सकता है।

ज्ञानका सामान्य धर्म है अपने स्वरूपको जानते हुए परपदार्थको जानना। वह अवस्थाविशेषमे परको जाने या न जाने। पर अपने स्वरूपको तो हर हालतमें जानता ही है। ज्ञान चाहे प्रमाण हो, सशय हो, विपर्यय हो या अनध्यवसाय आदि किसी भी रूपमें क्यो न हो, वह बाह्यार्थमे विसवादी होनेपर भी अपने स्वरूपको अवश्य जानेगा और स्वरूपमे अविसवादी ही होगा। यह नही हो सकता कि ज्ञान घटपटादि पदार्थोकी तरह अज्ञात रूपमें उत्पन्न हो जाय और पीछे मन आदिके द्वारा उसका ग्रहण हो। वह तो दीपककी तरह जगमगाता हुआ ही उत्पन्न होता है। स्वसवेदी होना ज्ञानसामान्यका धर्म है। अत सशयादिज्ञानोमें ज्ञानाशका अनुभव अपने आप उसी ज्ञानके द्वारा होता है। यदि ज्ञान अपने स्वरूपको न जाने, यानी वह स्वयके प्रत्यक्ष न हो, तो उसके द्वारा पदार्थका बोध भी नही हो सकता। जैसे कि देवदत्तको यज्ञदत्तका ज्ञान अप्रत्यक्ष है अर्थात् स्वसविदित नही है तो उसके द्वारा उसे अर्थका बोध नही होता। उसी तरह यदि यज्ञदत्तको स्वय अपना ज्ञान उसी तरह अप्रत्यक्ष हो जिस प्रकार कि देवदत्तको है तो देवदत्तकी तरह यज्ञदत्तको

१ "सन्निकर्षादेरज्ञानस्य प्रामाण्यमनुपपन्नमर्थान्तरवत्।"
—लघी० स्ववृ० १।३।

२. "हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाण ततो ज्ञानमेव तत्।"
—परीक्षामुख १।२।

अपने ज्ञानके द्वारा भी पदार्थका बोध नहीं हो सकेगा। जो ज्ञान अपने स्वरूपका ही प्रतिभास करनेमें असमर्थ है वह परका अवबोधक कैसे हो सकता है?[1] स्वरूप-की दृष्टिसे सभी ज्ञान प्रमाण हैं। प्रमाणता और अप्रमाणताका विभाग बाह्य अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे सम्बन्ध रखता है। स्वरूपकी दृष्टिसे तो न कोई ज्ञान प्रमाण है और न प्रमाणाभास।

प्रमाण और नय :

तत्त्वार्थसूत्र (१।६) में जिन अधिगमके उपायोंका निर्देश किया है उनमें प्रमाण और नयके निर्देश करनेका एक दूसरा कारण भी है। प्रमाण समग्र वस्तुको अखण्डरूपसे ग्रहण करता है। वह भले ही किसी एक गुणके द्वारा पदार्थको जानने-का उपक्रम करे, परन्तु उस गुणके द्वारा वह सम्पूर्ण वस्तुको ही ग्रहण करता है। आँखके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु यद्यपि रूपमुखेन देखी जाती है, पर प्रमाणज्ञान रूपके द्वारा पूरी वस्तुको ही समग्रभावसे जानता है। इसीलिए प्रमाणको सकला-देशी कहते हैं[2]। वह हर हालतमें सकल वस्तुका ही ग्राहक होता है। उसमें गौणमुख्यभाव इतना ही है कि वह भिन्न-भिन्न समयोंमें अमुक-अमुक इन्द्रियोंसे ग्राह्य विभिन्न गुणोंके द्वारा पूरी वस्तुको जाननेका प्रयास करता है। जो गुण जिस समय इन्द्रियज्ञानका विषय होता है उस गुणकी मुख्यता इतनी ही है कि उसके द्वारा पूरी वस्तु गृहीत हो रही है। यह नहीं कि उसमें रूप मुख्य हो और रसादि गौण, किन्तु रूपके छोरसे समस्त वस्तुपट देखा जा रहा है। जब कि नयमें रूप मुख्य होता है और रसादि गौण। नयमें वही धर्म प्रधान बनकर अनुभवका विषय होता है, जिसकी विवक्षा या अपेक्षा होती है। नय प्रमाणके द्वारा गृहीत समस्त और अखण्ड वस्तुको खण्ड-खण्ड करके उसके एक-एक देशको मुख्यरूपसे ग्रहण करता है। प्रमाण घटको "घटोऽयम्"के रूपमें समग्र-का-समग्र जानता है जब कि नय "रूपवान् घट" करके घड़ेको केवल रूपकी दृष्टिसे देखता है। रूपवान् घट इस प्रयोगमें यद्यपि एक रूपगुणकी प्रधानता दिखती है, परन्तु यदि उस वाक्यसे रूपके द्वारा पूरे घटको जाननेका अभिप्राय है तो यह वाक्य सकलादेशी है और यदि केवल घटके रूपको ही जाननेका अभिप्राय है तो वह मात्र रूपग्राही होनेसे विकलादेशी हो जाता है।

---

१ "भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥"

—आप्तमी० श्लो० ८३।

२. "तथा चोक्तं सकलादेशः प्रमाणाधीन"—सर्वार्थसि० १।६।

विभिन्न लक्षण :

इस तरह सामान्यतया जैन परम्परामें ज्ञानको ही प्रमाका करण माना है। वह प्रमाणज्ञान सम्पूर्ण वस्तुको ग्रहण करता है। उसमें ज्ञानसामान्यका स्वसंवेदित्व धर्म भी रहता है। प्रमाण होनेसे उसे अविसवादी भी अवश्य ही होना चाहिए। विसंवाद अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। इन तीनो विसंवादोंसे रहित अविसंवादी सम्यग्ज्ञान प्रमाण होता है। आचार्य[1] समन्तभद्र और सिद्धसेनके प्रमाणलक्षणमें[2] 'स्वपरावभासक' पद प्रयुक्त हुआ है।[3] समन्तभद्रने उस तत्त्व-ज्ञानको भी प्रमाण कहा है जो एक साथ सबका अवभासक होता है। इस लक्षणमें केवल स्वरूपका निर्देश है। अकलक[4] और माणिक्यनन्दिने प्रमाणको अनधिगतार्थ-ग्राही और अपूर्वार्थव्यवसायी कहा है। परन्तु[5] विद्यानन्दका स्पष्ट मत है कि ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थको जाने या गृहीत अर्थको, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होनेसे प्रमाण ही है। गृहीतग्राहिता कोई दूषण नही है।

अविसंवादकी प्रायिक स्थिति :

अकलंकदेवने अविसंवादको प्रमाणताका आधार मान करके एक विशेष बात यह कही है कि हमारे ज्ञानोंमें प्रमाणता और अप्रमाणताकी संकीर्ण स्थिति है। कोई भी ज्ञान एकान्तसे प्रमाण या अप्रमाण नही कहा जा सकता। इन्द्रियदोषसे होनेवाला द्विचन्द्रज्ञान भी चन्द्रांशमें अविसंवादी होनेके कारण प्रमाण है, पर द्वित्व-अंशमें विसंवादी होनेके कारण अप्रमाण। पर्वतपर चन्द्रमाका दिखना चन्द्रांशमे ही प्रमाण है, पर्वतस्थितरूपमें नही। इस तरह हमारे ज्ञानोंमें ऐकान्तिक प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय नही किया जा सकता। 'तब व्यवहारमें किसी

---

१. "स्वपरावभासक यथा प्रमाणं भुवि बुद्धिलक्षणम्।"
—बृहत्स्व० श्लो० ६३।

२. "प्रमाण स्वपराभासि ज्ञान बाधविवर्जितम्।"
—न्यायावता० श्लो० १।

३ "तत्त्वज्ञानं प्रमाण ते युगपत् सर्वभासकम्।" —आप्तमी० श्लो० १०१।

४. "प्रमाणमविसवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्।"
—अष्टश०, अष्टसह० पृ० १७५।

"स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञान प्रमाणम्।" —परीक्षामुख १।१।

५. "गृहीतमगृहीतं वा यदि स्वार्थं व्यवस्यति।
तन्न लोके न शास्त्रेषु विजहाति प्रमाणताम्॥"
—तत्त्वार्थश्लो० १।१०।७८।

ज्ञानको प्रमाण या अप्रमाण कहनेका क्या आधार माना जाय ?' इस प्रश्नका उत्तर यह है कि ज्ञानोंकी प्रायः साधारण स्थिति होनेपर भी जिस ज्ञानमें अविसंवादकी बहुलता हो उसे प्रमाण माना जाय तथा विसंवादकी बहुलतामें अप्रमाण। जैसे कि इत्र आदिके पुद्गलोंमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श रहने पर भी गन्ध गुणकी उत्कटताके कारण उन्हें 'गन्ध द्रव्य' कहते हैं, उसी तरह अविसंवादकी बहुलतासे प्रमाणव्यवहार हो जायगा। अकलंकदेवके इस विचारका एक ही कारण मालूम होता है कि उनके मतसे इन्द्रियजन्य क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी स्थिति पूर्ण विश्वसनीय नहीं मानी जा सकती। स्वल्पशक्तिक इन्द्रियोंकी विचित्र रचनाके कारण इन्द्रियोंके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ अन्यथा भी होता है। यही कारण है कि आगमिक परम्परामें इन्द्रिय और मनोजन्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको प्रत्यक्ष न कहकर परोक्ष ही कहा गया है। अकलंकदेवके इस विचारको उत्तरकालीन दार्शनिकोंने अपनाया हो, यह नहीं मालूम होता, पर स्वयं अकलंक इस विचारको आप्तमीमांसाकी टीका अष्टशती[1], लघीयस्त्रयस्ववृत्ति[2] और [3]सिद्धिविनिश्चयमें दृढ़ विश्वासके साथ उपस्थित करते हैं।

तदाकारता प्रमाण नहीं :

बौद्ध परंपरामें ज्ञानको स्वसंवेदी स्वीकार तो किया है परन्तु प्रमाके कारणके रूपमें सारूप्य तदाकारता या योग्यताका निर्देश[4] मिलता है। ज्ञानगत योग्यता या ज्ञानगत सारूप्य अन्ततः ज्ञानस्वरूप ही है, अतः परिणमनमें कोई विशेष अन्तर न होने पर भी ज्ञानका पदार्थाकार होना एक पहेली ही है। 'अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक

---

१ 'येनाकारेण तत्त्वपरिच्छेदः तदपेक्षया प्रामाण्यमिति। तेन प्रत्यक्षतदाभासयोरपि प्रायशः संकीर्णप्रामाण्येतरस्थितिरुन्नेतव्या। प्रसिद्धानुपहतेन्द्रियदृष्टेरपि चन्द्रार्कादिषु देशप्रत्यासत्त्याद्यभूताकारावभासनात्। तथोपहताक्षादेरपि संख्यादिविसंवादेऽपि चन्द्रादिस्वभावतत्त्वोपलम्भात्। तत्प्रकर्षापेक्षया व्यपदेशव्यवस्था गन्धद्रव्यादिवत्।

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २७७।

२ "तिमिराद्युपप्लवज्ञानं चन्द्रादावविसंवादकं प्रमाणं तथा तत्संख्यादौ विसंवादकत्वादप्रमाणं प्रमाणेतरव्यवस्थायास्तल्लक्षणत्वात्।"

—लघी० स्व० श्लो० २३।

३ "यथा यत्राविसंवादस्तथा तत्र प्रमाणता।' —सिद्धिवि० १।२०।

४ "स्वसंवित्तिः फलं चात्र तद्रूपादर्थनिश्चयः।
विषयाकार एवास्य प्रमाणं तेन मीयते।"—प्रमाणसमु० पृ० २४।
"प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा।"—तत्त्वसं० श्लो० १३४४।

पदार्थोके आकार कैसे होता है ?' इस प्रश्नका पुष्ट समाधान तो नही मिलता। ज्ञानके ज्ञेयाकार होनेका अर्थ इतना ही हो सकता है कि वह उस ज्ञेयको जाननेके लिए अपना व्यापार कर रहा है। फिर, किसी भी ज्ञानकी वह अवस्था, जिसमें ज्ञेयका प्रतिभास हो रहा है, प्रमाण ही होगी, यह निश्चित रूपसे नही कहा जा सकता। सीपमें चाँदीका प्रतिभास करनेवाला ज्ञान यद्यपि उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थाकार हो रहा है, पर प्रतिभासके अनुसार बाह्यार्थकी प्राप्ति न होनेके कारण उसे प्रमाण-कोटिमे नही डाला जा सकता। सशयादिज्ञान भी तो आखिर पदार्था-कार होते ही है।

इस तरह जैनाचार्योके द्वारा किये गये प्रमाणके विभिन्न लक्षणोसे यह फलित होता है कि ज्ञानको स्वसवेदी होना चाहिए। वह गृहीतग्राही हो या अपूर्वार्थग्राही, पर अविसवादी होनेके कारण प्रमाण है। उत्तरकालीन जैन[1] आचार्योने प्रमाणका असाधारण लक्षण करते समय केवल 'सम्यग्ज्ञान' और 'सम्यगर्थनिर्णय' यही पद पसन्द किये है। प्रमाणके अन्य लक्षणोमें पाये जानेवाले निश्चित, बाधवर्जित, अदुष्टकारणजन्यत्व, लोकसम्मतत्व, अव्यभिचारी और व्यवसायात्मक आदि विशेषण 'सम्यक्' इस एक ही सर्वावगाही विशेषणपदसे गृहीत हो जाते है। अनिश्चित, बाधित, दुष्टकरणजन्य, लोकबाधित, व्यभिचारी, अनिर्णयात्मक, सन्दिग्ध, विपर्यय और अव्युत्पन्न आदि ज्ञान 'सम्यक्' की सीमाको नही छू सकते। सम्यग्ज्ञान तो स्वरूप और उत्पत्ति आदि सभी दृष्टियोसे सम्यक् ही होगा। उसे अविसवादी या व्यवसायात्मक आदि किसी शब्दसे व्यवहारमें ला सकते है।

प्रमाणशब्द चूंकि करणसाधन है, अत कर्त्ता—प्रमाता, कर्म—प्रमेय और क्रिया—प्रमिति ये प्रमाण नही होते। प्रमेयका प्रमाण न होना तो स्पष्ट है। प्रमिति, प्रमाण और प्रमाता द्रव्यदृष्टिसे यद्यपि अभिन्न मालूम होते है, परन्तु पर्यायकी दृष्टिसे इन तीनोका परस्परमें भेद स्पष्ट है। यद्यपि वही आत्मा प्रमिति—क्रियामे व्यापृत होनेके कारण प्रमाता कहलाता है और वह क्रिया प्रमिति, फिर भी प्रमाण आत्माका वह स्वरूप है जो प्रमितिक्रियामें साधकतम करण होता है। अत प्रमाणविचारमें वही करणभूत पर्याय ग्रहण की जाती है। और इस तरह प्रमाणशब्दका करणार्थक ज्ञानपदके साथ सामानाधिकरण्य भी सिद्ध हो जाता है।

---

१. सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्।"—प्रमाणमी० १।१।२।
"सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्।"—न्यायदी० पृ० ३।

सामग्री प्रमाण नहीं :

[1]वृद्ध नैयायिकोंने ज्ञानात्मक और अज्ञानात्मक दोनो प्रकारकी सामग्रीको प्रमाके करणरूपमें स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अर्थोपलब्धिरूप कार्य सामग्रीसे उत्पन्न होता है और इस सामग्रीमें इन्द्रिय, मन, पदार्थ, प्रकाश आदि अज्ञानात्मक वस्तुएँ भी ज्ञानके साथ काम करती है। अन्वय और व्यतिरेक भी इसी सामग्रीके साथ ही मिलता है। सामग्रीका एक छोटा भी पुरजा यदि न हो तो सारी मशीन बेकार हो जाती है। किसी भी छोटे-से कारणके हटनेपर कार्य रुक जाता है और सबके मिलने पर ही उत्पन्न होता है तब किसे साधकतम कहा जाय ? सभी अपनी-अपनी जगह उसके घटक है और सभी साकल्यरूपसे प्रमाके करण है। इस सामग्रीमें वे ही कारण सम्मिलित है जिनका कार्यके साथ व्यतिरेक मिलता है। घटज्ञानमें प्रमेयकी जगह घट ही शामिल हो सकता है, पट आदि नही। इसी तरह जो परम्परासे कारण है वे भी इस सामग्रीमे शामिल नही किये जाते।

जैन दार्शनिकोंने सामान्यतया सामग्रीकी कारणता स्वीकार करके भी वृद्ध नैयायिकोके सामग्रीप्रामाण्यवाद या कारकसाकल्यकी प्रमाणताका खण्डन करते हुए स्पष्ट लिखा[2] है कि ज्ञानको साधकतम करण कहकर हम सामग्रीकी अनुपयोगिता या व्यर्थता सिद्ध नही कर रहे है, किन्तु हमारा यह अभिप्राय है कि इन्द्रियादि-सामग्री ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो साक्षात् कारण होती है, पर प्रमा अर्थात् अर्थोपलब्धिमें साधकतम करण तो उत्पन्न हुआ ज्ञान ही हो सकता है। दूसरे शब्दोंमें शेष सामग्री ज्ञानको उत्पन्न करके ही कृतार्थ हो जाती है, ज्ञानको उत्पन्न किये बिना वह सीधे अर्थोपलब्धि नही करा सकती। वह ज्ञानके द्वारा ही अर्थात् ज्ञानसे व्यवहित होकर ही अर्थोपलब्धिमें कारण कही जा सकती है, साक्षात् नही। इस तरह परम्परा कारणोंको यदि साधकतम कोटिमें लेने लगें, तो जिस आहार या गायके दूधसे इन्द्रियोंको पुष्टि मिलती है उस आहार और दूध देनेवाली गायको भी अर्थोपलब्धिमें साधकतम कहना होगा, और इस तरह कारणोंका कोई प्रतिनियम ही नही रह जायगा।

यद्यपि अर्थोपलब्धि और ज्ञान दो पृथक् वस्तुएँ नही है फिर भी साधनकी दृष्टिसे उनमें पर्याय और पर्यायीका भेद है ही। प्रमा भावसाधन है और वह

१ "अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री प्रमाणम्। न्यायम० पृ० १२।

२ 'तस्याज्ञानरूपस्य प्रमेयार्थवत् स्वपरपरिच्छित्तौ साधकतमत्वाभावत प्रमाणत्वायोगात्। तत्परिच्छित्तौ साधकतमत्वस्य अज्ञानविरोधिना ज्ञानेन व्याप्तत्वात्।'—प्रमेयक० पृ० ८।

प्रमाणका फल है, जब कि ज्ञान करणसाधन है और स्वयं करणभूत-प्रमाण है। अवशिष्ट सारी सामग्रीका उपयोग इस प्रमाणभूत ज्ञानको उत्पन्न करनेमे होता है। यानी सामग्री ज्ञानको उत्पन्न करती है और ज्ञान जानता है। यदि ज्ञानकी तरह शेष सामग्री भी स्वभावत जाननेवाली होती तो उसे भी ज्ञानके साथ 'साधकतम' पदपर बैठाया जा सकता था और प्रमाणसज्ञा दी जा सकती थी। वह सामग्री-युद्धवीरकी जननी हो सकती है, स्वय योद्धा नही। सीधी-सी बात है कि प्रमिति चूंकि चेतनात्मक है और चेतनका धर्म है, अत. उस चेतन क्रियाका साधकतम चेतनधर्म ही हो सकता है। वह अज्ञानको हटानेवाली है, अत उसका साधकतम अज्ञानका विरोधी ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नही।

इन्द्रियव्यापार भी प्रमाण नही :

इसी तरह[1] साख्यसम्मत इन्द्रियोका व्यापार भी प्रमाण नही माना जा सकता, क्योकि व्यापार भी इन्द्रियोकी तरह अचेतन और अज्ञानरूप ही होगा, ज्ञानात्मक नही। और अज्ञानरूप व्यापार प्रमामे साधकतम न होनेसे प्रमाण नही हो सकता, अत सम्यग्ज्ञान ही एकान्तरूपसे प्रमाण हो सकता है, अन्य नही।

प्रामाण्य-विचार :

प्रमाण जिस पदार्थको जिस रूपमें जानता है उसका उसी रूपमें प्राप्त होना यानी प्रतिभात विषयका अव्यभिचारी होना प्रामाण्य कहलाता है। यह प्रमाणका धर्म है। इसकी उत्पत्ति उन्ही कारणोसे होती है जिन कारणोसे प्रमाण उत्पन्न होता है। अप्रामाण्य भी इसी तरह अप्रमाणके कारणोसे ही पैदा होता है। प्रामाण्य हो या अप्रामाण्य, उसकी उत्पत्ति परसे ही होती है। [2]ज्ञप्ति अभ्यास-दशामें स्वत और अनभ्यासदशामे किसी स्वत प्रमाणभूत ज्ञानान्तरसे यानी परत हुआ करती है। जैसे जिन स्थानोका हमें परिचय है उन जलाशयादिमें होनेवाला जलज्ञान या मरीचिज्ञान अपने आप अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता बता देता है, किन्तु अपरिचित स्थानोमे होनेवाले ज्ञानकी प्रमाणताका ज्ञान पनहारियोका पानी भरकर लाना, मेंढकोका टर्राना या कमलकी गन्धका आना आदि जलके अविना-भावी स्वत प्रमाणभूत ज्ञानोसे ही होता है। इसी तरह जिस वक्ताके गुण-दोषोका हमें परिचय है उसके वचनोकी प्रमाणता और अप्रमाणता तो हम स्वत जान लेते है, पर अन्यके वचनोकी प्रमाणताके लिए हमे दूसरे संवाद आदि कारणोकी अपेक्षा होती है।

---

१. देखो, योगद० व्यासभा० पृ० २७।

२ 'तत्प्रामाण्य स्वत परतश्च।'—परीक्षामुख १।१३।

मीमांसक वेदको अपौरुषेय मानकर उसे स्वत. प्रमाण कहते हैं। उसका प्रधान कारण यह है कि वेद, धर्म और उसके नियम उपनियमोंका प्रतिपादन करनेवाला है। धर्मादि अतीन्द्रिय हैं। किसी पुरुषमें ज्ञानका इतना विकास नही हो सकता, जो वह अतीन्द्रियदर्शी हो सके। यदि पुरुषोंमें ज्ञानका प्रकर्ष या उनके अनुभवोंको अतीन्द्रिय साक्षात्कारका अधिकारी माना जाता है तो परिस्थितिविशेष-में धर्मादिके स्वरूपका विविध प्रकारसे विवेचन ही नही, निर्माण भी सभव हो सकता है, और इस तरह वेदके निर्बाध एकाधिकारमें बाधा आ सकती है। वक्ताके गुणोसे वचनोमें प्रमाणता आती है और दोषोंसे अप्रमाणता, इस सर्वमान्य सिद्धान्तको स्वीकार करके भी मीमांसकने वेदको दोषोंसे मुक्त अर्थात् निर्दोष कहनेका एक नया तरीका निकाला। उसने कहा कि 'शब्दके दोष वक्ताके अधीन होते हैं और उनका अभाव यद्यपि साधारणतया वक्ताके गुणोंसे ही होता है किन्तु यदि वक्ता ही न माना जाय तो निराश्रय दोषोकी सम्भावना शब्दमें नही रह जाती।' इस तरह जब शब्दमें वक्ताका अभाव मानकर दोषोकी निवृत्ति कर दी गई और उन्हें स्वत. प्रमाण मान लिया गया, तब इसी पद्धतिको अन्य प्रमाणोमें भी लगाना पड़ा और यहाँ तक कल्पना करना पड़ी कि गुण अपनेमें स्वतन्त्र वस्तु ही नही है किन्तु वे दोषाभावरूप हैं। अत अप्रमाणता तो दोषोसे आती है पर प्रमाणता दोषोका अभाव होनेसे स्वत आ जाती है। ज्ञानको उत्पन्न करनेवाले जो भी कारण है उनसे प्रमाणता तो उत्पन्न होती है पर अप्रमाणतामें उन कारणो-से अतिरिक्त 'दोष' भी अपेक्षित होते हैं। यानी निर्मलता चक्षु आदिका स्वरूप है, स्वरूपसे अतिरिक्त कोई गुण नही है। जहाँ अतिरिक्त दोष मिल जाता है, वहाँ अप्रमाणता दोषकृत होनेसे परत होती है और जहाँ दोषकी सम्भावना नही है वहाँ प्रमाणता स्वत. ही आती है। शब्दमे भी इसी तरह स्वत प्रामाण्य स्वीकार करके जहाँ वक्ताके दोष आ जाते हैं वहाँ अप्रमाणता दोषप्रयुक्त होनेसे परतः मानी जाती है।

मीमांसक ईश्वरवादी नही हैं, अत. वेदकी प्रमाणता ईश्वरमूलक तो वे मान ही नही सकते थे। अत, उनके सामने एक ही मार्ग रह जाता है वेदको स्वत-प्रमाण माननेका।

नैयायिकादि[1] वेदकी प्रमाणता उसके ईश्वरकर्तृक होनेसे परत. ही मानते हैं।

---

१. 'प्रमाया. परतन्त्रत्वात्।' —न्यायकुसुमाञ्जलि २।१।

आचार्य शान्तरक्षित[1] ने बौद्धोका पक्ष 'अनियमवाद' के रूपमे रखा है। वे कहते हैं—'प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनो स्वत, दोनो परत, प्रामाण्य स्वत अप्रामाण्य परत. और अप्रामाण्य स्वत प्रामाण्य परत' इन चार नियम पक्षोसे अतिरिक्त पाँचवाँ 'अनियम पक्ष' भी है जो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोको अवस्थाविशेषमें स्वत. और अवस्थाविशेषमें परत माननेका है। यही पक्ष बौद्धोको इष्ट है। दोनोको स्वत. माननेका पक्ष 'सर्वदर्शनसग्रह'[2] में साख्यके नामसे तथा अप्रामाण्यको स्वत. और प्रामाण्यको परत माननेका पक्ष [3]बौद्धके नामसे उल्लिखित है, पर उनके मूल ग्रथोमे इन पक्षोंका उल्लेख नही मिलता।

नैयायिक दोनोको परत[4] मानते है—सवादसे प्रामाण्य और बाधकप्रत्ययसे अप्रामाण्य आता है। जैन जिस वक्ताके गुणोका प्रत्यय है उसके वचनोंको तत्काल स्वत प्रमाण कह भी दें, पर शब्दकी प्रमाणता गुणोसे ही आती है, यह सिद्धान्त निरपवाद है। अन्य प्रमाणोमे अभ्यास और अनभ्याससे प्रामाण्य और अप्रामाण्यके स्वत और परत का निश्चय होता है।

मीमासक यद्यपि प्रमाणकी उत्पत्ति कारणोसे मानता है पर उसका अभिप्राय यह है कि जिन कारणोसे ज्ञान उत्पन्न होता है उससे अतिरिक्त किसी अन्य कारणकी, प्रमाणताकी उत्पत्तिमे अपेक्षा नही होती। जैनका कहना है कि इन्द्रियादि कारण या तो गुणवाले होते है या दोषवाले, क्योकि कोई भी सामान्य अपने विशेषोमें ही प्राप्त हो सकता है। कारण-सामान्य भी या तो गुणवान् कारणोमें मिलेगा या दोषवान् कारणोमे। अत. यदि दोषवान् कारणोसे उत्पन्न होनेके कारण अप्रामाण्य परत माना जाता है तो गुणवान् कारणोंसे उत्पन्न होनेसे प्रामाण्यको भी परत ही मानना चाहिये। यानी उत्पत्ति चाहे प्रामाण्यकी हो या अप्रामाण्यकी, हर हालतमें वह परत ही होगी। जिन कारणोसे प्रमाण या अप्रमाण पैदा होगा, उन्ही कारणोसे उनकी प्रमाणता और अप्रमाणता भी उत्पन्न हो ही जाती है। प्रमाण और प्रमाणताकी उत्पत्तिमें समयभेद नही है। ज्ञप्ति और प्रवृत्तिके सम्बन्धमें कहा जा चुका है कि वे अभ्यास दशामें स्वत. और अनभ्यास दशामे परत. होती है।

१ 'न हि बौद्धैरेषा चतुर्णामेकतमोऽपि पक्षोऽभीष्ट, अनियमपक्षस्येष्टत्वात्। तथाहि–उभयमप्येतत् किञ्चित् स्वत किञ्चित् परत इति पूर्वमुपवर्णितम्। अत एव पक्षचतुष्टयोपन्यासोऽप्ययुक्त पञ्चमस्य अनियमपक्षस्य सभवात्।' —तत्त्वस० प० का० ३१२३।

२ 'प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे स्वत. साख्या समाश्रिता।' —सर्वद० पृ० २७९।

३ 'सौगताश्चरम स्वत.।' —सर्व० पृ० २७९।

४. 'द्वयमपि परतः इत्येष एव पक्ष श्रेयान्।' —न्यायम० पृ० १७४।

वेदको स्वत. प्रामाण्य माननेके सिद्धान्तने मीमासकको शब्दमात्रके नित्य माननेकी ओर प्रेरित किया, क्योकि यदि शब्दको अनित्य माना जाता है तो शब्दात्मक वेदको भी कभी न कभी किसी वक्ताके मुखसे उत्पन्न हुआ मानना पडेगा, जो कि उसकी स्वत. प्रमाणताका विघातक सिद्ध हो सकता है। वक्ताके मुखसे एकान्तत जन्म लेनेवाले सार्थक भाषात्मक शब्दोको भी नित्य और अपौरुषेय कहना युक्ति और अनुभव दोनोसे विरुद्ध है। परम्परा और सन्ततिकी दृष्टिसे भले ही भाषात्मक शब्द अनादि हो जाँय, पर तत्तत्समयोमें उत्पन्न होने-वाले शब्द तो उत्पत्तिके बाद ही नष्ट हो जाते हैं। शब्द तो जलकी लहरके समान पौद्गलिक वातावरणमें उत्पन्न होते है और नष्ट होते हैं, अत' उन्हें नित्य नही माना जा सकता। फिर उस वेदको, जिसमे अनेक राजा, ऋषि, नगर, नदी और देश आदि अनित्य और सादि पदार्थोके नाम आते है, नित्य, अनादि और अपौरुषेय कहकर स्वत प्रमाण कैसे माना जा सकता है?

प्रमाणता या अप्रमाणता सर्वप्रथम तो परत ही गृहीत होती है, आगे परिचय और अभ्यासके कारण भले ही वे अवस्थाविशेषमें स्वत. हो जायँ। गुण और दोष दोनो वस्तुके ही धर्म है। वस्तु या तो गुणात्मक होती है या दोषात्मक। अत गुणको 'स्वरूप' कहकर उसका अस्तित्व नही उडाया जा सकता। दोनोकी स्थिति बराबर होती है। यदि काचकामलादि दोष है तो निर्मलता चक्षुका गुण है। अतः गुण और दोष रूप कारणोसे उत्पन्न होनेके कारण प्रमाणता और अप्रमाणता दोनो ही परत मानी जानी चाहिए।

प्रमाणसंप्लव-विचार :

एक ही प्रमेयमें अनेक प्रमाणोकी प्रवृत्तिको 'प्रमाणसम्प्लव' कहते है। बौद्ध पदार्थोको क्षणिक मानते है। उनका यह भी सिद्धान्त है कि ज्ञान अर्थजन्य होता है। जिस विवक्षित पदार्थसे कोई एक प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न हुआ है, वह पदार्थ दूसरे क्षणमे नियमसे नष्ट हो जाता है, इसलिए किसी भी अर्थमें दो ज्ञानोकी प्रवृत्तिका अवसर ही नही है। बौद्धोने प्रमेयके दो भेद किये है—एक विशेष (स्वलक्षण) और दूसरा सामान्य (अन्यापोह)। विशेषपदार्थको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष है और सामान्यको जाननेवाले अनुमानादि विकल्पज्ञान। इस तरह प्रमेयद्वैविध्यसे प्रमाण[1]द्वैविध्यकी नियत व्यवस्था होनेसे कोई भी प्रमाण जब अपनी विषयमर्यादा-को नही लाँघ सकता, तब विजातीय प्रमाणकी तो स्वनियत विषयसे भिन्न प्रमेयमें

---

१. 'मान द्विविध विषयद्वैविध्यात्।'—प्रमाणवा० २।१।

प्रवृत्ति ही नही हो सकती । रह जाती है सजातीय प्रमाणान्तरके सप्लवकी बात, सो द्वितीय क्षणमें जब वह पदार्थ ही नही रहता, तब सप्लवकी चर्चा अपने आप ही समाप्त हो जाती है ।

जैन पदार्थको एकान्त क्षणिक न मानकर उसे कथञ्चित् अनित्य और सामान्य-विशेपात्मक मानते है । यही पदार्थ सभी प्रमाणोका विषय होता है । वस्तु अनन्त-धर्मवाली है । अमुक ज्ञानके द्वारा वस्तुके अमुक अशोका निश्चय होने पर भी अगृहीत अशोको जाननेके लिये प्रमाणान्तरको अवकाश है ही । इसी तरह जिन ज्ञात अंशोका सवाद हो जानेसे निश्चय हो चुका है उन अशोमें भले ही प्रमाणान्तर कुछ विशेप परिच्छेद न करें । पर जिन अशोमे असवाद होनेके कारण अनिश्चय या विपरीत निश्चय है, उनका निश्चय करके तो प्रमाणान्तर विशेषपरिच्छेद होनेसे प्रमाण ही होता है । अकलकदेवने प्रमाणके लक्षणमें 'अनधिगतार्थग्राही' पद दिया है, अत अनिश्चित अशके निश्चयमे या निश्चिताशमे उपयोगविशेप होनेपर ही प्रमाणसप्लव स्वीकार किया जाता है,[1] जब कि नैयायिकने प्रमाणके लक्षणमे ऐसा कोई पद नही रखा है, अत- उसकी दृष्टिसे वस्तु गृहीत हो या अगृहीत, यदि इन्द्रियादि कारणकलाप मिलते है तो प्रमाणकी प्रवृत्ति अवश्य ही होगी । उपयोग-विशेष हो या न हो, कोई भी ज्ञान इसलिए अप्रमाण नही हो सकता कि उसने गृहीतको ग्रहण किया है । तात्पर्य यह कि नैयायिकको प्रत्येक अवस्थामे प्रमाण-सप्लव स्वीकृत है ।

जैन परम्परामे अवग्रहादि ज्ञानोके ध्रुव और अध्रुव भेद भी किये है । ध्रुवका अर्थ है जैसा ज्ञान पहले होता है वैसा ही वादमें होना । ये ध्रुवावग्रहादि प्रमाण भी है । अत- सिद्धान्तदृष्टिसे जैन अपने नित्यानित्य पदार्थमें सजातीय या विजातीय प्रमाणोकी प्रवृत्ति और संवादके आधारसे उनकी प्रमाणताको स्वीकार करते ही है । जहाँ विशेपपरिच्छेद होता है वहाँ तो प्रमाणता है ही, पर जहाँ विशेषपरिच्छेद नही भी हो, पर यदि सवाद है तो प्रमाणताको कोई नही रोक सकता । यद्यपि[2] कही गृहीतग्राही ज्ञानको प्रमाणाभासमे गिनाया है, पर ऐसा प्रमाणके लक्षणमें 'अपूर्वार्थ' पद या 'अनधिगत' विशेषण देनेके कारण हुआ है । वस्तुत ज्ञानकी प्रमाणताका आधार अविसवाद या सम्यग्ज्ञानत्व ही है, अपूर्वार्थग्राहित्व नही । पदार्थके नित्यानित्य होनेके कारण उसमें अनेक प्रमाणोकी प्रवृत्तिका पूरा-पूरा अवसर है ।

---

१. 'उपयोगविशेषस्याभावे प्रमाणसंप्लवानभ्युपगमात् ॥'
—अष्टसह० पृ० ४ ।

२. परीक्षामुख ६।१ ।

प्रमाणके भेद :

[1] प्राचीन कालसे प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद निर्विवाद रूपसे स्वीकृत चले आ रहे हैं। आगमिक परिभाषामें आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष कहते है, और जिन ज्ञानोमे इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि परसाधनोंकी अपेक्षा होती है वे परोक्ष है। प्रत्यक्ष और परोक्षकी यह [1]परिभाषा जैन परम्पराकी अपनी है। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने परिणमनमे स्वय उपादान होती है। जितने परनिमित्तक परिणमन है, वे सब व्यवहारमूलक हैं। जो मात्र स्वजन्य है, वे ही परमार्थ हैं और निश्चयनयके विषय है। प्रत्यक्ष और परोक्षके लक्षण और विभाजनमें भी यही दृष्टि काम कर रही है और उसके निर्वाहके लिए 'अक्ष' शब्दका अर्थ[2] आत्मा किया गया है। प्रत्यक्ष शब्दका प्रयोग जो लोकमें इन्द्रिय-प्रत्यक्षके अर्थमें देखा जाता है उसे साव्यवहारिक सज्ञा दी गई है, यद्यपि आगमिक परमार्थ व्याख्याके अनुसार इन्द्रियजन्य ज्ञान परसापेक्ष होनेसे परोक्ष है, किन्तु लोकव्यवहारकी भी उपेक्षा नही की जा सकती थी। जैन दृष्टिमे उपादान-योग्यतापर ही विशेष भार दिया गया है। निमित्तसे यद्यपि उपादान-योग्यता विकसित होती है, परन्तु निमित्तसापेक्ष परिणमन उत्कृष्ट और शुद्ध नही माने जाते। इसीलिए प्रत्यक्ष जैसे उत्कृष्ट ज्ञानमें उपादान आत्माकी ही अपेक्षा मानी है, इन्द्रिय और मन जैसे निकटतम साधनोकी नही। आत्ममात्र-सापेक्षता प्रत्यक्षव्यवहारका कारण है और इन्द्रियमनोजन्यता परोक्षव्यवहारकी नियामिका है। यह जैन दृष्टिका अपना आध्यात्मिक निरूपण है। तात्पर्य यह है कि जो ज्ञान सर्वथा स्वावलम्बी है, जिसमे बाह्य साधनोकी आवश्यकता नही है वही ज्ञान प्रत्यक्ष कहलानेके योग्य है, और जिसमें इन्द्रिय, मन और प्रकाश आदि साधनोकी आवश्यकता होती है, वे ज्ञान परोक्ष हैं। इस तरह मूलमे प्रमाणके दो भेद होते है—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष।

प्रत्यक्ष प्रमाण :

सिद्धसेन दिवाकर[3]ने प्रत्यक्षका लक्षण 'अपरोक्षरूपसे अर्थका ग्रहण करना प्रत्यक्ष है' यह किया है। इस लक्षणमें प्रत्यक्षका स्वरूप तब तक समझमें नही आता, जब तक कि परोक्षका स्वरूप न समझ लिया जाय। अकलकदेवने 'न्याय-

---

१ 'ज परदो विण्णाणं त तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णाद हवदि हु जीवेण पच्चक्ख ॥'—प्रवचनसार गा० ५८।

२. 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा'—सर्वार्थसि० पृ० ५९।

३. 'अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहक ज्ञानमीदृशम्।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेय परोक्ष ग्रहणेक्षया ॥'—न्यायावतार श्लो० ४।
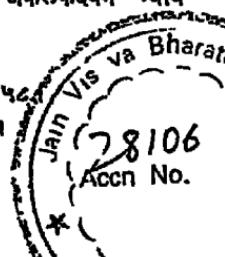
विनिश्चय'में स्पष्ट ज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है[1]। उनके लक्षणमें 'साकार' और 'अञ्जसा' पद भी अपना विशेष महत्त्व रखते हैं, अर्थात् साकारज्ञान जब अञ्जसा स्पष्ट अर्थात् परमार्थरूपसे विशद हो तब उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वैशद्यका लक्षण अकलंकदेवने स्वयं लघीयस्त्रयमें इस तरह किया है—

"अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्यं मतं बुद्धेरवैशद्यमत. परम् ॥४॥"

अर्थात् अनुमानादिसे अधिक नियत देश, काल और आकाररूपसे प्रचुरतर विशेषोंके प्रतिभासनको वैशद्य कहते हैं। दूसरे शब्दोंमें जिस ज्ञानमें किसी अन्य ज्ञानकी सहायता अपेक्षित न हो वह ज्ञान विशद कहलाता है। जिस तरह अनुमानादि ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें लिंगज्ञान, व्याप्तिस्मरण आदिकी अपेक्षा रखते हैं, उस तरह प्रत्यक्ष अपनी उत्पत्तिमें किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रखता। यही अनुमानादिसे प्रत्यक्षमें अतिरेक—अधिकता है।

यद्यपि बौद्ध[2] भी विशदज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं; पर वे केवल निर्विकल्पक ज्ञानको ही प्रत्यक्षकी सीमामे रखते हैं। उनका यह अभिप्राय है कि स्वलक्षणवस्तु परमार्थत. शब्दशून्य है। अतः उससे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष भी शब्दशून्य ही होना चाहिये। शब्दका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्दके अभावमें भी पदार्थ अपने स्वरूपमें रहता है और पदार्थके न होने पर भी यथेच्छ शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। शब्दका प्रयोग संकेत और विवक्षाके अधीन है। अत. परमार्थसत् वस्तुसे उत्पन्न होनेवाले निर्विकल्पक प्रत्यक्षसे शब्दकी सम्भावना नहीं है। शब्दका प्रयोग तो विकल्पवासनाके कारण पूर्वोक्त निर्विकल्पक ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले सविकल्पक ज्ञानमें ही होता है। शब्द-संसृष्टज्ञान नियमसे पदार्थका ग्राहक नहीं होता। अनेक विकल्पकज्ञान ऐसे होते हैं. जिनके विषयभूत पदार्थ विद्यमान नहीं होते, जैसे शेखचिल्लीकी 'मैं राजा हूँ' इत्यादि कल्पनाओंके। जो विकल्पज्ञान निर्विकल्पकसे उत्पन्न होता है, मात्र विकल्पवासनासे नहीं, उस सविकल्पकमें जो विशदता और अर्थनियतता देखी जाती है, वह उस विकल्पका अपना धर्म नहीं है, किन्तु निर्विकल्पकसे उधार लिया हुआ है। निर्विकल्पकके अनन्तर क्षणमें ही सविकल्पक उत्पन्न होता है, अतः निर्विकल्पककी विशदता सविकल्पकमें प्रतिभासित होने लगती है और इस तरह सविकल्पक भी निर्विकल्पककी विशदताका स्वामी बनकर व्यवहारमें प्रत्यक्ष कहा जाता है।

---

१ 'प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा'—न्यायवि० श्लो० ३।

२. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं वेद्यतेऽतिपरिस्फुटम्।'—तत्त्वसं० का० १२३४।

परन्तु जैन दार्शनिक परम्परामें निराकार निर्विकल्पक दर्शनको प्रमाणकोटिसे बहिर्भूत ही रखा है और निश्चयात्मक सविकल्पक ज्ञानको ही प्रमाण मानकर विशदज्ञानको प्रत्यक्षकोटिमें लिया है। बौद्धका निर्विकल्पकज्ञान विषयविषयी-सन्निपातके अनन्तर होनेवाले सामान्यावभासी अनाकार दर्शनके समान है। यह अनाकार दर्शन इतना निर्बल होता है कि इससे व्यवहार तो दूर रहा किन्तु पदार्थ-का निश्चय भी नहीं हो पाता। अतः इसको स्पष्ट या प्रमाण मानना किसी भी तरह उचित नहीं है। विशदता और निश्चयपना विकल्पका अपना धर्म है और वह ज्ञानावरणके क्षयोपशमके अनुसार इसमें पाया जाता है। इसी अभिप्रायका सूचन करनेके लिए अकलंकदेवने 'अञ्जसा' और साकार पद प्रत्यक्षके लक्षणमें दिये हैं। जिन विकल्पज्ञानोंका विषयभूत पदार्थ बाह्यमें नहीं मिलता वे विकल्पाभास हैं, प्रत्यक्ष नहीं। जैसे शब्दशून्य निर्विकल्पकसे शब्दसंसृष्ट विकल्प उत्पन्न हो जाता है वैसे यदि शब्दशून्य अर्थसे भी सीधा विकल्प उत्पन्न हो तो क्या बाधा है? क्योंकि ज्ञानकी उत्पत्तिमें पदार्थकी असाधारण कारणता नहीं है।

ज्ञात होता है कि वेदकी प्रमाणताका खण्डन करनेके विचारसे बौद्धोंने शब्दका अर्थके साथ वास्तविक सम्बन्ध ही नहीं माना और उन यावत् शब्दसंसृष्ट ज्ञानोंका, जिनका समर्थन निर्विकल्पकसे नहीं होता, अप्रामाण्य घोषित कर दिया है, और उन्हीं ज्ञानोंको प्रमाण माना है, जो साक्षात् या परम्परासे अर्थसामर्थ्यजन्य हैं। परन्तु शब्दमात्रको अप्रमाण कहना उचित नहीं है। वे शब्द भले ही अप्रमाण हों, जिनका विषयभूत अर्थ उपलब्ध नहीं होता।

जब आत्ममात्रसापेक्ष ज्ञानको प्रत्यक्ष माना और अक्ष शब्दका अर्थ आत्मा किया गया, तब लोकव्यवहारमें प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्षकी समस्याका समन्वय जैन दार्शनिकोंने एक 'संव्यवहारप्रत्यक्ष' मानकर किया। विशेषावश्यकभाष्य[1] और लघीयस्त्रय[2] ग्रन्थोंमें इन्द्रिय और मनोजन्य ज्ञानको संव्यवहार प्रत्यक्ष स्वीकार किया है। इसके कारण भी ये हैं कि एक तो लोकव्यवहारमें तथा सभी इतर दर्शनोंमें यह प्रत्यक्षरूपसे प्रसिद्ध है और प्रत्यक्षता-के प्रयोजक वैशद्य (निर्मलता) का अंश इसमें पाया जाता है। इस तरह उपचारका कारण मिलनेसे इन्द्रियप्रत्यक्षमें प्रत्यक्षताका उपचार कर लिया गया है। वस्तुतः आध्यात्मिक दृष्टिसे ये ज्ञान परोक्ष ही हैं। तत्त्वार्थसूत्र (१।१३) में मतिज्ञानकी

1. 'इंदियमणोभवं जं तं संववहारपच्चक्खं।'—विशेषा० गा० ९५।
2. 'तत्र सांव्यवहारिकम् इन्द्रियानिन्द्रियप्रत्यक्षम्।'

—लघी० स्ववृ० श्लोक० ४।

मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोध इन पर्यायोंका निर्देश मिलता है। इनमें मति, इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान है। इसकी उत्पत्तिमें ज्ञानान्तरकी आवश्यकता नही होती। आगेके स्मृति, संज्ञा, चिन्ता आदि ज्ञानोंमें क्रमशः पूर्वानुभव, स्मरण और प्रत्यक्ष, स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान, लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरण आदि ज्ञानान्तरोंकी अपेक्षा रहती है, जब कि इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षमें कोई भी अन्य ज्ञान अपेक्षित नही होता। इसी विशेषताके कारण इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्षरूपी मतिको सव्यवहारप्रत्यक्षका पद मिला है।

१. सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष :

पाँच इन्द्रियाँ और मन इन छह कारणोंसे संव्यवहारप्रत्यक्ष उत्पन्न होता है। इसके मूल दो भेद है (१) इन्द्रियसंव्यवहारप्रत्यक्ष, (२) अनिन्द्रियसंव्यवहार-प्रत्यक्ष। अनिन्द्रियप्रत्यक्ष केवल मनसे उत्पन्न होता है, जब कि इन्द्रियप्रत्यक्षमें इन्द्रियोंके साथ मन भी कारण होता है।

इन्द्रियोंकी प्राप्यकारिता-अप्राप्यकारिता :

[1]इन्द्रियोंमें चक्षु और मन अप्राप्यकारी है अर्थात् ये पदार्थको प्राप्त किये बिना ही दूरसे ही उसका ज्ञान कर लेते हैं। स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पदार्थोंसे सम्बद्ध होकर उन्हें जानती हैं। कान शब्दको स्पृष्ट होनेपर सुनता है। स्पर्शनादि इन्द्रियाँ पदार्थोंके सम्बन्धकालमें उनसे स्पृष्ट भी होती हैं और बद्ध भी। बद्धका अर्थ है—इन्द्रियोंमें अल्पकालिक विकारपरिणति। जैसे अत्यन्त ठण्डे पानी में हाथ डुबानेपर कुछ कालतक हाथ ऐसा ठिठुर जाता है कि उससे दूसरा स्पर्श शीघ्र गृहीत नही होता। किसी तेज गरम पदार्थको खा लेनेपर रसना भी विकृत होती हुई देखी जाती है। परन्तु कानसे किसी भी प्रकारके शब्द सुननेपर ऐसा कोई विकार अनुभवमे नही आता।

सन्निकर्ष-विचार :

नैयायिकादि चक्षुका भी पदार्थके साथ सन्निकर्ष मानते हैं। उनका कहना है कि चक्षु तैजस पदार्थ है। उसकी किरणें निकलकर पदार्थोंसे सम्बन्ध करती है और तब चक्षुके द्वारा पदार्थका ज्ञान होता है। चक्षु चूँकि पदार्थके रूप, रस आदि गुणोंमेसे केवल रूपको ही प्रकाशित करती है, अतः वह दीपककी तरह तैजस है। मन व्यापक आत्मासे सयुक्त होता है और आत्मा जगत्के समस्त पदार्थोंसे सयुक्त

---

१. 'पुट्ठं सुणेइ सद्दं अपुट्ठं पुण वि पस्सदे रूवं।
फास रसं च गधं बद्धं पुट्ठ वियाणादि ॥'—आ० नि० गा० ५।

स्पष्ट निर्देश करते है। यदि श्रोत्र प्राप्यकारी होता तो शब्दमे दूर और निकट व्यवहार नही होना चाहिए था। किन्तु [1]जब श्रोत्र कानमें घुसे हुए मच्छरके शब्दको सुन लेता है, तो अप्राप्यकारी नही हो सकता। प्राप्यकारी घ्राण इन्द्रियके विषयभूत गन्धमें भी 'कमलकी गन्ध दूर है, मालतीकी गन्ध पास है' इत्यादि व्यवहार देखा जाता है। यदि चक्षुकी तरह श्रोत्र भी अप्राप्यकारी है तो जैसे रूपमें दिशा और देशका सशय नही होता उसी तरह शब्दमे भी नही होना चाहिए था, किन्तु शब्दमें 'यह किस दिशासे शब्द आया है ?' इस प्रकारका सशय देखा जाता है। अत श्रोत्रको भी स्पर्शनादि इन्द्रियोकी तरह प्राप्यकारी ही मानना चाहिए। जब शब्द वातावरणमें उत्पन्न होता हुआ क्रमश कानके भीतर पहुँचता है, तभी सुनाई देता है। श्रोत्रका शब्दोत्पत्तिके स्थानमे पहुँचना तो नितान्त बाधित है।

ज्ञानका उत्पत्ति-क्रम, अवग्रहादिभेद :

साव्यवहारिक इन्द्रियप्रत्यक्ष चार भागोमें विभाजित है—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। सर्वप्रथम विषय और विषयीके सन्निपात (योग्यदेशावस्थितिमें) होनेपर दर्शन होता है। यह दर्शन सामान्य-सत्ताका आलोचक होता है। इसके आकारको हम मात्र 'है' के रूपमे निर्दिष्ट कर सकते है। यह अस्तित्वरूप महासत्ता या सामान्य-सत्ताका प्रतिभास करता है। इसके बाद उस विषयकी अवान्तरसत्ता (मनुष्यत्व आदि) से युक्त वस्तुका ग्रहण करनेवाला 'यह पुरुष है' ऐसा अवग्रह ज्ञान होता है। अवग्रह ज्ञानमें पुरुषत्वविशिष्ट पुरुषका स्पष्ट बोध होता है। जो इन्द्रियाँ प्राप्यकारी है, उनके द्वारा दर्शनके बाद सर्वप्रथम व्यजनावग्रह होता है। जिस प्रकार कोरे घडेमें जब दो, तीन, चार जलबिन्दुएँ तुरन्त सूख जाती है, तब कही घडा धीरे-धीरे गीला होता है, उसी तरह व्यंजनावग्रहमें पदार्थका अव्यक्त बोध होता है। इसका कारण यह है कि प्राप्यकारी स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रियाँ अनेक प्रकारकी उपकरण-त्वचाओसे आवृत रहती है, अत. उन्हे भेदकर इन्द्रिय तक विषय-सम्बन्ध होनेमे एक क्षण तो लग ही जाता है। अप्राप्यकारी चक्षुकी उपकरणभूत पलके आँखके तारेके ऊपर है और पलकें खुलनेके बाद ही देखना प्रारम्भ होता है। आँख खुलनेके बाद पदार्थके देखनेमें अस्पृष्टताकी गुंजाइश नही रहती। जितनी शक्ति होगी, उतना स्पष्ट ही दिखेगा। अतः चक्षुइन्द्रियसे व्यञ्जनावग्रह नही होता। व्यञ्जनावग्रह शेष चार इन्द्रियोसे ही होता है।

अवग्रहके बाद उसके द्वारा ज्ञात विषयमें 'यह पुरुष दक्षिणी है या उत्तरी ?' इस प्रकारका विशेषविषयक सशय होता है। सशयके अनन्तर भाषा और वेशको

---

१. देखो, तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६८-३६।

देखकर निर्णयकी ओर झुकनेवाला 'यह दक्षिणी होना चाहिए' ऐसा भवितव्यता-रूप 'ईहा' ज्ञान होता है।

ईहाके बाद विशेष चिह्नोंसे 'यह दक्षिणी ही है' ऐसा निर्णयात्मक 'अवाय' ज्ञान होता है। कहीं इसका अपायके रूपमें भी उल्लेख मिलता है, जिसका अर्थ है 'अनिष्ट अंशकी निवृत्ति करना'। अपाय अर्थात् 'निवृत्ति'। अवायमें इष्ट अंशका निश्चय विवक्षित है जब कि अपायमें अनिष्ट अंशकी निवृत्ति मुख्यरूपमें लक्षित होती है।

यही अवाय उत्तरकालमें दृढ होकर 'धारणा' बन जाता है। इसी धारणाके कारण कालान्तरमें उस वस्तुका स्मरण होता है। धारणाको संस्कार भी कहते हैं। जब तक इन्द्रियव्यापार चालू है तब तक धारणा इन्द्रियप्रत्यक्षके रूपमें रहती है। इन्द्रियव्यापारके निवृत्त हो जानेपर यही धारणा शक्तिरूपमें संस्कार बन जाती है।

इनमें संशय ज्ञानको छोडकर बाकी व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा यदि अर्थका यथार्थ निश्चय कराते हैं तो प्रमाण हैं, अन्यथा अप्रमाण। प्रमाणका अर्थ है जो वस्तु जैसी प्रतिभासित होती है उसका उसी रूपमें मिलना।

सभी ज्ञान स्वसंवेदी हैं :

ये सभी ज्ञान स्वसंवेदी होते हैं। ये अपने स्वरूपका बोध स्वयं करते हैं। अत. स्वसंवेदनप्रत्यक्षको स्वतन्त्र माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। जो जिस ज्ञानका संवेदन है, वह उसीमें अन्तर्भूत हो जाता है, इन्द्रियप्रत्यक्षका स्वसंवेदन इन्द्रियप्रत्यक्षमें और मानसप्रत्यक्षका स्वसंवेदन मानसप्रत्यक्षमें। किन्तु स्वसंवेदनकी दृष्टिसे अप्रमाणव्यवहार या प्रमाणाभासकी कल्पना कथमपि नहीं होती। ज्ञान प्रमाण हो या अप्रमाण, उसका स्वसंवेदन तो ज्ञानके रूपमें यथार्थ ही होता है। 'यह स्थाणु है या पुरुष ?' इस प्रकारके संशय ज्ञानका स्वसंवेदन भी अपनेमें निश्चयात्मक ही होता है। उक्त प्रकारके ज्ञानके होनेमें संशय नहीं है। संशय तो उसके विषयभूत पदार्थमें है। इसी प्रकार विपर्यय और अनध्यवसाय ज्ञानोंका स्वसंवेदन अपनेमें निश्चयात्मक और यथार्थ ही होता है।

मानसप्रत्यक्षमें केवल मनसे सुखादिका संवेदन होता ही है। उसमें इन्द्रिय-व्यापारकी आवश्यकता नहीं होती।

अवग्रहादि बहु आदि अर्थोंके होते हैं :

ये [1]अवग्रहादि ज्ञान एक, बहु, एकविध, बहुविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, निःसृत, अनिःसृत, उक्त, अनुक्त, ध्रुव और अध्रुव इस तरह बारह प्रकारके अर्थोंके होते हैं। यह

१. देखो, तत्त्वार्थसूत्र १।१६।

आदि इन्द्रियोके द्वारा होनेवाले अवग्रहादि मात्र रूपादि गुणोको ही नही जानते, किन्तु उन गुणोके द्वारा [1]द्रव्यको ग्रहण करते है, क्योकि गुण और गुणीमें कथञ्चित् अभेद होनेसे गुणका ग्रहण होने पर गुणीका भी ग्रहण उस रूपमें हो ही जाता है। किसी ऐसे इन्द्रियज्ञानकी कल्पना नही की जा सकती, जो द्रव्यको छोडकर मात्र गुणको, या गुणको छोड़कर मात्र द्रव्यको ग्रहण करता हो।

विपर्यय आदि मिथ्याज्ञान—

विपर्यय ज्ञान का स्वरूप :

इन्द्रियदोप तथा सादृश्य आदिके कारण जो विपर्यय ज्ञान होता है, वह जैन दर्शनमे विपरीत-ख्यातिके रूपसे स्वीकार किया गया है। किसी पदार्थमें उससे विपरीत पदार्थका प्रतिभास होना विपरीत-ख्याति कहलाती है। 'यह पदार्थ विपरीत है' इस प्रकारका प्रतिभास विपर्ययकालमें नही होता है। यदि प्रमाताको यह मालूम हो जाय कि 'यह पदार्थ विपरीत है' तब तो वह ज्ञान यथार्थ ही हो जायगा। अत पुरुषसे विपरीत स्थाणुमे 'पुरुष' इस प्रकारकी ख्याति अर्थात् प्रतिभास विपरीतख्याति कहलाता है। यद्यपि विपर्ययकालमें पुरुप वहाँ नही है, परन्तु सादृश्य आदिके कारण पूर्वदृष्ट पुरुषका स्मरण होकर उसमे पुरुपका भान होता है और यह सब होता है इन्द्रियदोप आदिके कारण। इसमें अलौकिक, अनिर्वचनीय, असत्, सत् या आत्माका प्रतिभास मानना या इस ज्ञानको निरालम्बन ही मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

विपर्ययज्ञानका आलम्बन तो वह पदार्थ है ही जिसमें सादृश्य आदिके कारण विपरीत भान हो रहा है और जो विपरीत पदार्थ उसमे प्रतिभासित हो रहा है। वह यद्यपि वहाँ विद्यमान नही है, किन्तु सादृश्य आदिके कारण स्मरणका विपय बनकर झलक तो जाता ही है। अन्तत विपर्ययज्ञानका विषयभूत पदार्थ विपर्यय-कालमें आलम्बनभूत पदार्थमें आरोपित किया जाता है और इसीलिए वह विपर्यय है।

असत्ख्याति और आत्मख्याति नहीं :

विपर्ययकालमें सीपमे चाँदी आ जाती है, यह निरी कल्पना है; क्योकि यदि उस कालमें चाँदी आती हो, तो वहाँ बैठे हुए पुरुपको दिख जानी चाहिये। रेतमें जलज्ञानके समय यदि जल वहाँ आ जाता है, तो पीछे जमीन तो गीली मिलनी चाहिये। मानसभ्रान्ति अपने मिथ्या सस्कार और विचारोके अनुसार अनेक प्रकारकी

१. तत्त्वार्थसूत्र १।१७।

हुआ करती है। आत्माकी तरह वाह्य पदार्थका अस्तित्व भी स्वत सिद्ध और परमार्थसत् ही है। अत. वाह्यार्थका निषेध करके नित्य ब्रह्म या क्षणिक ज्ञानका प्रतिभास कहना भी सयुक्तिक नही है।

विपर्यय ज्ञानके कारण :

विपर्यय ज्ञानके अनेक कारण होते है, वात-पित्तादिका क्षोभ, विषयकी चचलता, किसी क्रियाका अतिशीघ्र होना, सादृश्य और इन्द्रियविकार आदि। इन दोषोके कारण मन और इन्द्रियोमें विकार उत्पन्न होता है और इन्द्रियमें विकार होनेसे विपर्ययादि ज्ञान होते है। अन्तत. इन्द्रियविकार ही विपर्ययका मुख्य हेतु सिद्ध होता है।

अनिर्वचनीयार्थख्याति नहीं :

विपर्यय ज्ञानको सत्, असत् आदिरूपसे अनिर्वचनीय कहना भी उचित नही है, क्योकि उसका विपरीतरूपमें निर्वचन किया जा सकता है। 'इद रजतम्' यह शब्दप्रयोग स्वय अपनी निर्वचनीयता वता रहा है। पहले देखा गया रजत ही सादृश्यादिके कारण सामने रखी हुई सीपमें झलकने लगता है।

अख्याति नहीं :

यदि विपर्यय ज्ञानमें कुछ भी प्रतिभासित न हो, वह अख्याति अर्थात् निर्विषय हो, तो भ्रान्ति और सुषुप्तावस्थामें कोई अन्तर ही नही रह जायगा। सुषुप्तावस्थासे भ्रान्तिदशाके भेदका एक ही कारण है कि भ्रान्ति अवस्थामें कुछ तो प्रतिभासित होता है, जवकि सुषुप्तावस्थामें कुछ भी नही।

असत्ख्याति नहीं :

यदि विपर्ययमें असत् पदार्थका प्रतिभास माना जाता है, तो विचित्र प्रकारकी भ्रान्तियाँ नही हो सकेंगी, क्योकि असत्ख्यातिवादीके मतमें विचित्रताका कारण ज्ञानगत या अर्थगत कुछ भी नही है। सामने रखी हुई वस्तुभूत शुक्तिका ही इस ज्ञानका आलम्वन है, अन्यथा अगुलिके द्वारा उसका निर्देश नही किया जा सकता था। यद्यपि यहाँ रजत अविद्यमान है, फिर भी इसे असत्ख्याति नही कह सकते, क्योकि इसमें सादृश्य कारण पड रहा है, जवकि असत्ख्यातिमें सादृश्य कारण नही होता।

विपर्ययज्ञान स्मृति-प्रमोष :

विपर्ययज्ञानको इस रूपसे स्मृतिप्रमोषरूप कहना भी ठीक नही है कि 'इदं

रजतम्' यहाँ 'इदम्' शब्द सामने रखे हुए पदार्थका निर्देश करता है और 'रजतम्' पूर्वदृष्ट रजतका स्मरण है। सादृश्यादि दोषोके कारण वह स्मरण अपने 'तत्' आकारको छोडकर उत्पन्न होता है। यही उसकी विपर्ययरूपता है। यदि यहाँ 'तद्रजतम्' ऐसा प्रतिभास होता, तो वह सम्यग्ज्ञान ही हो जाता। अत. 'इदम्' यह एक स्वतंत्र ज्ञान है और 'रजतम्' यह ,अधूरा स्मरण। चूँकि दोनोका भेद ज्ञात नही होता, अत 'इदं' के साथ 'रजतम्' जुटकर 'इदं रजतम्' यह एक ज्ञान मालूम होने लगता है। किन्तु यह उचित नही है, क्योकि यहाँ दो ज्ञान प्रतिभासित ही नही होते। एक ही ज्ञान सामने रखे हुए चमकदार पदार्थको विषय करता है। विशेष बात यह है कि वस्तुदर्शनके अनन्तर तद्वाचक शब्दकी स्मृतिके समय विपरीतविशेषका स्मरण होकर वही प्रतिभासित होने लगता है। उस समय चमचमाहटके कारण शुक्तिकाके विशेष धर्म प्रतिभासित न होकर उनका स्थान रजतके धर्म ले लेते है। इस तरह विपर्ययज्ञानके बननेमे सामान्यका प्रतिभास, विशेषका अप्रतिभास और विपरीत विशेषका स्मरण ये कारण भले ही हो, पर विपर्ययकालमें 'इदं रजतम्' यह एक ही ज्ञान रहता है। और वह विपरीत आकारको विषय करनेके कारण विपरीतख्यातिरूप ही है।

संशयका स्वरूप :-

संशय ज्ञानमे जिन दो कोटियोमें ज्ञान चलित या दोलित रहता है, वे दोनो कोटियाँ भी बुद्धिनिष्ठ ही है। उभय साधारण पदार्थके दर्शनसे परस्पर विरोधी दो विशेषोका स्मरण हो जानेके कारण ज्ञान दोनो कोटियोमें झूलने लगता है। यह निश्चित है कि सशय और विपर्ययज्ञान पूर्वानुभूत विशेषके ही होते है। अननुभूतके नही।

संशय ज्ञानमें प्रथम ही सामने विद्यमान स्थाणुके उच्चत्व आदि सामान्यधर्म प्रतिभासित होते है, फिर उसके पुरुष और स्थाणु इन दो विशेषोका युगपत् स्मरण आ जानेसे ज्ञान दोनो कोटियोमें दोलित हो जाता है।

२. पारमार्थिक प्रत्यक्ष .

पारमार्थिक प्रत्यक्ष सम्पूर्ण रूपसे विशद होता है। वह मात्र आत्मासे उत्पन्न होता है। इन्द्रिय और मनके व्यापारकी उसमे आवश्यकता नही होती। वह दो प्रकारका है—एक सकलप्रत्यक्ष और दूसरा विकलप्रत्यक्ष। केवलज्ञान सकलप्रत्यक्ष है और अवधिज्ञान तथा मन पर्ययज्ञान विकलप्रत्यक्ष है।

अवधिज्ञान :

[1]अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तरायके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अवधिज्ञान है। यह रूपिद्रव्यको ही विषय करता है, आत्मादि अरूपी द्रव्यको नही। चूंकि इसकी अपनी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादा निश्चित है और यह नीचेकी तरफ अधिक विषयको जानता है, अतएव अवधिज्ञान कहा जाता है। इसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ये तीन भेद होते हैं। मनुष्य और तिर्यचोंके गुणप्रत्यय देशावधि होता है और देव तथा नारकियोके भवप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिमे कर्मका क्षयोपशम उस पर्यायके ही निमित्तसे हो जाता है, जबकि मनुष्य और तिर्यञ्चोंके होनेवाले देशावधिका क्षयोपशम गुणनिमित्तक होता है। परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी मुनिके ही होते हैं। देशावधि प्रतिपाती होता है, परन्तु सर्वावधि और परमावधि प्रतिपाती नही होते। संयमसे च्युत होकर अविरत और मिथ्यात्व-भूमिपर आ जाना प्रतिपात कहा जाता है। अथवा, मोक्ष होनेके पहले जो अवधिज्ञान छूट जाता है, वह प्रतिपाती होता है। अवधिज्ञान सूक्ष्मरूपसे एक परमाणुको जान सकता है।

मनःपर्ययज्ञान :

[2]मन पर्ययज्ञान दूसरेके मनकी बातको जानता है। इसके दो भेद है—एक ऋजुमति और दूसरा विपुलमति। ऋजुमति सरल मन, वचन, और कायसे विचारे गये पदार्थको जानता है, जब कि विपुलमति सरल और कुटिल दोनो तरहसे विचारे गये पदार्थोको जानता है। मन.पर्ययज्ञान भी इन्द्रिय और मनकी सहायताके विना ही होता है। दूसरेका मन तो इसमें केवल आलम्बन पडता है। 'मन पर्ययज्ञानी दूसरेके मनमें आनेवाले विचारोको अर्थात् विचार करनेवाले मनकी पर्यायोको साक्षात् जानता है और उसके अनुसार बाह्य पदार्थोको अनुमानसे जानता है' यह एक आचार्यका मत[3] है। दूसरे आचार्य मन पर्ययज्ञानके द्वारा बाह्य पदार्थका साक्षात् ज्ञान भी मानते है। मन पर्ययज्ञान प्रकृष्ट चारित्रवाले साधुके ही होता है। इसका विषय अवधिज्ञानसे अनन्तवाँ भाग सूक्ष्म होता है। इसका क्षेत्र मनुष्यलोक बराबर है।

---

१ देखो, तत्त्वार्थवार्तिक १।२१-२२।

२ देखो, तत्त्वार्थवार्तिक १।२६।

३. "जाणइ वज्झेऽणुमाणेण–विशेषा० गा० ८१४।

केवलज्ञान :

समस्त ज्ञानावरणके समूल नाश होनेपर प्रकट होनेवाला निरावरण ज्ञान केवलज्ञान है। यह आत्ममात्रसापेक्ष होता है और केवल अर्थात् अकेला होता है। इस ज्ञानके उत्पन्न होते ही समस्त क्षायोपशमिक ज्ञान विलीन हो जाते हैं। यह समस्त द्रव्योकी त्रिकालवर्ती सभी पर्यायोको जानता है तथा अतीन्द्रिय होता है। यह सम्पूर्ण रूपसे निर्मल होता है। इसके सिद्ध करनेकी मूल[1] युक्ति यह है कि आत्मा जब ज्ञानस्वभाव है और आवरणके कारण इसका यह ज्ञानस्वभाव खंड- खड करके प्रकट होता है तब सम्पूर्ण आवरणके हट जानेपर ज्ञानको अपने पूर्णरूपमें प्रकाशमान होना ही चाहिए। जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है। यदि कोई प्रतिबन्ध न हो तो अग्नि ईंधनको जलायगी ही। उसी तरह ज्ञानस्वभाव आत्मा प्रतिबन्धकोके हट जाने पर जगत्के समस्त पदार्थोको जानेगा ही। 'जो पदार्थ किसी ज्ञानके ज्ञेय है, किसी-न-किसीके प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं। जैसे पर्वतीय अग्नि' इत्यादि अनेक अनुमान उस निरावरण ज्ञानकी सिद्धिके लिए दिये जाते हैं।

सर्वज्ञताका इतिहास :

प्राचीनकालमें भारतवर्षकी परम्पराके अनुसार सर्वज्ञताका सम्बन्ध भी मोक्षके ही साथ था। मुमुक्षुओंमें विचारणीय विषय तो यह था कि मोक्षके मार्गका किसने साक्षात्कार किया? यही मोक्षमार्ग धर्म शब्दसे निर्दिष्ट होता है। अत विवादका विषय यह रहा कि धर्मका साक्षात्कार हो सकता है या नही? एक पक्षका, जिसके अनुगामी शबर, कुमारिल आदि मीमासक हैं, कहना था कि धर्म जैसी अतीन्द्रिय वस्तुओको हमलोग प्रत्यक्षसे नही जान सकते। धर्मके सम्बन्धमें वेदका ही अन्तिम और निर्बाध अधिकार है। धर्मकी परिभाषा "चोदनालक्षणोऽर्थ धर्म" करके धर्ममे वेदको ही प्रमाण कहा है। इस धर्मज्ञानमें वेदको ही अन्तिम प्रमाण माननेके कारण उन्हे पुरुषमे अतीन्द्रियार्थविषयक ज्ञानका अभाव मानना पडा। उन्होने पुरुषमें राग, द्वेष और अज्ञान आदि दोषोकी शंका होनेसे अतीन्द्रियधर्मप्रतिपादक वेदको पुरुषकृत न मानकर अपौरुषेय माना। इस अपौरुषेयत्वकी मान्यतासे ही पुरुषमें सर्वज्ञताका अर्थात् प्रत्यक्षसे होनेवाली धर्मज्ञताका निषेध हुआ।

---

१ "ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते?" —न्यायवि० श्लो० ४६५।
"ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धके॥"
—उद्धृत अष्टसह० पृ० ५०।

आ० कुमारिल स्पष्ट लिखते हैं[1] कि सर्वज्ञत्वके निषेधसे हमारा तात्पर्य केवल धर्मज्ञत्वके निषेधसे है। यदि कोई पुरुष धर्मके सिवाय ससारके अन्य समस्त अर्थोको जानना चाहता है, तो भले ही जाने, हमे कोई आपत्ति नही, पर धर्मका ज्ञान केवल वेदके द्वारा ही होगा, प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे नही। इस तरह धर्मको वेदके द्वारा तथा धर्मातिरिक्त शेष पदार्थोको यथासम्भव अनुमानादि प्रमाणोसे जानकर यदि कोई पुरुष टोटलमें सर्वज्ञ बनता है तब भी कोई विरोध नही है।

दूसरा पक्ष बौद्धका है। ये बुद्धको धर्म—चतुरार्यसत्यका साक्षात्कारकर्त्ता मानते है। इनका कहना है कि बुद्धने अपने भास्वर ज्ञानके द्वारा दु ख, समुदय—दु खके कारण, निरोध—निर्वाण, मार्ग—निर्वाणके उपाय इस चतुरार्यसत्यरूप धर्मका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। अत धर्मके विषयमें धर्मद्रष्टा सुगत ही अन्तिम प्रमाण है। वे करुणा करके कषायज्वालासे झुलसे हुए संसारी जीवोके उद्धारकी भावनासे उपदेश देते है। इस मतके समर्थक धर्मकीर्तिने लिखा है[2] कि 'संसारके समस्त पदार्थोका कोई पुरुष साक्षात्कार करता है या नही, हम इस निरर्थक बातके झगडेमें नही पडना चाहते। हम तो यह जानना चाहते हैं कि उसने इष्ट तत्त्व—धर्मको जाना है कि नही? मोक्षमार्गमें अनुपयोगी दुनियाँ भरके कीडे-मकोड़ो आदि की सख्याके परिज्ञानका भला मोक्षमार्गसे क्या सम्बन्ध है? धर्मकीर्ति सर्वज्ञताका सिद्धान्तत विरोध नही करके उसे निरर्थक अवश्य बतलाते है। वे सर्वज्ञताके समर्थकोसे कहते हैं कि मीमासकोंके सामने सर्वज्ञता—त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोका प्रत्यक्षसे ज्ञान—पर जोर क्यो देते हो? असली विवाद तो धर्मज्ञतामें है कि धर्मके विषयमें धर्मके साक्षात्कर्त्ताको प्रमाण माना जाय या वेदको? उस धर्ममार्गके साक्षात्कारके लिये धर्मकीर्तिने आत्मा (ज्ञानप्रवाह) से दोषोका अत्यन्तोच्छेद माना और नैरात्म्यभावना आदि उसके साधन बताये।

---

१ धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुष केन वार्यते॥

—तत्त्वस० का० ३१२८ (कुमारिलके नामसे उद्धृत)

२ 'तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य न क्वोपयुज्यते॥ ३३॥
दूर पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट तु पश्यतु।
प्रमाण दूरदर्शी चेदेतान् गृद्ध्रानुपास्महे॥ ३५॥

—प्रमाणवा० १।३३,३५।

तात्पर्य यह कि जहाँ कुमारिलने प्रत्यक्षसे धर्मज्ञताका निषेध करके धर्मके विषयमें वेदका ही अव्याहत अधिकार स्वीकार किया है, वहाँ धर्मकीर्तिने प्रत्यक्षसे ही धर्म—मोक्षमार्गका साक्षात्कार मानकर प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाली धर्मज्ञताका जोरोंसे समर्थन किया है।

धर्मकीर्तिके टीकाकार प्रज्ञाकरगुप्तने[1] सुगतको धर्मज्ञके साथ-ही-साथ सर्वज्ञ—त्रिकालवर्ती यावत्पदार्थोंका ज्ञाता—भी सिद्ध किया है और लिखा है कि सुगतकी तरह अन्य योगी भी सर्वज्ञ हो सकते हैं यदि वे अपनी साधक अवस्थामें रागादि-निर्मुक्तिकी तरह सर्वज्ञताके लिए भी यत्न करें। जिनने वीतरागता प्राप्त कर ली है, वे चाहें तो थोडेसे प्रयत्नसे ही सर्वज्ञ बन सकते हैं। आ० शान्तरक्षित[2] भी इसी तरह धर्मज्ञतासाधनके साथ ही साथ सर्वज्ञता सिद्ध करते हैं और सर्वज्ञताको वे शक्तिरूपसे सभी वीतरागोंमें मानते हैं। कोई भी वीतराग जब चाहे तब जिस किसी भी वस्तुका साक्षात्कार कर सकता है।

योगदर्शन और वैशेषिक दर्शनमें यह सर्वज्ञता अणिमा आदि ऋद्धियोंकी तरह एक विभूति है, जो सभी वीतरागोंके लिए अवश्य ही प्राप्तव्य नहीं है। हाँ, जो इसकी साधना करेगा उसे यह प्राप्त हो सकती है।

जैन[3] दार्शनिकोंने प्रारम्भसे ही त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती यावत्ज्ञेयोंके प्रत्यक्ष-दर्शनके अर्थमें सर्वज्ञता मानी है और उसका समर्थन भी किया है। यद्यपि तर्क-युगसे पहले "जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ" [आचा० सू० १।२३]—जो

---

१. 'ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसम्भवः।
समाहितस्य सकलं चकास्तीति विनिश्चितम्॥
सर्वेषां वीतरागाणामेतत् कस्मान्न विद्यते?
रागादिक्षयमात्रे हि तैर्यत्नस्य प्रवर्तनात्॥
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेन सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिरवारिता॥
—प्रमाणवार्तिकालं० पृ० ३२९।

२. 'यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ।'
—तत्त्वसं० का० ३३२८।

३ 'सईं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदित्ति।' —षट्खं० पयडि० सू० ७८।
'से भगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी "सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।' —आचा० २।३।पृ० ४२५।

एक आत्माको जानता है वह सब पदार्थोको जानता है, इत्यादि वाक्य, जो सर्वज्ञताके मुख्य साधक नही है, पाये जाते हैं, पर तर्कयुगमें इनका जैसा चाहिए वैसा उपयोग नही हुआ। आचार्य कुन्दकुन्दने नियमसारके शुद्धोपयोगाधिकार ([1]गाथा १५८) मे लिखा है कि 'केवली भगवान् समस्त पदार्थोको जानते और देखते हैं' यह कथन व्यवहारनयसे है। परन्तु निश्चयसे वे अपने आत्मस्वरूपको ही देखते और जानते है। इससे स्पष्ट फलित होता है कि केवलीकी परपदार्थज्ञता व्यावहारिक है, नैश्चयिक नही। व्यवहारनयको अभूतार्थ और निश्चयनयको भूतार्थ—परमार्थ स्वीकार करनेकी मान्यतासे सर्वज्ञताका पर्यवसान अन्ततः आत्मज्ञतामे ही होता है। यद्यपि उन्ही कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य ग्रन्थोंमें सर्वज्ञताके व्यावहारिक अर्थका भी वर्णन और समर्थन देखा जाता है, पर उनकी निश्चयदृष्टि आत्मज्ञताकी सीमाको नही लाँघती।

इन्ही आ० कुन्दकुन्दने प्रवचनसार[2] मे सर्वप्रथम केवलज्ञानको त्रिकालवर्ती समस्त अर्थोका जाननेवाला लिखकर आगे लिखा है कि जो अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको नही जानता वह सबको कैसे जानता है? और जो सबको नही जानता वह अनन्तपर्यायवाले एक द्रव्यको पूरी तरह कैसे जान सकता है? इसका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य घटज्ञानके द्वारा घटको जानता है वह घटके साथ-ही-साथ घटज्ञानके स्वरूपका भी सवेदन कर ही लेता है, क्योकि प्रत्येक ज्ञान स्वप्रकाशी होता है। इसी तरह जो व्यक्ति घटको जाननेकी शक्ति रखनेवाले घटज्ञानका यथावत् स्वरूपपरिच्छेद करता है वह घटको तो अर्थात् ही जान लेता है, क्योकि उस शक्तिका यथावत् विश्लेषणपूर्वक परिज्ञान विशेषणभूत घटको जाने बिना हो ही नही सकता। इसी प्रकार आत्मामें अनन्तज्ञेयोके जाननेकी शक्ति है। अतः जो ससारके अनन्तज्ञेयोको जानता है वह अनन्तज्ञेयोके जाननेकी शक्ति रखनेवाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको जान ही लेता है और जो अनन्तज्ञेयोके जाननेकी शक्ति-

---

१ 'जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगव।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥'

२ 'ज तक्कालियमिदरं जाणदि जुगव समंतदो सव्वं।
अत्थ विचित्तविसम त णाणं खाइयं भणिय॥
जो ण विजाणदि जुगव अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादु तस्स ण सक्क सपज्जयं दव्वमेग वा॥
दव्व अणतपज्जयमेगमणताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणादि जदि जुगव कध सो सव्वाणि जाणादि॥'

—प्रवचनसार १।४७-४९।

वाले पूर्णज्ञानस्वरूप आत्माको यथावत् विश्लेषण करके जानता है वह उन शक्तियोंके उपयोगस्थानभूत अनन्तपदार्थोंको भी जान ही लेता है, क्योंकि अनन्तज्ञेय तो उस ज्ञानके विशेषण हैं और विशेष्यका ज्ञान होनेपर विशेषणका ज्ञान अवश्य हो ही जाता है। जैसे जो व्यक्ति घटप्रतिबिम्बवाले दर्पणको जानता है वह घटको भी जानता है और जो घटको जानता है वही दर्पणमें आये हुए घटके प्रतिबिम्बका वास्तविक विश्लेषणपूर्वक यथावत् परिज्ञान कर सकता है। 'जो एकको जानता है वह सबको जानता है' इसका यही रहस्य है।

समन्तभद्र आदि आचार्योंने सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थोंका प्रत्यक्षत्व[1] अनुमेयत्व हेतुसे सिद्ध किया है। बौद्धोंकी तरह किसी भी जैनग्रन्थमें धर्मज्ञता और सर्वज्ञताका विभाजन कर उनमें गौण-मुख्यभाव नहीं बताया है। सभी जैन तार्किकोंने एक स्वरसे त्रिकाल-त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थोंके पूर्ण परिज्ञानके अर्थमें सर्वज्ञताका समर्थन किया है। धर्मज्ञता तो उक्त पूर्ण सर्वज्ञताके गर्भमें ही निहित मान ली गई है। [2]अकलंकदेवने सर्वज्ञताका समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मामें समस्त पदार्थोंके जाननेकी पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्थामें उसके ज्ञानका ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्यके प्रतिबन्धक कर्मोंका पूर्ण क्षय हो जाता है, तब उस अप्राप्यकारी ज्ञानको समस्त अर्थोंके जाननेमें क्या बाधा है? यदि[3] अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञान न हो सके, तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहोंकी ग्रहण आदि भविष्यत दशाओंका उपदेश कैसे हो सकेगा? ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अतः यह मानना ही चाहिये कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थदर्शनके बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्यस्वप्नदर्शन इन्द्रियादिकी सहायताके बिना ही भावी राज्यलाभ आदिका यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञका ज्ञान भी भावी पदार्थोंमें संवादक और स्पष्ट होता है। जैसे प्रश्नविद्या या ईक्षणिकादिविद्या[4]

---

१. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः॥'
—आप्तमी० श्लो० ५।

२ देखो, न्यायवि० श्लो० ४६५।

३ 'धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसा कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम्॥'
—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ४१२। न्यायवि० श्लोक ४१४।

४. देखो, न्यायविनिश्चय श्लोक ४०७।

अतीन्द्रिय पदार्थोंका स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रियज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है।

आचार्य वीरसेन स्वामीने जयधवला टीकामें केवलज्ञानकी सिद्धिके लिए एक नवीन ही युक्ति दी है। वे लिखते हैं कि केवलज्ञान ही आत्माका स्वभाव है। यही केवलज्ञान ज्ञानावरणकर्मसे आवृत होता है और आवरणके क्षयोपशमके अनुसार मतिज्ञान आदिके रूपमें प्रकट होता है। तो जब हम मतिज्ञान आदिका स्वसंवेदन करते हैं तब उस रूपसे अंशी केवलज्ञानका भी अंशत स्वसंवेदन हो जाता है। जैसे पर्वतके एक अंशको देखने पर भी पूर्ण पर्वतका व्यवहारत. प्रत्यक्ष माना जाता है उसी तरह मतिज्ञानादि अवयवोंको देखकर अवयवीरूप केवलज्ञान यानी ज्ञानसामान्यका प्रत्यक्ष भी स्वसंवेदनसे हो जाता है। यहाँ आचार्यने केवलज्ञानको ज्ञानसामान्यरूप माना है और उसकी सिद्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे की है।

अकलंकदेवने अनेक साधक प्रमाणोंको बताकर जिस एक महत्त्वपूर्ण हेतुका प्रयोग किया है वह है[1]—'सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्व' अर्थात् बाधक प्रमाणोंकी असंभवताका पूर्ण निश्चय होना। किसी भी वस्तुकी सत्ता सिद्ध करनेके लिये यही 'बाधकाऽभाव' स्वयं एक बलवान् साधक प्रमाण हो सकता है। जैसे 'मैं सुखी हूँ' यहाँ सुखका साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होनेमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है। चूँकि सर्वज्ञकी सत्तामें भी कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अत उसकी निर्बाध सत्ता होनी चाहिये।

इस हेतुके समर्थनमें उन्होंने प्रतिवादियोंके द्वारा कल्पित बाधाओंका निराकरण इस प्रकार किया है—

प्रश्न—अर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वे वक्ता हैं और पुरुष हैं। जैसे कोई गलीमें घूमनेवाला आवारा आदमी।

उत्तर—वक्तृत्व और सर्वज्ञत्वका कोई विरोध नहीं है। वक्ता भी हो सकता है और सर्वज्ञ भी। यदि ज्ञानके विकासमें वचनोंका ह्रास देखा जाता तो उसके अत्यन्त विकासमें वचनोंका अत्यन्त ह्रास होता, पर देखा तो उससे उलटा ही जाता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानकी वृद्धि होती है त्यों-त्यों वचनोंमें प्रकर्षता ही आती है।

प्रश्न—वक्तृत्वका सम्बन्ध विवक्षासे है, अत' इच्छारहित निर्मोही सर्वज्ञमें वचनोंकी संभावना कैसे है?

---

१ "अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।"
—सिद्धिवि० टी० लि० पृ० ४२१।

उत्तर—विवक्षाका वक्तृत्वसे कोई अविनाभाव नही है। मन्दबुद्धि शास्त्रकी विवक्षा होनेपर भी शास्त्रका व्याख्यान नही कर पाता। सुपुप्त और मूच्छित आदि अवस्थाओमें विवक्षा न रहनेपर भी वचनोकी प्रवृत्ति देखी जाती है। अत विवक्षा और वचनोमें कोई अविनाभाव नही बैठाया जा सकता। चैतन्य और इन्द्रियोकी पटुता ही वचनप्रवृत्तिमें कारण है और इनका सर्वज्ञत्वसे कोई विरोध नही है। अथवा, वचनोमें विवक्षाको कारण मान भी लिया जाय पर सत्य और हितकारक वचनोको उत्पन्न करनेवाली विवक्षा सदोप कैसे हो सकती है? फिर, तीर्थंकरके तो पूर्व पुण्यानुभावसे बँधी हुई तीर्थंकर प्रकृतिके उदयसे वचनोकी प्रवृत्ति होती है। जगत्के कल्याणके लिए उनकी पुण्यदेशना होती है।

इसी तरह निर्दोष वीतरागी पुरुषत्वका सर्वज्ञातासे कोई विरोध नही है। पुरुष भी हो जाय और सर्वज्ञ भी। यदि इस प्रकारके व्यभिचारी अर्थात् अविनाभावशून्य हेतुओसे साध्यकी सिद्धि की जाती है, तो इन्ही हेतुओसे जैमिनिमें वेदज्ञताका भी अभाव सिद्ध किया जा सकेगा।

प्रश्न—हमें किसी भी प्रमाणसे सर्वज्ञ उपलब्ध नही होता, अत अनुपलम्भ होनेसे उसका अभाव ही मानना चाहिये?

उत्तर—पूर्वोक्त अनुमानोसे जब सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब अनुपलम्भ कैसे कहा जा सकता है? यह अनुपलम्भ आपको है या सबको? 'हमारे चित्तमें जो विचार है' उनका अनुपलम्भ आपको है, पर इससे हमारे चित्तके विचारोका अभाव तो नही हो जायगा। अत स्वोपलम्भ अनैकान्तिक है। दुनियाँमें हमारे द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थोका अस्तित्व है ही। 'सबको सर्वज्ञका अनुपलम्भ है' यह बात तो सबके ज्ञानोको जाननेवाला सर्वज्ञ ही कह सकता है, असर्वज्ञ नही। अत. सर्वानुपलम्भ असिद्ध ही है।

प्रश्न—ज्ञानमें तारतम्य देखकर कही उसके अत्यन्त प्रकर्षकी सम्भावना करके जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जाता है उसमें प्रकर्षताकी एक सीमा होती है। कोई ऊँचा कूँदनेवाला व्यक्ति अभ्याससे तो दस हाथ ही ऊँचा कूँद सकता है, वह चिर अभ्यासके बाद भी एक मील ऊँचा तो नही कूँद सकता?

उत्तर—कूँदनेका सम्बन्ध शरीरकी शक्तिसे है, अत उसका जितना प्रकर्ष सम्भव है, उतना ही होगा। परन्तु ज्ञानकी शक्ति तो अनन्त है। वह ज्ञानावरणसे आवृत होनेके कारण अपने पूर्णरूपमे विकसित नही हो पा रही है। ध्यानादि साधनाओसे उस आगन्तुक आवरणका जैसे-जैसे क्षय किया जाता है वैसे-वैसे ज्ञानकी स्वरूपज्योति उसी तरह प्रकाशमान होने लगती है जैसा कि मेघोके हटने

पर सूर्यका प्रकाश। अपने अनन्तशक्तिवाले ज्ञान गुणके विकासकी परमप्रकर्ष अवस्था ही सर्वज्ञता है। आत्माके गुण जो कर्मवासनाओंसे आवृत हैं, वे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप साधनाओंसे प्रकट होते हैं। जैसे कि किसी इष्टजनकी भावना करनेसे उसका साक्षात् स्पष्ट दर्शन होता है।

प्रश्न—यदि सर्वज्ञके ज्ञानमें अनादि और अनन्त झलकते हैं तो उनकी अनादिता और अनन्तता नहीं रह सकती ?

उत्तर—जो पदार्थ जैसे हैं वे वैसे ही ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं। यदि आकाशकी क्षेत्रकृत और कालकी समयकृत अनन्तता है तो वह उसी रूपमें ज्ञानका विषय होती है। यदि द्रव्य अनन्त हैं तो वे भी उसी रूपमें ही ज्ञानमें प्रतिभासित होते हैं। मौलिक द्रव्यका द्रव्यत्व यही है जो वह अनादि और अनन्त हो। उसके इस निज स्वभावको अन्यथा नहीं किया जा सकता और न अन्य रूपमें वह केवलज्ञानका विषय ही होता है। अतः जगत्के स्वरूपभूत अनादि अनन्तत्वका उसी रूपमें ज्ञान होता है।

प्रश्न—आगममें कहे गये साधनोंका अनुष्ठान करके सर्वज्ञता प्राप्त होती है और सर्वज्ञके द्वारा आगम कहा जाता है, अतः दोनों परस्पराश्रित होनेसे असिद्ध हैं ?

उत्तर—सर्वज्ञ आगमका कारक है। प्रकृत सर्वज्ञका ज्ञान पूर्वसर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे उत्पन्न होता है और पूर्वसर्वज्ञका ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगमार्थके आचरणसे। इस तरह पूर्व-पूर्व सर्वज्ञ और आगमोंकी शृंखला बीजांकुर सन्ततिकी तरह अनादि है। और अनादि सन्ततिमें अन्योन्याश्रय दोषका विचार नहीं होता। मुख्य प्रश्न यह है कि क्या आगम सर्वज्ञके बिना हो सकता है ? और पुरुष सर्वज्ञ हो सकता है या नहीं ? दोनोंका उत्तर यह है कि पुरुष अपना विकास करके सर्वज्ञ बन सकता है, और उसीके गुणोंसे वचनोंमें प्रमाणता आकर वे वचन आगम नाम पाते हैं।

प्रश्न—जब आजकल प्रायः पुरुष रागी, द्वेषी और अज्ञानी ही देखे जाते हैं तब अतीत या भविष्यमें कभी किसी पूर्ण वीतरागी या सर्वज्ञकी सम्भावना कैसे की जा सकती है ? क्योंकि पुरुषकी शक्तियोंकी सीमाका उल्लंघन नहीं हो सकता ?

उत्तर—यदि हम पुरुषातिशयको नहीं जान सकते, तो इससे उसका अभाव नहीं किया जा सकता। अन्यथा आजकल कोई वेदका पूर्ण जानकार नहीं देखा जाता, तो अतीतकालमें 'जैमिनिको भी वेदज्ञान नहीं था', यह प्रसङ्ग प्राप्त होगा।

हमें तो यह विचारना है कि आत्माके पूर्णज्ञानका विकास हो सकता है या नही ? और जब आत्माका स्वरूप अनन्तज्ञानमय है तब उसके विकासमें क्या बाधा है जो आवरणकी बाधा है, वह साधनासे उसी तरह हट सकती है, जैसे अग्निमे तपानेसे सोनेका मैल।

प्रश्न—सर्वज्ञ जब रागी आत्माके रागका या दु खका साक्षात्कार करता है तब वह स्वयं रागी और दु खी हो जायगा ?

उत्तर—दु.ख या रागको जान लेने मात्रसे कोई दु खी या रागी नही होता। रागी तो, आत्मा जब स्वयं राग रूपसे परिणमन करे, तभी होता है। क्या कोई श्रोत्रिय ब्राह्मण मदिराके रसका ज्ञान रखने मात्रसे मद्यपायी कहा जा सकता है ? रागके कारण मोहनीय आदि कर्म सर्वज्ञसे अत्यन्त उच्छिन्न हो गये है, वह पूर्ण वीतराग है, अत परके राग या दु ख के जान लेने मात्रसे उसमे राग या दु खरूप परिणति नही हो सकती।

प्रश्न—सर्वज्ञ अशुचि पदार्थोको जानता है तो उसे उसके रसास्वादनका दोष लगना चाहिए ?

उत्तर—ज्ञान ˉसरी वस्तु है और रसका आस्वादन दूसरी वस्तु है। आस्वादन रसना इन्द्रियके द्वारा आनेवाला स्वाद है जो इन्द्रियातीत ज्ञानवाले सर्वज्ञके होता ही नही है। उसका ज्ञान तो अतीन्द्रिय है। फिर जान लेने मात्रसे रसास्वादनका दोष नही हो सकता, क्योकि दोष तो तब लगता है जब स्वय उसमें लिप्त हुआ जाय और तद्रूप परिणति की जाय, जो सर्वज्ञ वीतरागीमें होती नही।

प्रश्न—सर्वज्ञको धर्मी बनाकर दिये जानेवाले कोई भी हेतु यदि भावधर्म यानी भावात्मक सर्वज्ञके धर्म है, तो असिद्ध हो जाते है ? यदि अभावात्मक सर्वज्ञके धर्म है, तो विरुद्ध हो जाँयगे और यदि उभयात्मक सर्वज्ञके धर्म है, तो अनैकान्तिक हो जायँगे ?

उत्तर—'सर्वज्ञ' को धर्मी नही बनाते है, किन्तु धर्मी 'कश्चिदात्मा' 'कोई आत्मा' है, जो प्रसिद्ध है। 'किसी आत्मामे सर्वज्ञता होनी चाहिए, क्योकि पूर्णज्ञान आत्माका स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारण हट सकते है, इत्यादि अनुमानप्रयोगोमें 'आत्मा' को ही धर्मी बनाया जाता है, अत उक्त दोष नही आते।

प्रश्न—सर्वज्ञके साधक और बाधक दोनो प्रकारके प्रमाण नही मिलते, अत सशय हो जाना चाहिए ?

उत्तर—सर्वज्ञके साधक प्रमाण ऊपर बताये जा चुके है और बाधक प्रमाणोंका निराकरण भी किया जा चुका है, अत सन्देहकी बात बेबुनियाद है। त्रिकाल

और त्रिलोकमे सर्वज्ञका अभाव सर्वज्ञ बने बिना किया ही नही जा सकता। जब तक हम त्रिकाल त्रिलोकवर्ती समस्त पुरुषोको असर्वज्ञके रूपमें जानकारी नही कर लेते तब तक संसारको सदा सर्वत्र सर्वज्ञ शून्य कैसे कह सकते है ? और यदि ऐसी जानकारी किसीको सभव है, तो वही व्यक्ति सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है।

भगवान् महावीरके समयमें स्वयं उनकी प्रसिद्धि सर्वज्ञके रूपमें थी। उनके शिष्य उन्हें सोते, जागते, हर हालतमें ज्ञान-दर्शनवाला सर्वज्ञ कहते थे। पाली पिटकोंमें उनकी सर्वज्ञताकी परीक्षाके एक दो प्रकरण है, जिनमे सर्वज्ञताका एक प्रकारसे उपहास ही किया है। [1]न्यायविन्दु नामक ग्रन्थमें धर्मकीर्तिने दृष्टान्ताभासोंके उदाहरणमें ऋषभ और वर्धमानकी सर्वज्ञताका उल्लेख किया है। इस तरह प्रसिद्धि और युक्ति दोनों क्षेत्रोमे बौद्ध ग्रन्थ वर्धमानकी सर्वज्ञताके एक तरहसे विरोधी ही रहे है। इसका कारण यही मालूम होता है कि बुद्धने स्वयं अपनेको केवल चार आर्यसत्योका ज्ञाता ही बताया था, और स्वय अपनेको सर्वज्ञ कहनेसे इनकार किया था। वे केवल अपनेको धर्मज्ञ या मार्गज्ञ मानते थे और इसीलिए उन्होने आत्मा, मरणोत्तर जीवन और लोककी सान्तता और अनन्तता आदिके प्रश्नोको अव्याकृत—न कहने लायक कहा था। उन्होने इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नोमे मौन ही रखा, जब कि महावीरने इन सभी प्रश्नोके उत्तर अनेकान्तदृष्टिसे दिये और शिष्योकी जिज्ञासाका समाधान किया। तात्पर्य यह है कि बुद्ध केवल धर्मज्ञ थे और महावीर सर्वज्ञ। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थोमे मुख्य सर्वज्ञता सिद्ध करनेका जोरदार प्रयत्न नही देखा जाता, जब कि जैन ग्रन्थोमें प्रारम्भसे ही इसका प्रबल समर्थन मिलता है। आत्माको ज्ञानस्वभाव माननेके बाद निरावरण दशामें अनन्तज्ञान या सर्वज्ञताका प्रकट होना स्वाभाविक ही है। सर्वज्ञताका व्यावहारिक रूप कुछ भी हो, पर ज्ञानकी शुद्धता और परिपूर्णता असम्भव नही है।

परोक्ष प्रमाण :

आगमोमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञानको परोक्ष[2] और स्मृति, संज्ञा, चिन्ता और अभिनिबोधको मतिज्ञानका पर्याय कहा ही था[3], अत. आगममें सामान्यरूपमे स्मृति, सज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क), अभिनिबोध (अनुमान) और श्रुत (आगम) इन्हे परोक्ष माननेका स्पष्ट मार्ग निर्दिष्ट था ही, केवल मति

---

१. 'य. सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्। तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। तत्रासर्वज्ञतानाप्ततयो साध्यधर्मयो· सन्दिग्धो व्यतिरेक ।' —न्यायवि० ३।१३१।

२. 'आद्ये परोक्षम्।' —त० सू० १।१०।

३ 'तत्त्वार्थसूत्र' १ १३।

(इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न होनेवाला प्रत्यक्ष) को परोक्ष माननेपर लोकविरोधका प्रसंग था, जिसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष मानकर हल कर लिया गया था। अकलक-देवके इस सम्बन्धमें दो मत उपलब्ध होते है। वे राजवार्तिकमे अनुमान आदि ज्ञानोको स्वप्रतिपत्तिके समय अनक्षरश्रुत और परप्रतिपत्तिकालमे अक्षरश्रुत कहते है। उनने लघीयस्त्रय (कारिका ६७) मे स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता और अभिनिबोधको मनोमति बताया है और [1]कारिका १० मे मति, स्मृति आदि ज्ञानोको शब्दयोजनाके पहले साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और शब्दयोजना होनेपर उन्ही ज्ञानोको श्रुत कहा है। इस तरह सामान्यरूपसे मतिज्ञानको परोक्षकी सीमामें आनेपर भी उसके एक अंश—मतिको साव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहनेकी और शेष—स्मृति आदिक ज्ञानोको परोक्ष कहनेकी भेदक रेखा क्या हो सकती है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। इसका समाधान परोक्षके लक्षणसे ही हो जाता है। अविशद अर्थात् अस्पष्ट ज्ञानको परोक्ष कहते है। विशदताका अर्थ है, ज्ञानान्तरनिरपेक्षता। जो ज्ञान अपनी उत्पत्तिमें किसी दूसरे ज्ञानकी अपेक्षा रखता हो अर्थात् जिसमे ज्ञानान्तरका व्यवधान हो, वह ज्ञान अविशद है। पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाले इन्द्रियप्रत्यक्ष और अनिन्द्रियप्रत्यक्ष चूंकि केवल इन्द्रिय-व्यापारसे उत्पन्न होते है, अन्य किसी ज्ञानान्तरकी अपेक्षा नही रखते, इसलिए अंशत. विशद होनेसे प्रत्यक्ष है, जब कि स्मरण अपनी उत्पत्तिमें पूर्वानुभवकी, प्रत्यभिज्ञान अपनी उत्पत्तिमे स्मरण और प्रत्यक्षकी, तर्क अपनी उत्पत्तिमें स्मरण, प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञानकी, अनुमान अपनी उत्पत्तिमें लिङ्गदर्शन और व्याप्ति-स्मरणकी तथा श्रुत अपनी उत्पत्तिमें शब्दश्रवण और संकेतस्मरणकी अपेक्षा रखते है, अत. ये सब ज्ञानान्तरसापेक्ष होनेके कारण अविशद है और परोक्ष है।

यद्यपि ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान अपनी उत्पत्तिमे पूर्व-पूर्व प्रतीतिकी अपेक्षा रखते हैं तथापि ये ज्ञान नवीन-नवीन इन्द्रियव्यापारसे उत्पन्न होते है और एक ही पदार्थकी विशेष अवस्थाओको विषय करनेवाले है, अत किसी भिन्नविषयक ज्ञानसे व्यवहित नही होनेके कारण साव्यवहारिक प्रत्यक्ष ही है। एक ही ज्ञान दूसरे-दूसरे इन्द्रियव्यापारोसे अवग्रह आदि अतिशयोको प्राप्त करता हुआ अनुभवमें आता है, अत ज्ञानान्तरका अव्यवधान यहाँ सिद्ध हो जाता है।

परोक्षज्ञान पाँच प्रकारका होता है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और

---

१ 'ज्ञानमाद्य मति संज्ञा चिन्ता चाभिनिबोधकम्।
प्राङ्नामयोजनाच्छेष श्रुतं शब्दानुयोजनात्॥ १०॥'

आगम। परोक्ष प्रमाणकी इस तरह सुनिश्चित सीमा अकलंकदेवने ही सर्वप्रथम बाँधी है और यह आगेके समस्त जैनाचार्यो द्वारा स्वीकृत रही।

चार्वाकके परोक्षप्रमाण न माननेकी आलोचना :

चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाणसे भिन्न किसी अन्य परोक्ष प्रमाणकी सत्ता नहीं मानता। प्रमाणका लक्षण अविसंवाद करके उसने यह बताया है कि इन्द्रियप्रत्यक्षके सिवाय अन्य ज्ञान सर्वथा अविसंवादी नहीं होते। अनुमानादि प्रमाण बहुत कुछ संभावनापर चलते हैं और ऐसा कहनेका कारण यह है कि देश, काल और आकारके भेदसे प्रत्येक पदार्थकी अनन्त शक्तियाँ और अभिव्यक्तियाँ होती हैं। उनमें अव्यभिचारी अविनाभावका ढूँढ लेना अत्यन्त कठिन है। जो आँवले यहाँ कषायरसवाले देखे जाते हैं, वे देशान्तर और कालान्तरमें द्रव्यान्तरका सम्बन्ध होनेपर मीठे रसवाले भी हो सकते हैं। कहीं-कहीं धूम साँपकी वामीसे निकलता हुआ देखा जाता है। अतः अनुमानका शत-प्रतिशत अविसंवादी होना असम्भव बात है। यही बात स्मरणादि प्रमाणोंके सम्बन्धमें है।

[1]परन्तु अनुमान प्रमाणके माने विना प्रमाण और प्रमाणाभासका विवेक भी नहीं किया जा सकता। अविसंवादके आधारपर अमुक ज्ञानोंमें प्रमाणताकी व्यवस्था करना और अमुक ज्ञानोंको अविसंवादके अभावमें अप्रमाण कहना अनुमान ही तो है। दूसरेकी बुद्धिका ज्ञान अनुमानके विना नहीं हो सकता, क्योंकि बुद्धिका इन्द्रियोंके द्वारा प्रत्यक्ष असम्भव है। वह तो व्यापार, वचनप्रयोग आदि कार्योंको देखकर ही अनुमित होती है। जिन कार्यकारणभावों या अविनाभावोंका हम निर्णय न कर सकें अथवा जिनमें व्यभिचार देखा जाय उनसे होनेवाला अनुमान भले ही भ्रान्त हो जाय, पर अव्यभिचारी कार्य-कारणभाव आदिके आधारसे होनेवाला अनुमान अपनी सीमामें विसंवादी नहीं हो सकता। परलोक आदिके निषेधके लिए भी चार्वाकको अनुमानकी ही शरण लेनी पड़ती है। वामीसे निकलनेवाली भाफ और अग्निसे उत्पन्न होनेवाले धुआँमें विवेक नहीं कर सकना तो प्रमाताका अपराध है, अनुमानका नहीं। यदि सीमित क्षेत्रमें पदार्थोंके सुनिश्चित कार्य-कारणभाव न बैठाये जा सकें, तो जगत्‌का समस्त व्यवहार ही नष्ट हो जायगा। यह ठीक है कि जो अनुमान आदि विसंवादी निकल जाँय उन्हें अनुमानाभास कहा जा सकता है, पर इससे निर्दुष्ट अविनाभावके आधारसे होनेवाला अनुमान कभी मिथ्या नहीं

१ प्रमाणेतरसामान्यस्थितेरन्यधियो गतेः।
प्रमाणान्तरसद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित्॥
—धर्मकीर्ति. (प्रमाणमी० पृ० ८)।

हो सकता। यह तो प्रमाताकी कुशलतापर निर्भर करता है कि वह पदार्थोके कितने और कैसे सूक्ष्म या स्थूल कार्य-कारणभावको जानता है। आप्तके वाक्यकी प्रमाणता हमें व्यवहारके लिए मानना ही पडती है, अन्यथा समस्त सासारिक व्यवहार छिन्न-विच्छिन्न हो जायँगे। मनुष्यके ज्ञानकी कोई सीमा नही है, अत. अपनी मर्यादामें परोक्षज्ञान भी अविसवादी होनेसे प्रमाण ही है। यह खुला रास्ता है कि जो ज्ञान जिस अंशमें विसवादी हो उन्हे उस अशमे प्रमाण माना जाय।

१. स्मरण :

[1]संस्कारका उद्बोध होनेपर स्मरण उत्पन्न होता है। यह अतीतकालीन पदार्थको विषय करता है। और इसमें 'तत्' शब्दका उल्लेख अवश्य होता है। यद्यपि स्मरणका विषयभूत पदार्थ सामने नही है, फिर भी वह हमारे पूर्व अनुभवका विषय तो था ही, और उस अनुभवका दृढ सस्कार हमे सादृश्य-आदि अनेक निमित्तोसे उस पदार्थको मनमें झलका देता है। इस स्मरणकी बदौलत ही जगत्के समस्त लेन-देन आदि व्यवहार चल रहे है। व्याप्तिस्मरणके विना अनुमान और संकेतस्मरणके विना किसी प्रकारके शब्दका प्रयोग ही नही हो सकता। गुरु-शिष्यादि-सम्बन्ध, पिता-पुत्रभाव तथा अन्य अनेक प्रकारके प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवन-व्यवहार स्मरणके ही आभारी है। संस्कृति, सभ्यता और इतिहासकी परम्परा स्मरणके सूत्रसे ही हम तक आयी है।

स्मृतिको अप्रमाण कहनेका मूल कारण उसका 'गृहीतग्राही होना' बताया जाता है। उसकी अनुभवपरतन्त्रता प्रमाणव्यवहारमें वाधक बनती है। अनुभव जिस पदार्थको जिस रूपमें जानता है, स्मृति उससे अधिकको नही जानती और न उसके किसी नये अंशका ही बोध करती है। वह पूर्वानुभवकी मर्यादामें ही सीमित है, बल्कि कभी-कभी तो अनुभवसे कमकी ही स्मृति होती है।

वैदिक परम्परामें स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण न माननेका एक ही कारण है कि मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियाँ पुरुपविशेपके द्वारा रची गई है। यदि एक भी जगह उनका प्रामाण्य स्वीकार कर लिया जाता है, तो वेदकी अपौरुपेयता और उसका धर्मविपयक निर्वाध अन्तिम प्रामाण्य समाप्त हो जाता है। अत् स्मृतियाँ वही तक प्रमाण है जहाँतक वे श्रुतिका अनुगमन करती है, यानी श्रुति स्वत. प्रमाण है और स्मृतियोमे प्रमाणताकी छाया श्रुतिमूलक होनेसे ही पड रही है। इस तरह जब एक बार स्मृतियोमे श्रुतिपरतन्त्रताके कारण स्वत प्रामाण्य

१. 'संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति ।'—परीक्षामुख ३।३।

निषिद्ध हुआ, तब अन्य व्यावहारिक स्मृतियोंमें उस परतन्त्रताकी छाप अनुभवाधीन होनेके कारण बराबर चालू रही और यह व्यवस्था हुई कि जो स्मृतियाँ पूर्वानुभवका अनुगमन करती हैं वे ही प्रमाण हैं, अनुभवके बाहरकी स्मृतियाँ प्रमाण नहीं हो सकती, अर्थात् स्मृतियाँ सत्य होकर भी अनुभवकी प्रमाणताके बलपर ही अवि-संवादिनी सिद्ध हो पाती हैं; अपने बलपर नहीं।

भट्ट जयन्त[1] ने स्मृतिकी अप्रमाणताका कारण गृहीत-ग्राहित्व न बताकर उसका 'अर्थसे उत्पन्न न होना' बताया है, परन्तु जब अर्थकी ज्ञानमात्रके प्रति कारणता ही सिद्ध नहीं है, तब अर्थजन्यत्वको प्रमाणताका आधार नहीं बनाया जा सकता। प्रमाणताका आधार तो अविसंवाद ही हो सकता है। गृहीतग्राही भी ज्ञान यदि अपने विषयमें अविसंवादी है तो उसकी प्रमाणता सुरक्षित है। यदि अर्थ-जन्यत्वके अभावमें स्मृति अप्रमाण होती है तो अतीत और अनागतको विषय करनेवाले अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेंगे। जैनोंके सिवाय अन्य किसी भी वादीने स्मृतिको स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना है। जब कि जगत्के समस्त व्यवहार स्मृतिकी प्रमाणता और अविसंवादपर ही चल रहे हैं तब वे उसे प्रमाण कहनेका साहस तो नहीं कर सकते, पर प्रमाका व्यवहार स्मृति-भिन्न ज्ञानमें करना चाहते हैं। धारणा नामक अनुभव पदार्थको 'इदम्' रूपसे जानता है, जब कि संस्कारसे होनेवाली स्मृति उसी पदार्थको 'तत्' रूपसे जानती है। अत. उसे एकान्त रूपसे गृहीतग्राहिणी भी नहीं कह सकते हैं। प्रमाणताके दो ही आधार हैं—अविसंवादी होना तथा समारोपका व्यवच्छेद करना। स्मृतिकी अविसंवादिता स्वत॰ सिद्ध है, अन्यथा अनुमानकी प्रवृत्ति, शब्दव्यवहार और जगत्के समस्त व्यवहार निर्मूल हो जायेंगे। हाँ, जिस-जिस स्मृतिमें विसंवाद हो उसे अप्रमाण या स्मृत्याभास कहनेका मार्ग खुला हुआ है। विस्मरण, संशय और विपर्ययरूपी समारोपका निराकरण स्मृतिके द्वारा होता ही है। अत. इस अविसंवादी ज्ञानको परोक्षरूपसे प्रमाणता देनी ही होगी। अनुभवपरतन्त्र होनेके कारण वह परोक्ष तो कही जा सकती है, पर अप्रमाण नहीं, क्योंकि प्रमाणता या अप्रमाणताका आधार अनुभवस्वातन्त्र्य नहीं है। अनुभूत अर्थको विषय करनेके कारण भी उसे अप्रमाण नहीं कहा जा सकता, अन्यथा अनुभूत अग्निको विषय करनेवाला अनुमान भी प्रमाण नहीं हो सकेगा। अत स्मृति प्रमाण है, क्योंकि वह स्वविषयमें अविसंवादिनी है।

---

१ 'न स्मृतेरप्रमाणत्वं गृहीतग्राहिताकृतम्।
किन्त्वनर्थजन्यत्वं तदप्रामाण्यकारणम्॥'—न्यायमं॰ पृ॰ २३।

२. प्रत्यभिज्ञान :

वर्तमान प्रत्यक्ष और अतीत स्मरणसे उत्पन्न होनेवाला सकलनज्ञान प्रत्यभिज्ञान[1] कहलाता है। यह संकलन एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी, आपेक्षिक आदि अनेक प्रकारका होता है। वर्तमानका प्रत्यक्ष करके उसीके अतीतका स्मरण होने-पर 'यह वही है' इस प्रकारका जो मानसिक एकत्वसकलन होता है, वह एकत्व-प्रत्यभिज्ञान है। इसी तरह 'गाय सरीखा गवय होता है' इस वाक्यको सुनकर कोई व्यक्ति वनमें जाता है और सामने गाय सरीखे पशुको देखकर उस वाक्यका स्मरण करता है, और फिर मनमें निश्चय करता है कि यह गवय है। इस प्रकारका सादृश्यविषयक संकलन सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। 'गायसे विलक्षण भैंस होती है' इस प्रकारके वाक्यको सुनकर जिस वाडेमें गाय और भैंस दोनो मौजूद हैं, वहाँ जाने-वाला मनुष्य गायसे विलक्षण पशुको देखकर उक्त वाक्यको स्मरण करता है और निश्चय करता है कि यह भैंस है। यह वैलक्षण्यविषयक सकलन वैसदृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इसी प्रकार अपने समीपवर्ती मकानके प्रत्यक्षके बाद दूरवर्ती पर्वतको देखनेपर पूर्वका स्मरण करके जो 'यह इससे दूर है' इस प्रकार आपेक्षिक ज्ञान होता है वह प्रातियोगिक प्रत्यभिज्ञान है। 'शाखादिवाला वृक्ष होता है', 'एक सींगवाला गेंडा होता है', 'छह पैरवाला भ्रमर होता है' इत्यादि परिचायक-शब्दोको सुनकर व्यक्तिको उन-उन पदार्थोंके देखनेपर और पूर्वोक्त परिचयवाक्योको स्मरणकर जो 'यह वृक्ष है, यह गेंडा है' इत्यादि ज्ञान उत्पन्न होते है, वे सब भी प्रत्यभिज्ञान ही हैं। तात्पर्य यह कि दर्शन और स्मरणको निमित्त बनाकर जितने भी एकत्वादि विषयक मानसिक संकलन होते है, वे सभी प्रत्यभिज्ञान है। ये सब अपने विषयमें अविसंवादी और समारोपके व्यवच्छेद होनेसे प्रमाण है।

सः और अयम्को दो ज्ञान माननेवाले बौद्धका खंडन :

[2]बौद्ध पदार्थको क्षणिक मानते हैं। उनके मतमें वास्तविक एकत्व नही है। 'अत. स एवायम्' 'यह वही है' इस प्रकारकी प्रतीतिको वे भ्रान्त ही मानते हैं,

---

१ 'दर्शनस्मरणकारणक सकलनं प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेद तत्सदृश तद्विलक्षण तत्प्रति-योगीत्यादि।'—परीक्षामुख ३।५।

२. '. तस्मात् स एवायमिति प्रत्ययद्वयमेतत्।'

—प्रमाणवार्तिकाल० पृ० ५१।

'स इत्यनेन पूर्वकालसम्बन्धी स्वभावो विषयीक्रियते, अयमित्यनेन च वर्तमानकालसम्बन्धी। अनयोश्च भेदो न कथञ्चिद्भेद...'

—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ७८।

और इस एकत्व-प्रतीतिका कारण सदृश अपरापरके उत्पादको कहते हैं। वे 'स एवायम्' में 'स' अंशको स्मरण और 'अयम्' अंशको प्रत्यक्ष इस तरह दो स्वतन्त्र ज्ञान मानकर प्रत्यभिज्ञानके अस्तित्वको ही स्वीकार नहीं करना चाहते। किन्तु यह बात जब निश्चित है कि प्रत्यक्ष केवल वर्तमानको विषय करता है और स्मरण केवल अतीतको, तब इन दोनो सीमित और नियत विषयवाले ज्ञानोके द्वारा अतीत और वर्तमान दो पर्यायोमें रहनेवाला एकत्व कैसे जाना जा सकता है? 'यह वही है' इस प्रकारके एकत्वका अपलाप करनेपर बद्धको ही मोक्ष, हत्यारेको ही सजा, कर्ज देने वालेको ही उसकी दी हुई रकमकी वसूली आदि सभी जगत्के व्यवहार उच्छिन्न हो जाँयगे। प्रत्यक्ष और स्मरणके बाद होनेवाले 'यह वही है' इस ज्ञान-को यदि विकल्प कोटिमें डाला जाता है तो उसे ही प्रत्यभिमान माननेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। किन्तु यह विकल्प अविसंवादी होनेसे स्वतन्त्र प्रमाण होगा। प्रत्यभिज्ञानका लोप करनेपर अनुमानकी प्रवृत्ति ही नही हो सकती। जिस व्यक्तिने पहले अग्नि और धूमके कार्यकारणभावका ग्रहण किया है, वही व्यक्ति जब पूर्वधूमके सदृश अन्य धुओंको देखता है, तभी गृहीत कार्यकारणभावका स्मरण होनेपर अनुमान कर पाता है। यहाँ एकत्व और सादृश्य दोनो प्रत्यभिज्ञानोकी आवश्यकता है, क्योकि भिन्न व्यक्तिको विलक्षण पदार्थके देखने पर अनुमान नही हो सकता।

बौद्ध जिस एकत्वप्रतीतिके निराकरणके लिए अनुमान करते हैं और जिस एकात्माकी प्रतीतिके हटानेको नैरात्म्यभावना भाते हैं, यदि उस प्रतीतिका अस्तित्व ही नही है, तो क्षणिकत्वका अनुमान किस लिए किया जाता है? और नैरात्म्य भावनाका उपयोग ही क्या है? 'जिस पदार्थको देखा है, उसी पदार्थको मैं प्राप्त कर रहा हूँ' इस प्रकारके एकत्वरूप अविसवादके बिना प्रत्यक्षमे प्रमाणताका सम-र्थन कैसे किया जा सकता है? यदि आत्मैकत्वकी प्रतीति होती ही नही है, तो तन्निमित्तक रागादिरूप सस्कार कहाँसे उत्पन्न होगा? कटकर फिर ऊँगे हुए नख और केशोंमें 'ये वही नख केशादि है' इस प्रकारकी एकत्वप्रतीति सादृश्यमूलक होनेसे भले ही भ्रान्त हो, परन्तु 'यह वही घडा है' इत्यादि द्रव्यमूलक एकत्व-प्रतीतिको भ्रान्त नही कहा जा सकता।

प्रत्यभिज्ञानका प्रत्यक्षमें अन्तर्भाव :

मीमासक[1] एकत्वप्रतीतिकी सत्ता मानकर भी उसे इन्द्रियोके साथ अन्वय-

१ 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात् प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृते.।
विज्ञान जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्॥'

—मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २२७।

व्यतिरेक रखनेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणमें ही अन्तर्भूत करते हैं। उनका कहना है कि स्मरणके बाद या स्मरणके पहले, जो भी ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होता है, वह सब प्रत्यक्ष है। स्मृति अतीत अस्तित्वको जानती है, प्रत्यक्ष वर्तमान अस्तित्वको और स्मृतिसहकृत प्रत्यक्ष दोनो अवस्थाओमे रहनेवाले एकत्व को जानता है। किन्तु जब यह निश्चित है कि चक्षुरादि इन्द्रियाँ सम्बद्ध और वर्तमान पदार्थको ही विषय करती है, तब स्मृतिकी सहायता लेकर भी वे अपने अविषयमें प्रवृत्ति कैसे कर सकती है? पूर्व और वर्तमान दशामे रहनेवाला एकत्व इन्द्रियोका अविषय है, अन्यथा गन्धस्मरणकी सहायतासे चक्षुको गन्ध भी सूँघ लेनी चाहिये। 'सैकडो सहकारी मिलनेपर भी अविषयमे प्रवृत्ति नही हो सकती' यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है। यदि इन्द्रियोसे ही प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न होता है तो प्रथम प्रत्यक्ष कालमे ही उसे उत्पन्न होना चाहिये था। फिर इन्द्रियाँ अपने व्यापारमें स्मृतिकी अपेक्षा भी नही रखती।

नैयायिक[1] भी मीमासकोकी तरह 'स एवाऽयम्' इस प्रतीतिको एक ज्ञान मानकर भी उसे इन्द्रियजन्य ही कहते है और युक्ति भी वही देते है। किन्तु जब इन्द्रियप्रत्यक्ष अविचारक है तब स्मरणकी सहायता लेकर भी वह कैसे 'यह वही है, यह उसके समान है' इत्यादि विचार कर सकता है? जयन्त[2] भट्टने इसीलिये यह कल्पना की है कि स्मरण और प्रत्यक्षके बाद एक स्वतन्त्र मानसज्ञान उत्पन्न होता है, जो एकत्वादिका सकलन करता है। यह उचित है, परन्तु इसे स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही होगा। जैन इसी मानस संकलनको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। यह अबाधित है, अविसवादी है और समारोपका व्यवच्छेदक है, अतएव प्रमाण है। जो प्रत्यभिज्ञान बाधित तथा विसंवादी हो, उसे प्रमाणाभास या अप्रमाण कहनेका मार्ग खुला हुआ है।

उपमान सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है :

मीमासक सादृश्य प्रत्यभिज्ञानको उपमान नामका स्वतन्त्र प्रमाण मानते है। उनका कहना[3] है कि जिस पुरुषने गौको देखा है, वह जब जङ्गलमे गवयको देखता है, और उसे जब पूर्वदृष्ट गौका स्मरण आता है, तब 'इसके समान है' इस प्रकारका उपमान ज्ञान पैदा होता है। यद्यपि गवयनिष्ठ सादृश्य प्रत्यक्षका विषय हो

१. देखो, न्यायवा० ता० टी० पृ० १३९। २ न्यायमजरी पृ० ४६१।

३. 'प्रत्यक्षेणावबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यत. सिद्धेरुपमानप्रमाणता॥'

—मी० श्लो० उपमान० श्लोक० ३८।

रहा है, और गोनिष्ठ सादृश्यका स्मरण आ रहा है, फिर भी 'इसके समान वह है' इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान करनेके लिये स्वतन्त्र उपमान नामक प्रमाणकी आवश्यकता है। परन्तु यदि इस प्रकारसे साधारण विषयभेदके कारण प्रमाणोंकी सख्या बढाई जाती है, तो 'गौसे विलक्षण भैस है' इस वैलक्षण्य विषयक प्रत्यभिज्ञानको तथा 'यह इससे दूर है, यह इससे पास है, यह इससे ऊँचा है, यह इससे नीचा है' इत्यादि आपेक्षिक ज्ञानोको भी स्वतन्त्र प्रमाण मानना पड़ेगा। वैलक्षण्यको सादृश्याभाव कहकर अभावप्रमाणका विषय नही बनाया जा सकता; अन्यथा सादृश्यको भी वैलक्षण्याभावरूप होनेका तथा अभावप्रमाणके विषय होनेका प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अत एकत्व, सादृश्य, प्रातियोगिक, आपेक्षिक आदि सभी संकलनज्ञानोको एक प्रत्यभिज्ञानकी सीमामें ही रखना चाहिए।

नैयायिकका उपमान भी सादृश्य प्रत्यभिज्ञान है :

इसी तरह नैयायिक[1] 'गौकी तरह गवय होता है' इस उपमान वाक्यको सुनकर जङ्गलमें गवयको देखनेवाले पुरुपको होनेवाली 'यह गवय शब्दका वाच्य है' इस प्रकारकी संज्ञा-सञ्ज्ञीसम्बन्धप्रतिपत्तिको उपमान प्रमाण मानते हैं। उन्हें भी मीमासकोकी तरह वैलक्षण्य, प्रातियोगिक तथा आपेक्षिक संकलनोको तथा एतन्निमित्तक सज्ञासंज्ञीसम्बन्धप्रतिपत्तिको पृथक्-पृथक् प्रमाण मानना होगा[2]। अत. इन सब विभिन्नविषयक संकलन ज्ञानोको एक प्रत्यभिज्ञान रूपसे प्रमाण माननेमे ही लाघव और व्यवहार्यता है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान रूपसे प्रमाण कहना भी उचित नही है, क्योंकि अनुमान करते समय लिङ्गका सादृश्य अपेक्षित होता है। उस सादृश्यज्ञानको भी अनुमान माननेपर उस अनुमानके लिङ्गसादृश्य ज्ञानको भी फिर अनुमानत्वकी कल्पना होनेपर अनवस्था नामका दूषण आ जाता है। यदि अर्थमे सादृश्यव्यवहारको सदृशाकारमूलक माना जाता है, तो सदृशाकारोंमे सदृश व्यवहार कैसे होगा ? अन्य तद्गतसदृशाकारसे सदृशव्यवहारकी कल्पना करनेपर अनवस्था नामक दूषण आता है। अत सादृश्यप्रत्यभिज्ञानको अनुमान नही माना जा सकता।

प्रत्यक्ष ज्ञान विशद होता है और वर्तमान अर्थको विषय करनेवाला होता है। 'स एवाऽयम्' इत्यादि प्रत्यभिज्ञान चूँकि अतीतका भी संकलन करते है, अत. वे

---

१ 'प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।'—न्यायसू० १।१।६।

२. 'उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात्साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाण किं स्यात्सञ्ज्ञिप्रतिपादकम्॥'—लघी० श्लो० १९।

न तो विशद हैं और न प्रत्यक्षकी सीमामें आने लायक ही। पर प्रमाण अवश्य हैं, क्योंकि अविसंवादी हैं और सम्यग्ज्ञान हैं।

३. तर्क :

व्याप्तिके ज्ञानको तर्क[1] कहते हैं। साध्य और साधनके सार्वकालिक सार्वदेशिक और सार्वव्यक्तिक अविनाभावसम्बन्धको व्याप्ति कहते हैं। अविनाभाव अर्थात् साध्यके बिना साधनका न होना, साधनका साध्यके होनेपर ही होना, अभावमें बिलकुल नही होना, इस नियमको सर्वोपसंहार रूपसे ग्रहण करना तर्क है,। सर्वप्रथम व्यक्ति कार्य और कारणका प्रत्यक्ष करता है, और अनेक बार प्रत्यक्ष होनेपर वह उसके अन्वयसम्बन्धकी भूमिकाकी ओर झुकता है। फिर साध्यके अभावमें साधनका अभाव देखकर व्यतिरेकके निश्चयके द्वारा उस अन्वयज्ञानको निश्चयात्मकरूप देता है। जैसे किसी व्यक्तिने सर्वप्रथम रसोईघरमें अग्नि देखी तथा अग्निसे उत्पन्न होता हुआ धुआँ भी देखा, फिर किसी तालावमें अग्निके अभावमें, धुएँका अभाव देखा, फिर रसोईघरमे अग्निसे धुआँ निकलता हुआ देखकर वह निश्चय करता है कि अग्नि कारण है और धुआँ कार्य है। यह उपलम्भ-अनुपलम्भनिमित्तक सर्वोपसंहार करनेवाला विचार तर्ककी मर्यादामे हैं। इसमें प्रत्यक्ष, स्मरण और सादृश्यप्रत्यभिज्ञान कारण होते है। इन सबकी पृष्ठभूमिपर 'जहाँ-जहाँ, जब-जब धूम होता है, वहाँ-वहाँ, तब-तब अग्नि अवश्य होती है', इस प्रकारका एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है, जिसे ऊह या तर्क कहते हैं। इस तर्कका क्षेत्र केवल प्रत्यक्षके विषयभूत साध्य और साधन ही नही है, किन्तु अनुमान और आगमके विषयभूत प्रमेयोमे भी अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा अविनाभावका निश्चय करना तर्कका कार्य है। इसीलिए उपलम्भ और अनुपलम्भ शब्दसे साध्य और साधनका सद्भावप्रत्यक्ष और अभावप्रत्यक्ष ही नही लिया जाता, किन्तु साध्य और साधनका दृढतर सद्भावनिश्चय और अभावनिश्चय लिया जाता है। वह निश्चय चाहे प्रत्यक्षसे हो या प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे।

अकलंकदेवने प्रमाणसंग्रह[2] मे प्रत्यक्ष और अनुपलम्भसे होने वाले सम्भावनाप्रत्ययको तर्क कहा है। किन्तु प्रत्यक्ष और अनुपलम्भ शब्दसे उन्हे उक्त अभिप्राय ही इष्ट है। और सर्वप्रथम जैनदार्शनिक परम्परामें तर्कके स्वरूप और विषयको स्थिर करनेका श्रेय भी अकलंकदेव[3] को ही हैं।

---

१. 'उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः।'—परीक्षामुख ३।११।

२. 'संभवप्रत्ययस्तर्कः प्रत्यक्षानुपलम्भतः।'—प्रमाणसं० श्लो० १२।

३. लघीय० स्ववृत्ति का १०, ११।

मीमासक तर्कको एक विचारात्मक ज्ञानव्यापार मानते हैं और उसके लिए जैमिनिसूत्र और शबर भाष्य आदिमे 'ऊह' शब्दका प्रयोग करते हैं[1]। पर उसे परिगणित प्रमाणसख्यामें शामिल न करनेसे यह स्पष्ट है कि तर्क (ऊह) स्वयं प्रमाण न होकर किसी प्रमाणका मात्र सहायक हो सकता है। जैन परम्परामे अवग्रहके बाद होनेवाले सशयका निराकरण करके उसके एक पक्षकी प्रबल सम्भावना करानेवाला ज्ञानव्यापार 'ईहा' कहा गया है। इस ईहामे अवाय जैसा पूर्ण निश्चय तो नही है, पर निश्चयोन्मुखता अवश्य है। इस ईहाके पर्यायरूपमें ऊह और तर्क दोनों शब्दोका प्रयोग तत्त्वार्थभाष्य[2]मे देखा जाता है, जो कि करीब-करीब नैयायिकोकी परम्पराके समीप है।

न्यायदर्शनमें तर्कको १६ पदार्थोमे गिनाकर भी उसे प्रमाण नही कहा है। वह तत्त्वज्ञानके लिये उपयोगी है और प्रमाणोका अनुग्राहक है। जैसा कि न्यायभाष्य[3]में स्पष्ट लिखा है कि तर्क न तो प्रमाणोमें संगृहीत है न प्रमाणान्तर है, किन्तु प्रमाणोका अनुग्राहक है और तत्त्वज्ञानके लिये उसका उपयोग है। वह प्रमाणके विषयका विवेचन करता है, और तत्त्वज्ञानकी भूमिका तैयार कर देता है। [4]जयन्त भट्ट तो और स्पष्ट रूपसे इसके सम्बन्धमें लिखते हैं कि सामान्यरूपसे ज्ञात पदार्थमें उत्पन्न परस्पर विरोधी दो पक्षोमे एक पक्षको शिथिल बनाकर दूसरे पक्षकी अनुकूल कारणोके बलपर दृढ सम्भावना करना तर्कका कार्य है। यह एक पक्षकी भवितव्यताको सकारण दिखाकर उस पक्षका निश्चय करनेवाले प्रमाणका अनुग्राहक होता है। तात्पर्य यह कि न्यायपरम्परामें तर्क प्रमाणोंमें सगृहीत न होकर भी अप्रमाण नही है। उसका उपयोग व्याप्तिनिर्णयमें होनेवाली व्यभिचार-शंकाओको हटाकर उसके मार्गको निष्कटक कर देना है। वह व्याप्तिज्ञानमें बाधक और अप्रयोजकत्वशंकाको भी हटाता है। इस तरह तर्कके उपयोग और कार्यक्षेत्रमें प्राय. किसीको विवाद नही है, पर उसे प्रमाणपद देनेमे न्यायपरंपराको संकोच है।

---

१ देखो, शाबरभा० ६।१।१।

२. 'ईहा ऊहा तर्क· परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।'
—तत्त्वार्थाधि० भा० १।१५।

३ 'तर्को न प्रमाणसगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते।'
—न्यायभा० १।१।१।

४ 'एकपक्षानुकूलकारणदर्शनात् तस्मिन् सभावनाप्रत्ययो भवितव्यतावभास· तदितरपक्ष-शैथिल्यापादने तद्ग्राहकप्रमाणमनुगृह्ण तान् सुखं प्रवर्तयन् तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्क·।'
—न्यायमं० पृ० ५८६।

बौद्ध[1] तर्करूप विकल्पज्ञानको व्याप्तिका ग्राहक मानते हैं, किन्तु चूँकि वह प्रत्यक्षपृष्ठभावी है और प्रत्यक्षके द्वारा गृहीत अर्थको विषय करनेवाला एक विकल्प है, अत: प्रमाण नहीं है। इस तरह वे इसे स्पष्ट रूपसे अप्रमाण कहते है।

[2]अकलंकदेवने अपने विषयमे अविसवादी होनेके कारण इसे स्वयं प्रमाण माना है। जो स्वयं प्रमाण नहीं है। वह प्रमाणोका अनुग्रह कैसे कर सकता है? अप्रमाणसे न तो प्रमाणके विषयका विवेचन हो सकता है और न परिशोधन ही। जिस तर्कमें विसंवाद देखा जाय उस तर्काभासको हम अप्रमाण कह सकते है, पर इतने मात्रसे अविसंवादी तर्कको भी प्रमाणसे बहिर्भूत नही रखा जा सकता। 'संसारमें जितने भी धुआँ है वे सब अग्निजन्य है, अनग्निजन्य कभी नही हो सकते।' इतना लम्बा व्यापार न तो अविचारक इन्द्रियप्रत्यक्ष ही कर सकता है और न सुखादिसवेदक मानसप्रत्यक्ष ही। इन्द्रियप्रत्यक्षका क्षेत्र नियत और वर्तमान है। चूँकि मानसप्रत्यक्ष विशद है, और उपर्युक्त सर्वोपसहारी व्याप्तिज्ञान अविशद है, अतः वह मानसप्रत्यक्षमें अन्तर्भूत नही हो सकता। अनुमानसे व्याप्तिका ग्रहण तो इसलिए नही हो सकता कि स्वय अनुमानकी उत्पत्ति ही व्याप्तिके अधीन है। इसे सम्बन्धग्राही प्रत्यक्षका फल कहकर भी अप्रमाण नही कहा जा सकता; क्योकि एक तो प्रत्यक्ष कार्य और कारणभूत वस्तुको ही जानता है, उनके कार्यकारणसम्बन्धको नही। दूसरे, किसी ज्ञानका फल होना प्रमाणतामें बाधक भी नहीं है। जिस तरह विशेषणज्ञान सन्निकर्षका फल होकर भी विशेष्यज्ञानरूपी अन्य फलका जनक होनेसे प्रमाण है, उसी तरह तर्क भी अनुमानज्ञानका कारण होनेसे या हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धि रूपी फलका जनक होनेसे प्रमाण माना जाना चाहिये। प्रत्येक ज्ञान अपने पूर्व ज्ञानका फल होकर भी उत्तरज्ञानकी अपेक्षा प्रमाण हो सकता है। तर्ककी प्रमाणतामें सन्देह करनेपर निस्सन्देह अनुमान कैसे उत्पन्न हो सकेगा? जिस प्रकार अनुमान एक विकल्प होकर भी प्रमाण है, उसी तरह तर्कके भी विकल्पात्मक होनेसे प्रमाण होनेमें बाधा नही आनी चाहिये। जिस व्याप्तिज्ञानके बलपर सुदृढ अनुमानकी इमारत खडी की जा रही है, उस व्याप्तिज्ञानको अप्रमाण कहना या प्रमाणसे बहिर्भूत रखना बुद्धिमानीकी बात नही है।

---

१ 'देशकालव्यक्तिव्याप्त्या च व्याप्तिरुच्यते, यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति। प्रत्यक्षपृष्ठश्च विकल्पो न प्रमाण प्रमाणव्यापारानुकारी त्वसाविष्यते।' —प्र० वा० मनोरथ० पृ० ७।

२. लघी० स्व० श्लो० ११, १२।

योगिप्रत्यक्षके द्वारा व्याप्तिग्रहण करनेकी बात तो इसलिए निरर्थक है कि जो योगी है, उसे व्याप्तिग्रहण करनेका कोई प्रयोजन ही नही है। वह तो प्रत्यक्षसे ही समस्त साध्य-साधन पदार्थोंको जान लेता है। फिर योगिप्रत्यक्ष भी निर्विकल्पक होनेसे अविचारक है। अत हम सब अल्पज्ञानियोको अविशद पर अविसवादी व्याप्तिज्ञान करानेवाला तर्क प्रमाण ही है।

सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्तिसे अग्नित्वेन समस्त अग्नियोका और धूमत्वेन समस्त धूमोका ज्ञान तो हो सकता है, पर वह ज्ञान सामने दिखनेवाले अग्नि और धूमकी तरह स्पष्ट और प्रत्यक्ष नही है, और केवल समस्त अग्नियो और समस्त धूमोका ज्ञान कर लेना ही तो व्याप्तिज्ञान नही है, किन्तु व्याप्तिज्ञानमे 'धुआँ अग्निसे ही उत्पन्न होता है, अग्निके अभावमें कभी नही होता' इस प्रकारका अविनाभावी कार्यकारणभाव गृहीत किया जाता है, जिसका ग्रहण प्रत्यक्षसे असम्भव है। अत साध्य-साधनव्यक्तियोका प्रत्यक्ष या किसी भी प्रमाणसे ज्ञान, स्मरण, सादृश्य-प्रत्यभिज्ञान आदि सामग्रीके बाद तो सर्वोपसहारी व्याप्तिज्ञान होता है, वह अपने विषयमें सवादक है और सशय, विपर्यय आदि समारोपोका व्यवच्छेदक होनेसे प्रमाण है।

व्याप्तिका स्वरूप :

अविनाभावसम्बन्धको व्याप्ति कहते है। यद्यपि सम्बन्ध द्वयनिष्ठ होता है पर वस्तुत वह सम्बन्धियोकी अवस्थाविशेष ही है। सम्बन्धियोको छोडकर सम्बन्ध कोई पृथक् वस्तु नही है। उसका वर्णन या व्यवहार अवश्य दोके बिना नही हो सकता, पर स्वरूप प्रत्येक पदार्थकी पर्यायसे भिन्न नही पाया जाता। इसी तरह अविनाभाव या व्याप्ति उन-उन पदार्थोंका स्वरूप ही है, जिनमें वह बतलाया जाता है। साध्य और साधनभूत पदार्थोंका वह धर्म व्याप्ति कहलाता है, जिसके ज्ञान और स्मरणसे अनुमानकी भूमिका तैयार होती है। 'साध्यके बिना साधनका न होना और साध्यके होनेपर ही होना' ये दोनो धर्म एक प्रकारसे साधननिष्ठ ही है। इसी तरह 'साधनके होनेपर साध्यका होना ही' यह साध्यका धर्म है। साधनके होनेपर साध्यका होना ही अन्वय कहलाता है और साध्यके अभावमें साधनका न होना ही व्यतिरेक कहलाता है। व्याप्ति या अविनाभाव इन दोनो रूप होता है। यद्यपि अविनाभाव (विना—साध्यके अभावमें, अ—नही, भाव—होना) का शब्दार्थ व्यतिरेकव्याप्ति तक ही सीमित लगता है, परन्तु साध्यके बिना नही होनेका अर्थ है, साध्यके होनेपर ही होना। यह अविनाभाव रूपादि गुणोंकी तरह इन्द्रियग्राह्य नही होता। किन्तु साध्य और साधनभूत पदार्थोंके ज्ञान करनेके

बाद स्मरण, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान आदिकी सहायतासे जो एक मानस विकल्प होता है, वही इस अविनाभावको ग्रहण करता है। इसीका नाम तर्क है।

४. अनुमान :

[1]साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं। लिङ्गग्रहण और व्याप्तिस्मरणके अनु—पीछे होनेवाला, मान—ज्ञान अनुमान कहलाता है। यह ज्ञान अविशद होनेसे परोक्ष है, पर अपने विषयमें अविसंवादी है और संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय आदि समारोपोंका निराकरण करनेके कारण प्रमाण है। साधनसे साध्यका नियत ज्ञान अविनाभावके बलसे ही होता है। सर्वप्रथम साधनको देखकर पूर्वगृहीत अविनाभावका स्मरण होता है, फिर जिस साधनसे साध्यकी व्याप्ति ग्रहण की है, उस साधनके साथ वर्तमान साधनका सादृश्यप्रत्यभिज्ञान किया जाता है, तब साध्यका अनुमान होता है। यह मानस ज्ञान है।

लिंगपरामर्श अनुमितिका कारण नहीं :

साध्यका ज्ञान ही साध्यसम्बन्धी अज्ञानकी निवृत्ति करनेके कारण अनुमितिमें कारण हो सकता है और वही अनुमान कहा जा सकता है, नैयायिक आदिके द्वारा माना गया लिंगपरामर्श नहीं, क्योंकि लिंगपरामर्शमें व्याप्तिका स्मरण और पक्षधर्मताज्ञान होता है अर्थात् 'धूम साधन अग्नि साध्यसे व्याप्त है और वह पर्वतमें है' इतना ज्ञान होता है। यह ज्ञान केवल साधन-सम्बन्धी अज्ञानको हटाता है, साध्यके अज्ञानको नहीं। अतः यह अनुमानकी सामग्री तो हो सकता है, स्वयं अनुमान नहीं। अनुमितिका अर्थ है अनुमेय-सम्बन्धी अज्ञानको हटाकर अनुमेयार्थका ज्ञान। सो इसमें साधकतम करण तो साक्षात् साध्यज्ञान ही हो सकता है।

जिस प्रकार अज्ञात भी चक्षु अपनी योग्यतासे रूपज्ञान उत्पन्न कर देती है उस प्रकार साधन अज्ञात रहकर साध्यज्ञान नहीं करा सकता किन्तु उसका साधनरूपसे ज्ञान होना आवश्यक है। साधनरूपसे ज्ञानका अर्थ है—साध्यके साथ उसके अविनाभावका निश्चय! अनिश्चित साधन मात्र अपने स्वरूप या योग्यतासे साध्यज्ञान नहीं करा सकता, अतः उसका अविनाभाव निश्चित ही होना चाहिए। यह निश्चय अनुमितिके समय अपेक्षित होता है। अज्ञायमान धूम तो अग्निका ज्ञान करा ही नहीं सकता, अन्यथा सुप्त और मूर्च्छित आदिको या जिनने आजतक धूमका ज्ञान ही नहीं किया है, उन्हें भी अग्निज्ञान हो जाना चाहिए।

---

१. "साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानं"—न्यायवि० श्लो० १६७।

असिद्ध विशेषण तो साध्य शब्दके अर्थसे ही फलित होता है। साध्यका अर्थ है—सिद्ध करने योग्य अर्थात् असिद्ध। सिद्ध पदार्थका अनुमान व्यर्थ है। अनिष्ट तथा प्रत्यक्षादिबाधित पदार्थ साध्य नही हो सकते। केवल सिसाधयिषित (जिसके सिद्ध करनेकी इच्छा है) अर्थको भी साध्य नही कह सकते, क्योंकि भ्रमवश अनिष्ट और बाधित पदार्थ भी सिसाधयिषा (साधनेकी इच्छा) के विषय बनाये जा सकते है, ऐसे पदार्थ साध्याभास है, साध्य नही। असिद्ध विशेषण प्रतिवादीकी अपेक्षासे है और इष्ट विशेषण वादीकी दृष्टिसे।

[1]अनुमान प्रयोगके समय कही धर्म और कही धर्मविशिष्ट धर्मी साध्य होता है। परन्तु व्याप्तिनिश्चयकालमें केवल धर्म ही साध्य होता है।

अनुमानके भेद :

इसके दो भेद है—एक स्वार्थानुमान और दूसरा परार्थानुमान। स्वय निश्चित साधनके द्वारा होनेवाले साध्यके ज्ञानको स्वार्थानुमान कहते है, और अविनाभावी साध्यसाधनके वचनोमे श्रोताको उत्पन्न होनेवाला साध्यज्ञान परार्थानुमान कहलाता है। यह परार्थानुमान उसी श्रोताको होता है, जिसने पहले व्याप्ति ग्रहण कर ली है। [2] वचनोको परार्थानुमान तो इसलिए कह दिया जाता है कि वे वचन परबोधनको तैयार हुए वक्ताके ज्ञानके कार्य है और श्रोताके ज्ञानके कारण है, अत कारणमे कार्यका और कार्यमें कारणका उपचार कर लिया जाता है। इसी उपचारसे वचन भी परार्थानुमानरूपसे व्यवहारमें आते है। वस्तुत परार्थानुमान ज्ञानरूप ही है। वक्ताका ज्ञान भी जब श्रोताको समझानेके उन्मुख होता है तो उस कालमें वह परार्थानुमान हो जाता है।

स्वार्थानुमानके अंग :

अनुमानका यह स्वार्थ और परार्थ विभाग वैदिक, जैन और बौद्ध सभी परम्पराओमें पाया जाता है। किन्तु प्रत्यक्षका भी स्वार्थ और परार्थरूपमे विभाजन केवल आ० सिद्धसेनके न्यायावतार (श्लो० ११, १२) में ही है।

स्वार्थानुमानके तीन अग है—धर्मी, साध्य और साधन। साधन गमक होनेसे, साध्य गम्य होनेसे और धर्मी साध्य और साधनभूत धर्मोका आधार होनेसे अग है। विशेष आधारमें साध्यकी सिद्धि करना अनुमानका प्रयोजन है। केवल साध्य धर्मका निश्चय तो व्याप्तिके ग्रहणके समय ही हो जाता है। इसके पक्ष और हेतु ये दो

---

१. देखो, परीक्षामुख ३।२०–२७।

२ 'तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्।' –परीक्षामुख ३।५१।

अग भी माने जाते है। यहाँ 'पक्ष' शब्दसे साध्यधर्म और धर्मीका समुदाय विवक्षित है, क्योकि साध्यधर्मविशिष्ट धर्मीको ही पक्ष कहते है। यद्यपि स्वार्थानुमान ज्ञानरूप है, और ज्ञानमे ये सब विभाग नही किये जा सकते, फिर भी उसका शब्दसे उल्लेख तो करना ही पडता है। जैसे कि घटप्रत्यक्षका 'यह घडा है' इस शब्दके द्वारा उल्लेख होता है, उसी तरह 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे' इन शब्दोके द्वारा स्वार्थानुमानका प्रतिपादन होता है।

धर्मीका स्वरूप :

धर्मी[1] प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि कही प्रमाणसे, कही विकल्पसे और कहीं प्रमाण और विकल्प दोनोसे होती है। प्रत्यक्षादि किसी प्रमाणसे जो धर्मी सिद्ध होता है, वह प्रमाणसिद्ध है, जैसे पर्वतादि। जिसकी प्रमाणता या अप्रमाणता निश्चित न हो ऐसी प्रतीतिमात्रसे जो धर्मी सिद्ध हो उसे विकल्पसिद्ध कहते है, जैसे 'सर्वज्ञ है, या खरविषाण नही है।' यहाँ अस्तित्व और नास्तित्वकी सिद्धिके पहले सर्वज्ञ और खरविषाणको प्रमाणसिद्ध नही कह सकते। वे तो मात्र प्रतीति या विकल्पसे ही सिद्ध होकर धर्मी बने है। इस[2] विकल्पसिद्ध धर्मीमें केवल सत्ता और असत्ता ही साध्य हो सकती है, क्योकि जिनकी सत्ता और असत्तामें विवाद है, अर्थात् अभी तक जिनकी सत्ता या असत्ता प्रमाणसिद्ध नही हो सकी है, वे ही धर्मी विकल्पसिद्ध होते है। प्रमाण और विकल्प दोनोसे प्रसिद्ध धर्मी उभयसिद्ध-धर्मी कहलाता है, जैसे 'शब्द अनित्य है', यहाँ वर्तमान शब्द तो प्रत्यक्षगम्य होनेसे प्रमाणसिद्ध है, किन्तु भूत और भविष्यत तथा देशान्तरवर्ती शब्द विकल्प या प्रतीतिसे सिद्ध है और सपूर्ण शब्दमात्रको धर्मी बनाया है, अत. यह उभयसिद्ध है।

[3]प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीमे इच्छानुसार कोई भी धर्म साध्य बनाया जा सकता है। विकल्पसिद्ध धर्मीको प्रतीतिसिद्ध, बुद्धिसिद्ध और प्रत्ययसिद्ध भी कहते है।

परार्थानुमान :

परोपदेशसे होनेवाला साधनसे साध्यका ज्ञान[4] परार्थानुमान है। जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे या धूमवाला अन्यथा नही हो सकता' इस

---

१ 'प्रसिद्धो धर्मी।'—परीक्षामुख ३।२७।

२ देखो, परीक्षामुख ३।२३।

३. परीक्षामुख ३।२५।

४. 'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्।'—परीक्षामुख ३।५०।

वाक्यको सुनकर जिस श्रोताने अग्नि और धूमकी व्याप्ति ग्रहण की है, उसे व्याप्तिका स्मरण होनेपर जो अग्निज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है। परोपदेशरूप वचनोको तो परार्थानुमान उपचारसे ही कहते है, क्योकि वचन अचेतन है, वे ज्ञानरूप मुख्य प्रमाण नही हो सकते।

परार्थानुमानके दो अवयव :

इस परार्थानुमानके प्रयोजक वाक्यके दो अवयव होते हैं—एक प्रतिज्ञा और दूसरा हेतु। धर्म और धर्मीके समुदायरूप पक्षके वचनको प्रतिज्ञा कहते है, जैसे 'यह पर्वत अग्निवाला है।' साध्यसे अविनाभाव रखनेवाले साधनके वचनको हेतु कहते है, जैसे 'धूमवाला होनेसे, या धूमवाला अन्यथा नही हो सकता'। हेतुके इन दो [1]प्रयोगोमें कोई अन्तर नही है। पहला कथन विधिरूपसे है और दूसरा निषेध रूपसे। 'अग्निके होनेपर ही धूम होता है' इसका ही अर्थ है कि 'अग्निके अभावमें नही होता।' दोनो प्रयोगोमें अविनाभावी साधनका कथन है। अत. इनमेसे किसी एकका ही प्रयोग करना चाहिये।

पक्ष और प्रतिज्ञा तथा साधन और हेतुमें वाच्य और वाचकका भेद है। पक्ष और साधन वाच्य है तथा प्रतिज्ञा और हेतु उनके वाचक शब्द। व्युत्पन्न श्रोताको प्रतिज्ञा और हेतुरूप परोपदेशसे परार्थानुमान उत्पन्न होता है।

अवयवोंकी अन्य मान्यताएँ :

परार्थानुमानके प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव हैं। परार्थानुमानके सम्बन्धमे पर्याप्त मतभेद है। नैयायिक[2]प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव मानते है। न्यायभाष्यमें (१।१।३२) जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन और संशयव्युदास इन पाँच अवयवोका और भी अतिरिक्त कथन मिलता है। दशवैकालिकनिर्युक्ति (गा० १३७) में प्रकरणविभक्ति, हेतुविभक्ति आदि अन्य ही दस अवयवोका उल्लेख है। पाँच अवयववाले वाक्यका प्रयोग इस प्रकार होता है—'पर्वत अग्निवाला है, धूमवाला होनेसे, जो-जो धूमवाला है वह-वह अग्निवाला होता है जैसे कि महानस, उसी तरह पर्वत भी धूमवाला है, इसलिये अग्निवाला है।' साख्य उपनय और निगमनके प्रयोगको आवश्यक नही मानते[3]।

---

१. 'हेतोस्तथोपपत्त्या वा स्यात्प्रयोगोऽन्यथापि वा।
द्विविधोऽन्यतरेणापि साध्यसिद्धिर्भवेदिति॥'
—न्यायावतार श्लो० १७।

२ 'प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा.।' —न्यायसू० १।१।३२।

३ देखो साख्यका० माठर वृ० पृ० ५।

जब बौद्धका यह कहना है कि 'समर्थनके बिना हेतु निरर्थक है', तब अच्छा तो यही है कि समर्थनको ही अनुमानका अवयव माना जाय, हेतु तो समर्थनके कहनेसे स्वत गम्य हो जायेगा। 'हेतुके बिना कहे किसका समर्थन ?' यह समाधान पक्षप्रयोगमें भी लागू होता है, 'पक्षके बिना किसकी सिद्धिके लिये हेतु ?' या 'पक्षके बिना हेतु रहेगा कहाँ ?' अत प्रस्ताव आदिके द्वारा पक्ष भले ही गम्यमान हो, पर वादीको वादकथामें अपना पक्ष-स्थापन करना ही होगा, अन्यथा पक्ष-प्रतिपक्षका विभाग कैसे किया जायेगा ? यदि हेतुको कहकर आप समर्थनकी सार्थकता मानते हैं, तो पक्षको कहकर ही हेतुप्रयोगको न्याय्य मानना चाहिये। अत जब [1]साधनवचनरूप हेतु और पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा इन दो अवयवोंसे ही परिपूर्ण अर्थका बोध हो जाता है तब अन्य दृष्टान्त, उपनय और निगमन वादकथामें व्यर्थ हैं।

उदाहरणकी व्यर्थता :

[2]उदाहरण साध्यप्रतिपत्तिमे कारण तो इसलिये नही है कि अविनाभावी साधनसे ही साध्यकी सिद्धि हो जाती है। विपक्षमे बाधक प्रमाण मिल जानेसे व्याप्तिका निश्चय भी हो जाता है, अत व्याप्तिनिश्चयके लिये भी उसकी उपयोगिता नही है। फिर दृष्टान्त किसी खास व्यक्तिका होता है और व्याप्ति होती है सामान्य-रूप। अत. यदि उस दृष्टान्तमें विवाद उत्पन्न हो जाय तो अन्य दृष्टान्त उपस्थित करना होगा, और इस तरह अनवस्था दूषण आता है। यदि केवल दृष्टान्तका कथन कर दिया जाय तो साध्यधर्मीमें साध्य और साधन दोनोके सद्भावमें शका उत्पन्न हो जाती है। अन्यथा उपनय और निगमनका प्रयोग क्यो किया जाता है ? व्याप्तिस्मरणके लिए भी उदाहरणकी सार्थकता नही है, क्योकि अविनाभावी हेतुके प्रयोगमात्रसे ही व्याप्तिका स्मरण हो जाता है। सबसे खास बात तो यह है कि विभिन्न मतवादी तत्त्वका स्वरूप विभिन्नरूपसे स्वीकार करते हैं। बौद्ध घडेको क्षणिक कहते है, जैन कथञ्चित् क्षणिक और नैयायिक अवयवीको अनित्य और परमाणुओको नित्य। ऐसी दशामे किसी सर्वसम्मत दृष्टान्तका मिलना कठिन है। अत जैन तार्किकोने इसके झगडेको ही हटा दिया है। दूसरी बात यह है कि दृष्टान्तमें व्याप्तिका ग्रहण करना अनिवार्य भी नही है, क्योकि जब समस्त वस्तुओको पक्ष बना लिया जाता है तब किसी दृष्टान्तका मिलना असम्भव हो जाता है। अन्तत पक्षमें ही साध्य और साधनकी व्याप्ति विपक्षमें बाधक प्रमाण देखकर सिद्ध कर ली जाती है। इसलिए भी दृष्टान्त निरर्थक हो जाता है और वादकथामें

---

१. परीक्षामुख ३।३२। २. परीक्षामुख ३।३३–४०।

अव्यवहार्य भी। हाँ, बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिए उसकी उपयोगितासे कोई इनकार नही कर सकता।

उपनय और निगमन तो केवल उपसहार-वाक्य है, जिनकी अपनेमे कोई उपयोगिता नही है। धर्मीमें हेतु और साध्यके कथन मात्रसे ही उनकी सत्ता सिद्ध है। उनमें कोई संशय नही रहता।

वादिदेवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ५४८) ने विशिष्ट अधिकारीके लिये बौद्धोकी तरह केवल एक हेतुके प्रयोग करनेकी भी सम्मति प्रकट की है। परन्तु बौद्ध तो त्रिरूप हेतुके समर्थनमें पक्षधर्मत्वके बहाने प्रतिज्ञाके प्रतिपाद्य अर्थको कह जाते है, पर जैन तो त्रैरूप्य नही मानते, वे तो केवल अविनाभावको ही हेतुका स्वरूप मानते है, तब वे केवल हेतुका प्रयोग करके कैसे प्रतिज्ञाको गम्य बता सकेंगे ? अत अनुमानप्रयोगकी समग्रताके लिए अविनाभावी हेतुवादी जैनको प्रतिज्ञा अपने शब्दोसे कहनी ही चाहिए, अन्यथा साध्यधर्मके आधारका सन्देह कैसे हटेगा ? अत जैनके मतसे सीधा अनुमानवाक्य इस प्रकारका होता है—'पर्वत अग्नि वाला है, धूमवाला होनेसे' 'सब अनेकान्तात्मक है, क्योकि सत् है।'

पक्षमें हेतुका उपसंहार उपनय है और हेतुपूर्वक पक्षका वचन निगमन है। ये दोनो अवयव स्वतन्त्रभावसे किसीकी सिद्धि नही करते। अत लाघव, आवश्यकता और उपयोगिता सभी प्रकारसे प्रतिज्ञा और हेतु इन दोनो अवयवोकी ही परार्थानुमानमें सार्थकता है। वादाधिकारी विद्वान् इनके प्रयोगसे ही उदाहरण आदिसे समझाये जानेवाले अर्थको स्वत ही समझ सकते है।

हेतुके स्वरूपकी मीमांसा :

हेतुका स्वरूप भी विभिन्न वादियोने अनेक प्रकारसे माना है। नैयायिक[1] पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व इस प्रकार पचरूपवाला हेतु मानते है। हेतुका पक्षमें रहना, समस्त सपक्षोमें या किसी एक सपक्षमे रहना, किसी भी विपक्षमे नही पाया जाना, प्रत्यक्षादिसे साध्यका बाधित नही होना और तुल्यबलवाले किसी प्रतिपक्षी हेतुका नही होना ये पाँच बातें प्रत्येक सद्धेतुके लिए नितान्त आवश्यक है। इसका समर्थन उद्योतकरके न्यायवार्तिक (१।१।५) में देखा जाता है। प्रशस्तपादभाष्य[2] में हेतुके त्रैरूप्यका ही निर्देश है।

---

१ न्यायवा० ता० टी० १।१।५।
२. प्रश० कन्दली पृ० २००।

त्रैरूप्यवादी बौद्ध त्रैरूप्यको स्वीकार करके अबाधितविषयत्वको पक्षके लक्षण-से ही अनुगत कर लेते है, क्योकि पक्षके लक्षणमे 'प्रत्यक्षाद्यनिराकृत' पद दिया गया है। अपने साध्यके साथ निश्चित त्रैरूप्यवाले हेतुमें समबलवाले किसी प्रति-पक्षी हेतुकी सम्भावना ही नही की जा सकती, अत असत्प्रतिपक्षत्व अनावश्यक हो जाता है। इस तरह वे तीन रूपोको हेतुका अत्यन्त आवश्यक स्वरूप मानते है और इसी त्रिरूप हेतुको साधनाङ्ग कहते है और इनकी न्यूनताको असाधनाङ्ग वचन कहकर निग्रहस्थानमें शामिल करते है। पक्षधर्मत्व असिद्धत्व दोषका परिहार करनेके लिये है, अपक्षसत्त्व विरुद्धत्वका निराकरण करनेके लिए तथा विपक्ष-व्यावृत्ति अनैकान्तिक दोषकी व्यावृत्तिके लिए है[1]।

जैन दार्शनिकोने प्रथमसे ही अन्यथानुपपत्ति या अविनाभावको ही हेतुके प्राणरूपसे पकडा है। सपक्षसत्त्व इसलिए आवश्यक नही है कि एक तो समस्त पक्षोमें हेतुका होना अनिवार्य नही है। दूसरे सपक्षमे रहने या न रहनेसे हेतुतामें कोई अन्तर नही आता। केवलव्यतिरेकी हेतु सपक्षमें नही रहता, फिर भी सद्धेतु है। 'हेतुका साध्यके अभावमें नही ही पाया जाना' यह अन्यथानुपपत्ति, अन्य सब रूपोकी व्यर्थता सिद्ध कर देती है। पक्षधर्मत्व भी आवश्यक नही है, क्योकि अनेक हेतु ऐसे है जो पक्षमें नही पाये जाते, फिर भी अपने अविनाभावी साध्यका ज्ञान कराते है। जैसे 'रोहिणी नक्षत्र एक मुहूर्तके बाद उदित होगा, क्योकि इस समय कृत्तिकाका उदय है।' यहाँ कृत्तिकाके उदय और एक मुहूर्त बाद होनेवाले शकटोदय (रोहिणीके उदय) मे अविनाभाव है, वह अवश्य ही होगा, परन्तु कृत्तिकाका उदय रोहिणी नामक पक्षमें नही पाया जाता। अत. पक्षधर्मत्व ऐसा रूप नही है जो हेतुकी हेतुताके लिये अनिवार्य हो। [2]काल और आकाशको पक्ष बनाकर कृत्तिका और रोहिणीका सम्बन्ध बैठाना तो बुद्धिका अतिप्रसग[3] है। अत केवल नियमवाली विपक्षव्यावृत्ति ही हेतुकी आत्मा है, इसके अभावमें वह हेतु ही नही रह सकता। सपक्षसत्त्व तो इसलिये माना जाता है कि हेतुका अविनाभाव किसी दृष्टान्तमे ग्रहण करना चाहिये या दिखाना चाहिए। परन्तु हेतु बहिर्व्याप्ति (दृष्टान्तमे साध्यसाधनकी व्याप्ति) के बलपर गमक नही होता। वह तो अन्तर्व्याप्ति (पक्षमें साध्यसाधनकी व्याप्ति) से ही सद्धेतु बनता है।

---

१. हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णित.।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षत ॥'—प्रमाणवा० ३।१४।

२ देखो, प्रमाणवा० स्ववृ० टी० ३।१।

३. प्रमाणस० पृ० १०४।

जिसका अविनाभाव निश्चित है उसके साध्यमें प्रत्यक्षादि प्रमाणोसे बाधा ही नही आ सकती। फिर बाधित तो साध्य ही नही हो सकता, क्योकि साध्यके लक्षणमें 'अबाधित' पद पडा हुआ है। जो बाधित होगा वह साध्याभास होकर अनुमानको आगे बढने ही न देगा।

इसी तरह जिस हेतुका अपने साध्यके साथ समग्र अविनाभाव है, उसका तुल्यबलशाली प्रतिपक्षी प्रतिहेतु सम्भव ही नही है, जिसके वारण करनेके लिए असत्प्रतिपक्षत्वको हेतुका स्वरूप माना जाय। निश्चित अविनाभाव न होनेसे 'गर्भमें आया हुआ मित्राका पुत्र श्याम होगा, क्योकि वह मित्राका पुत्र है जैसे कि उसके अन्य श्याम पुत्र' इस अनुमानमे त्रिरूपता होनेपर भी सत्यता नही है। मित्रापुत्रत्व हेतु गर्भस्थ पुत्रमें है, अत पक्षधर्मत्व मिल गया, सपक्षभूत अन्य पुत्रोमें पाया जाता है, अत. सपक्षसत्त्व भी सिद्ध है, विपक्षभूत गोरे चैत्रके पुत्रोसे वह व्यावृत्त है, अत सामान्यतया विपक्षव्यावृत्ति भी है। मित्रापुत्रके श्यामत्वमें कोई बाधा नही है और समान बलवाला कोई प्रतिपक्षी हेतु नही है। इस तरह इस मित्रापुत्रत्व हेतुमें त्रैरूप और पाचरूप्य होनेपर भी सत्यता नही है; क्योकि मित्रापुत्रत्वका श्यामत्वके साथ कोई अविनाभाव नही है। अविनाभाव इसलिए नही है कि उसका श्यामत्वके साथ सहभाव या क्रमभाव नियम सही है। श्यामत्वका कारण है उसके उत्पादक नामकर्मका उदय और मित्राका गर्भ अवस्थामें हरी पत्रशाक आदिका खाना। अत जब मित्रापुत्रत्वका श्यामत्वके साथ किसी निमित्तक अविनाभाव नही है और विपक्षभूत गौरत्वकी भी वहाँ सम्भावना की जा सकती है, तब वह सच्चा हेतु नही हो सकता, परन्तु त्रैरूप्य और पाँचरूप्य उसमें अवश्य पाये जाते हैं। कृत्तिकोदय आदिमे त्रैरूप्य और पाँचरूप्य न होनेपर भी अविनाभाव होनेके कारण सद्धेतुता है। अत. अविनाभाव ही एक मात्र हेतुका स्वरूप हो सकता है, त्रैरूप्य आदि नही। इस आशयका एक प्राचीन श्लोक मिलता है, जिसे अकलंकदेवने न्यायविनिश्चय (श्लो० ३२३) में शामिल किया है। तत्त्वसग्रहपजिकाके अनुसार यह श्लोक पात्रस्वामीका है।

"अन्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम् ?
नान्यथानुपपन्नत्व यत्र तत्र त्रयेण किम् ?"

अर्थात् जहाँ अन्यथानुपपत्ति या अविनाभाव है वहाँ त्रैरूप्य माननेसे कोई लाभ नही और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नही है वहाँ त्रैरूप्य मानना भी व्यर्थ है।

आचार्य विद्यानन्दने इसीकी छायासे पचरूपका खंडन करनेवाला निम्नलिखित श्लोक रचा है—

१"अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः ?
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभि. ॥"

—प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ ७२ ।

अर्थात् जहाँ (कृत्तिकोदय आदि हेतुओंमें) अन्यथानुपपन्नत्व-अविनाभाव है वहाँ पञ्चरूप न भी हो तो भी कोई हानि नही है, उनके माननेसे क्या लाभ ? और जहाँ (मित्रातनयत्व आदि हेतुओंमें) पञ्चरूप है और अन्यथानुपपन्नत्व नही है, वहाँ पञ्चरूप माननेसे क्या ? वे व्यर्थ है ।

हेतुबिन्दुटीकामे[२] इन पाँच रूपोके अतिरिक्त छठवें 'ज्ञातत्व' स्वरूपको माननेवाले मतका उल्लेख पाया जाता है। यह उल्लेख सामान्यतया नैयायिक और मीमासकका नाम लेकर किया गया है। पाँच रूपोमे असत्प्रतिपक्षत्वका विवक्षितैकसंख्यत्व शब्दसे निर्देश है। असत्प्रतिपक्ष अर्थात् जिसका कोई प्रतिपक्षी हेतु विद्यमान न हो, जो अप्रतिद्वन्द्वी हो और विवक्षितैक सख्यत्वका भी यही अर्थ है कि जिसकी एक सख्या हो अर्थात् जो अकेला हो, जिसका कोई प्रतिपक्षी न हो। षड्लक्षण हेतुमें ज्ञातत्वरूपके पृथक् कहनेकी कोई आवश्यकता नही है, क्योकि लिंग अज्ञात होकर साध्यका ज्ञान करा ही नही सकता। वह न केवल ज्ञात ही हो, किन्तु उसे अपने साध्यके साथ अविनाभावीरूपमे निश्चित भी होना चाहिये। तात्पर्य यह कि एक अविनाभावके होनेपर शेष रूप या तो निरर्थक है या उस अविनाभावके विस्तार मात्र है। बाधा[3] और अविनाभावका विरोध है। यदि हेतु अपने साध्यके साथ अविनाभाव रखता है, तो बाधा कैसी ? और यदि बाधा है, तो अविनाभाव कैसा ? इनमें केवल एक 'विपक्षव्यावृत्ति' रूप ही ऐसा है, जो हेतुका असाधारण लक्षण हो सकता है। इसीका नाम अविनाभाव है।

नैयायिक अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इस तरह तीन प्रकारके हेतु मानते है। 'शब्द अनित्य है, क्योकि वह कृतक है' इस अनुमानमे कृतकत्व हेतु सपक्षभूत अनित्य घटमें पाया जाता है और आकाश आदि नित्य विपक्षोसे व्यावृत्त रहता है और पक्षमें इसका रहना निश्चित है, अत यह अन्वयव्यतिरेकी है। इसमे पञ्चरूपता विद्यमान है। 'अदृष्ट आदि किसीके प्रत्यक्ष है,

१ 'अन्यथेत्यादिना पात्रस्वामिमतमाशङ्कते ।' —तत्त्वसं० पं० श्लो० १३६४ ।

२. 'षड्लक्षणो हेतुरित्यपरे नैयायिकमीमासकादयो मन्यन्ते…तथा विवक्षितैकसंख्यत्वं रूपान्तरम्—एका सख्या यस्य हेतुद्रव्यस्य तदेकसंख्यं यद्येकसख्यावच्छिन्नाया प्रतिहेतुरहिताया तथा ज्ञातत्व च ज्ञानविषयत्वम् ।' —हेतुबि० टी० पृ० २०६ ।

३ 'बाधाविनाभावयोर्विरोधात् ।'—हेतुबि० परि० ४ ।

क्योंकि वे अनुमेय हैं' यहाँ अनुमेयत्व हेतु पक्षभूत अदृष्टादिमें पाया जाता है, सपक्ष घटमें भी इसकी वृत्ति है, इसलिए पक्षधर्मत्व और सपक्षसत्त्व तो हैं, पर विपक्ष-व्यावृत्ति नहीं है, क्योंकि जगत्के समस्त पदार्थ पक्ष और सपक्षके अन्तर्गत आ गये हैं। जब कोई विपक्ष है ही नहीं तब व्यावृत्ति किससे हो ? इस केवलान्वयी हेतुमें विपक्षव्यावृत्तिके सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। 'जीवित शरीर आत्मासे युक्त है, क्योंकि उसमें प्राणादिमत्त्व—श्वासोच्छ्वास आदि पाये जाते हैं', यहाँ जीवित शरीर पक्ष है, सात्मकत्व साध्य है और प्राणादिमत्त्व हेतु है। यह पक्षभूत जीवित शरीरमें पाया जाता है और विपक्षभूत पत्थर आदिसे व्यावृत्त है, अत. इसमें पक्ष-धर्मत्व और विपक्षव्यावृत्ति तो पाई जाती है, किन्तु सपक्षसत्त्व नहीं है, क्योंकि जगत्के समस्त चेतन पदार्थोंका पक्षमें और अचेतन पदार्थोंका विपक्षमें अन्तर्भाव हो गया है, सपक्ष कोई बचता ही नहीं है। इस केवलव्यतिरेकी हेतुमें सपक्षसत्त्वके सिवाय अन्य चार रूप पाये जाते हैं। स्वयं नैयायिकों[1] ने केवलान्वयी और केवल-व्यतिरेकी हेतुओंमें चार-चार रूप स्वीकार करके चतुर्लक्षणको भी सद्हेतु माना है। इस तरह पञ्चरूपता इन हेतुओंमें अपने आप अव्याप्त सिद्ध हो जाती है।

केवल एक अविनाभाव ही ऐसा है, जो समस्त सद्हेतुओंमें अनुपचरितरूपसे पाया जाता है और किसी भी हेत्वाभासमें इसकी सम्भावना नहीं की जा सकती। इसलिये जैनदर्शनने हेतुको 'अन्यथानुपपत्ति' या 'अविनाभाव' रूपसे एकलक्षणवाला[2] ही माना है।

हेतुके प्रकार :

वैशेषिक सूत्रमें एक जगह (९।२।१) कार्य, कारण, संयोगी, समवायी और विरोधी इन पाँच प्रकारके लिंगोंका निर्देश है। अन्यत्र (३-११-२३) अभूत-भूतका, भूत-अभूतका और भूत-भूतका इस प्रकार तीन हेतुओंका वर्णन है। बौद्ध[3] स्वभाव, कार्य और अनुपलब्धि इस तरह तीन प्रकारके हेतु मानते हैं। कार्यहेतुका

---

१ 'यद्यप्यविनाभाव. पञ्चसु चतुर्षु वा रूपेषु लिङ्गस्य समाप्यते।'

—न्यायवा० ता० टी० पृ० १७८।

"केवलान्वयसाधको हेतु केवलान्वयी। अस्य च पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वाबाधितासत्प्रति-पक्षितत्वानि चत्वारि रूपाणि गमकत्वौपयिकानि। अन्वयव्यतिरेकिणस्तु हेतोर्विपक्षासत्त्वेन सह पञ्च। केवलव्यतिरेकिण. सपक्षसत्त्वव्यतिरेकेण चत्वारि।"

—वैशे० उप० पृ० ६७।

२. 'अन्यथानुपपत्त्येकलक्षण तत्र साधनम्।'—त० श्लो० १।१३।१२१।

३. न्यायबिन्दु २।१२।

अपने साध्यके साथ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होता है, स्वभावहेतुका तादात्म्य होता है और अनुपलब्धियोमें भी तादात्म्यसम्बन्ध ही विवक्षित है। जैन तार्किकपरम्परामें अविनाभावको केवल तादात्म्य और तदुत्पत्तिमें ही नही बाँधा है, किन्तु उसका व्यापक क्षेत्र निश्चित किया है। अविनाभाव, सहभाव और क्रमभावमूलक होता है। सहभाव तादात्म्यप्रयुक्त भी हो सकता है और तादात्म्यके बिना भी। जैसे कि तराजूके एक पलडेका ऊपरको जाना और दूसरेका नीचेकी तरफ झुकना, इन दोनो में तादात्म्य न होकर भी सहभाव है। क्रमभाव कार्य-कारणभावमूलक भी होता है और कार्यकारणभावके बिना भी। जैसे कि कृत्तिकोदय और उसके एक मुहूर्तके बाद उदित होनेवाले शकटोदयमें परस्पर कार्यकारणभाव न होने पर भी नियत क्रमभाव है।

अविनाभावके इसी व्यापक स्वरूपको आधार बनाकर जैन परम्परामें हेतुके स्वभाव, व्यापक, कार्य, कारण, पूर्वचर, उत्तरचर और सहचर ये भेद किये हैं[1]। हेतुके सामान्यतया दो भेद भी होते हैं[2]—एक उपलब्धिरूप और दूसरा अनुपलब्धिरूप। उपलब्धि, विधि और प्रतिषेध दोनोको सिद्ध करती है। इसी तरह अनुपलब्धि भी। बौद्ध[3] कार्य और स्वभाव हेतुको केवल विधिसाधक और अनुपलब्धि हेतुको मात्र प्रतिषेधसाधक मानते हैं, किन्तु आगे दिये जानेवाले उदाहरणोसे यह स्पष्ट हो जायगा कि अनुपलब्धि और उपलब्धि दोनो ही हेतु विधि और प्रतिषेध दोनोके साधक हैं। वैशेषिक सयोग और समवायको स्वतन्त्र मानते हैं, अत एतन्निमित्तक सयोगी और समवायी ये दो हेतु उन्होने स्वतन्त्र माने हैं, परन्तु इस प्रकारके भेद सहभावमूलक अविनाभावमें सगृहीत हो जाते हैं। वे या तो सहचरहेतुमें या स्वभावहेतुमें अन्तर्भूत हो जाते है।

कारणहेतुका समर्थन :

बौद्ध कारणहेतुको स्वीकार नही करते हैं। उनका कहना है[4] कि 'कारण अवश्य ही कार्यको उत्पन्न करे' ऐसा नियम नही है। जो अन्तिम क्षणप्राप्त कारण नियमसे कार्यका उत्पादक है, उसके दूसरे क्षणमें ही कार्यका प्रत्यक्ष हो जाने वाला है, अत उसका अनुमान निरर्थक है। किन्तु अँधेरेमें किसी फलके रसको चखकर तत्समानकालीन रूपका अनुमान कारणसे कार्यका अनुमान ही तो है[4], क्योंकि

---

१ परीक्षामुख ३।५४। ३ परीक्षामुख ३.५२।

२ 'अत्र द्वौ वस्तुसाधनौ, एक प्रतिषेधहेतु ।'—न्यायबि० २।१९।

३. 'न च कारणानि अवश्य कार्यवन्ति भवन्ति ।'—न्यायबि० २।४९।

४. 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित् कारण हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।'—परीक्षामुख ३।५५।

वर्तमान रसको पूर्व रस उपादानभावसे तथा पूर्वरूप निमित्तभावसे उत्पन्न करता है और पूर्वरूप अपने उत्तररूपको पैदा करके ही रसमें निमित्त बनता है। अत रसको चखकर उसकी एकसामग्रीका अनुमान होता है। फिर एकसामग्रीके अनुमानसे जो उत्तर रूपका अनुमान किया जाता है वह कारणसे कार्यका ही अनुमान है। इसे स्वभावहेतुमें अन्तर्भूत नही किया जा सकता। कारणसे कार्यके अनुमानमें दो शर्तें आवश्यक हैं। एक तो उस कारणकी शक्तिका किसी प्रतिबन्धकसे प्रतिरोध न हो और दूसरे सामग्रीकी विकलता न हो। इन दो बातोंका निश्चय होने पर ही कारण कार्यका अव्यभिचारी अनुमान करा सकता है। जहाँ इनका निश्चय न हो, वहाँ न सही, पर जिस कारणके सम्बन्धमे इनका निश्चय करना शक्य है, उस कारणको हेतु स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति नही होनी चाहिये।

पूर्वचर, उत्तरचर, सहचर हेतु :

इसी तरह [1]पूर्वचर और उत्तरचर हेतुओमे न तो तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है और न तदुत्पत्ति ही, क्योकि कालका व्यवधान रहने पर इन दोनो सम्बन्धोकी सम्भावना नही है। अत इन्हे भी पृथक् हेतु स्वीकार करना चाहिये। आज हुए अपशकुनको कालान्तरमें होनेवाले मरणका कार्य मानना तथा अतीत जागृत अवस्थाके ज्ञानको प्रबोधकालीन ज्ञानके प्रति कारण मानना उचित नही है, क्योकि कार्यकी उत्पत्ति कारणके व्यापारके अधीन होती है। जो कारण अतीत और अनुत्पन्न होनेके कारण स्वयं असत् हैं, अत एव व्यापारशून्य हैं, उनसे कार्योत्पत्तिकी सम्भावना कैसे की जा सकती है?

इसी तरह[2] सहचारी पदार्थ एक साथ उत्पन्न होते हैं, अत' वे परस्पर कार्यकारणभूत नही कहे जा सकते और एक अपनी स्थितिमें दूसरेकी अपेक्षा नही करता, अत' उनमें परस्पर तादात्म्य भी नही माना जा सकता। इसलिए सहचर हेतुको भी पृथक् मानना ही चाहिये।

हेतु के भेद :

विधिसाधक उपलब्धिको अविरुद्धोपलब्धि और प्रतिषेध-साधक उपलब्धिको विरुद्धोपलब्धि कहते हैं। इनके उदाहरण इस प्रकार हैं.—

(१) अविरुद्धव्याप्योपलब्धि—शब्द परिणामी है, क्योकि वह कृतक है।

(२) अविरुद्धकार्योपलब्धि—इस प्राणीमें बुद्धि है, क्योकि वचन आदि देखे जाते हैं।

---

१ देखो, लघीय० श्लो० १४। परीक्षामुख ३।५६–५८।

२ परीक्षामुख ३।५९। ३ परीक्षामुख ३।६०–६५।

(३) अविरुद्धकारणोपलब्धि—यहाँ छाया है, क्योंकि छत्र है ।

(४) अविरुद्ध पूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद शकट (रोहिणी) का उदय होगा, क्योंकि इस समय कृत्तिका का उदय हो रहा है ।

(५) अविरुद्धोत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय हो चुका है, क्योंकि इस समय कृत्तिकाका उदय हो रहा है ।

(६) अविरुद्धसहचरोपलब्धि—इस बिजौरेमें रूप है, क्योंकि रस पाया जाता है ।

इनमें अविरुद्धव्यापकोपलब्धि भेद इसलिये नही बताया कि व्यापक व्याप्यका ज्ञान नही कराता, क्योंकि वह उसके अभावमें भी पाया जाता है ।

प्रतिषेधको सिद्ध करनेवाली छह विरुद्धोपलब्धियाँ[1]—

(१) विरुद्धव्याप्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योंकि उष्णता पायी जाती है ।

(२) विरुद्धकार्योपलब्धि—यहाँ शीतस्पर्श नही है, क्योंकि धूप पाया जाता है ।

(३) विरुद्धकारणोपलब्धि—इस प्राणीमें सुख नही है, क्योंकि इसके हृदयमे शल्य है ।

(४) विरुद्धपूर्वचरोपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नही होगा, क्योंकि इस समय रेवतीका उदय हो रहा है ।

(५) विरुद्धउत्तरचरोपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नही हुआ, क्योंकि इस समय पुष्यका उदय हो रहा है ।

(६) विरुद्धसहचरोपलब्धि—इस दीवालमें उस तरफके हिस्सेका अभाव नही है, क्योंकि इस तरफका हिस्सा देखा जाता है ।

इन छह उपलब्धियोमें प्रतिषेध साध्य है और जिसका प्रतिषेध किया जा रहा है उससे विरुद्धके व्याप्य, कार्य, कारण आदिकी उपलब्धि विवक्षित है । जैसे विरुद्ध कारणोपलब्धिमें सुखका प्रतिषेध साध्य है, तो सुखका विरोधी दु ख हुआ, उसके कारण हृदयशल्यको हेतु बनाया गया है ।

प्रतिषेधसाधक सात अविरुद्धानुपलब्धियाँ[2]—

(१) अविरुद्धस्वभावानुपलब्धि—इस भूतलपर घडा नही है, क्योंकि वह अनुपलब्ध है । यद्यपि यहाँ घटाभावका ज्ञान प्रत्यक्षसे ही हो जाता है, परन्तु जो

---

१. परीक्षामुख ३।६६–७२ ।

२. परीक्षामुख ३।७३–८० ।

व्यक्ति अभावव्यवहार नही करना चाहते उन्हे अभावव्यवहार करानेमें इसकी सार्थकता है।

(२) अविरुद्धव्यापकानुपलब्धि—यहाँ शीशम नही है, क्योंकि वृक्ष नही पाया जाता।

(३) अविरुद्धकार्यानुपलब्धि—यहांपर अप्रतिबद्ध शक्तिशाली अग्नि नही है, क्योंकि धूम नही पाया जाता। यद्यपि साधारणतया कार्याभावसे कारणाभाव नही होता, पर ऐसे कारणका अभाव कार्यके अभावसे अवश्य किया जा सकता है जो नियमसे कार्यका उत्पादक होता है।

(४) अविरुद्धकारणानुपलब्धि—यहाँ धूम नही है, क्योंकि अग्नि नही पायी जाती।

(५) अविरुद्धपूर्वचरानुपलब्धि—एक मुहूर्तके बाद रोहिणीका उदय नही होगा, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नही हुआ है।

(६) अविरुद्धउत्तरचरानुपलब्धि—एक मुहूर्त पहले भरणीका उदय नही हुआ, क्योंकि अभी कृत्तिकाका उदय नही है।

(७) अविरुद्धसहचरानुपलब्धि—इस समतराजूका एक पलडा नीचा नही है, क्योंकि दूसरा पलडा ऊँचा नही पाया जाता।

विधिसाधक तीन विरुद्धानुपलब्धियाँ[1]—

(१) विरुद्धकार्यानुपलब्धि—इन प्राणीमें कोई व्याधि है, क्योंकि इनकी चेष्टाएँ नीरोग व्यक्तिकी नही है।

(२) विरुद्धकारणानुपलब्धि—इस प्राणीमे दुःख है, क्योंकि इष्टसंयोग नही देखा जाता।

(३) विरुद्धस्वभावानुपलब्धि—वस्तु अनेकान्तात्मक है, क्योंकि एकान्त स्वरूप उपलब्ध नही होता।

इन अनुपलब्धियोंमें साध्यसे विरुद्धके कार्य, कारण आदिकी अनुपलब्धि बतायी गई है। हेतुओंका यह वर्गीकरण परीक्षामुखके आधारसे है।

वादिदेवसूरिने 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार' (३।९४) में विधिसाधक तीन अनुपलब्धियोंकी जगह पांच अनुपलब्धियां बताई हैं तथा निषेधसाधक छह अनुपलब्धियोंकी जगह सात अनुपलब्धियां गिनाई हैं। आचार्य विद्यानन्द[2]ने वैशेषिकोंके अभूत-भूतादि तीन प्रकारोंमें 'अभूत अभूतका' यह एक प्रकार और बढ़ाकर सभी

---

१. परीक्षामुख ३।८२–८४।

२. प्रमाणपरीक्षा पृ० ७२–७४।

विधि और निषेध साधक उपलब्धियो तथा अनुपलब्धियोको इन्हीमें अन्तर्भूत किया है। अकलंकदेवने 'प्रमाणसग्रह' (पृ० १०४–५) सद्भावसाधक छह और अनुपलब्धियोका कंठोक्त वर्णन करके शेषका इन्हीमें अन्तर्भाव करनेका सकेत किया है।

परम्परासे सभावित हेतु—कार्यके कार्य, कारणके कारण, कारणके विरोधी आदि हेतुओका इन्हीमें अन्तर्भाव हो जाता है।

अदृश्यानुपलब्धि भी अभावसाधिका :

बौद्ध[1] दृश्यानुपलब्धिसे ही अभावकी सिद्धि मानते है। दृश्यसे उनका तात्पर्य ऐसी वस्तुसे है कि जो वस्तु सूक्ष्म, अन्तरित या दूरवर्ती न हो तथा जो प्रत्यक्षका विषय हो सकती हो। ऐसी वस्तु उपलब्धिके समस्त कारण मिलनेपर भी यदि उपलब्ध न हो तो उसका अभाव समझना चाहिए। सूक्ष्म आदि विप्रकृष्ट पदार्थोमे हम लोगोके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोकी निवृत्ति होनेपर भी उनका अभाव नही होता। प्रमाणकी प्रवृत्तिसे प्रमेयका सद्भाव तो जाना जाता है, पर प्रमाणकी निवृत्तिसे प्रमेयका अभाव नही किया जा सकता। अत विप्रकृष्ट विषयोकी अनुपलब्धि संशयहेतु होनेसे अभावसाधक नही हो सकती।[2] वस्तुके दृश्यत्वका इतना ही अर्थ है कि उसके उपलम्भ करनेवाले समस्त करणोकी समग्रता हो और वस्तुमे एक विशेष स्वभाव हो। घट और भूतल एकज्ञानससर्गी थे, जितने कारणोसे भूतल दिखाई देता है उतने ही कारणोसे घडा। अत जब शुद्ध भूतल दिखाई दे रहा है तब यह तो मानना ही होगा कि वहाँ भूतलकी उपलब्धिकी वह सब सामग्री विद्यमान है जिससे घडा यदि होता तो वह भी अवश्य दिख जाता। तात्पर्य यह कि एकज्ञान-ससर्गी पदार्थान्तरकी उपलब्धि इस बातका प्रमाण है कि वहाँ उपलब्धिकी समस्त सामग्री है। घटमे उस सामग्रीके द्वारा प्रत्यक्ष होनेका स्वभाव भी है, क्योकि यदि वहाँ घडा लाया जाय तो उसी सामग्रीसे वह अवश्य दिख जायगा। पिशाचादि या परमाणु आदि पदार्थोमें वह स्वभावविशेष नही है, अत सामग्रीकी पूर्णता रहनेपर भी उनका प्रत्यक्ष नही हो पाता। यहाँ सामग्रीकी पूर्णताका प्रमाण इसलिए नही दिया जा सकता कि उनका एकज्ञानससर्गी कोई पदार्थ उपलब्ध नही होता। इस दृश्यताको 'उपलब्धिलक्षणप्राप्त' शब्दसे भी कहते है। इस तरह बौद्ध दृश्यानुप-लब्धिको गमक और अदृश्यानुलब्धिको सशयहेतु मानते है।

---

१. न्यायबिन्दु २।२८–३०, ४६।

२. न्यायबिन्दु २।४८–४९।

परन्तु जैनतार्किक[1] अकलंकदेव कहते हैं कि दृश्यत्वका अर्थ केवल प्रत्यक्ष-विषयत्व ही नहीं है, किन्तु उसका अर्थ है प्रमाणविषयत्व। जो वस्तु जिस प्रमाणका विषय होती है, वह वस्तु यदि उसी प्रमाणसे उपलब्ध न हो तो उसका अभाव सिद्ध हो जाना चाहिये। उपलम्भका अर्थ प्रमाणसामान्य है। देखो, मृत शरीरमे स्वभावसे अतीन्द्रिय परचैतन्यका अभाव भी हम लोग सिद्ध करते है। यहाँ परचैतन्यमें प्रत्यक्षविषयत्वरूप दृश्यत्व तो नही है, क्योकि परचैतन्य कभी भी हमारे प्रत्यक्षका विषय नही होता। हम तो वचन, उष्णता, श्वासोच्छ्वास या आकारविशेष आदिके द्वारा शरीरमे मात्र उसका अनुमान करते है। अत उन्ही वचनादिके अभावसे चैतन्यका अभाव सिद्ध होना चाहिये। यदि अदृश्यानुपलब्धिको संशयहेतु मानते है, तो आत्माकी सत्ता भी कैसे सिद्ध की जा सकेगी? आत्मादि अदृश्य पदार्थ अनुमानके विषय होते हैं। अत यदि हम उनके साधक चिह्नोंके अभावमें उनकी अनुमानसे भी उपलब्धि न कर सकें तो ही उनका अभाव मानना चाहिए। हाँ, जिन पदार्थोंको हम किसी भी प्रमाणसे नही जान सकते, उनका अभाव हम अनुपलब्धिसे नही कर सकते। यदि परशरीरमें चैतन्यका अभाव हम अनुपलब्धिसे न जान सकें और संशय ही बना रहे, तो मृतशरीरका दाह करना कठिन हो जायगा और दाह करनेवालोको सन्देहमें पातकी बनना पड़ेगा। संसारके समस्त गुरुशिष्यभाव, लेन-देन आदि व्यवहार, अतीन्द्रिय चैतन्यका आकृतिविशेष आदिसे सद्भाव मानकर ही चलते हैं और उनके अभावमे चैतन्यका अभाव जानकर मृतकमें वे व्यवहार नही किये जाते। तात्पर्य यह कि जिस पदार्थको हम जिन-जिन प्रमाणोसे जानते हैं उस वस्तुका उन-उन प्रमाणोकी निवृत्ति होनेपर अवश्य ही अभाव मानना चाहिए। अत दृश्यत्वका संकुचित अर्थ—मात्र प्रत्यक्षत्व न करके 'प्रमाणविषयत्व' करना ही उचित है और व्यवहार्य भी है।

उदाहरणादि :

यह पहले लिखा जा चुका है कि अव्युत्पन्न श्रोताके लिए उदाहरण, उपनय और निगमन इन अवयवोकी भी सार्थकता है। स्वार्थानुमानमें भी जो व्यक्ति व्याप्तिको भूल गया है, उसे व्याप्तिस्मरणके लिये कदाचित् उदाहरणका उपयोग हो भी सकता है, पर व्युत्पन्न व्यक्तिको उसकी कोई उपयोगिता नही है। व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्ति अर्थात् वादी और प्रतिवादीकी समान प्रतीति जिस स्थलमें हो उस

---

1 'अदृश्यानुपलम्भादभावासिद्धिरित्युक्तं परचैतन्यनिवृत्तावारेकापत्ते, संस्कर्तृणां पातकित्वप्रसङ्गात् बहुलमप्रत्यक्षस्यापि रोगादेर्विनिवृत्तिनिर्णयात्।'

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० ५२।

स्थलको दृष्टान्त कहते हैं और दृष्टान्तका सम्यक् वचन उदाहरण[1] कहलाता है। साध्य और साधनकी व्याप्ति—अविनाभावसम्बन्ध कही साधर्म्य अर्थात् अन्वयरूपसे गृहीत होता है और कही वैधर्म्य अर्थात् व्यतिरेकरूपसे। जहाँ अन्वयव्याप्ति गृहीत हो वह अन्वयदृष्टान्त तथा व्यतिरेकव्याप्ति जहाँ गृहीत हो वह व्यतिरेकदृष्टान्त है। इस दृष्टान्तका सम्यक् अर्थात् दृष्टान्तकी विधिसे कथन करना उदाहरण है। जैसे 'जो-जो धूमवाला है वह-वह अग्निवाला है, जैसे कि महानस, जहाँ अग्नि नही है वहाँ धूम भी नही है, जैसे कि महाह्रद।' इस प्रकार व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्तका कथन उदाहरण कहलाता है।

दृष्टान्तकी सदृशतासे पक्षमे साधनकी सत्ता दिखाना उपनय[2] है। जैसे 'उसी तरह यह भी धूमवाला है।' साधनका अनुवाद करके पक्षमे साध्यका नियम बताना निगमन है। जैसे 'इसलिये अग्निवाला है।' सक्षेपमे हेतुके उपसहारको उपनय कहते है और प्रतिज्ञाके उपसहारको निगमन[3]।

[4]हेतुका कथन कही तथोपपत्ति (साध्यके होने पर ही साधनका होना), अन्वय या साधर्म्यरूपसे होता है और कही अन्यथानुपपत्ति (साध्यके अभावमे हेतुका नही ही होना), व्यतिरेक या वैधर्म्यरूपसे होता है। दोनोका प्रयोग करनेसे पुनरुक्ति दूषण आता है। हेतुका प्रयोग व्याप्तिग्रहणके अनुसार ही होता है। अत हेतुके प्रयोगमात्रसे विद्वान् व्याप्तिका स्मरण या अवधारण कर लेते हैं। पक्षका प्रयोग तो इसलिये आवश्यक है कि साध्य और साधनका आधार अतिस्पष्टरूपसे सूचित हो जाय।

व्याप्तिके प्रसगसे व्याप्य और व्यापकका लक्षण भी जान लेना आवश्यक है।

व्याप्य और व्यापक :

व्याप्तिक्रियाका जो कर्म होता है अर्थात् जो व्याप्त होता है वह व्याप्य है और जो व्याप्तिक्रियाका कर्ता होता है अर्थात् जो व्याप्त करता है वह व्यापक होता है। जैसे अग्नि धुआँको व्याप्त करती है अर्थात् जहाँ भी धूम होगा वहाँ अग्नि अवश्य मिलेगी, पर धूआँ अग्निको व्याप्त नही करता, कारण यह है कि निर्धूम भी अग्नि पाई जाती है। हम यह नही कह सकते कि 'जहाँ भी अग्नि है वहाँ धूम अवश्य

---

१ देखो, परीक्षामुख ३।४२-४४।

२. परीक्षामुख ३।४५।

३ परीक्षामुख ३।४६।

४. परीक्षामुख ३।८९-९२।

ही होगा', क्योंकि अग्निके अंगारोंमें धुँआ नहीं पाया जाता। [1]व्यापक 'तदतत्' अर्थात् हेतुके सद्भाव और हेतुके अभाव, दोनों स्थलोंमें मिलता है जब कि व्याप्य केवल तन्निष्ठ अर्थात् साध्यके होने पर ही होता है, अभावमें कदापि नहीं। अतः साध्य व्यापक है और साधन व्याप्य।

व्याप्ति[2] व्याप्य और व्यापक दोमें रहती है।- अतः जब व्यापकके धर्मरूपसे व्याप्तिकी विवक्षा होती है तब उसका कथन 'व्यापकका व्याप्यके होने पर होना ही, न होना कभी नहीं' इस रूपमें होता है और जब व्याप्यके धर्मरूपसे विवक्षित होती है तब 'व्याप्यका व्यापकके होने पर ही होना, अभावमें कभी नहीं होना' इस रूपमें वर्णन होता है।

व्यापक गम्य होता है और व्याप्य गमक, क्योंकि व्याप्यके होने पर व्यापकका पाया जाना निश्चित है, परन्तु व्यापकके होने पर व्याप्यका अवश्य ही होना निश्चित नहीं है, वह हो भी और न भी हो। व्यापक अधिकदेशवर्ती होता है जब कि व्याप्य अल्पक्षेत्रवाला। यह व्यवस्था अन्वयव्याप्तिकी है। व्यतिरेकव्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य होता है और साधनाभाव व्यापक। जहाँ-जहाँ साध्यका अभाव होगा वहाँ-वहाँ साधनका अभाव अवश्य होगा अर्थात् साध्याभावको साधनाभावने व्याप्त किया है। पर जहाँ साधनाभाव होगा वहाँ साध्यके अभावका कोई नियम नहीं है, क्योंकि निर्धूम स्थलमें भी अग्नि पाई जाती है। अतः व्यतिरेकव्याप्तिमें साध्याभाव व्याप्य अर्थात् गमक होता है और साधनाभाव व्यापक अर्थात् गम्य।

अकस्मात् धूमदर्शनसे होनेवाला अग्निज्ञान प्रत्यक्ष नहीं :

आ० प्रज्ञाकर[3] अकस्मात् धुँआको देखकर होनेवाले अग्निके ज्ञानको अनुमान न मानकर प्रत्यक्ष ही मानते हैं। उनका विचार है कि जब अग्नि और धूमकी व्याप्ति पहले ग्रहण नहीं की गई है, तब अगृहीतव्याप्तिक पुरुषको होनेवाला अग्निज्ञान अनुमानकी कोटिमें नहीं आना चाहिये। किन्तु जब प्रत्यक्षका इन्द्रिय और पदार्थके सम्बन्धसे उत्पन्न होना निश्चित है, तब जो अग्नि परोक्ष है और जिसके साथ हमारी इन्द्रियोंका कोई सम्बन्ध नहीं है, उस अग्निका ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे

१. 'व्याप्तिर्व्यापकस्य तत्र भाव एव, व्याप्यस्य वा तत्रैव भावः।'

—प्रमाणमी० सू० ३।१।

२. 'व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।'

३. 'अत्यन्ताभ्यासतस्तस्य झटित्येव तदर्थवत्।
अकस्माद् धूमतो वह्निप्रतीतिरिव देहिनाम्॥'

—प्रमाणवार्तिकालं० २।१३१।

मर्यादामें कैसे आ सकता है ? यह ठीक है कि व्यक्तिने 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, अग्निके अभावमें धूम कभी नही होता' इस प्रकार स्पष्ट-रूपसे व्याप्तिका निश्चय नही किया है किन्तु अनेक बार अग्नि और धूमको देखने-के बाद उसके मनमें अग्नि और धूमके सम्बन्धके सूक्ष्म संस्कार अवश्य थे और वे ही सूक्ष्म सस्कार अचानक धुआँको देखकर उद्बुद्ध होते है और अग्निका ज्ञान करा देते है। यहाँ धूमका ही तो प्रत्यक्ष है, अग्नि तो सामने है ही नही। अत इस परोक्ष अग्निज्ञानको सामान्यतया श्रुतमे स्थान दिया जा सकता है, क्योकि इसमें एक अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान किया गया है। इसे अनुमान कहनेमें भी कोई विशेष बाधा नही है, क्योकि व्याप्तिके सूक्ष्म सस्कार उसके मनपर अकित थे ही। फिर यह ज्ञान अविशद है, अत प्रत्यक्ष नही कहा जा सकता।

अर्थापत्ति अनुमानमे अन्तर्भूत है :

मीमासक[1] अर्थापत्तिको पृथक् प्रमाण मानते है। किसी दृष्ट या श्रुत पदार्थसे वह जिसके बिना नही होता उस अविनाभावी अदृष्ट अर्थकी कल्पना करना अर्थापत्ति है। इससे अतीन्द्रिय शक्ति आदि पदार्थोका ज्ञान किया जाता है। यह छह प्रकारकी है—

(१) [2]प्रत्यक्षपूर्विका अर्थापत्ति—प्रत्यक्षसे ज्ञात दाहके द्वारा अग्निमें दहनशक्तिकी कल्पना करना। शक्ति प्रत्यक्षसे नही जानी जा सकती, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है।

(२) [3]अनुमानपूर्विका अर्थापत्ति—एक देशसे दूसरे देशको प्राप्त होना रूप हेतुसे सूर्यमें गतिका अनुमान करके फिर उस गतिसे सूर्यमे गमनशक्तिकी कल्पना करना।

(३) [4]श्रुतार्थापत्ति—'देवदत्त दिनको नही खाता, फिर भी मोटा है' इस वाक्यको सुनकर उसके रात्रिभोजनका ज्ञान करना।

(४) [5]उपमानार्थापत्ति—गवयसे उपमित गौमें उस ज्ञानके विषय होनेकी शक्तिकी कल्पना करना।

(५) [6]अर्थापत्तिपूर्विका अर्थापत्ति—'शब्द वाचकशक्तियुक्त है, अन्यथा उससे अर्थप्रतीति नही हो सकती। इस अर्थापत्तिसे सिद्ध वाचकशक्तिसे शब्दमें

---

१. मी० श्लो० अर्था० श्लो० १।
२. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३।
३. मी० श्लो० अर्था० श्लो० ३। ४ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५१।
५ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ४। ६ मी० श्लो० अर्था० श्लो० ५-८।

[1]भावरूप प्रमेयके लिये जैसे भावात्मक प्रमाण होता है उसी तरह अभावरूप प्रमेयके लिये अभावरूप प्रमाणकी ही आवश्यकता है। [2]वस्तु सत् और असत् उभयरूप है। इनमें इन्द्रिय आदिके द्वारा सदंशका ग्रहण हो जानेपर भी असदंशके ज्ञानके लिये अभावप्रमाण अपेक्षित होता है। [3]जिस पदार्थका निषेध करना है उसका स्मरण, जहाँ निषेध करना है उसका ग्रहण होनेपर मनसे ही जो 'नास्ति' ज्ञान होता है वह अभाव है। जिस[4] वस्तुरूपमे सद्भावके ग्राहक पाँच प्रमाणोकी प्रवृत्ति नही होती उसमे अभाव बोधके लिये अभावप्रमाण प्रवृत्ति करता है। [5]अभाव यदि न माना जाय तो प्रागभावादिमूलक समस्त व्यवहार नष्ट हो जाँयगे। वस्तुकी परस्पर प्रतिनियत रूपमें स्थिति अभावके अधीन है। दूधमे दहीका अभाव प्रागभाव है। दहीमें दूधका अभाव प्रध्वसाभाव है। घटमें पटका अभाव अन्योन्याभाव या इतरेतराभाव है और खरविषाणका अभाव अत्यन्ताभाव है।

किन्तु वस्तु उभयात्मक है, इसमे विवाद नही है, पर अभावांश भी वस्तुका धर्म होनेसे यथासंभव प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदि प्रमाणोसे ही गृहीत हो जाता है। भूतल और घटको 'सघट भूतलम्' इस एक प्रत्यक्षने जाना था। पीछे शुद्ध भूतलको जाननेवाला प्रत्यक्ष ही घटाभावको ग्रहण कर लेता है, क्योंकि घटाभाव शुद्धभूतलादि रूप ही तो है। अथवा 'यह वही भूतल है जो पहले घटसहित था' इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञान भी अभावको ग्रहण कर सकता है। अनुमानके प्रकरणमें उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप अनेक हेतुओके उदाहरण दिये गये है जो अभावोके ग्राहक होते है। यह कोई नियम नही है कि भावात्मक प्रमेयके लिए भावरूप प्रमाण और अभावात्मक प्रमेयके लिए अभावात्मक प्रमाण ही माना

---

१. 'मेयो यद्वदभावो हि मानमप्येवमिष्यताम्।
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता॥
तथैवाभावमेयेऽपि न भावस्य प्रमाणता।"
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० ४५।४६।

२. मी० श्लो० अभाव० श्लो० १२–१४।

३. गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायते अक्षानपेक्षया।'
—मी० श्लो० अभाव० श्लो० २७।

४. मी० श्लो० अभाव० श्लो० १।

५. मी० श्लो० अभाव० श्लो० ७।

६. मी० श्लो० अभा० श्लो० २–४।

जाय, क्योंकि उडते हुए पत्तोके नीचे न गिरने रूप अभावसे आकाशमें वायुका सद्भाव माना जाता है और शुद्धभूतलग्राही प्रत्यक्षसे घटाभावका बोध तो प्रसिद्ध ही है। प्रागभावादिके स्वरूपसे तो इनकार नही किया जा सकता, पर वे वस्तुरूप ही है। घटका प्रागभाव मृत्पिडको छोडकर अन्य नही बताया जा सकता। [1]अभाव भावान्तररूप होता है, यह अनुभव सिद्ध सिद्धान्त है। अत जब प्रत्यक्ष, प्रत्यभिज्ञान और अनुमान आदि प्रमाणोके द्वारा ही उसका ग्रहण हो जाता है तब स्वतन्त्र अभावप्रमाण माननेकी कोई आवश्यकता नही रह जाती।

कथा-विचार :

परार्थानुमानके प्रसंगमें कथाका अपना विशेष स्थान है। पक्ष और प्रतिपक्ष ग्रहण कर वादी और प्रतिवादीमें जो वचन-व्यवहार स्वमतके स्थापन पर्यन्त चलता है उसे कथा कहते है। न्याय-परम्परामे कथाके तीन भेद माने गये है—१ वाद, २ जल्प और ३ वितण्डा। तत्त्वके जिज्ञासुओकी कथाको या वीतराग-कथाको वाद कहा जाता है। जय-पराजयके इच्छुक विजिगीषुओकी कथा जल्प और वितण्डा है। दोनो कथाओमे पक्ष और प्रतिपक्षका परिग्रह आवश्यक है। [2]वादमें प्रमाण और तर्कके द्वारा स्वपक्ष साधन और परपक्ष दूषण किये जाते है। इसमें सिद्धान्तसे अविरुद्ध पञ्चावयव वाक्यका प्रयोग अनिवार्य होनेसे न्यून, अधिक, अपसिद्धान्त और पाँच हेत्वाभास इन आठ निग्रहस्थानोका प्रयोग उचित माना गया है। अन्य छल, जाति आदिका प्रयोग इस वादकथामे वर्जित है। इसका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय करना है। [3]जल्प और वितण्डामें छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे असत् उपायोका अवलम्बन लेना भी न्याय्य माना गया है। इनका उद्देश्य तत्त्वसरक्षण करना है और तत्त्वकी सरक्षा किसी भी उपायसे करनेमें इन्हें आपत्ति नही है। न्यायसूत्र (४।२।५०) मे स्पष्ट लिखा है कि जिस तरह अंकुरकी रक्षाके लिए काँटोकी बारी लगायी जाती है, उसी तरह तत्त्वसंरक्षणके लिये जल्प और वितण्डामें काँटेके समान छल, जाति आदि असत् उपायोका अवलम्बन लेना भी अनुचित नही है। [4]जनता मूढ और गतानुगतिक होती है। वह दुष्ट वादीके

---

१ भावान्तरविनिर्मुक्तो भावोऽत्रानुपलम्भवत्।
अभाव सम्मतस्तस्य हेतो किन्न समुद्भव. ?"

—उद्धृत, प्रमेयक० पृ० १६०।

२ न्यायसू० १।२।१। ३ न्यायसू० १।२।२,३।

४। "गतानुगतिको लोक कुमार्गं तत्प्रतारित.।
मार्गादिति छलादीनि प्राह कारुणिको मुनिः ॥"—न्यायम० पृ० ११।

द्वारा ठगी जाकर कुमार्गमें न चली जाय, इस मार्ग-सरक्षणके उद्देश्यसे कारुणिक मुनिने छल आदि जैसे असत् उपायोका भी उपदेश दिया है।

वितण्डा कथामे वादी अपने पक्षके स्थापनकी चिन्ता न करके केवल प्रतिवादी पक्षमें दूषण-ही-दूषण देकर उसका मुँह वन्द कर देता है, जब कि जल्प कथामें परपक्ष खण्डनके साथ-ही-साथ स्वपक्ष-स्थापन भी आवश्यक होता है।

इस तरह स्वमतसरक्षणके उद्देश्यसे एक बार छल, जाति जैसे असत् उपायोके अवलम्बनकी छूट होनेपर तत्त्वनिर्णय गौण हो गया, और शास्त्रार्थके लिए ऐसी नवीन भाषाकी सृष्टि की गई, जिसके शब्दजालमे प्रतिवादी इतना उलझ जाय कि वह अपना पक्ष ही सिद्ध न कर सके। इसी भूमिकापर केवल व्याप्ति, हेत्वाभास आदि अनुमानके अवयवोपर सारे नव्यन्यायकी सृष्टि हुई। जिनका भीतरी उद्देश्य तत्त्वनिर्णयकी अपेक्षा तत्त्वसरक्षण ही विशेष मालूम होता है। चरकके विमानस्थानमे सधाय-संभाषा और विगृह्य-सम्भाषा ये दो भेद उक्त वाद और जल्प वितण्डाके अर्थमें ही आये है। यद्यपि नैयायिकने छल आदिको असद् उत्तर माना है और साधारण अवस्थामे उसका निषेध भी किया है, परन्तु किसी भी प्रयोजनसे जब एक बार छल आदि घुस गये तो फिर जय-पराजयके क्षेत्रमे उन्हीका राज्य हो गया।

बौद्ध परम्पराके प्राचीन उपायहृदय और तर्कशास्त्र आदिमे छलादिके प्रयोगका समर्थन देखा जाता है, किन्तु आचार्य धर्मकीर्तिने इसे सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे उचित न समझकर अपने वादन्याय ग्रन्थमे उनका प्रयोग सर्वथा अमान्य और अन्याय्य ठहराया है। इसका भी कारण यह है कि बौद्ध परम्परामें धर्मरक्षाके साथ सघरक्षाका भी प्रमुख स्थान है। उनके [1]त्रिशरणमें बुद्ध और धर्मकी शरण जानेके साथ ही साथ सघके शरणमे भी जानेकी प्रतिज्ञा की जाती है। जब कि जैन परम्परामे सघशरणका कोई स्थान नही है। इनके [2]चतु शरणमे अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्मकी शरणको ही प्राप्त होना बताया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि सघरक्षा और सघप्रभावनाके उद्देश्यसे भी छलादि असद् उपायोका अवलम्बन करना जो प्राचीन बौद्ध तर्कग्रन्थोमे घुस गया उसमे सत्य और अहिंसाकी धर्मदृष्टि कुछ गौण तो अवश्य हो गयी है। धर्मकीर्तिने इस असगतिको समझा और हर हालतमे छल, जाति आदि असत् प्रयोगोको वर्जनीय ही बताया है।

१. "बुद्ध सरण गच्छामि, धम्म सरण गच्छामि, सघ सरण गच्छामि।"

२. "चत्तारि सरण पव्वज्जामि, अरहते सरण पव्वज्जामि, सिद्धे सरण पव्वज्जामि, साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वज्जामि।"

—चत्तारि दडक।

साध्यकी तरह साधनोकी भी पवित्रता :

जैन तार्किक पहलेसे ही सत्य और अहिंसारूप धर्मकी रक्षाके लिए प्राणोकी बाजी लगानेको सदा प्रस्तुत रहे हैं। उनके सयम और त्यागकी परम्परा साध्यकी तरह साधनोकी पवित्रतापर भी प्रथमसे ही भार देती आयी है। यही कारण है कि जैन दर्शनके प्राचीन ग्रन्थोमें कहीपर भी किसी भी रूपमें छलादिके प्रयोगका आपवादिक समर्थन भी नही देखा जाता। इसके एक ही अपवाद है, श्वेताम्बर परम्पराके अठारहवी सदीके आचार्य यशोविजय। जिन्होने वादद्वात्रिंशतिका[1]में प्राचीन बौद्ध तार्किकोकी तरह शासन-प्रभावनाके मोहमें पडकर अमुक देशादिमें आपवादिक छलादिके प्रयोगको भी उचित मान लिया है। इसका कारण भी दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराकी मूल प्रकृतिमें समाया हुआ है। दिगम्बर निर्ग्रन्थ परम्परा अपनी कठोर तपस्या, त्याग और वैराग्यके मूलभूत अपरिग्रह और अहिंसारूपी धर्मस्तम्भोमें किसी भी प्रकारका अपवाद किसी भी उद्देश्यसे स्वीकार करनेको तैयार नही रही, जब कि श्वेताम्बर परम्परा बौद्धोंकी तरह लोकसग्रहकी ओर भी झुकी। चूंकि लोकसग्रहके लिये राजसम्पर्क, वाद और मतप्रभावना आदि करना आवश्यक थे इसीलिये व्यक्तिगत चारित्रकी कठोरता भी कुछ मृदुतामें परिणत हुई। सिद्धान्तकी तनिक भी ढिलाई पानीकी तरह अपना रास्ता बनाती ही जाती है। दिगम्बरपरम्पराके किसी भी तर्कग्रन्थमें छलादिके प्रयोगके आपवादिक औचित्यका नही मानना और इन असद् उपायोके सर्वथा परिवर्जनका विधान, उनकी सिद्धान्त-स्थिरताका ही प्रतिफल है। अकलकदेवने इसी सत्य और अहिंसाकी दृष्टिसे ही छलादिरूप असद् उत्तरोके प्रयोगको सर्वथा अन्याय्य और परिवर्जनीय माना[2] है। अत उनकी दृष्टिसे वाद और जल्पमें कोई भेद नही रह जाता। इसलिए वे सक्षेपमें समर्थवचनको वाद[3] कहकर भी कही वादके स्थानमें जल्प[4] शब्दका भी प्रयोग कर देते है। उनने बतलाया है कि मध्यस्थोके समक्ष वादी और प्रतिवादियोके स्वपक्षसाधन और परपक्षदूषणरूप

---

१ "अयमेव विधेयस्तत्तत्त्वज्ञेन तपस्विना।
देशाद्यपेक्ष्याऽन्योऽपि विज्ञाय गुरुलाघवम्॥"

—द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका ८।६।

२. देखो, सिद्धिविनिश्चय, जल्पसिद्धि (५ वाँ परिच्छेद)।

३. "समर्थवचनं वादः"—प्रमाणसं० श्लो० ५१।

४ "समर्थवचन जल्प चतुरङ्ग विदुर्बुधा।
पक्षनिर्णयपर्यन्त फल मार्गप्रभावना॥"

—सिद्धिवि०, ५।२।

वचनको वाद कहते है। वितण्डा[1] वादाभास है, जिसमे वादी अपना पक्षस्थापन नही करके मात्र खण्डन-ही-खण्डन करता है[2], जो सर्वथा त्याज्य है। न्यायदीपिका (पृ० ७९) तत्त्वनिर्णय या तत्त्वज्ञानके विशुद्ध प्रयोजनसे जय-पराजयकी भावनासे रहित गुरु-शिष्य या वीतरागी विद्वानोमें तत्त्वनिर्णय तक चलनेवाले वचनव्यवहारको वीतराग कथा कहा है, और वादी तथा प्रतिवादीमें स्वमत-स्थापनके लिए जय-पराजयपर्यन्त चलनेवाले वचनव्यवहारको विजिगीषु कथा कहा है।

वीतराग कथा सभापति और सभ्योके अभावमे भी चल सकती है, और जब कि विजिगीषु कथामे वादी और प्रतिवादीके साथ सभ्य और सभापतिका होना भी आवश्यक है। सभापतिके बिना जय और पराजयका निर्णय कौन देगा ? और उभयपक्षवेदी सभ्योके बिना स्वमतोन्मत्त वादिप्रतिवादियोको सभापतिके अनुशासनमें रखनेका कार्य कौन करेगा ? अत वाद चतुरग होता है।

जय-पराजयव्यवस्था :

नैयायिकोने जब जल्प और वितण्डामे छल, जाति और निग्रहस्थानका प्रयोग स्वीकार कर लिया, तब उन्हीके आधारपर जयपराजयकी व्यवस्था बनी। इन्होंने प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस निग्रहस्थान माने है। सामान्यसे 'विप्रतिपत्ति—विरुद्ध या असम्बद्ध कहना और अप्रतिपत्ति—पक्षस्थापन नही करना, प्रतिवादीके द्वारा स्थापितका प्रतिषेध नही करना तथा प्रतिषिद्ध स्वपक्षका उद्धार नही करना' ये दो ही निग्रहस्थान[3]—पराजयस्थान होते है। इन्हीके विशेष भेद प्रतिज्ञाहानि आदि बाईस[4] है। जिनमें बताया है कि यदि कोई वादी अपनी प्रतिज्ञाकी हानि करदे, दूसरा हेतु बोलदे, असम्बद्ध पद, वाक्य या वर्ण बोले, इस तरह बोले जिससे तीन बार कहने पर भी प्रतिवादी और परिषद् न समझ सके, हेतु, दृष्टान्त आदिका क्रम भंग हो जाय, अवयव न्यून या अधिक कहे जॉय, पुनरुक्ति हो, प्रतिवादी वादीके द्वारा कहे गये पक्षका अनुवाद न कर सके, उत्तर न दे सके, दूषणको अर्ध स्वीकार करके खण्डन करे, निग्रहयोग्यके लिए निग्रहस्थानका उद्‌भावन न कर सके, जो निग्रह-योग्य नही है, उसे निग्रहस्थान बतावे, सिद्धान्तविरुद्ध बोले, हेत्वाभासोका प्रयोग करे तो निग्रहस्थान अर्थात् पराजय होगी। ये शास्त्रार्थके कानून है, जिनका

---

१ "तदाभासो वितण्डादिरभ्युपेताव्यवस्थिते ।"—न्यायवि० २।३८४।

२ "यथोक्तोपपन्न. छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प । स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ।"—न्यायसू० १।२।२–३।

३ "विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।"—न्यायसू० १।२।१९।

४ न्यायसू० ५।२।१।

थोड़ा-सा भंग होनेपर सत्यसाधनवादीके हाथमें भी पराजय आ सकती है और दुष्ट साधनवादी इन अनुशासनके नियमोंको पालकर जयलाभ भी कर सकता है। तात्पर्य यह कि यहाँ शास्त्रार्थके नियमोंका बारीकीसे पालन करने और न करनेका प्रदर्शन ही जय और पराजयका आधार हुआ; स्वपक्षसिद्धि या परपक्षदूषण जैसे मौलिक कर्त्तव्य नहीं। इसमें इस बातका ध्यान रखा गया है कि पञ्चावयववाले अनुमानप्रयोगमें कुछ कमी-बेसी और क्रमभंग यदि होता है तो उसे पराजयका कारण होना ही चाहिए।

धर्मकीर्ति आचार्यने इन छल, जाति और निग्रहस्थानोंके आधारसे होने वाली जय-पराजय-व्यवस्थाका खण्डन करते हुए लिखा है कि जयपराजयकी व्यवस्थाको इस प्रकार घुटालेमें नहीं रखा जा सकता। किसी भी सच्चे साधनवादीका मात्र इसलिए निग्रह होना कि 'वह कुछ अधिक बोल गया या कम बोल गया या उसने अमुक कायदेका बाकायदा पालन नहीं किया' सत्य, अहिंसा और न्यायकी दृष्टिसे उचित नहीं है। अतः वादी और प्रतिवादीके लिए क्रमशः असाधनाङ्गवचन और अदोषोद्भावन ये दो ही निग्रहस्थान[1] मानना चाहिये। वादीका कर्त्तव्य है कि वह निर्दोष और पूर्ण साधन बोले, और प्रतिवादीका कार्य है कि वह यथार्थ दोषोंका उद्भावन करे। यदि वादी सच्चा साधन नहीं बोलता या जो साधनके अंग नहीं हैं ऐसे वचन कहता है यानी साधनाङ्गका अवचन या असाधनांगका वचन करता है तो उसकी असाधनाङ्ग वचन होनेसे पराजय होगी। इसी तरह प्रतिवादी यदि यथार्थ दोषोंका उद्भावन न कर सके या जो वस्तुतः दोष नहीं हैं उन्हें दोषकी जगह बोले तो दोषानुद्भावन और अदोषोद्भावन होनेसे उसकी पराजय अवश्यंभावी है।

इस तरह सामान्यलक्षण करनेपर भी धर्मकीर्ति फिर उसी धपलेमें पड़ गये हैं। [2]उन्होंने असाधनाङ्ग वचन और अदोषोद्भावनके विविध व्याख्यान करके कहा है कि अन्वय या व्यतिरेक किसी एक दृष्टान्तसे ही साध्यकी सिद्धि जब सम्भव है तब दोनों दृष्टान्तोंका प्रयोग करना असाधनाङ्गवचन होगा। त्रिरूप हेतुका वचन साधनाङ्ग है। उसका कथन न करना असाधनांग है। प्रतिज्ञा, निगमन आदि साधनके अंग नहीं हैं, उनका कथन असाधनांग है। इसी तरह उनने अदोषोद्भावनके भी विविध व्याख्यान किये है। यानी कुछ कम बोलना या अधिक बोलना,

---

१. "असाधनाङ्गवचनमदोषोद्भावनं द्वयोः।
निग्रहस्थानमन्यत्तु न युक्तमिति नेष्यते॥"—वादन्याय पृ० १।

२. देखो, वादन्याय, प्रथम प्रकरण।

इनकी दृष्टिमे भी अपराध है। यह सब लिखकर भी अन्तमें उनने सूचित किया है कि स्वपक्ष-सिद्धि और परपक्ष-निराकरण ही जय-पराजयकी व्यवस्थाके आधार होना चाहिये।

[1]आचार्य अकलकदेव असाधनाग वचन तथा अदोषोद्भावनके झगडेको भी पसन्द नही करते। 'त्रिरूपको साधनाग माना जाय, पचरूपको नही, किसको दोष माना जाय, किसको नही' यह निर्णय स्वय एक शास्त्रार्थका विषय हो जाता है। शास्त्रार्थ जब बौद्ध, नैयायिक और जैनोके बीच चलते है, जो क्रमश. त्रिरूपवादी, पंचरूपवादी और एकरूपवादी है तब हरएक दूसरेकी अपेक्षा असाधनागवादी हो जाता है। ऐसी अवस्थामें शास्त्रार्थके नियम स्वयं ही शास्त्रार्थके विषय बन जाते है। अत उन्होने बताया कि वादीका काम है कि वह अविनाभावी साधनसे स्वपक्षकी सिद्धि करे और परपक्षका निराकरण करे। प्रतिवादीका कार्य है कि वह वादीके स्थापित पक्षमे यथार्थ दूषण दे और अपने पक्षकी सिद्धि भी करे। इस तरह स्वपक्षसिद्धि और परपक्षका निराकरण ही बिना किसी लागलपेटके जय और पराजयके आधार होने चाहिये। इसीमें सत्य, अहिंसा और न्यायकी सुरक्षा है। स्वपक्षकी सिद्धि करनेवाला यदि कुछ अधिक भी बोल जाय तो भी कोई हानि नही है। "स्वपक्ष प्रसाध्य नृत्यतोऽपि दोषाभावात्, लोकवत्" अर्थात् अपने पक्षको सिद्ध करके यदि कोई नाचता भी है तो भी कोई दोष नही है।

प्रतिवादी यदि सीधे [2]विरुद्ध हेत्वाभासका उद्भावन करता है तो उसे स्वतन्त्र रूपसे पक्षकी सिद्धि करना आवश्यक नही है, क्योकि वादीके हेतुको विरुद्ध कहनेसे प्रतिवादीका पक्ष स्वत सिद्ध हो जाता है। असिद्धादि हेत्वाभासोके उद्भावन करनेपर तो प्रतिवादीको अपने पक्षकी सिद्धि करना भी अनिवार्य है। स्वपक्षकी सिद्धि नही करनेवाला शास्त्रार्थके नियमोके अनुसार चलनेपर भी किसी भी हालतमें जयका भागी नही हो सकता।

इसका निष्कर्ष यह है कि नैयायिकके मतसे छल आदिका प्रयोग करके अपने पक्षकी सिद्धि किये बिना ही सच्चे साधन बोलनेवाले भी वादीको प्रतिवादी जीत सकता है। बौद्ध परम्परामे छलादिका प्रयोग वर्ज्य है, फिर भी यदि वादी असाधनागवचन और प्रतिवादी अदोषोद्भावन करता है तो उनका पराजय होता

१. "तदुक्तम्—स्वपक्षसिद्धिरेकस्य निग्रहोऽन्यस्य वादिन ।
नासाधनाङ्गवचन नादोषोद्भावन द्वयो· ॥"—उद्धृत अष्टसह० पृ० ८७।

२. "अकलङ्कोऽप्यभ्यधात्—विरुद्ध हेतुमुद्भाव्य वादिनं जयतीतरः।
आभासान्तरमुद्भाव्य पक्षसिद्धिमपेक्षते ॥"
—त० श्लो० पृ० २८०। रत्नाकरावतारिका पृ० ११४१।

है। वादीको असाधनांगवचनसे पराजय तब होगा जब प्रतिवादी यह बता दे कि वादीने असाधनांगवचन किया है। इस असाधनांगवचनमें जिस विषयको लेकर शास्त्रार्थ चला है, उससे असम्बद्ध बातोंका कथन और नाटक आदिकी घोषणा आदि भी ले लिये गये हैं। एक स्थल ऐसा भी आ सकता है, जहाँ दुष्टसाधन बोलकर भी वादी पराजित नहीं होगा। जैसे वादीने दुष्ट साधनका प्रयोग किया। प्रतिवादीने यथार्थ दोषका उद्भावन न करके अन्य दोषाभासोंका उद्भावन किया, फिर वादीने प्रतिवादीके द्वारा दिये गये दोषाभासोंका परिहार कर दिया। ऐसी अवस्थामें प्रतिवादी दोषाभासका उद्भावन करनेके कारण पराजित हो जायगा। यद्यपि दुष्ट साधन बोलनेसे वादीको जय नहीं मिलेगा, किन्तु वह पराजित भी नहीं माना जायगा। इसी तरह एक स्थल ऐसा है जहाँ वादी निर्दोष साधन बोलता है, प्रतिवादी कुछ अंटसंट दूषणोंको कहकर दूषणाभासका उद्भावन करता है। वादी प्रतिवादीकी दूषणाभासता नहीं बताता। ऐसी दशामें किसीको जय या पराजय न होगी। प्रथम स्थलमें अकलंकदेव स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकरणमूलक जय और पराजयकी व्यवस्थाके आधारसे यह कहते हैं कि यदि प्रतिवादीको दूषणाभास कहनेके कारण पराजय मिलती है तो वादीको भी साधनाभास कहनेके कारण पराजय होनी चाहिये, क्योंकि यहाँ वादी स्वपक्षसिद्धि नहीं कर सका है। अकलंकदेवके मतसे एकका स्वपक्ष सिद्ध करना ही दूसरेके पक्षकी असिद्धि है। अतः जयका मूल आधार स्वपक्षसिद्धि है और पराजयका मूल कारण पक्षका निराकृत होना है। तात्पर्य यह कि जब 'एकके जयमें दूसरेकी पराजय अवश्यंभावी है' ऐसा नियम है तब स्वपक्षसिद्धि और परपक्षनिराकृति ही जय-पराजयके आधार माने जाने चाहिये। बौद्ध वचनाधिक्य आदिको भी दूषणोंमें शामिल करके उलझ जाते हैं।

सीधी बात है कि परस्पर दो विरोधी पक्षोंको लेकर चलनेवाले वादमें जो भी अपना पक्ष सिद्ध करेगा, वह जयलाभ करेगा और अर्थात् ही दूसरेका, पक्षका निराकरण होनेके कारण पराजय होगा। यदि कोई भी अपनी पक्षसिद्धि नहीं कर पाता है और एक—वादी या प्रतिवादी वचनाधिक्य कर जाता है तो इतने मात्रसे उसकी पराजय नहीं होनी चाहिए। या दोनोंकी ही पराजय हो या दोनोंको ही जयाभाव रहे। अत स्वपक्षसिद्धि और परपक्ष-निराकरणमूलक ही जयपराजय-व्यवस्था सत्य और अहिंसाके आधारसे न्याय्य है। छोटे-मोटे वचनाधिक्य आदिके कारण न्यायतुलाको नहीं डिगने देना चाहिये। वादी सच्चे साधन बोलकर अपने पक्षकी सिद्धि करनेके बाद वचनाधिक्य और नाटकादिकी घोषणा भी करे, तो

भी वह जयी ही होगा। इसी तरह प्रतिवादी वादीके पक्षमें यथार्थ दूषण देकर यदि अपने पक्षकी सिद्धि कर लेता है, तो वह भी वचनाधिक्य करनेके कारण पराजित नही हो सकता। इस व्यवस्थामे एक साथ दोनोका जय या पराजयका प्रसंग नही आ सकता। एककी स्वपक्षसिद्धिमे दूसरेके पक्षका निराकरण गर्भित है ही, क्योकि प्रतिपक्षकी असिद्धि बताये बिना स्वपक्षकी सिद्धि परिपूर्ण नही होती।

पक्षके ज्ञान और अज्ञानसे जय-पराजय व्यवस्था माननेपर तो पक्षप्रतिपक्षका परिग्रह करना ही व्यर्थ हो जाता है, क्योकि किसी एक ही पक्षमें वादी और प्रतिवादीके ज्ञान और अज्ञानकी जाँच की जा सकती है।

पत्र-वाक्य :

लिखित शास्त्रार्थमें वादी और प्रतिवादी परस्पर जिन लेख-प्रतिलेखोका आदान-प्रदान करते है, उन्हे पत्र कहते है। अपने पक्षको सिद्धि करनेवाले निर्दोष और गूढ पद जिसमें हो, जो प्रसिद्ध अवयववाला हो तथा निर्दोष हो वह पत्र[1] है। पत्रवाक्यमें प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव ही पर्याप्त है, इतने मात्रसे व्युत्पन्नको अर्थप्रतीति हो जाती है। अव्युत्पन्न श्रोताओकी अपेक्षा तीन अवयव, चार अवयव और पाँच अवयवोवाला भी पत्रवाक्य हो सकता है। पत्रवाक्यमें प्रकृति और प्रत्ययोको गुप्त रखकर उसे अत्यन्त गूढ बनाया जाता है, जिससे प्रतिवादी सहज ही उसका भेदन न कर सके। जैसे—'विश्वम् अनेकान्तात्मकं प्रमेयत्वात्' इस अनुमानवाक्यके लिये यह गूढ पत्र प्रस्तुत किया जाता है—

"स्वान्तभासितभूत्याद्यन्त्यान्तात्मतदुभान्तवाक्।
परान्तद्योतितोद्दीप्तमितीत स्वात्मकत्वतः॥"

—प्रमेयक० पृ० ६८५।

जब कोई वादी पत्र देता है और प्रतिवादी उसके अर्थको समझकर खण्डन करता है, उस समय यदि वादी यह कहे कि 'यह मेरे पत्रका अर्थ नही है'; तब उससे पूँछना चाहिए कि 'जो आपके मनमें है वह इसका अर्थ है ? या जो इस वाक्यरूप पत्रसे प्रतीत होता है वह है, या जो आपके मनमें भी है और वाक्यसे प्रतीत भी होता है ?' प्रथम विकल्पमें पत्रका देना ही निरर्थक है; क्योकि जो अर्थ आपके मनमें मौजूद है उसका जानना ही कठिन है, यह पत्रवाक्य तो उसका प्रति-

---

१. 'प्रसिद्धावयवं स्वेष्टस्यार्थस्य साधकम्।
साधु गूढपदप्रायं पत्रमाहुरनाकुलम्॥'—पत्रप० पृ० १।

निश्चित्व नही कर सकता। द्वितीय विकल्प ही उचित मालूम पडता है कि प्रकृति, प्रत्यय आदिके विभागसे जो अर्थ उस पत्रवाक्यसे प्रतीत होता हो, उसीका साधन और दूषण शास्त्रार्थमे होना चाहिये। इसमे प्रकरण आदिसे जितने भी अर्थ सम्भव हो वे सब उस पत्रवाक्यके अर्थ माने जाँयगे। इसमें वादीके द्वारा इष्ट होनेकी शर्त नही लगाई जा सकती; क्योकि जब शब्द प्रमाण है तब उससे प्रतीत होनेवाले समस्त अर्थ स्वीकार किये ही जाने चाहिये। तीसरे विकल्पमें विवादका प्रश्न इतना ही रह जाता है कि कोई अर्थ शब्दसे प्रतीत हुआ और वही वादीके मनमें भी था, फिर भी यदि दुराग्रहवश वादी यह कहनेको उतारू हो जाय कि 'यह मेरा अर्थ ही नही है', तो उस समय कोई नियन्त्रण नही रखा जा सकेगा। अत इसका एकमात्र सीधा मार्ग है कि जो प्रसिद्धिके अनुसार उन शब्दोंसे प्रतीत हो, वही अर्थ माना जाय।

यद्यपि वाक्य श्रोत्र-इन्द्रियके द्वारा सुने जानेवाले पदोंके समुदाय रूप होते है और पत्र होता है एक कागजका लिखित टुकडा, फिर भी उसे उपचरितोपचार विधिसे वाक्य कहा जा सकता है। यानी कानसे सुनाई देनेवाले पदोका सांकेतिक लिपिके आकारोंमें उपचार होता है और लिपिके आकारोमे उपचरित वाक्यका कागज आदि पर लिखित पत्रमें उपचार किया जाता है। अथवा पत्र-वाक्यको 'पदोका त्राण अर्थात् प्रतिवादीसे रक्षण हो जिन वाक्योंके द्वारा, उन्हे पत्रवाक्य कहते है' इस व्युत्पत्तिके अनुसार मुख्यरूपसे कानसे सुनाई देनेवाले वाक्यको पत्र-वाक्य कह सकते है।

५. आगम—श्रुत :

मतिज्ञानके बाद जिस दूसरे ज्ञानका परोक्षरूपसे वर्णन मिलता है, वह है श्रुतज्ञान। परोक्ष प्रमाणमें स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान मतिज्ञानकी पर्यायें है जो मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे प्रकट होती है। श्रुतज्ञानावरण-कर्मके क्षयोपशमसे जो श्रुत प्रकट होता है, उसका वर्णन सिद्धान्त—आगमग्रन्थोंमें भगवान् महावीरकी पवित्र वाणीके रूपमे पाया जाता है। तीर्थङ्कर जिस अर्थको अपनी दिव्य-ध्वनिसे प्रकाशित करते है उसका द्वादशागरूपमें ग्रथन गणधरोंके द्वारा किया जाता है। यह श्रुत अगप्रविष्ट कहा जाता है और जो श्रुत अन्य आरातीय शिष्यप्रशिष्योंके द्वारा रचा जाता है, वह अंगबाह्य श्रुत है। अग-प्रविष्ट श्रुतके आचाराग, सूत्रकृताग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अतकृतदश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद ये बारह भेद है। अंगबाह्य श्रुत कालिक, उत्कालिक आदिके भेदसे अनेक

प्रकारका है। यह वर्णन आगमिकदृष्टिसे है। जैन परम्परामें श्रुतप्रमाणके नामसे इन्ही द्वादशाग और द्वादशागानुसारी अन्य शास्त्रोको आगम या श्रुतकी मर्यादामें लिया जाता है। इसके मूलकर्त्ता तीर्थङ्कर है और उत्तरकर्ता उनके साक्षात् शिष्य गणधर तथा उत्तरोत्तर कर्त्ता प्रशिष्य आदि आचार्यपरम्परा है। इस व्याख्यासे आगम प्रमाण या श्रुत वैदिक परम्पराके 'श्रुति' शब्दकी तरह अमुक ग्रन्थो तक ही सीमित रह जाता है।

परन्तु परोक्ष आगम प्रमाणसे इतना ही अर्थ इष्ट नही है, किन्तु व्यवहारमे भी अविसंवादी और अवचक आप्तके वचनोको सुनकर जो अर्थबोध होता है, वह भी आगमकी मर्यादामें आता है। इसलिए अकलकदेव[1] ने आप्तका व्यापक अर्थ किया है कि जो जिस विषयमें अविसंवादक है वह उस विषयमें आप्त है। आप्तता-के लिए तद्विषयक ज्ञान और उस विषयमें अविसंवादकता या अवंचकताका होना ही मुख्य शर्त है। इसलिए व्यवहारमें होनेवाले शब्दजन्य अर्थबोधको भी एक हद-तक आगमप्रमाणमें स्थान मिल जाता है। जैसे कोई कलकत्तेका प्रत्यक्षद्रष्टा यात्री आकर कलकत्तेका वर्णन करे तो उन शब्दोको सुनकर वक्ताको प्रमाण माननेवाले श्रोताको जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह भी आगमप्रमाणमें शामिल है।

वैशेषिक और बौद्ध आगमज्ञानको भी अनुमानप्रमाणमे अन्तर्भूत करते है। परन्तु शब्दश्रवण, सकेतस्मरण आदि सामग्रीसे लिङ्गदर्शन और व्याप्तिस्मरणके बिना ही होनेवाला यह आगमज्ञान अनुमानमें शामिल नही हो सकता। श्रुत या आगमज्ञान केवल आप्तके शब्दोसे ही उत्पन्न नही होता, किन्तु हाथके इशारे आदि संकेतोसे और ग्रन्थकी लिपिको पढने आदिसे भी होता है। इनमें सकेत-स्मरण ही मुख्य प्रयोजक है।

श्रुतके तीन भेद :

अकलंकदेवने प्रमाणसग्रहमें[2] श्रुतके प्रत्यक्षनिमित्तक, अनुमाननिमित्तक तथा आगमनिमित्तक ये तीन भेद किये है। परोपदेशकी सहायता लेकर प्रत्यक्षसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत प्रत्यक्षपूर्वक श्रुत है, परोपदेशसहित लिंगसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत अनुमानपूर्वक श्रुत और केवल परोपदेशसे उत्पन्न होनेवाला श्रुत आगम-निमित्तक श्रुत है। जैनतर्कवार्तिककार[3] प्रत्यक्षपूर्वक श्रुतको नही मानकर परोप-देशज और लिङ्गनिमित्तक ये दो ही श्रुत मानते है। तात्पर्य यह कि जैनपरपराने

१. "यो यत्राविसवादक स तत्राप्त, तत· परोऽनाप्त। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवाद·, तदर्थ-ज्ञानात्।" —अष्टश०, अष्टसह० पृ० २३६।

२. "श्रुतमविप्लवं प्रत्यक्षानुमानागमनिमित्तम्।"—प्रमाणसं० पृ० १।

३ जैनतर्कवार्तिक पृ० ७४।

आगमप्रमाणमे मुख्यतया तीर्थङ्करकी वाणीके आधारसे साक्षात् या परपरासे निबद्ध ग्रन्थविशेषोको लेकर भी उसके व्यावहारिक पक्षको नही छोडा है। व्यवहारमें प्रामाणिक वक्ताके शब्दको सुनकर या हस्तसकेत आदिको देखकर सकेतस्मरणसे जो भी ज्ञान उत्पन्न होता हैं, वह आगम प्रमाणमे शामिल है। आगमवाद और हेतुवादका क्षेत्र अपना-अपना निश्चित है—अर्थात् आगमके बहुतसे अश ऐसे हो सकते है, जहाँ कोई हेतु या युक्ति नही चलती। ऐसे विषयोंमें युक्तिसिद्ध वचनोकी एककर्तृकतासे युक्त्यसिद्ध वचनोका भी प्रमाण मान लिया जाता है।

आगमवाद और हेतुवाद :

जैन परम्पराने वेदके अपौरुषेयत्व और स्वत प्रामाण्यको नही माना है। उसका कारण यह है कि कोई भी ऐसा शब्द, जो धर्म और उसके नियम-उपनियमोका विधान करता हो, वीतराग और तत्त्वज्ञ पुरुषका आधार पाये विना अर्थबोध नही करा सकता। जिनकी शब्द-रचनामें एक सुनिश्चित क्रम, भावप्रवणता और विशेष उद्देश्यकी सिद्धि करनेका प्रयोजन हो, वे वेद बिना पुरुषप्रयत्नके चले आये, यह संभव नही, अर्थात् अपौरुषेय नही हो सकते। वैसे मेघगर्जन आदि बहुतसे शब्द ऐसे होते है जिनका कोई विशेष अर्थ या उद्देश्य नही होता, वे भले ही अपौरुषेय हो, पर उनसे किसी विशेष प्रयोजनकी सिद्धि नही हो सकती।

वेदको अपौरुषेय माननेका मुख्य प्रयोजन था—पुरुषकी शक्ति और तत्त्वज्ञतापर अविश्वास करना। यदि पुरुषोकी बुद्धिको स्वतन्त्र विचार करनेकी छूट दी जाती है तो किसी अतीन्द्रिय पदार्थके विषयमें कोई एक निश्चित मत नही बन सकता था। धर्म (यज्ञ आदि) इस अर्थमें अतीन्द्रिय है कि उसके अनुष्ठान करनेसे जो संस्कार या अपूर्व पैदा होता है, वह कभी भी इन्द्रियोके द्वारा ग्राह्य नही होता, और न उसका फल स्वर्गादि ही इन्द्रियग्राह्य होते है। इसीलिए 'परलोक है या नही' यह बात आज भी विवाद और सदेहकी बनी हुई है। मीमासकने मुख्यतया पुरुषकी धर्मज्ञताका ही निषेध किया है। उसका कहना है कि धर्म और उसके नियम-उपनियमोको वेदके द्वारा जानकर बाकी ससारके सब पदार्थोका यदि कोई साक्षात्कार करता है तो हमें कोई आपत्ति नही है। सिर्फ धर्ममें अन्तिम प्रमाण वेद ही हो सकता है, पुरुषका अनुभव नही। किसी भी पुरुषका ज्ञान इतना विशुद्ध और व्यापक नही हो सकता कि वह धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोका भी परिज्ञान कर सके, और न पुरुषमें इतनी वीतरागता आ सकती है, जिससे वह पूर्ण

निष्पक्ष रहकर धर्मका प्रतिपादन कर सके। पुरुष प्राय अनृतवादी होते हैं। उनके वचनोपर पूरा-पूरा भरोसा नही किया जा सकता।

वैदिक परम्परामें ही जिन नैयायिक आदिने नित्य ईश्वरको वेदका कर्त्ता कहा है उसके विषयमे भी मीमासकका कहना है कि किसी ऐसे समयकी कल्पना ही नही की जा सकती कि जब वेद न रहा हो। ईश्वरकी सर्वज्ञता भी उसके वेदमय होनेके कारण ही सिद्ध होती है, स्वत नही।

तात्पर्य यह, कि जहाँ वैदिक परम्परामें धर्मका अन्तिम और निर्बाध अधिकार-सूत्र वेदके हाथमे है, वहाँ जैन परम्परामें धर्मतीर्थका प्रवर्तन तीर्थङ्कर (पुरुष-विशेष) करते है। वे अपनी साधनासे पूर्ण वीतरागता और तत्त्वज्ञता प्राप्तकर धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थोके भी साक्षात्द्रष्टा हो जाते है। उनके लोकभाषामें होनेवाले उपदेशोका संग्रह और विभाजन उनके शिष्य गणधर करते है। यह कार्य द्वादशाग-रचनाके नामसे प्रसिद्ध है। वैदिक परम्परामें जहाँ किसी धर्मके नियम और उपनियममें विवाद उपस्थित होता है तो उसका समाधान वेदके शब्दोमें ढूँढना पडता है जब कि जैन परम्परामें ऐसे विवादके समय किसी भी वीतराग तत्त्वज्ञके वचन निर्णायक हो सकते हैं। यानी पुरुष इतना विकास कर लेता है कि वह स्वयं तीर्थङ्कर बनकर तीर्थ (धर्म) का प्रवर्तन भी करता है। इसीलिए उसे 'तीर्थङ्करोतीति तीर्थङ्कर' तीर्थङ्कर कहते है। वह केवल तीर्थज्ञ ही नही होता। इस तरह मूलरूपमें धर्मके कर्त्ता और मोक्षमार्गके नेता ही धर्मतीर्थके प्रवर्तक होते हैं। आगे उन्हीके वचन 'आगम' कहलाते है। ये सर्व प्रथम गणधरोके द्वारा 'अङ्गश्रुत' के रूपमें ग्रथित होते है। इनके शिष्य-प्रशिष्य तथा अन्य आचार्य उन्ही आगम-ग्रन्थोका आधार लेकर जो नवीन ग्रन्थ-रचना करते है वह 'अंगबाह्य' साहित्य कहलाता है। दोनोकी प्रमाणताका मूल आधार पुरुषका निर्मल ज्ञान ही है। यद्यपि आज वैसे निर्मल ज्ञानी साधक नही होते, फिर भी जब वे हुए थे तब उन्होने सर्वज्ञप्रणीत आगमका आधार लेकर ही धर्मग्रन्थ रचे थे।

आज हमारे सामने दो ज्ञानक्षेत्र स्पष्ट खुले हुए है—एक तो वह ज्ञानक्षेत्र, जिसमें हमारा प्रत्यक्ष, युक्ति तथा तर्क चल सकते है और दूसरा वह क्षेत्र, जिसमें तर्क आदिकी गुञ्जाइश नही होती, अर्थात् एक हेतुवाद पक्ष और दूसरा आगमवाद पक्ष। इस सम्बन्धमे जैन आचार्योने अपनी नीति बहुत विचारके बाद यह स्थिर की है कि हेतुवादपक्षमे हेतुसे और आगमवादपक्षमें आगमसे व्यवस्था करनेवाला स्वसमयका प्रज्ञापक—आराधक होता है और अन्य सिद्धान्तका विराधक होता है। जैसा कि आचार्य सिद्धसेनकी इस गाथासे स्पष्ट है—

"जो हेउवायपक्खम्मि हेउओ आगमम्मि आगमओ।
सो ससमयपण्णवओ सिद्धंतविराहओ अण्णो॥"

—सन्मति० ३।४५।

आचार्य [1]समन्तभद्रने इस सम्बन्धमे निम्नलिखित विचार प्रकट किये है कि जहाँ वक्ता अनाप्त, अविश्वसनीय, अतत्त्वज्ञ और कषायकलुष हों वहाँ हेतुसे ही तत्त्वकी सिद्धि करनी चाहिए और जहाँ वक्ता आप्त—सर्वज्ञ और वीतराग हो वहाँ उसके वचनोपर विश्वास करके भी तत्त्वसिद्धि की जा सकती है। पहला प्रकार हेतुसाधित कहलाता है और दूसरा प्रकार आगमसाधित। मूलमें पुरुषके अनुभव और साक्षात्कारका आधार होनेपर भी एक वार किसी पुरुषविशेषमें आप्तताका निश्चय हो जानेपर उसके वाक्यपर विश्वास करके चलनेका मार्ग भी है। लेकिन यह मार्ग वीचके समयका है। इससे पुरुषकी वुद्धि और उसके तत्त्व-साक्षात्कारकी अन्तिम प्रमाणताका अधिकार नही छिनता। जहाँ वक्ताकी अनाप्तता निश्चित है वहाँ उसके वचनोको या तो हम तर्क और हेतुसे सिद्ध करेंगे या फिर आप्तवक्ताके वचनोको मूल आधार मानकर उससे संगति बैठनेपर ही उनकी प्रमाणता मानेंगे। इस विवेचनमे इतना तो समझमें आ जाता है कि वक्ताकी आप्तता और अनाप्तताका निश्चय करनेकी जिम्मेवारी] अन्ततः युक्ति और तर्कपर ही पडती है। एक वार निश्चय हो जानेके वाद फिर प्रत्येक युक्ति या हेतु ढूंढो या न ढूंढो, उससे कुछ वनता-विगडता नही है। चालू जीवनके लिए यही मार्ग प्रशस्त हो सकता है। वहुत-सी ऐसी वातें हैं, जिनमे युक्ति और तर्क नही चलता, उन वातोको हमें आगमपक्षमें डालकर वक्ताके आप्तत्वके भरोसे ही चलना होता है, और चलते भी है। परन्तु वैदिक परम्पराके समान अन्तिम निर्णय अकर्तृक शब्दोके आधीन नही है। यही कारण है कि प्रत्येक जैन आचार्य अपने नूतन ग्रन्थके प्रारम्भमें उस ग्रन्थकी परम्पराको सर्वज्ञ तक ले जाता है और इस वातका विश्वास दिलाता है कि उसके प्रतिपादित तत्त्व कपोल-कल्पित न होकर परम्परासे सर्वज्ञप्रतिपादित ही है।

तर्ककी एक सीमा तो है ही। पर हमें यह देखना है कि अन्तिम अधिकार किसके हाथमें है? क्या मनुष्य केवल अनादिकालसे चली आई अकर्तृक परम्पराओके यन्त्रजालका मूक अनुसरण करनेवाला एक जन्तु ही है या स्वय भी किसी अवस्थामें निर्माता और नेता हो सकता है? वैदिक परम्परामें इसका उत्तर

[1] "वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो साध्य तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम्॥"

—आप्तमी० श्लो० ७८।

है 'नही हो सकता', जब कि जैन परम्परा यह कहती है कि 'जिस पुरुषने वीत-रागता और तत्त्वज्ञता प्राप्त कर ली है उसे किसी शास्त्र या आगमके आधारकी या नियन्त्रणकी आवश्यकता नही रहती। वह स्वयं शास्त्र बनाता है, परम्पराएँ रचता है और सत्यको युगशरीरमे प्रकट करता है। अत. मध्यकालीन व्यवस्थाके लिए आगमिक क्षेत्र आवश्यक और उपयोगी होनेपर भी उसकी प्रतिष्ठा सार्व-कालिक और सब पुरुषोके लिए एक-सी नही है।

एक कल्पकालमें चौबीस तीर्थङ्कर होते हैं। वे सब अक्षरश' एक ही प्रकारका उ.देश देते हो, ऐसी अधिक सम्भावना नही है, यद्यपि उन सबका तत्त्वसाक्षात्कार और वीतरागता एक-जैसी ही होती है। हर तीर्थङ्करके समय विभिन्न व्यक्तियोकी परिस्थितियाँ जुदे-जुदे प्रकारकी होती हैं, और वह उन परिस्थितियोमें उलझे हुए भव्य जीवोको सुलटने और सुलझनेका मार्ग बताता है। यह ठीक है कि व्यक्तिकी मुक्ति और विश्वकी शान्तिके लिए अहिंसा, परिग्रह, अनेकान्तदृष्टि और व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके सिद्धान्त त्रैकालिक है। इन मूल सिद्धान्तोके साक्षात्कारमें किसी भी तीर्थङ्करको मतभेद नही हुआ, क्योकि मूल सत्य दो प्रकारका नही होता। परन्तु उस मूल सत्यको जीवनव्यवहारमे लानेके प्रकार व्यक्ति, समाज, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव आदिकी दृष्टिसे अनन्त प्रकारके हो सकते है। यह बात हम सबके अनुभवकी है। जो कार्य एक समयमें अमुक परिस्थितिमें एकके लिए कर्त्तव्य होता है, वही उसी व्यक्तिको परिस्थिति बदलनेपर अखरता है। अतः कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्मकी मूल आत्मा एक होनेपर भी उसके परिस्थिति-शरीर अनेक होते है, पर सत्यासत्यका निर्णय उस मूल आत्माकी सगति और असंगतिसे होता है। जैन परम्पराकी यह पद्धति श्रद्धा और तर्क दोनोको उचित स्थान देकर उनका समन्वय करती है।

वेदापौरुषेयत्व विचारः

हम पहले लिख चुके है कि मीमासक पुरुषमें पूर्ण ज्ञान और वीतरागताका विकास नही मानता और धर्मप्रतिपादक वेदवाक्यको किसी पुरुषविशेषकी कृति न मानकर उसे अपौरुषेय या अकर्तृक मानता है। उस अपौरुषेयत्वकी सिद्धिके लिए 'अस्मर्यमाण कर्तृकत्व' हेतु दिया जाता है। इसका अर्थ है कि यदि वेदका कोई कर्त्ता होता तो उसका स्मरण होना चाहिये था चूँकि स्मरण नही है, अत. वेद अनादि है और अपौरुषेय है। किन्तु, कर्त्ताका स्मरण नही होना किसीकी अनादिता और नित्यताका प्रमाण नही हो सकता। नित्य वस्तु अकर्तृक ही होती है। कर्त्ताका स्मरण होने और न होनेसे पौरुषेयता या अपौरुषेयताका कोई सम्बन्ध

नही है। बहुतसे पुराने मकान, कुएँ, खंडहर आदि ऐसे उपलब्ध होते है, जिनके कर्त्ताओं या बनानेवालोंका स्मरण नही है, फिर भी वे अपौरुषेय नही है।

अपौरुषेय होना प्रमाणताका साधक भी नही है। बहुतसे लौकिकम्लेच्छादि व्यवहार—गाली-गलौज आदि ऐसे चले आते है, जिनके कर्त्ताका कोई स्मरण नही है, पर इतने मात्रसे वे प्रमाण नही माने जा सकते। 'वटे वटे वैश्रवण' इत्यादि अनेक पदवाक्य परम्परासे कर्त्ताके स्मरणके विना ही चले आते हैं, पर वे प्रमाणकोटिमें शामिल नही है।

पुराणोंमें वेदको ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ बताया है। और यह भी लिखा है[1] कि प्रतिमन्वतरमें भिन्न-भिन्न वेदोका विधान होता है। "यो वेदांश्च प्रहिणोति" इत्यादि[2] वाक्य वेदके कर्त्ताके प्रतिपादक है ही। जिस तरह याज्ञवल्क्य स्मृति और पुराण ऋषियोके नामोंसे अंकित होनेके कारण पौरुषेय हैं, उसी तरह काण्व, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय आदि वेदकी शाखाएँ भी ऋषियोंके नामसे अंकित पायी जाती हैं, अत- उन्हें अनादि या अपौरुषेय कैसे कहा जा सकता है? वेदोंमें न केवल ऋषियोके ही नाम[3] पाये जाते हैं; किन्तु उनमें अनेक ऐतिहासिक राजाओ, नदियों और देशोके नामोका पाया जाना इस बातका प्रमाण हैं कि वे उन-उन परिस्थितियोंमें बने है।

बौद्ध वेदोंको अष्टक ऋषिकर्तृक कहते हैं तो जैन उन्हें कालासुरकर्तृक बताते हैं। अत' उनके कर्तृविशेषमे तो विवाद हो सकता है, किन्तु 'वे पौरुषेय हैं और उनका कोई-न-कोई बनानेवाला अवश्य है' यह विवादकी बात नही है।

'वेदका अध्ययन सदा वेदाध्ययनपूर्वक ही होता है, अत- वेद अनादि हैं' यह दलील भी पुष्ट नही हैं, क्योकि 'कण्व आदि ऋषियोने काण्वादि शाखाओंकी रचना नही की, किन्तु अपने गुरुसे पढकर ही उनने उसे प्रकाशित किया' यह सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नही है। इस तरह तो यह भी कहा जा सकता हैं कि महाभारत भी व्यासने स्वय नही बनाया; किन्तु अन्य महाभारतके अध्ययनसे उसे प्रकाशित किया है।

---

१. प्रतिमन्वन्तर चैवं श्रुतिरन्या विधीयते—मत्स्यपु० १४५।५८ ,
२. श्वेता० ६।१८।
३. 'सजन्ममरणर्षिगोत्रचरणादिनामश्रुतेः।
अनेकपदसंहतिप्रतिनियमसन्दर्शनात्।
फलार्थिपुरुषप्रवृत्तिनिवृत्तिहेत्वात्मनाम्।
श्रुतेश्च मनुसूत्रवत् पुरुषकर्तृकैव श्रुतिः॥'—पात्रकेसरिस्तोत्रं श्लो० १४।

इसी तरह कालको हेतु बनाकर वर्तमान कालकी तरह अतीत और अनागत कालको वेदके कर्त्तासे शून्य कहना बहुत विचित्र तर्क है। इस तरह तो किसी भी अनिश्चित कर्तृक वस्तुको अनादि अनन्त सिद्ध किया जा सकता है। हम कह सकते हैं कि महाभारतका बनानेवाला अतीत कालमें नहीं था, क्योंकि वह काल है जैसे कि वर्तमानकाल।

जब वैदिक शब्द लौकिक शब्दके समान ही संकेतग्रहणके अनुसार अर्थका बोध कराते हैं और बिना उच्चारण किये पुरुषको सुनाई नहीं देते तब ऐसी कौन-सी विशेषता है जिससे कि वैदिक शब्दोंको अपौरुषेय कहा जाय? यदि कोई एक भी व्यक्ति अतीन्द्रियार्थद्रष्टा नहीं हो सकता तो वेदोंकी अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकतामें विश्वास कैसे किया जा सकता है?

वैदिक शब्दोंकी अमुक छन्दोंमें रचना है। वह रचना बिना किसी पुरुष-प्रयत्नके अपने आप कैसे हो गई? यद्यपि मेघगर्जन आदि अनेकों शब्द पुरुषप्रयत्न-के बिना प्राकृतिक संयोग-वियोगोंसे होते हैं परन्तु वे निश्चित अर्थके प्रतिपादक नहीं होते और न उनमें सुसंगत छन्दोरचना और व्यवस्थितता ही देखी जाती है। अतः जो मनुष्यकी रचनाके समान ही एक विशिष्ट रचनामें आबद्ध हैं वे अपौरुषेय नहीं हो सकते।

अनादि परम्परा रूप हेतुसे वेदको अतीन्द्रियार्थप्रतिपादकताकी सिद्धि करना उसी तरह कठिन है जिस तरह गाली-गलौज आदिकी प्रामाणिकता सिद्ध करना। अन्ततः वेदके व्याख्यानके लिए भी अतीन्द्रियार्थदर्शी ही अन्तिम प्रमाण बन सकता है। विवादकी अवस्थामें 'यह मेरा अर्थ है यह नहीं' यह स्वयं शब्द तो बोलेंगे नहीं। यदि शब्द अपने अर्थके मामलेमें स्वयं रोकनेवाला होता तो वेदकी व्याख्याओंमें मतभेद नहीं होना चाहिये था।

शब्दमात्रको नित्य मानकर वेदके नित्यत्वका समर्थन करना भी प्रतीतिसे विरुद्ध है; क्योंकि तालु आदिके व्यापारसे पुद्गलपर्यायरूप शब्दकी उत्पत्ति ही प्रमाणसिद्ध है, अभिव्यक्ति नहीं। संकेतके लिये शब्दको नित्य मानना भी उचित नहीं है; क्योंकि जैसे अनित्य घटादि पदार्थोंमें अमुक घड़ेके नष्ट होनेपर भी अन्य सदृश घड़ोंसे सादृश्यमूलक व्यवहार चल जाता है उसी तरह जिस शब्दमें संकेत-ग्रहण किया है वह भले ही नष्ट हो जाय, पर उसके सदृश अन्य शब्दोंमें वाचक-व्यवहारका होना अनुभवसिद्ध है। 'यह वही शब्द है, जिसमें मैंने संकेत ग्रहण किया था' इस प्रकारका एकत्वप्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्तिके कारण ही होता है, क्योंकि जब हम उस तरीखे दूसरे शब्दको सुनते हैं, तो दीपशिखाकी तरह भ्रमवश उसमें एकत्वका भान हो जाता है।

आजका विज्ञान शब्दतरंगोंको उसी तरह क्षणिक मानता है जिस तरह जैन, बौद्धादिदर्शन। अतः अतीन्द्रिय पदार्थोंमें वेदकी अन्तिम प्रमाणता माननेके लिए यह आवश्यक है कि उसका आद्य प्रतिपादक स्वयं अतीन्द्रियदर्शी हो। अतीन्द्रिय-दर्शनकी असम्भवता कहकर अन्धपरम्परा चलानेसे प्रमाणताका निर्णय नहीं हो सकता। ज्ञानस्वभाववाली आत्माका सम्पूर्ण आवरणोंके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानी बन जाना असम्भव बात नहीं है। शब्द वक्ताके भावोंको ढोनेवाला एक माध्यम है, जिसकी प्रमाणता और अप्रमाणता अपनी न होकर वक्ताके गुण और दोषोंपर आश्रित होती है। यानी गुणवान् वक्ताके द्वारा कहा गया शब्द प्रमाण होता है और दोषवाले वक्ताके द्वारा प्रतिपादित शब्द अप्रमाण। इसलिये कोई शब्दको धन्यवाद या गाली नहीं देता, किन्तु उसके बोलनेवाला वक्ताको। वक्ताका अभाव मानकर 'दोष निराश्रय नहीं रहेंगे' इस युक्तिसे वेदको निर्दोष कहना तो ऐसा ही है जैसे मेघ गर्जन और बिजलीकी कड़कड़ाहटको निर्दोष बताना। वह इस विधिसे निर्दोष बन भी जाय, पर मेघगर्जन आदिकी तरह वह निरर्थक ही सिद्ध होगा। वह विधि-प्रतिषेध आदि प्रयोजनोंका साधक नहीं बन सकेगा।

व्याकरणादिके अभ्याससे लौकिक शब्दोंकी तरह वैदिक पदोंके अर्थकी समस्याको हल करना इसलिए असंगत है कि जब शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं तब अनिष्ट अर्थका परिहार करके इष्ट अर्थका नियमन करना कैसे सम्भव होगा? प्रकरण आदि भी अनेक हो सकते हैं। अतः धर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थोंके साक्षात्कार करनेवालेके बिना धार्मिक नियम-उपनियमोंमें वेदकी निर्बाधता सिद्ध नहीं हो सकती। जब एक बार अतीन्द्रियदर्शीको स्वीकार कर लिया, तब वेदको अपौरुषेय मानना निरर्थक ही है। कोई भी पद और वाक्य या श्लोक आदि छन्द रचना पुरुषकी इच्छा बुद्धिके बिना सम्भव नहीं है। ध्वनि अपने आप बिना पुरुष-प्रयत्नके निकल सकती है, पर भाषा मानवकी अपनी देन है, उसमें उसका प्रयत्न, विवक्षा और ज्ञान सभी कारण होते हैं।

शब्दार्थ-प्रतिपत्ति :

स्वाभाविक-योग्यता और संकेतके कारण शब्द और हस्तसंज्ञा आदि वस्तुकी प्रतिपत्ति करानेवाले होते हैं। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेयमें ज्ञापक और ज्ञाप्य शक्ति स्वाभाविक है उसी तरह शब्द और अर्थमें प्रतिपादक और प्रतिपाद्य शक्ति स्वाभाविक ही है। जैसे कि हस्तसंज्ञा आदिका अपने अभिव्यञ्जनीय अर्थके साथ सम्बन्ध अनित्य होकर भी इष्ट अर्थकी अभिव्यक्ति करा देता है, उसी तरह शब्द और अर्थका सम्बन्ध अनित्य होकर भी अर्थबोध करा सकता है। शब्द और अर्थका

यह सम्बन्ध माता, पिता, गुरु तथा समाज आदिकी परम्परा द्वारा अनादि कालसे प्रवाहित है और जगत्की समस्त व्यवहार-व्यवस्थाका मूल कारण बन रहा है।

ऊपर जिस आप्तके वचनको श्रुत या आगम प्रमाण कहा है, उसका व्यापक लक्षण[1] तो 'अवञ्चकत्व या अविसंवादित्व' ही है, परन्तु आगमके प्रकरणमें वह आप्त—सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी विवक्षित है। मनुष्य अज्ञान और रागद्वेषके कारण मिथ्या भाषणमें प्रवृत्त होता है[2]। जिस वस्तुका ज्ञान न हो, या ज्ञान होकर भी किसीसे राग या द्वेष हो, तो ही असत्य वचनका अवसर आता है। अतः सत्यवक्ता आप्तके लिये पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होना तो आवश्यक है ही, साथ-ही-साथ उसे हितोपदेशी भी होना चाहिये। हितोपदेशकी इच्छाके विना जगतहितमें प्रवृत्ति नही हो सकती। हितोपदेशित्वके विना सिद्ध पूर्ण ज्ञानी और वीतरागी होकर भी आप्त-कोटिमें नही आते, वे आप्तसे ऊपर है। हितोपदेशित्वकी भावना होनेपर भी यदि पूर्ण ज्ञान और वीतरागता न हो, तो अन्यथा उपदेशकी सम्भावना बनी रहती है। यही नीति लौकिक वाक्योंमें तद्विषयक ज्ञान और और तद्विषयक अवञ्चकत्वमे लागू है।

शब्दकी अर्थवाचकता :

अन्यापोह शब्दका वाच्य नहीं :

बौद्ध अर्थको [3]शब्दका वाच्य नही मानते। उनका कहना है कि शब्द अर्थके प्रतिपादक नही हो सकते, क्योंकि जो शब्द अर्थकी मौजूदगीमें उनका कथन करते है वे ही अतीत-अनागतरूपसे अविद्यमान पदार्थोंमें भी प्रयुक्त होते है। अतः उनका अर्थके साथ कोई सम्बन्ध नही है, अन्यथा कोई भी शब्द निरर्थक नही हो सकेगा। स्वलक्षण अनिर्देश्य है। अर्थमे शब्द नही है और न अर्थ शब्दात्मक ही है, जिससे कि अर्थके प्रतिभासित होनेपर शब्दका बोध हो या शब्दके प्रतिभासित होनेपर अर्थका बोध अवश्य हो। वासना और संकेतकी इच्छाके अनुसार शब्द अन्यथा भी संकेतित किये जाते है, इसलिए उनका अर्थसे कोई अविनाभाव नही है। वे केवल

---

१. 'यो यत्राविसंवादकः स तत्राप्तः, ततः परोऽनाप्तः। तत्त्वप्रतिपादनमविसंवादः।'
—अष्टश० अष्टसह० पृ० २३६।

२. 'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते ह्यनृतम्।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारणं नास्ति॥'—आप्तस्वरूप।

३. 'अतीताजातयोर्वापि न च स्यादनृतार्थता।
वाचः कस्याश्चिदित्येषा बौद्धार्थविषया मता॥'
—प्रमाणवा० ३।२०७।

[1]इन्द्रियग्राह्य पदार्थ भिन्न होता है और शब्दगोचर अर्थ भिन्न। शब्दसे अन्धा भी अर्थबोध कर सकता है, पर वह अर्थको प्रत्यक्ष नही जान सकता। दाह शब्दके द्वारा जिस दाह अर्थका बोध होता है और अग्निको छूकर जिस दाहकी प्रतीति होती है, वे दोनो दाह जुदे-जुदे है, इसे समझनेकी आवश्यकता नही है। अत शब्द केवल कल्पित सामान्यका वाचक है।

यदि शब्द अर्थका वाचक होता, तो शब्दबुद्धिका प्रतिभास इन्द्रियबुद्धिकी तरह विशद होना चाहिए था। अर्थव्यक्तियाँ अनन्त और क्षणिक है, इसलिए जब उनका ग्रहण ही सम्भव नही है; तब पहले तो उनमें सकेत[2] ही गृहीत नही हो सकता, यदि संकेत गृहीत हो भी जाय, तो व्यवहारकाल तक उसकी अनुवृत्ति नही हो सकती, अतः उससे अर्थबोध होना असम्भव है। कोई भी प्रत्यक्ष ऐसा नही है, जो शब्द और अर्थ दोनोको विषय करता हो, अत संकेत होना ही कठिन है। स्मरण निर्विषय और गृहीतग्राही होनेसे प्रमाण ही है।

सामान्यविशेषात्मक अर्थ वाच्य है :

किन्तु बौद्धकी यह मान्यता उचित नही है[3]। पदार्थमें कुछ धर्म सदृश होते है और कुछ विसदृश। सदृश धर्मोको ही सामान्य कहते है। यह अनेकानुगत न होकर प्रत्येक व्यक्तिनिष्ठ है। यदि सादृश्यको वस्तुगत धर्म न माना जाय, तो अगोनिवृत्ति 'अमुक गौव्यक्तियोमें ही पायी जाती है, अश्वादि व्यक्तियोमें नही, यह नियम कैसे किया जा सकेगा? जिस तरह भाव—अस्तित्व वस्तुका धर्म है, उसी तरह अभाव—परनास्तित्व भी वस्तुका ही धर्म है। उसे तुच्छ या नि स्वभाव कहकर उडाया नही जा सकता। सादृश्यका बोध और व्यवहार हम चाहे अगोनिवृत्ति आदि निषेधमुखसे करें या सास्नादिमत्त्व आदि समानधर्मरूप गोत्व आदिको देखकर करें, पर इससे उसकी परमार्थसत् वस्तुतामें कोई बाधा नही आती। जिस तरह प्रत्यक्षादि प्रमाणोका विषय सामान्यविशेषात्मक पदार्थ होता है, उसी तरह शब्द-सकेत भी सामान्यविशेषात्मक पदार्थमें ही किया जाता है। केवल सामान्यमें यदि सकेत ग्रहण किया जाय, तो उससे विशेषव्यक्तियोमें प्रवृत्ति नही हो सकेगी।

---

१. 'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात् प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते॥"
—उद्धृत प्रश० व्यो० पृ० ५८४।—न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५२।

२. "तत्र स्वलक्षण तावन्न शब्दै प्रतिपाद्यते।
सङ्केतव्यवहाराप्तकालव्याप्तिविरोधत॥—तत्त्वस० पृ० २०७।

३. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५५७।

अनन्त विशेषव्यक्तियाँ तत्तत्रूपमे हम लोगोके ज्ञानका जब विषय ही नही बन सकती, तब उनमें सकेत ग्रहणकी बात तो अत्यन्त असम्भव है। सदृश धर्मोकी अपेक्षा शब्दका अर्थमें संकेत ग्रहण किया जाता है। जिस शब्दव्यक्ति और अर्थ-व्यक्तिमें संकेत ग्रहण किया जाता है, भले ही वे व्यवहारकाल तक न जाँय, पर तत्सदृश दूसरे शब्दसे तत्सदृश दूसरे अर्थकी प्रतीति होनेमें क्या बाधा है? एक घटशब्दका एक घटपदार्थमें सकेत ग्रहण करनेपर भी तत्सदृश यावत् घटोमें तत्सदृश यावत् घटशब्दोकी प्रवृत्ति होती ही है। संकेत ग्रहण करने के बाद शब्दार्थका स्मरण करके व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष-बुद्धि अतीत अर्थको जानकर भी प्रमाण है, उसी तरह स्मृति भी प्रमाण ही है, न केवल प्रमाण ही, किन्तु सविपयक भी है। जब अविसंवादप्रयुक्त प्रमाणता स्मृतिमें है तब शब्द सुनकर तद्वाच्य अर्थका स्मरण करके तथा अर्थको देखकर तद्वाचक शब्दका स्मरण करके व्यवहार अच्छी तरह चलाया जा सकता है।

एक सामान्य-विशेपात्मक अर्थको विपय करने पर भी इन्द्रियज्ञान स्पष्ट और शब्दज्ञान अस्पष्ट होता है। जैसे कि एक ही वृक्षको विपय करनेवाले दूरवर्ती और समीपवर्ती पुरुषोंके ज्ञान अस्पष्ट और स्पष्ट होते है।[1] स्पष्टता और अस्पष्टता विपयभेदके कारण नही आती, किन्तु आवरणके क्षयोपशमसे आती है। फिर शब्दसे होनेवाला अर्थका बोध मानस है और इन्द्रियसे होनेवाला पदार्थका ज्ञान ऐन्द्रियक है। जिस तरह अविनाभावसम्बन्धसे अर्थका बोध करनेवाला अनुमान अस्पष्ट होकर भी अविसंवादी होनेसे प्रमाण है, उसी तरह वाच्यवाचक-सम्बन्धके बलपर अर्थबोध करानेवाला शब्दज्ञान भी अविसवादी होनेसे प्रमाण ही होना चाहिये। हाँ, जिस शब्दमें विसंवाद या सशयादि पाये जाँय, वह अनुमाना-भास और प्रत्यक्षाभासकी तरह शब्दाभास हो सकता है, पर इतने मात्रसे सभी शब्दज्ञानोको अप्रमाणकोटिमे नही डाला जा सकता। कुछ [2]शब्दोको अर्थव्यभि-चारी देखकर सभी शब्दोको अप्रमाण नही ठहराया जा सकता।

यदि शब्द बाह्यार्थमें प्रमाण न हो, तो क्षणिकत्व आदिके प्रतिपादक शब्द भी प्रमाण नही हो सकेंगे। और तब बौद्ध स्वय अदृष्ट नदी, देश और पर्वतादिका ज्ञान शब्दोंसे कैसे कर सकेंगे?[3] यदि हेतुवादरूप (परार्थानुमान) शब्दके द्वारा अर्थका निश्चय न हो, तो साधन और साधनाभासकी व्यवस्था कैसी होगी? इसी

१. देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ५६५।
२ लघीय० श्लो० ७७।
३. लघीय० श्लो० २६।

तरह आप्तके वचनके द्वारा[1] यदि अर्थका बोध न हो; तो आप्त और अनाप्तका भेद कैसे सिद्ध होगा ? यदि [2]पुरुषोके अभिप्रायोमे विचित्रता होनेके कारण सभी शब्द अर्थव्यभिचारी करार दिये जायँ, तो सुगतके सर्वशास्तृत्वमें कैसे विश्वास किया जा सकेगा ? यदि अर्थव्यभिचार होनेके कारण शब्द अर्थमें प्रमाण नही है, तो अन्य शब्दकी विवक्षामे अन्य शब्दका प्रयोग देखा जानेसे जब विवक्षाव्यभिचार भी होता है, तो उसे विवक्षामें भी प्रमाण कैसे कहा जा सकता है ? जिस तरह सुविवेचित व्याप्य और कार्य अपने व्यापक और कारणका उल्लंघन नही कर सकते, उसी तरह सुविवेचित शब्द भी अर्थका व्यभिचारी नही हो सकता। फिर शब्दका विवक्षाके साथ कोई अविनाभाव भी नही है, क्योकि [3]शब्द वर्ण या पद कही अवाछित अर्थको भी कहते है और कही वाञ्छितको भी नही कहते।

यदि शब्द विवक्षामात्रके वाचक हो, तो शब्दोमें सत्यत्व और मिथ्यात्वकी व्यवस्था न हो सकेगी। क्योकि दोनो ही प्रकारके शब्द अपनी-अपनी विवक्षाका अनुमान तो कराते ही हैं। शब्दमें सत्य और असत्य व्यवस्थाका मूल आधार अर्थप्राप्ति और अप्राप्ति ही बन सकता है। जिस शब्दका अर्थ प्राप्त हो वह सत्य और जिसका अर्थ प्राप्त न हो वह मिथ्या होता है। जिन शब्दोका बाह्य अर्थ प्राप्त नही होता उन्हें ही हम विसंवादी कहकर मिथ्या ठहराते हैं। प्रत्येक दर्शनकार अपने द्वारा प्रतिपादित शब्दोका वस्तुसम्बन्ध ही तो बतानेका प्रयास करता है। वह उसकी काल्पनिकताका परिहार भी जोरोसे करता है। अविसंवादका आधार अर्थप्राप्तिको छोड़कर दूसरा कोई बन ही नही सकता।

अगोनिवृत्तिरूप सामान्यमें जिस गौकी आप निवृत्ति करना चाहते है उस गौका निर्वचन करना ही कठिन है। स्वलक्षणभूत गौकी निवृत्ति तो इसलिये नही कर सकते कि वह शब्दके अगोचर है। यदि अगोनिवृत्तिके पेटमें पडी हुई गौको भी अगोनिवृत्तिरूप ही कहा जाता है, तो अनवस्थासे पिंड नही छूटता। व्यवहारी सीधे गौशब्दको सुनकर गौ अर्थका ज्ञान करते है, वे अन्य अगौ आदिका निषेध करके गौ तक नही पहुँचते। गायोमे ही 'अगोनिवृत्ति पायी जाती है।' इसका अर्थ ही है कि उन सबमे यह एक समान धर्म है। 'शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध माननेपर अर्थके देखनेपर शब्द भी सुनाई देना चाहिए' यह आपत्ति अत्यन्त अज्ञान-

१. 'आप्तोक्तेर्हेतुवादाच्च बहिरर्थाविनिश्चये।
सत्येतरव्यवस्था का साधनेतरता कुतः ॥'—लघी० का० २८।

२. लघीय० श्लो० २६।

३. लघीय० श्लो० ६४, ६५।

पूर्ण है, क्योंकि वस्तुमें अनन्त धर्म है, उनमेंसे कोई ही धर्म किसी ज्ञानके विषय होते है, सब सबके नही। जिनकी जब जैसी इन्द्रियादिसामग्री और योग्यता होती है वह धर्म उस ज्ञानका स्पष्ट या अस्पष्टरूपमें विषय बनता है।

यदि गौशब्दके द्वारा अगोनिवृत्ति मुख्यरूपसे कही जाती है, तो गौ शब्दके सुनते ही सबसे पहले 'अगौ' ऐसा ज्ञान श्रोताको होना चाहिये, पर यह देखा नही जाता। आप गोशब्दसे अश्वादिकी निवृत्ति करते है; तो अश्वादिनिवृत्तिरूप कौन-सा पदार्थ शब्दका वाच्य होगा? असाधारण गौस्वलक्षण तो हो नही सकता; क्योकि वह समस्त शब्द और विकल्पोके अगोचर है। शावलेयादि व्यक्तिविशेषको कह नही सकते, क्योकि यदि गो-शब्द शावलेयादिका वाचक होता है तो वह सामान्यशब्द नही रह सकता। इसलिए समस्त सजातीय शावलेयादिव्यक्तियोमे प्रत्येकमें जो सादृश्य रहता है, तन्निमित्तक ही गौबुद्धि होती है और वही सादृश्य सामान्यरूप है[1]।

आपके मतसे जो विभिन्न सामान्यवाची गौ, अश्व आदि शब्द है वे सब मात्र निवृत्तिके वाचक होनेसे पर्यायवाची हो जाँयगे, क्योकि वाच्यभूत अपोहके नीरूप (तुच्छ) होनेसे उसमें कोई भेद शेष नही रहता। एकत्व, नानात्व और संसृष्टत्व आदि धर्म वस्तुमें ही प्रतीत होते हैं। यदि अपोहमें भेद माना जाता है तो वह भी वस्तु ही हो जायगा।

[2]अपोह्य (जिनका अपोह किया जाता है) नामक सम्बन्धियोके भेदसे अपोहमे भेद डालना उचित नही है, क्योकि ऐसी दशामें प्रमेय, अभिधेय और ज्ञेय आदि शब्दोकी प्रवृत्ति नही हो सकेगी, क्योकि संसारमें अप्रमेय, अनभिधेय और अज्ञेय आदि की सत्ता ही नही है। यदि शावलेयादि गौव्यक्तियोमें परस्पर सादृश्य न होने पर भी उनमे एक अगोपोहकी कल्पना की जाती है तो गौ और अश्वमें भी एक अपोहकी कल्पना हो जानी चाहिये; क्योकि शावलेय-गौ व्यक्ति बाहुलेय-गौव्यक्तिसे जब उतनी ही भिन्न है, जितनी कि अश्वव्यक्तिसे तो परस्पर उनमें कोई विशेषता नही रहती। अपोहपक्षमें इतरेतराश्रय दोष भी आता है—अगौका व्यवच्छेद करके गौकी प्रतिपत्ति होती है और गौका व्यवच्छेद करके अगौका ज्ञान होता है।

अपोहपक्षमें विशेषणविशेष्य-भावका बनना भी कठिन है; क्योकि जब 'नीलम् उत्पलम्' यहाँ 'अनीलव्यावृत्तिसे विशिष्ट अनुत्पलव्यावृत्ति' यह अर्थ फलित होता है

१. देखो, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४३३।
२ प्रमेयकमलमार्त्तण्ड पृ० ४३४।

तब एक व्यावृत्तिका दूसरी व्यावृत्तिसे विशिष्ट होनेका कोई मतलब ही नही निकलता। यदि विशेषणविशेष्यभावके समर्थनके लिये अनीलव्यावृत्त नील वस्तु और अनुत्पलव्यावृत्त उत्पल वस्तु 'नीलमुत्पलम्' इस पदका वाच्य कही जाती है; तो अपोहकी वाच्यता स्वय खण्डित हो जाती है और जिस वस्तुको आप शब्दके अगोचर कहते थे, वही वस्तु शब्दका वाच्य सिद्ध हो जाती है।

यदि गौशब्दके द्वारा अगौका अपोह किया जाता है, तो अगौशब्दका वाच्य भी तो एक अपोह (गो-अपोह) ही होगा। यानी जिसका अपोह (व्यवच्छेद) किया जाता है, वह स्वयं जब अपोहरूप है, तो उस व्यवच्छेद्य अपोहको वस्तुरूप मानना पडेगा, क्योकि प्रतिषेध वस्तुका होता है। यदि अपोहका प्रतिषेध किया जाता है तो अपोहको स्वयं वस्तु ही मानना होगा। इसलिए अश्वादिमें गौ आदिका जो अपोह होता है वह सामान्यभूत वस्तुका ही कहना चाहिये। इस तरह भी शब्द का वाच्य वस्तु ही सिद्ध होती है।

किञ्च' 'अपोह' इस शब्दका वाच्य क्या होगा? यदि 'अनपोहव्यावृत्ति;' तो 'अनपोहव्यावृत्तिका वाच्य कोई अन्य व्यावृत्ति होगी, इस तरह अनवस्था आती है। अत यदि अपोहशब्दका वाच्य 'अपोह' विधिरूप माना जाता है, तो अन्य शब्दोंका भी विधिरूप वाच्य माननेमें क्या आपत्ति है? चूँकि प्रतिनियत शब्दोसे प्रतिनियत अर्थोमें प्राणियोकी प्रवृत्ति देखी जाती है, इसलिए शाब्दप्रत्ययोका विषय परमार्थ वस्तु ही मानना चाहिये। रह जाती है सकेतकी बात, सो सामान्य-विशेषात्मक पदार्थमें संकेत किया जा सकता है। ऐसा अर्थ वास्तविक है, और सकेत तथा व्यवहारकाल तक द्रव्यदृष्टिसे रहता भी है। समस्त व्यक्तियाँ समान-पर्यायरूप सामान्यकी अपेक्षा तर्कप्रमाणक द्वारा उसी प्रकार संकेतके विषय भी बन जायँगी जिस प्रकार कि अग्नि और धूमकी व्याप्तिके ग्रहण करनेके समय अग्नित्वेन समस्त अग्नियाँ और धूमत्वेन समस्त धूम व्याप्तिके विषय हो जाते है।

यह आशंका भी उचित नही कि 'शब्दके द्वारा यदि अर्थका बोध हो जाता है, तो चक्षुरादि इन्द्रियोकी कल्पना व्यर्थ है;' क्योकि शब्दसे अर्थकी अस्पष्ट रूपमें प्रतीति होती है। अतः उसकी स्पष्ट प्रतीतिके लिए अन्य इन्द्रियोंकी सार्थकता है। यह दूषण भी ठीक नही है कि 'जैसे अग्निके छूनेसे फोला पडता है और दुःख होता है, उसी तरह दाह शब्दके सुननेसे भी होना चाहिये,' क्योंकि फोला पडना या दुःख होना अग्निज्ञानका कार्य नही है; किन्तु अग्नि और देहके सम्बन्धका कार्य है। सुषुप्त या मूर्च्छित अवस्थामें ज्ञानके न होनेपर भी अग्निपर हाथ पड जानेसे फोला पड जाता है और दूरसे चक्षु इन्द्रियके द्वारा अग्निको देखने पर भी फोला

नहीं पड़ता है। अतः सामग्रीभेदसे एक ही पदार्थमें स्पष्ट-अस्पष्ट आदि नाना प्रतिभास होते हैं।

यदि शब्दका वाच्य वस्तु न हो, तो शब्दोंमें सत्यत्व और असत्यत्व व्यवस्था नहीं की जा सकती। ऐसी दशामें 'सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्' इत्यादि आपके वाक्य भी उसी तरह मिथ्या होंगे जिस प्रकार कि 'सर्वं नित्यम्' इत्यादि विरोधी वाक्य। समस्त शब्दोंको विवक्षाका सूचक माननेपर भी यही दूषण अनिवार्य है। यदि शब्दसे मात्र विवक्षाका ज्ञान होता है तो उससे बाह्य अर्थकी प्रतिपत्ति, प्रवृत्ति और प्राप्ति होनी चाहिये। अतः व्यवहारसिद्धिके लिये शब्दका वाच्य वस्तुभूत सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही मानना चाहिये। शब्दोंमें सत्यासत्य व्यवस्था भी अर्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिके निमित्तसे ही स्वीकार की जाती है। जो शब्द अर्थ-व्यभिचारी हैं वे खुशीसे शब्दाभास सिद्ध हों, पर इतने मात्रसे सभी शब्दोंका सम्बन्ध अर्थसे नहीं तोड़ा जा सकता और न उन्हें अप्रमाण ही कहा जा सकता है। यह ठीक ही है कि शब्दकी प्रवृत्ति बुद्धिगत संकेतके अनुसार होती है। जिस अर्थमें जिस शब्दका जिस रूपसे संकेत किया जाता है, वह शब्द उस अर्थका उस रूपसे वाचक है और वह अर्थ वाच्य। यदि वस्तु सर्वथा अवाच्य है, तो वह 'वस्तु' 'अवाच्य' आदि शब्दोंके द्वारा भी नहीं कही जा सकेगी और इस तरह जगत्से समस्त शब्दव्यवहारका उच्छेद ही हो जायगा। हम सभी शब्दोंको अर्थाविनाभावी नहीं कहते, किन्तु 'जिनके वक्ता आप्त हैं वे शब्द कभी भी अर्थके व्यभिचारी नहीं हो सकते' हमारा इतना ही अभिप्राय है।

प्राकृतअपभ्रंश शब्दोंकी अर्थवाचकता (पूर्वपक्ष) :

इस तरह 'शब्द अर्थके वाचक हैं' यह सामान्यतः सिद्ध होनेपर भी मीमांसक और वैयाकरणोंका यह आग्रह[1] है कि सभी शब्दोंमें वाचकशक्ति नहीं है, किन्तु संस्कृत शब्द ही साधु हैं और उन्हींमें वाचकशक्ति है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि शब्द असाधु हैं, उनमें अर्थ प्रतिपादनकी शक्ति नहीं है। जहाँ-कहीं प्राकृत या अपभ्रंश शब्दोंके द्वारा अर्थप्रतीति देखी जाती है, वहाँ वह[2] शक्तिभ्रमसे ही होती है, या उन प्राकृतादि असाधु शब्दोंको सुनकर प्रथम ही संस्कृत-साधु शब्दोंका स्मरण आता है और फिर उनसे अर्थबोध होता है।

---

१. "गवादय एव साधवो न गाव्यादयः इति साधुत्वरूपनियमः।"

—शाबदी० १।३।२७।

२. 'न चापभ्रंशानामवाचकत्वया कथमर्थावबोध इति वाच्यम्, शक्तिभ्रमवता बाधकाभावात्। विशेषदर्शिनस्तु द्विविधाः—तत्तद्वाचकसंस्कृतविशेषज्ञानवन्तः तद्विकलाश्च। तत्र आद्यानां साधुस्मरणद्वारा अर्थबोधः।'—शब्दकौ० पृ० ३२।

इस तरह शब्दराशिके एक बडे भागको वाचकशक्तिसे शून्य कहनेवाले इस मतमें एक विचित्र साम्प्रदायिक भावना कार्य कर रही है। ये संस्कृत शब्दोंको साधु कहकर[1] और इनमें ही वाचकशक्ति मानकर ही चुप नही हो जाते, किन्तु साधुशब्दके उच्चारणको[2] धर्म और पुण्य मानते है और उसे ही कर्त्तव्य-विधिमें शामिल करते हैं तथा असाधु अपभ्रंश-शब्दोके उच्चारणको शक्तिशून्य ही नही, पापका कारण भी कहते है। इसका मूल कारण है संस्कृतमें रचे गये वेदको धर्म्य और प्रमाण मानना तथा प्राकृत, पाली आदि भाषाओंमें रचे गये जैन, बौद्ध आदि आगमोको अधर्म्य और अप्रमाण घोषित करना। स्त्री और शूद्रोको धर्मके अधिकारोसे वंचित करनेके अभिप्रायसे उनके लिये संस्कृत-शब्दोका उच्चारण ही निषिद्ध कर दिया गया। नाटकोंमें स्त्री और शूद्र पात्रोंके मुखसे प्राकृतका ही उच्चारण कराया गया है। 'ब्राह्मण[3]को साधु शब्द बोलना चाहिये, अपभ्रंश या म्लेच्छ शब्दोका व्यवहार नही करना चाहिए' आदि विधिवाक्योकी सृष्टिका एक ही अभिप्राय है कि धर्ममें वेद और वेदोपजीवी वर्गका अबाध अधिकार कायम रहे। अधिकार हथयानेकी इस भावनाने वस्तुके स्वरूपमे ही विपर्यास उत्पन्न कर देनेका चक्र चलाया और एकमात्र संकेतके बलपर अर्थबोध करनेवाले शब्दोंमे भी जातिभेद उत्पन्न कर दिया गया। इतना ही नही 'असाधु दुष्ट शब्दोका उच्चारण वज्र बनकर इन्द्रकी तरह जिह्वाको छेद देगा' यह भय भी दिखाया[4] गया। तात्पर्य यह कि वर्गभेदके विशेषाधिकारोका कुचक्र भाषाके क्षेत्रमे भी अबाध गतिसे चला।

वाक्यपदीय (१–२७) में शिष्ट पुरुषोके द्वारा जिन शब्दोका उच्चारण हुआ है ऐसे आगमसिद्ध शब्दोको साधु और धर्मका साधन माना है। यद्यपि अपभ्रंश आदि शब्दोंके द्वारा अर्थप्रतीति होती है, चूँकि उनका प्रयोग शिष्ट-जन आगमोंमें नही करते है, इसलिए वे असाधु हैं।

---

१. 'इत्थं च संस्कृत एव शक्तिसिद्धौ शक्यसम्बन्धरूपवृत्तेरपि तत्रैव भावात्तत्त्व साधुत्वम्।' —वैयाकरणभू० पृ० २४६।

२. 'शिष्टेभ्य आगमात् सिद्धाः साधवो धर्मसाधनम्।' —वाक्यप० १।२७।

३. 'तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष अपशब्दः।'—पात० महा० पस्पशा०।

४. 'स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।' —पात० महा० पस्पशा०।

तन्त्रवार्तिक (पृ० २७८) आदिमे भी व्याकरणसिद्ध शब्दोको साधु और वाचकशक्तियुक्त कहा है और साधुत्वका आधार वृत्तिमत्त्व (संकेतसे अर्थबोध करना) को न मानकर व्याकरणनिष्पन्नत्वको ही अर्थबोध और साधुत्वका आधार माना गया है। इस तरह जब अर्थबोधक शक्ति संस्कृत-शब्दोंमें ही मानी गई, तब यह प्रश्न स्वाभाविक था कि 'प्राकृत और अपभ्रंश आदि शब्दोंसे जो अर्थबोध होता है वह कैसे ?' इसका समाधान प्राविडी प्राणायामके ढंगसे किया है। उनका कहना है कि 'प्राकृत आदि शब्दोको सुनकर पहले संस्कृत शब्दोका स्मरण होता है और पीछे उनसे अर्थबोध होता है। जिन लोगोंको संस्कृत शब्द ज्ञात नही है, उन्हें प्रकरण, अर्थाध्याहार आदिके द्वारा लक्षणासे अर्थबोध होता है। जैसे कि बालक 'अम्मा अम्मा' आदि रूपसे अस्पष्ट उच्चारण करता है, पर सुननेवालोंको तद्वाचक मूल 'अम्ब' शब्दका स्मरण होकर ही अर्थ प्रतीति होती है, उसी तरह प्राकृत आदि शब्दोसे भी संस्कृत शब्दोका स्मरण करके ही अर्थबोध होता है। तात्पर्य यह कि कहींपर साधु शब्दोके स्मरणके द्वारा, कही वाचकशक्तिके भ्रमसे, कही प्रकरण और अविनाभावी अर्थका ज्ञान आदि निमित्तसे होनेवाली लक्षणासे अर्थ-बोधका निर्वाह हो जाता है। इस तरह एक विचित्र साम्प्रदायिक भावनाके वश होकर शब्दोंमें साधुत्व और असाधुत्वकी जाति कायम की गई है!

उत्तर पक्ष :

[1]किन्तु जब अन्वय और व्यतिरेक द्वारा संस्कृत शब्दोंकी तरह प्राकृत और और अपभ्रंश शब्दोंसे स्वतन्त्रभावसे अर्थप्रतीति और लोकव्यवहार देखा जाता है, तब केवल संस्कृत शब्दोको साधु और वाचकशक्तिवाला बताना पक्षमोहका ही परिणाम है। जिन[2] लोगोने संस्कृत शब्दोको स्वप्नमें भी नही सुना है, वे निर्बाध रूपसे प्राकृत आदि भाषा-शब्दोसे ही सीधा व्यवहार करते है। अत. उनमें वाचक-शक्ति स्वसिद्ध ही माननी चाहिये। जिनकी वाचकशक्तिका उन्हें भान ही नही है उन शब्दोका स्मरण मानकर अर्थबोधकी बात करना व्यवहारविरुद्ध तो है ही, कल्पनासंगत भी नही है। प्रमाद और अशक्तिसे प्राकृत शब्दोका उच्चारण उन लोगोका तो माना जा सकता है जो संस्कृत शब्दोको धर्म मानते है, पर जिन असंख्य व्यवहारी लोगोकी भाषा ही प्राकृत और अपभ्रंशरूप लोकभाषा है और यावज्जीवन वे उसीसे अपनी लोकयात्रा चलाते हैं, उनके लिए प्रमाद और अशक्तिसे

---

१ देखो, न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७६० ।

२. 'म्लेच्छादीना साधुशब्दपरिज्ञानाभावात् कथं तद्विषया स्मृति ? तदभावे न गोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्।'—तत्त्वोप० पृ० १२४ ।

भाषाव्यवहारकी कल्पना अनुभवविरुद्ध है। बल्कि[1] कहीं-कहीं तो जब बालकोंको संस्कृत पढाई जाती है तब 'वृक्ष, अग्नि' आदि संस्कृत शब्दोंका अर्थबोध, 'रूख' 'आगी' आदि अपभ्रंश शब्दोंसे ही कराया जाता है।

अनादिप्रयोग, विशिष्टपुरुषप्रणीतता, बाधारहितता, विशिष्टार्थवाचकता और प्रमाणान्तरसंवाद आदि धर्म संस्कृतकी तरह प्राकृतादि शब्दोंमें भी पाये जाते हैं।

यदि संस्कृत शब्दके उच्चारणसे ही धर्म होता हो, तो अन्य व्रत, उपवास आदि धर्मानुष्ठान व्यर्थ हो जाते हैं।

'प्राकृत' शब्द स्वयं अपनी स्वाभाविकता और सर्वव्यवहार-मूलकताको कह रहा है। संस्कृतका अर्थ है संस्कार किया हुआ और प्राकृतका अर्थ है स्वाभाविक। किसी विद्यमान वस्तुमें कोई विशेषता लाना ही संस्कार कहलाता है और वह इस अर्थमें कृत्रिम ही है।

"प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं तत आगतं प्राकृतम्" प्राकृतकी यह [2]व्युत्पत्ति व्याकरणकी दृष्टिसे है। पहले संस्कृतके व्याकरण बने हैं और पीछे प्राकृतके व्याकरण। अतः व्याकरण-रचनामें संस्कृत-शब्दोंको प्रकृति मानकर, वर्ण-विकार वर्णागम आदिसे प्राकृत और अपभ्रंशके व्याकरणकी रचनाएँ हुई हैं। किन्तु प्रयोगकी दृष्टिसे तो [3]प्राकृत शब्द ही स्वाभाविक और जन्मसिद्ध हैं। जैसे कि मेघका जल स्वभावतः एकरूप होकर भी नीम, गन्ना आदि विशेष आधारोंमें संस्कारको पाकर अनेकरूपमें परिणत हो जाता है, उसी तरह स्वाभाविक सबकी बोली प्राकृत भाषा पाणिनि आदिके व्याकरणोंसे संस्कारको पाकर उत्तरकालमें संस्कृत आदि नामोंको पा लेती है। पर इतने मात्रसे वह अपने मूलभूत प्राकृत शब्दोंकी अर्थबोधक शक्तिको नहीं छीन सकती।

---

१. 'विपर्ययदर्शनाच्च ·'—वादन्यायटी० पृ० १०५।

२ देखो, हेम० प्र०, प्राकृतसर्व०, प्राकृतच०, वाग्भटा० टी० २।२।
नाट्यशा० १७।२। त्रि० प्रा० पृ० १। प्राकृतस०।

३ 'प्राकृतेति—सकलजगज्जन्तूना व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणसिद्धदेवाणं अद्धमग्गहा वाणी इत्यादि-वचनाद्वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतम्, बालमहिलादिसकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदितशब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।' —काव्या० रुद्र० नमि० २।१२।

अर्थबोधके लिए संकेत ही मुख्य आधार है। 'जिस शब्दका, जिस अर्थमें, जिन लोगोंने सकेत ग्रहण कर लिया है, उन शब्दोंसे उन लोगोको उस अर्थका बोध हो जाता है' यह एक साधारण नियम है। यदि ऐसा न होता तो संसारमें देशभेदसे सैकडो प्रकारकी भाषाएँ न बनती। एक ही पुस्तकरूप अर्थका 'ग्रन्थ, किताब, पोथी' आदि अनेक देशीय शब्दोके वाचकव्यवहारमें जब कोई बाधा या असंगति नही आई, तब केवल संस्कृत-शब्दमें ही वाचकशक्ति माननेका दुराग्रह और उसीके उच्चारणसे धर्म माननेकी कल्पना तथा स्त्री और शूद्रोंको सस्कृत शब्दोके उच्चारणका निषेध आदि वर्ग-स्वार्थकी भीषण प्रवृत्तिके ही दुष्परिणाम है। धर्म और अधर्मके साधन किसी जाति और वर्गके लिए जुदे नही होते। जो ब्राह्मण यज्ञ आदिके समय सस्कृत शब्दोका उच्चारण करते है, वे ही व्यवहार-कालमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दोसे ही अपना समस्त जीवन-व्यवहार चलाते हैं। बल्कि हिसाब लगाया जाय तो चौबीस घंटोमें संस्कृत शब्दोका व्यवहार पाँच प्रतिशतसे अधिक नही होता होगा। व्याकरणके बन्धनोमें भाषाको बाँधकर उसे परिष्कृत और सस्कृत बनानेमें हमें कोई आपत्ति नही है। और इस तरह वह कुछ विशिष्ट वाग्-विलासियोकी ज्ञान और विनोदकी सामग्री भले ही हो जाय, पर इससे शब्दोंकी सर्वसाधारण वाचकशक्तिरूप सम्पत्तिपर एकाधिकार नही किया जा सकता। 'संकेतके अनुसार संस्कृत भी अपने क्षेत्रमें वाचकशक्तिकी अधिकारिणी हो, और शेष भाषाएँ भी अपने-अपने क्षेत्रमें संकेताधीन वाचकशक्तिकी समान अधिकारिणी रहें' यही एक तर्कसंगत और व्यवहारी मार्ग है।

शब्दकी साधुताका नियामक है 'अवितथ-सत्य अर्थका बोधक होना' न कि उसका सस्कृत होना। जिस प्रकार सस्कृत शब्द यदि अवितथ-सत्य अर्थका बोधक होनेसे साधु हो सकता है, तो उसी तरह प्राकृत और अपभ्रंश भाषाएँ भी सत्यार्थ-का प्रतिपादन करनेसे साधु बन सकती हैं।

जैन परम्परा जन्मगत जातिभेद और तन्मूलक विशेष अधिकारोको स्वीकार नही करती। इसीलिए वह वस्तुविचारके समय इन वर्गस्वार्थ और पक्षमोहके रंगीन चश्मोको दृष्टिपर नही चढने देती और इसीलिए अन्य क्षेत्रोकी तरह भाषाके क्षेत्रमें भी उसने अपनी निर्मल दृष्टिसे अनुभवमूलक सत्य-पद्धतिको ही अपनाया है।

शब्दोच्चारणके लिए जिह्वा, तालु और कंठ आदिकी शक्ति और पूर्णता अपेक्षित होती है और सुननेके लिए श्रोत्र-इन्द्रियका परिपूर्ण होना। ये दोनो इन्द्रियाँ जिस व्यक्तिके भी होगी, वह बिना किसी जातिभेदके सभी शब्दोका

उच्चारण कर सकता है और सुन सकता है और जिन्हे जिन-जिन शब्दोका संकेत गृहीत है उन्हे उन-उन शब्दोंको सुनकर अर्थबोध भी बराबर होता है। 'स्त्री और शूद्र संस्कृत न पढे तथा द्विज ही पढें' इस प्रकारके विधि-निषेध केवल वर्गस्वार्थ-की भित्तिपर आधारित है। वस्तुस्वरूपके विचारमें इनका कोई उपयोग नही है, बल्कि ये वस्तुस्वरूपको विकृत ही कर देते है।

उपसंहार :

इस तरह परोक्ष-प्रमाणके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाँच भेद होते हैं। इनमें 'अविशद ज्ञान' यह सामान्य लक्षण समानरूपसे पाया जाता है। अत· एक लक्षणसे लक्षित होनेके कारण ये सब परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भूत है, भले ही इनकी अवान्तरसामग्री जुदा-जुदा हो। रह जाती है अमुक ग्रन्थको प्रमाण मानने और न माननेकी बात, सो उसका आधार अविसंवाद ही हो सकता है। जिन वचनो या जिनके वचनोमें अविसवाद पाया जाय, वे प्रमाण होते है और विसवादी वचन अप्रमाण। यह विवेक समग्र ग्रन्थके भिन्न-भिन्न अंशोंके सम्बन्धमे भी किया जा सकता है। इसमें सावधानी इतनी ही रखनी है कि अविसंवादित्वकी जाँचमें हमें भ्रम न हो। उसका अन्तिम निष्कर्ष केवल वर्तमान-कालीन सीमित साधनोसे ही नही निकाला जाना चाहिये, किन्तु त्रैकालिक कार्य-कारणभावकी सुनिश्चित पद्धतिसे ही उसकी जाँच होनी चाहिये। इस खरी कसौटीपर जो वाक्य अपनी यथार्थता और सत्यार्थताको साबित कर सकें वे प्रमाणसिद्ध है और शेष अप्रमाण। यही बात आप्तके सम्बन्धमें है। 'यो यत्र.वञ्चक. स तत्र आप्त' अर्थात् जो जिस अशमे अवचक—अविसवादी है वह उस अशमे आप्त है। इस सामान्य सूत्रके अनुसार लोकव्यवहार और आगमिक परम्परा दोनोमें आप्तका निर्णय किया जा सकता है और आगमप्रमाण की सीमा लोक और शास्त्र दोनो तक विस्तृत की जा सकती है। यही जैन परम्पराने किया भी है।

ज्ञानके कारण :

अर्थ और आलोक ज्ञानके कारण नही :

ज्ञानके कारणोका विचार करते समय जैनतार्किकोको यह दृष्टि रही है कि ज्ञानकी कारणसामग्रीमें ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमें लानेके लिए या उसे लब्धि अवस्थासे व्यापार करनेकी ओर प्रवृत्त करनेमे जो अनिवार्य साधकतम हो उन्हीको शामिल करना चाहिये। इसीलिए ज्ञानके व्यापारमें अन्तरग कारण उसकी शक्ति

अर्थात् क्षयोपशमविशेषरूप योग्यता ही मानी गई है। इसके बिना ज्ञानकी प्रकटता नही हो सकती, वह उपयोगरूप नही बन सकता। बाह्य कारण इन्द्रिय और मन है, जिनके होनेपर ज्ञानकी योग्यता पदार्थोंके जाननेका व्यापार करती है। भिन्न-भिन्न इन्द्रियोके व्यापारसे ज्ञानकी शक्ति उन-उन इन्द्रियोंके विषयोको जानती है। इन्द्रियव्यापारके समय मनके व्यापारका होना नितान्त आवश्यक है। इसीलिए इन्द्रियप्रत्यक्षमें इन्द्रियोकी मुख्यता होनेपर भी मनको बलाधायक—बल देनेवाला स्वीकार किया गया है। मानसप्रत्यक्ष या मानसज्ञानमें केवल मनोव्यापार ही कार्य करता है। इन्द्रिय और मनका व्यापार होनेपर जो भी पदार्थ सामने होगा उसका ज्ञान हो ही जायगा। इन्द्रिय और मनके व्यापार नियमसे ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमें ला ही देते हैं, जब कि अर्थ और आलोक आदि कारणोमें यह सामर्थ्य नही है कि वे ज्ञानकी शक्तिको उपयोगमे ला ही दें। पदार्थ और प्रकाश आदिके रहनेपर भी सुषुप्त और मूच्छित आदि अवस्थाओमे ज्ञानकी शक्तिका बाह्य व्यापार नहीं होता। यदि इन्द्रिय और मनकी तरह अर्थ और आलोक आदिको भी ज्ञानका कारण स्वीकार कर लिया जाय, तो सुषुप्त अवस्था और ध्यानका होना असम्भव हो जाता है, क्योकि पदार्थ और प्रकाशका सान्निध्य जगत्में बना ही हुआ है। विग्रहगति (एक शरीरको छोडकर दूसरे शरीरको धारण करनेके लिए की जानेवाली मरणोत्तर गति) में इन्द्रिय और मनकी पूर्णता न होनेसे पदार्थ और प्रकाश आदिका सन्निधान होनेपर भी ज्ञानकी उपयोग अवस्था नही होती। अत. ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक यदि मिलता है तो इन्द्रिय और मनके साथ ही, अर्थ और आलोकके साथ नही। जिस प्रकार तेल, बत्ती, अग्नि आदि अपने कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला प्रकाश मिट्टी, कुम्हार आदि अपने कारणोंसे उत्पन्न हुए घडेको प्रकाशित करता है, उसी तरह कर्मक्षयोपशम और इन्द्रियादि कारणोसे उपयोग अवस्थामें आया हुआ ज्ञान अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न होनेवाले जगत्के पदार्थोको जानता है। जैसे दीपक न तो घटसे उत्पन्न हुआ है और न घटके आकार ही है, फिर भी वह घटका प्रकाशक है; उसी तरह ज्ञान घटादि पदार्थोसे उत्पन्न न होकर और उनके आकार न होकर भी उन पदार्थोको जाननेवाला होता है।

बौद्धोंके चार प्रत्यय और तदुत्पत्ति आदि :

बौद्ध चित्त और चैत्तोकी उत्पत्तिमें चार प्रत्यय मानते[1] है—
(१) समनन्तर प्रत्यय, (२) अधिपति प्रत्यय, (३) आलम्बन प्रत्यय और

१ 'चत्वार प्रत्यया हेतुश्चालम्बनमनन्तरम् ।
तथैवाधिपतेय च प्रत्ययो नास्ति पञ्चम ॥'—माध्यमिककारिका १।२ ।

(४) सहकारी प्रत्यय। प्रत्येक ज्ञानकी उत्पत्तिमे अनन्तर पूर्वज्ञान समनन्तर प्रत्यय होता है, अर्थात् पूर्व ज्ञानक्षण उत्तर ज्ञानक्षणको उत्पन्न करता है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिपति प्रत्यय होती हैं, क्योकि अनेक कारणोसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानकी मालिकी इन्द्रियाँ ही करती है यानी चाक्षुषज्ञान, श्रावणज्ञान आदि व्यवहार इन्द्रियोके स्वामित्वके कारण ही इन्द्रियोसे होते हैं। जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह पदार्थ आलम्बन प्रत्यय होता है। अन्य प्रकाश आदि कारण सहकारी प्रत्यय कहे जाते हैं।

सौत्रान्तिक बौद्धोका यह सिद्धान्त[१] है कि जो ज्ञानका कारण नही होता वह ज्ञानका विषय नही हो सकता।

नैयायिक आदि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करते है। अत. इनके मतसे भी सन्निकर्षके घटक रूपमें पदार्थ ज्ञानका कारण हो जाता है।

बौद्ध-मतमें सभी पदार्थ क्षणिक है। जब उनसे पूछा गया कि 'ज्ञान पदार्थ और इन्द्रियोसे उत्पन्न होकर भी केवल पदार्थको ही क्यो जानता हैं, इन्द्रियोको क्यो नही जानता ?' तब उन्होने अर्थजन्यताके साथ-ही-साथ ज्ञानमें अर्थाकारताको भी स्थान दिया यानी जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है और जिसके आकार होता है वह उसीको जानता है। 'द्वितीयज्ञान प्रथमज्ञानसे उत्पन्न भी होता है, उसके आकार भी रहता है अर्थात् जो आकार प्रथमज्ञानमें है वही आकार द्वितीयज्ञानमें भी होता है, फिर द्वितीयज्ञान प्रथमज्ञानको नही जानता ?' इस प्रश्नके समाधानके लिये उन्हे तदध्यवसाय भी मानना पडा अर्थात् जो ज्ञान जिससे उत्पन्न हो, जिसके आकार हो और जिसका अध्यवसाय (अनुकूल विकल्पको उत्पन्न करना) करे, वह उस पदार्थको जानता है। चूँकि नीलज्ञान 'नीलमिदम्' ऐसे विकल्पको उत्पन्न करता है, 'पूर्वज्ञानमिदम्' इस विकल्पको नही, अत. वह नीलको ही जानता है, पूर्वज्ञानको नही। इस तरह उन्होने तदुत्पत्ति, तादूरूप्य और तदध्यवसायको ज्ञानका विषयनियामक स्वीकार किया है। 'प्रथमक्षणवर्ती पदार्थ जब ज्ञानको उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है, तब वह ग्राह्य कैसे हो सकता है ?' इस प्रश्नका[२] समाधान तदाकारतासे किया गया अर्थात् पदार्थ अगले क्षणमें भले ही नष्ट हो जाय, परन्तु वह अपना आकार ज्ञानमें दे जाता है, इसीलिए ज्ञान उस अर्थको जानता है।

---

१ 'नाकारण विषय ।'—उद्धृत बोधिचर्या० पृ० ३९८।

२ 'भिन्नकालं कथ ग्राह्यमिति चेद् ग्राह्यता विदु ।
हेतुत्वमेव युक्तिज्ञा ज्ञानाकारार्पणक्षमम् ॥' —प्रमाणवा० २।२४७।

अर्थ कारण नही :

जैन दार्शनिकोमे सर्वप्रथम अकलंकदेवने उक्त विचारोंकी आलोचना करते हुए ज्ञानके प्रति मन[1] और इन्द्रियकी कारणताका सिद्धान्त स्थिर किया है, जो कि परम्परागत जैनमान्यता[2] का दिग्दर्शन मात्र है। वे अर्थ और आलोककी कारणताका अपनी अन्तरङ्ग सूक्ष्म दृष्टिसे निरास करते हैं कि ज्ञान[3] अर्थका कार्य नही हो सकता, क्योंकि ज्ञान तो मात्र इतना ही जानता है कि 'यह अमुक अर्थ है।' वह यह नही जानता कि 'मैं इस अर्थसे उत्पन्न हुआ हूँ।' यदि ज्ञान स्वय यह जानता होता तो विवादकी गुञ्जाइश ही नही थी। इन्द्रियादिसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अर्थके परिच्छेदमें व्यापार करता है और अपने उत्पादक इन्द्रियादि कारणोकी सूचना भी करता है। ज्ञानका अर्थके साथ जब निश्चित अन्वय और व्यतिरेक नही हैं, तब उसके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव स्थिर नही किया जा सकता। संशय और विपर्यय ज्ञान अपने विषयभूत पदार्थोंके अभावमें भी इन्द्रियदोष आदिसे उत्पन्न होते है। पदार्थोंके बने रहने पर भी इन्द्रिय और मनका व्यापार न होनेपर सुषुप्त मूर्च्छित आदि अवस्थाओमें ज्ञान नही होता। यदि मिथ्याज्ञानमें इन्द्रियोकी दुष्टता हेतु है तो सम्यग्ज्ञानमें इन्द्रियोकी निर्दोषताको ही कारण होना चाहिये।

[4]अन्य कारणोंसे उत्पन्न बुद्धिके द्वारा सन्निकर्षका निश्चय होता है। सन्निकर्षमें प्रविष्ट अर्थके साथ ज्ञानका कार्यकारणभाव तब निश्चित हो सकेगा, जब सन्निकर्ष, आत्मा, मन और इन्द्रिय आदि किसी एक ज्ञानके विषय हों। परन्तु आत्मा, मन और इन्द्रियाँ तो अतीन्द्रिय हैं। अत पदार्थके साथ होनेवाला इनका सन्निकर्ष भी स्वभावत अतीन्द्रिय ही होगा। और इस तरह जब वह विद्यमान रहते हुए भी अप्रत्यक्ष हैं, तब उसकी ज्ञानकी उत्पत्तिमें कारणता कैसे मानी जाय ?

ज्ञान अर्थको तो जानता है, पर अर्थमें रहनेवाली ज्ञानकारणताको नही जानता। जब ज्ञान अतीत और अनागत पदार्थोको, जो कि ज्ञानकालमें अविद्यमान हैं, जानता है तब अर्थकी ज्ञानके प्रति कारणता अपने आप निस्सार सिद्ध हो जाती है। कामलादिरोगवालेको सफेद शंखमें अविद्यमान पीलेपनका ज्ञान होता है और

---

१. 'तत सुभाषितम्—इन्द्रियमनसी कारणं विज्ञानस्य अर्थो विषय·।'
—लघी० स्व० श्लो० ५४

२ 'तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम्।' —त० सू० १।१४।

३ लघी० श्लो० ५३।

४ लघी० स्व० श्लो० ५५।

मरणोन्मुख व्यक्तिको पदार्थके रहने पर भी उसका ज्ञान नही होता या विपरीत ज्ञान होता है।

क्षणिक पदार्थ तो ज्ञानके प्रति कारण भी नही हो सकते, क्योकि जब वह क्षणिक होनेसे कार्यकाल तक नही पहुँचता तब उसे कारण कैसे कहा जाय? अर्थके होनेपर भी उसके कालमे ज्ञान उत्पन्न नही होता तथा अर्थके अभावमे ही ज्ञान उत्पन्न होता है, तब ज्ञान अर्थका कार्य कैसे माना जा सकता है? कार्य और कारण समानकालमे तो नही रह सकते।

ज्ञान[1] अमूर्त्त है, अत. वह मूर्त्त अर्थके प्रतिबिम्बको भी धारण नही कर सकता। मूर्त्त दर्पण आदिमें ही मूर्त्त मुख आदिका प्रतिबिम्ब आता है, अमूर्त्तमें मूर्त्तका नही।

यदि पदार्थसे उत्पन्न होनेके कारण ज्ञानमे विषयप्रतिनियम हो, तो घटज्ञानको घटकी तरह कारणभूत इन्द्रिय आदिको भी विषय करना चाहिए। तदाकारतासे विषयप्रतिनियम मानने पर एक घटका ज्ञान होनेसे उस आकारवाले यावत् घटोका परिज्ञान हो जाना चाहिये। यदि तदुत्पत्ति और तदाकारता मिलकर नियामक है, तो द्वितीय घटज्ञानको प्रथम घटज्ञानका नियामक होना चाहिये, क्योकि प्रथम घटज्ञानसे वह उत्पन्न हुआ है और जैसा प्रथम घटज्ञानका आकार है वैसा ही आकार उसमे होता है। तदध्यवसायसे भी वस्तुका प्रतिनियम नही होता, क्योकि शुक्ल शंखमे होनेवाले पीताकार ज्ञानसे उत्पन्न द्वितीय ज्ञानमें अनुकूल अध्यवसाय तो देखा जाता है पर नियामकता नही है।

अत. अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न ज्ञान और अर्थमें दीपक और घटके प्रकाश्य-प्रकाशकभावकी तरह ज्ञेय-ज्ञायकभाव मानना ही उचित है। जैसे देवदत्त और काठ अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न होकर भी छेदन क्रियाके कर्त्ता और कर्म बन जाते है उसी तरह अपने-अपने कारणोसे उत्पन्न ज्ञेय और ज्ञानसे भी ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव हो जाता है[2]। जिस प्रकार खदानसे निकली हुई मलिन मणि अनेक शाण आदि कारणोसे न्यूनाधिकरूपमे निर्मल और स्वच्छ होती है उसी तरह कर्ममुक्त मलिन आत्माका ज्ञान भी अपनी विशुद्धिके अनुसार तरतमरूपसे प्रकाशमान होता है और अपनी क्षयोपशमरूप योग्यताके अनुसार पदार्थोंको जानता है। अत. अर्थको ज्ञानमें साधकतम कारण नही माना जा सकता। पदार्थ तो जगत्में विद्यमान है ही, जो सामने आ गया उसे मात्र इन्द्रिय और मन के व्यापारसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान जानेगा ही।

---

१. लघी० स्व० श्लो० ५८।

२. 'स्वहेतुजनितोऽप्यर्थः परिच्छेद्य स्वतो यथा।
तथा ज्ञानं स्वहेतूत्थं परिच्छेदात्मकं स्वत ॥'—लघी० स्व० श्लो० ५९।

आधुनिक विज्ञान मस्तिष्कमें प्रत्येक विचारकी प्रतिनिधिभूत जिन सीधी-टेढी रेखाओका अस्तित्व स्वीकार करते है वे रेखाएँ पदार्थाकारताका प्रतिनिधित्व नही करती, किन्तु वे परिपक्व अनुभवके संस्कारोकी प्रतिनिधि है। यही कारण है कि यथाकाल उन सस्कारोंके उद्‌बोध होने पर स्मृति आदि उत्पन्न होते है। अत अन्तरङ्ग और साधकतम दृष्टिसे इन्द्रिय और मन ही ज्ञानके कारणोमें गिनाये जानेके योग्य है, अर्थादि नही।

आलोक भी ज्ञानका कारण नहीं :

इसी तरह [1]आलोक ज्ञानका विषय तो होता है, कारण नही। जो जिस ज्ञानका विषय होता है वह उस ज्ञानका कारण नही होता, जैसे कि अन्धकार। आलोकका ज्ञानके साथ अन्वय और व्यतिरेक भी नही है। आलोकके अभावमें अन्धकारका ज्ञान होता है। रात्रिचर उल्लू आदिको आलोकके अभावमें ही ज्ञान होता है, सद्भावमें नही। रात्रिमें अन्धकार तो दिखता है, पर उससे आवृत अन्य पदार्थ नही। अन्धकारको ज्ञानका आवरण भी नही मान सकते, क्योंकि वह ज्ञानका विषय होता है। ज्ञानका आवरण तो ज्ञानावरण कर्म ही हो सकता है। इसीके क्षयोपशमकी तरतमतासे ज्ञानके विकासमे तारतम्य होता है। यह एक साधारण नियम है कि जो जिस ज्ञानका विषय होता है वह उस ज्ञानका कारण नही होता, जैसे कि अन्धकार। अत आलोकके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यति-रेक न होनेसे आलोक भी ज्ञानका कारण नही हो सकता।

विषयकी दृष्टिसे ज्ञानोका विभाजन और नामकरण भी नही किया जाता। ज्ञानोका विभाजन और नामकरण तो इन्द्रिय और मन रूप कारणोसे उत्पन्न होने-की वजहसे चाक्षुष, रासन, स्पार्शन, घ्राणज, श्रोत्रज और मनोजन्य--मानसके रूपमें मानना ही उचित और युक्तिसगत है। पदार्थोंकी दृष्टिसे ज्ञानका विभाजन और नामकरण न संभव है और न शक्य ही। इसलिए भी अर्थ आदिको ज्ञानमें कारण मानना उचित नही जँचता।

प्रमाणका फल :

जैन दर्शनमे जब प्रमाके साधकतमरूपमें ज्ञानको ही प्रमाण माना है, तब यह स्वभावत. फलित होता है कि उस ज्ञानसे होने वाला परिणमन ही फलका स्थान पावे। ज्ञान दो कार्य करता है—अज्ञानकी निवृत्ति और स्व-परका व्यवसाय। ज्ञानका आध्यात्मिक फल मोक्षकी प्राप्ति है, जो तार्किक क्षेत्रमें विवक्षित नही है। वह तो अध्यात्मज्ञानका ही परम्परा फल है। प्रमाणसे साक्षात् अज्ञानकी निवृत्ति

१. देखो, लघी० श्लो० ५६।

होती है। जैसे प्रकाश अन्धकारको हटाकर पदार्थोको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान अज्ञानको हटाकर पदार्थोंका बोध कराता है। अज्ञानकी निवृत्ति और पदार्थोंका ज्ञान ये दो पृथक् चीजें नही है और न इनमें काल-भेद ही है, ये तो एक ही सिक्केके दो पहलू है। पदार्थबोधके बाद होनेवाला हान—हेयका त्याग, उपादान और उपेक्षाबुद्धि प्रमाणके परम्परा फल है। मति आदि ज्ञानोमें हान, उपादान और उपेक्षा तीनो बुद्धियाँ फल होती है, पर केवलज्ञान[1]का फल केवल उपेक्षाबुद्धि ही है। राग और द्वेषमें चित्तका प्रणिधान नही होना, उपेक्षा कहलाती है। चूँकि केवलज्ञानी वीतरागी है, अत उनके रागद्वेषमूलक हान और उपादान बुद्धि नही हो सकती।

जैन परम्परामें ज्ञान आत्माका अभिन्न गुण है। इसी ज्ञानकी पूर्व अवस्था प्रमाण कहलाती है और उत्तर अवस्था फल। जो ज्ञानधारा अनेक ज्ञानक्षणोंमें व्याप्त रहती है, उस ज्ञानधाराका पूर्वक्षण साधकतम होनेसे प्रमाण होता है और उत्तरक्षण साध्य होनेसे फल। 'अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा और हानादिबुद्धि' इस धारामें अवग्रह केवल प्रमाण ही है और हानादिबुद्धि केवल फल ही, परन्तु ईहासे धारणा पर्यन्त ज्ञान पूर्वकी अपेक्षा फल होकर भी अपने उत्तरकार्यकी अपेक्षा प्रमाण भी हो जाते है।[2] एक ही आत्माका ज्ञानव्यापार जब ज्ञेयोन्मुख होता है तब वह प्रमाण कहा जाता है और जब उसके द्वारा अज्ञाननिवृत्ति या अर्थप्रकाश होता है तब वह फल कहलाता है।

[3]नैयायिक, वैशेषिक, मीमासक और साख्य आदि इन्द्रियको प्रमाण मानकर इन्द्रियव्यापार, सन्निकर्ष, आलोचनाज्ञान, विशेषणज्ञान, विशेष्यज्ञान, हान, उपादान आदि बुद्धि तककी धारामें इन्द्रियको प्रमाण ही मानते है और हानोपादान आदि बुद्धिको फल ही। बीचके इन्द्रियव्यापार और सन्निकर्ष आदिको पूर्व पूर्वकी अपेक्षा फल और उत्तर उत्तरकी अपेक्षा प्रमाण स्वीकार करते है। प्रश्न इतना ही है कि जब प्रमाणका कार्य अज्ञानकी निवृत्ति करना है तब उस कार्यके लिए इन्द्रिय, इन्द्रिय-व्यापार और सन्निकर्ष, जो कि अचेतन है, कैसे उपयुक्त हो सकते है। चेतन प्रमामें साधकतम तो ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान नही। अत सविकल्पक ज्ञानसे ही

---

१. 'उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥'—आप्तमी० श्लो० १०२।

२. पूर्वपूर्वप्रमाणत्वे फल स्यादुत्तरोत्तरम्।'—लघी० श्लो० ७।

३. देखो, न्यायभा० १।१।३। प्रश० कन्दली पृ० १९८-९९।
मी० श्लो० प्रत्यक्ष० श्लो० ५९-७३। साख्यतत्त्वकौ० श्लो० ४।

प्रमाणव्यवहार प्रारम्भ होना चाहिये, न कि इन्द्रियसे। अन्धकारनिवृत्तिके लिए अन्धकारविरोधी प्रकाश ही ढूंढा जाता है न कि तदविरोधी घट, पट, आदि पदार्थ। इन्ही परम्पराओंको उपनिषदोंमें यद्यपि तत्त्वज्ञानका चरम फल नि.श्रेयस भी बताया गया है, परन्तु तर्कयुगमें उसकी प्रमुखता नही रही।

बौद्ध[1] परम्पराकी सौत्रान्तिक शाखामें बाह्य अर्थका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, इसलिए वे ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्यको प्रमाण मानते हैं और विषयके अधिगमको प्रमाणका फल। ये सारूप्य और अधिगम दोनो ज्ञानके ही धर्म हैं। एक ही ज्ञान जिस क्षणमें व्यवस्थापनहेतु होनेसे प्रमाण कहलाता है वही उसी क्षणमें व्यवस्थाप्य होनेसे फल नाम पा जाता है। यद्यपि ज्ञान निरंश है, अत उसमें उक्त दो अंश पृथक् नही होते, फिर भी अन्यव्यावृत्तिकी अपेक्षा (असारूप्यव्यावृत्तिसे सारूप्य, और अनधिगमव्यावृत्तिसे अधिगम) दो व्यवहार हो जाते हैं। विज्ञानवादी बौद्धोंके मतमें बाह्य अर्थका अस्तित्व न होनेसे ज्ञानगत योग्यता ही प्रमाण मानी जाती है और स्वसंवेदन फल। एक ही ज्ञानकी सव्यापार प्रतीति होनेसे उसीमें प्रमाण और फल ये दो पृथक् व्यवहार व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापकका भेद मानकर कर लिये जाते हैं। वस्तुत. ज्ञान तो निरंश हैं, उसमें उक्त भेद है ही नही।

प्रमाण और फलका भेदाभेद :

जैन परम्परामें चूंकि एक ही आत्मा प्रमाण और फल दोनो रूपसे परिणति करता है, अत. प्रमाण और फल अभिन्न माने गये हैं, तथा कार्य और कारणरूपसे क्षणभेद और पर्यायभेद होनेके कारण वे भिन्न हैं। बौद्धपरम्परामें आत्माका अस्तित्व न होनेसे एक ही ज्ञानक्षणमें व्यावृत्तिभेदसे भेदव्यवहार होनेपर भी वस्तुत. प्रमाण और फलमें अभेद ही माना जा सकता है। नैयायिक आदि इन्द्रिय और सन्निकर्षको प्रमाण माननेके कारण फलभूत ज्ञानको प्रमाणसे भिन्न ही मानते हैं। इस भेदाभेद-विषयक चर्चामें जैन परम्पराने अनेकान्तदृष्टिका ही उपयोग किया है और द्रव्य तथा पर्याय दोनोको सामने रखकर प्रमाणफलभाव घटाया है। आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेनने अज्ञाननिवृत्ति, हान, उपादान और उपेक्षाबुद्धिको ही प्रमाणका फल बताया और अकलंकदेवने पूर्व-पूर्व ज्ञानोको प्रमाण और उत्तर-उत्तर ज्ञानोको फल कहकर एक ही ज्ञानमें अपेक्षाभेदसे प्रमाणरूपता और फलरूपताका भी समर्थन किया है।

---

१. "विषयाधिगतिश्चात्र प्रमाणफलमिष्यते।
स्ववित्तिर्वा प्रमाणं तु सारूप्यं योग्यतापि वा॥"—तत्त्वसं० का० १३४४।

बौद्धोके मतमे प्रमाण-फलव्यवहार, व्यवस्थाप्य-व्यवस्थापक दृष्टिसे है, जबकि नैयायिक आदिके मतमे यह व्यवहार कार्यकारण-भाव-निमित्तक है और जैन परम्परामें इस व्यवहारका आधार परिणामपरिणामीभाव है। पूर्वज्ञान स्वय उत्तर-ज्ञान रूपसे परिणत होकर फल बन जाता है। एक आत्मद्रव्यकी ही ज्ञान पर्यायोमें यह प्रमाणफलभावकी व्यवस्था अपेक्षाभेदसे सम्भव होती है।

यदि प्रमाण और फलका सर्वथा अभेद माना जाता है तो उनमें एक व्यवस्थाप्य और दूसरा व्यवस्थापक, एक प्रमाण और दूसरा फल यह भेदव्यवहार नही हो सकता। सर्वथा भेद मानने पर आत्मान्तरके प्रमाणके साथ आत्मान्तरके फलमें भी प्रमाण-फल व्यवहार नही हो सकेगा। अचेतन इन्द्रियादिके साथ चेतन ज्ञानमे प्रमाणफल व्यवहार तो प्रतीतिविरुद्ध है। जिसे[1] प्रमाण उत्पन्न होता है, उसीका अज्ञान हटता है, वही अहितको छोडता है, हितका उपादान करता है और उपेक्षा करता है। इस तरह एक अनुस्यूत आत्माकी दृष्टिसे ही प्रमाण और फलमें कथञ्चित् अभेद कहा जा सकता है। आत्मा प्रमाता है, उसका अर्थपरिच्छित्तिमे साधकतम रूपसे व्याप्रियमाण स्वरूप प्रमाण है, तथा व्यापार प्रमिति है। इस प्रकार पर्यायकी दृष्टिसे उनमें भेद है।

प्रमाणाभास :

ऊपर जिन प्रमाणोकी चर्चा की गई है, उनके लक्षण जिसमें न पाये जाँय, पर जो उनकी तरह प्रतिभासित हो वे सब प्रमाणाभास है। यद्यपि उक्त विवेचनसे पता लग जाता है कि कौन-कौन प्रमाणाभास है, फिर भी इस प्रकरणमें उनका स्पष्ट और संयुक्तिक विवेचन करना अपेक्षित है।

[2]अस्वसवेदी ज्ञान, निर्विकल्पक दर्शन, सशय, विपर्यय और अनध्यवसाय आदि प्रमाणाभास है, क्योकि इनके द्वारा प्रवृत्तिके विषयका यथार्थ उपदर्शन नही होता। जो अस्वसवेदी ज्ञान अपने स्वरूपको ही नही जानता वह पुरुषान्तरके ज्ञानकी तरह हमें अर्थबोध कैसे करा सकता है? निर्विकल्पक दर्शन सव्यवहारानुपयोगी होनेके कारण प्रमाणकी कक्षामें शामिल नही किया जाता। वस्तुतः जब ज्ञानको प्रमाण माना है तब प्रमाण और प्रमाणाभासकी चिन्ता भी ज्ञानके क्षेत्रमें ही की जानी चाहिये। बौद्धमतमे शब्दयोजनाके पहलेवाले ज्ञानको या शब्दसंसर्गकी योग्यता न रखनेवाले जिस ज्ञानको निर्विकल्पक दर्शन शब्दसे कहा है, उस संव्यवहारानुपयोगी

१. 'य. प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीते.।'
—परीक्षामुख ५।३।

२. 'अस्वसविदितगृहीतार्थदर्शनसशयादयः प्रमाणाभासाः।'
—परीक्षामुख ६।२।

दर्शनको ही प्रमाणाभास कहना यहाँ इष्ट है, क्योंकि संव्यवहारके लिए ही अर्थ-क्रियार्थी व्यक्ति प्रमाणकी चिन्ता करते हैं। धवलादि सिद्धान्त-ग्रन्थोंमें जिस निराकारदर्शनरूप आत्मदर्शनका विवेचन है, वह ज्ञानसे भिन्न, आत्माका एक पृथक् गुण है। अतः उसे प्रमाणाभास न कहकर प्रमाण और अप्रमाणके विचारसे बहिर्भूत ही रखना उचित है।

अविसवादी और सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहा है। यद्यपि आचार्य माणिक्य-नन्दिने प्रमाणके लक्षणमे अपूर्वार्थग्राही विशेपण दिया है और गृहीतग्राही ज्ञानको प्रमाणाभास भी घोपित किया है, पर उनके इस विचारसे विद्यानन्द आदि आचार्य सहमत नही हैं। अकलंकदेवने भी कही प्रमाणके लक्षणमें अनधिगतार्थग्राही पद दिया है, पर उन्होने इसे प्रमाणताका प्रयोजक नही माना। प्रमाणताके प्रयोजकके रूपमें तो उन्होने अविसंवादका ही वर्णन किया। अत. गृहीतग्राहित्व इतना बड़ा दोष नही कहा जा सकता, जिसके कारण वैसे ज्ञानको प्रमाणाभास-कोटिमें डाला जाय।

जब वस्तुके सामान्य धर्मका दर्शन होता है और विशेप धर्म नही दिखाई देते, किन्तु दो परस्पर-विरोधी विशेपोका स्मरण हो जाता है तब ज्ञान उन दो विशेप कोटियोमे दोलित होने लगता है। यह संशय ज्ञान अनिर्णयात्मक होनेसे प्रमाणाभास है। विपर्यय ज्ञानमे विपरीत एक कोटिका निश्चय होता है और अनध्यवसाय ज्ञानमें किसी भी एक कोटिका निश्चय नही हो पाता, इसलिये ये विसंवादी होनेके कारण प्रमाणाभास हैं।

सन्निकर्षादि प्रमाणाभास :

[1]चक्षु और रसका संयुक्तसमवायसम्बन्ध होनेपर भी चक्षुसे रसज्ञान नही होता और रूपके साथ चक्षुका सन्निकर्ष न होनेपर भी रूपज्ञान होता है। अत सन्निकर्षको प्रमाके प्रति साधकतम नही कहा जा सकता। फिर सन्निकर्ष अचेतन है, इसलिए भी चेतन प्रमाका वह साधकतम नही बन सकता। अत. सन्निकर्ष, कारकसाकल्य आदि प्रमाणाभास है। कारकसाकल्यमें चेतन और अचेतन सभी प्रकार की सामग्रीका समावेश किया जाता है। ये प्रमितिक्रियाके प्रति ज्ञानसे व्यवहित होकर यानी ज्ञानके द्वारा ही किसी तरह अपनी कारणता कायम रख सकते हैं, साक्षात् नही, अत ये सब प्रमाणाभास हैं। सन्निकर्ष आदि चूँकि अज्ञान रूप हैं; अत. वे मुख्यरूपसे प्रमाण नही हो सकते। रह जाती है उपचारसे प्रमाण कहनेकी

---

१. परीक्षामुख ६।५।

बात, सो सांव्यवहारिकके विचारमें उसका कोई मूल्य नहीं है। ज्ञान होकर भी जो संव्यवहारोपयोगी नहीं हैं या अकिञ्चित्कर हैं वे सब प्रमाणाभासकोटिमें शामिल हैं।

प्रत्यक्षाभास :

[1]अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष कहना प्रत्यक्षाभास है, जैसे कि प्रज्ञाकर गुप्त अकस्मात् धुआँको देखकर होनेवाले वह्निविज्ञानको प्रत्यक्ष कहते हैं। भले ही यहाँ पहलेसे व्याप्ति गृहीत न हो और तात्कालिक प्रतिभा आदिसे वह्निका प्रतिभास हो गया हो, किन्तु वह प्रतिभास धूमदर्शनकी तरह विशद तो नहीं है, अतः उस अविशद ज्ञानको प्रत्यक्ष-कोटिमें शामिल नहीं किया जा सकता। वह प्रत्यक्षाभास ही है।

परोक्षाभास :

[2]विशद ज्ञानको भी परोक्ष कहना परोक्षाभास है। जैसे मीमांसक करणज्ञानको अपने स्वरूपमें विशद होते हुए भी परोक्ष मानता है।

यह कहा जा चुका है कि अप्रत्यक्षज्ञानके द्वारा पुरुषान्तरके ज्ञानकी तरह अर्थोपलब्धि नहीं की जा सकती। अत: ज्ञानमात्रको चाहे वह सम्यग्ज्ञान हो या मिथ्याज्ञान, स्वसंवेदी मानना ही चाहिए। जो भी ज्ञान उत्पन्न होता है, वह स्वप्रकाश करता हुआ ही उत्पन्न होता है। ऐसा नहीं है कि घटादिकी तरह ज्ञान अज्ञात रहकर ही उत्पन्न हो जाय। अतः मीमांसकका उसे परोक्ष कहना परोक्षाभास है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास :

बादलोंमें गंधर्वनगरका ज्ञान और दु:खमें सुखका ज्ञान साव्यवहारिक प्रत्यक्षाभास है।

मुख्य प्रत्यक्षाभास :

इसी तरह अवधिज्ञानमें मिथ्यात्वके सम्पर्कसे विभंगावधिपना आता है। वह मुख्यप्रत्यक्षाभास कहा जायगा। मन:पर्यय और केवलज्ञान सम्यग्दृष्टिके ही होते हैं, अतः उनमें विपर्यासकी किसी भी तरह सम्भावना नहीं है।

स्मरणाभास :

अतत्में तत्का, या तत्में अतत्का स्मरण करना [3]स्मरणाभास है। जैसे जिनदत्तमें 'वह देवदत्त' ऐसा स्मरण स्मरणाभास है।

---

१. परीक्षामुख ६।६।
२. परीक्षामुख ६।७।
३. परीक्षामुख ६।८।

प्रत्यभिज्ञानाभास :

[1]सदृश पदार्थमें 'यह वही है' ऐसा ज्ञान तथा उसी पदार्थमें 'यह उस जैसा इस सहै प्रकारका ज्ञान प्रत्यभिज्ञानाभास है। जैसे सहजात देवदत्त और जिनदत्तमें भ्रमवश होनेवाला विपरीत प्रत्यभिज्ञान, या द्रव्यदृष्टिमें एक ही पदार्थमें बौद्धको होनेवाला सादृश्य प्रत्यभिज्ञान और पर्यायदृष्टिसे सदृश पदार्थमें नैयायिकादिको होनेवाला एकत्वज्ञान। ये सब प्रत्यभिज्ञानाभास है।

तर्काभास :

जिसमे अविनाभाव सम्बन्ध नही है, उनमे व्याप्तिज्ञान करना तर्काभास[2] है। जैसे—जितने मैत्रके पुत्र होगें वे सब श्याम होगे आदि। यहाँ मैत्रतनयत्व और श्यामत्वमें न तो सहभावनियम है और न क्रमभावनियम, क्योंकि श्यामताका कारण उस प्रकारके नामकर्मका उदय और गर्भावस्थामें माताके द्वारा शाक आदिका प्रचुर परिणाममें खाया जाना है।

अनुमानाभास :

पक्षाभास आदिसे उत्पन्न होनेवाले अनुमान अनुमानाभास[3] है। अनिष्ट, सिद्ध और बाधित पक्ष पक्षाभास है। मीमासकका 'शब्द अनित्य है' यह कहना अनिष्ट पक्षाभास है। कभी-कभी भ्रमवश या घबडाकर अनिष्ट भी पक्ष कर लिया जाता है। 'शब्द श्रवण इन्द्रियका विषय है' यह सिद्ध पक्षाभास है। शब्दके कानसे सुनाई देनेमें किसीको भी विवाद नही है, अत- उसे पक्ष बनाना निरर्थक है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, लोक और स्ववचनसे बाधित साध्यवाला पक्ष बाधित पक्षाभास है। जैसे—'अग्नि ठंडी है, क्योंकि वह द्रव्य है, जलकी तरह।' यहाँ अग्निका ठंडा होना प्रत्यक्षसे बाधित है। 'शब्द अपरिणामी है, क्योकि वह कृतक है, घटकी तरह।' यहाँ 'शब्द अपरिणामी है' यह पक्ष 'शब्द परिणामी है; क्योंकि वह अर्थक्रियाकारी है और कृतक है घटकी तरह' इस अनुमानसे बाधित है। 'परलोकमें धर्म दु.खदायक है, क्योकि वह पुरुपाश्रित है, जैसे—कि अधर्म।' यहाँ धर्मको दु.खदायक बताना आगमसे बाधित है। 'मनुष्यकी खोपडी पवित्र' है; क्योकि वह प्राणीका अग है, जैसे—कि शख और शुक्ति'। यहाँ मनुष्यकी खोपड़ीकी पवित्रता लोकबाधित है। लोकमें गौके शरीरसे उत्पन्न होनेपर भी दूध पवित्र माना जाता

१. परीक्षामुख ६।९।
२. परीक्षामुख ६।१०।
३. परीक्षामुख ६।११–२०।

है और गोमांस अपवित्र। इसी तरह अनेक प्रकारके लौकिक पवित्रापवित्र व्यवहार चलते हैं। 'मेरी माता वन्ध्या है, क्योंकि उसे पुरुषसंयोग होनेपर भी गर्भ नहीं रहता, जैसे—कि प्रसिद्ध वन्ध्या।' यहाँ मेरी माताका वन्ध्यापन स्ववचनबाधित है। यदि वन्ध्या है, तो मेरी माता कैसे हुई? ये सब पक्षाभास हैं।

हेत्वाभास :

जो हेतुके लक्षणसे रहित हैं, पर हेतुके समान मालूम होते हैं वे हेत्वाभास हैं। वस्तुत इन्हें साधनके दोष होनेसे साधनाभास कहना चाहिए, क्योंकि निर्दुष्ट साधनमें इन दोषोंकी सम्भावना नहीं होती। साधन और हेतुमें वाच्य-वाचकका भेद है। साधनके वचनको हेतु कहते हैं, अत उपचारसे साधनके दोषोंको हेतुका दोष मानकर हेत्वाभास संज्ञा दे दी गई है।

नैयायिक हेतुके पाँच रूप मानते हैं, अत. वे एक-एक रूपके अभावमें असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक, कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम ये पाँच हेत्वाभास स्वीकार करते हैं[1]। बौद्धों[2] ने हेतुको त्रिरूप माना है, अत. उनके मतसे पक्षधर्मत्वके अभावमें असिद्ध, सपक्षसत्त्वके अभावमें विरुद्ध और विपक्षासत्त्वके अभावमें अनैकान्तिक इस तरह तीन हेत्वाभास होते हैं। कणाद-सूत्र (३।१।१५) में असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध इन तीन हेत्वाभासोंका निर्देश होनेपर भी भाष्यमें अनध्यवसित नामके चौथे हेत्वाभासका भी कथन है।

जैन दार्शनिकोंमें आचार्य सिद्धसेनने (न्यायावतार श्लो० २३) असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीन हेत्वाभासोंको गिनाया है। अकलंकदेवने अन्यथानुपपन्नत्वको ही जब हेतुका एकमात्र नियामक रूप माना है तब स्वभावत इनके मतसे अन्यथानुपपन्नत्वके अभावमें एक ही हेत्वाभास हो सकता है। वे स्वय लिखते [3]हैं कि वस्तुत एक ही असिद्ध हेत्वाभास है। 'अन्यथानुपपत्ति' का अभाव चूँकि कई प्रकारसे होता है, अतः विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध और अकिञ्चित्करके भेदसे चार हेत्वाभास भी हो सकते हैं। [4]एक जगह तो उन्होंने विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धको अकिञ्चित्करका विस्तार मात्र बताया है। इनके मतसे हेत्वाभासोंकी

---

१. न्यायसार पृ० ७।

२ न्यायबि० ३।५७।

३. "अन्यथासंभवाभावभेदात् स बहुधा स्मृत.।
विरुद्धासिद्धसन्दिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः॥"—न्यायवि० २।१९५।

४. "अकिञ्चित्कारकान् सर्वान् तान् वयं सगिरामहे।"
—न्यायवि० २।३७०।

संख्याका कोई आग्रह नहीं है, फिर भी उनने जिन चार हेत्वाभासोका निर्देश किया है, उनके लक्षण इस प्रकार हैं —

(१) असिद्ध—"सर्वथात्ययात्" (प्रमाणस० श्लो० ४८) सर्वथा पक्षमें न पाया जानेवाला अथवा जिसका साध्यके साथ सर्वथा अविनाभाव न हो। जैसे—'शब्द अनित्य है, चाक्षुष होनेसे।' असिद्ध दो प्रकारका है। एक अविद्यमानसत्ताक—अर्थात् स्वरूपासिद्ध और दूसरा अविद्यमाननिश्चय—अर्थात् सन्दिग्धासिद्ध। अविद्यमानसत्ताक—जैसे शब्द परिणामी है, क्योंकि वह चाक्षुष है। इस अनुमानमें चाक्षुषत्व हेतु शब्दमें स्वरूपसे ही असिद्ध है। अविद्यमाननिश्चय—मूर्ख व्यक्ति धूम और भाफका विवेक नहीं करके जब बटलोईसे निकलनेवाली भाफको धुआँ मानकर, उसमें अग्निका अनुमान करता है, तो वह सन्दिग्धासिद्ध होता है। अथवा, सांख्य यदि शब्दको परिणामी सिद्ध करनेके लिये कृतकत्व हेतुका प्रयोग करता है तो वह भी सन्दिग्धासिद्ध है, क्योंकि सांख्यके मतमें आविर्भाव और तिरोभाव शब्द ही प्रसिद्ध है, कृतकत्व नहीं।

न्यायसार (पृ० ८) आदिमें विशेष्यासिद्ध, विशेषणासिद्ध, आश्रयासिद्ध, आश्रयैकदेशासिद्ध, व्यर्थविशेष्यासिद्ध, व्यर्थविशेषणासिद्ध, व्यधिकरणासिद्ध और भागासिद्ध इन असिद्धके आठ भेदोंका वर्णन है। उनमें व्यर्थविशेषण तक के छह भेद उन रूपोंसे सत्ताके अविद्यमान होनेके कारण स्वरूपासिद्धमें ही अन्तर्भूत हो जाते हैं। भागासिद्ध यह है—'शब्द अनित्य है, क्योंकि वह प्रयत्नका अविनाभावी है।' चूंकि इसमें अविनाभाव पाया जाता है, अतः यह सच्चा हेतु है। हाँ, यह अवश्य है कि जितने शब्दोंमें वह पाया जायगा, उतनेमें ही अनित्यत्व सिद्ध करेगा। जो शब्द प्रयत्नानन्तरीयक होंगे वे तो अनित्य होंगे ही।

व्यधिकरणासिद्ध भी असिद्ध हेत्वाभासमें नहीं गिनाया जाना चाहिये, क्योंकि—'एक मुहूर्त बाद शकटका उदय होगा, इस समय कृत्तिकाका उदय होनेसे', 'ऊपर मेघवृष्टि हुई है, नीचे नदीपूर देखा जाता है' इत्यादि हेतु भिन्नाधिकरण हो करके भी अविनाभावके कारण सच्चे हेतु हैं। गम्यगमकभावका आधार अविनाभाव है, न कि भिन्न-अधिकरणता या अभिन्नाधिकरणता। 'अविद्यमानसत्ताक'का अर्थ—'पक्षमें सत्ताका न पाया जाना' नहीं है, किन्तु साध्य, दृष्टान्त या दोनोंके साथ जिसकी अविनाभाविनी सत्ता न पायी जाय उसे अविद्यमानसत्ताक कहते हैं।

इसी तरह सन्दिग्धविशेष्यासिद्ध आदिका सन्दिग्धासिद्धमें ही अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। ये असिद्ध कुछ अन्यतरासिद्ध और कुछ उभयासिद्ध होते हैं। वादी

जब तक प्रमाणके द्वारा अपने हेतुको प्रतिवादीके लिए सिद्ध नही कर देता, तब-तक वह अन्तरासिद्ध कहा जा सकता है।

(२) विरुद्ध—"अन्यथाभावात्" (प्रमाणस० श्लो० ४८) साध्याभावमें पाया जाने वाला। जैसे—'सब क्षणिक है सत् होनेसे' यहाँ सत्त्व हेतु सर्वथा क्षणिकत्वके विपक्षी कथञ्चित् क्षणिकत्वमें पाया जाता है।

न्यायसार (पृ० ८) में विद्यमानसपक्षवाले चार विरुद्ध तथा अविद्यमानस-पक्षवाले चार विरुद्ध इस तरह जिन आठ विरुद्धोका वर्णन है, वे सब विपक्षमें अविनाभाव पाये जानेके कारण ही विरुद्ध हैं। हेतुका सपक्षमे होना कोई आवश्यक नही है। अत. सपक्षसत्त्वके अभावको विरुद्धताका नियामक नही मान सकते। किन्तु विपक्षके साथ उसके अविनाभावका निश्चित होना ही विरुद्धताका आधार है।

दिङ्नाग आचार्यने विरुद्धाव्यभिचारी नामका भी एक हेत्वाभास माना है। परस्परविरोधी दो हेतुओका एक धर्मीमें प्रयोग होने पर प्रथम हेतु विरुद्धाव्यभि-चारी हो जाता है। यह सशयहेतु होनेसे हेत्वाभास है। धर्मकीर्ति[1]ने इसे हेत्वाभास नही माना है। वे लिखते है कि जिस हेतुका त्रैरूप्य प्रमाणसे प्रसिद्ध है, उसमें विरोधी हेतुका अवसर ही नही है। अत यह आगमाश्रित हेतुके विषयमे ही सभव हो सकता है। शास्त्र अतीन्द्रिय पदार्थोका प्रतिपादन करता है, अत उसमें एक ही वस्तु परस्परविरोधी रूपमें वर्णित हो सकती है।

अकलंकदेवने इस हेत्वाभासका विरुद्धमें अन्तर्भाव किया है। जो हेतु विरुद्धका अव्यभिचारी—विपक्षमे भी रहने वाला है, वह विरुद्ध हेत्वाभास की ही सीमामे आता है।

(३) अनैकान्तिक—"व्यभिचारी विपक्षेऽपि" (प्रमाणसं० श्लो० ४९)—विपक्षमे भी पाया जानेवाला। यह दो प्रकारका है। एक निश्चितानैकान्तिक—'जैसे शब्द अनित्य है, क्योकि वह प्रमेय है, घटकी तरह।' यहाँ प्रमेयत्व हेतुका विपक्षभूत नित्य आकाशमें पाया जाना निश्चित है। दूसरा सन्दिग्धानैकान्तिक—जैसे सर्वज्ञ नही है, क्योकि वह वक्ता है, रथ्यापुरुषकी तरह।' यहाँ विपक्षभूत सर्वज्ञके साथ वक्तृत्वका कोई विरोध न होनेसे वक्तृत्वहेतु सन्दिग्धानैकान्तिक है।

न्यायसार (पृ० १०) आदिमे इसके जिन पक्षत्रयव्यापक, सपक्षविपक्षैक-देशवृत्ति आदि आठ भेदोका वर्णन है, वे सब इसीमे अन्तर्भूत है। अकलकदेवने इस हेत्वाभासके लिए सन्दिग्ध शब्दका प्रयोग किया है।

---

१. ननु च आचार्येण विरुद्धाव्यभिचार्यपि सशयहेतुरुक्त· स इह नोक्त., अनुमानविषयेऽसंभ-वात्।"—न्यायबि० ३।११२,११३।

(४) अकिञ्चित्कर[1]—सिद्ध साध्यमें और प्रत्यक्षादिबाधित साध्यमें प्रयुक्त होनेवाला हेतु अकिञ्चित्कर है। सिद्ध और प्रत्यक्षादि बाधित साध्यके उदाहरण पक्षाभासके प्रकरणमें दिये जा चुके हैं। अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने भी त्रिलक्षण हेतु है, वे सब अकिञ्चित्कर है।

अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका निर्देश जैनदार्शनिकोंमें सर्वप्रथम अकलंकदेवने किया है, परन्तु उनका अभिप्राय इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेके विषयमें सुदृढ नही मालूम होता। वे एक जगह लिखते है कि सामान्यसे एक असिद्ध हेत्वाभास है। वही विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्धके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। ये विरुद्धादि अकिञ्चित्करके विस्तार है। फिर लिखते हैं कि अन्यथानुपपत्तिसे रहित जितने त्रिलक्षण हैं, उन्हें अकिञ्चित्कर कहना चाहिये। इससे मालूम होता है कि वे सामान्यसे हेत्वाभासोंकी अकिञ्चित्कर या असिद्ध संज्ञा रखते थे। इसे स्वतन्त्र हेत्वाभास माननेका उनका प्रबल आग्रह नही था। यही कारण है कि आचार्य [2]माणिक्यनन्दिने अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका लक्षण और भेद कर चुकने पर भी लिखा है कि 'इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभासका विचार हेत्वाभासके लक्षणकालमें ही करना चाहिये। शास्त्रार्थके समय तो इसका कार्य पक्षदोषसे ही किया जा सकता है।' आचार्य विद्यानन्दने भी सामान्य रूपसे एक हेत्वाभास कहकर असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिकको उसीका रूपान्तर माना है। उनने भी अकिञ्चित्कर हेत्वाभासके ऊपर भार नही दिया है। वादिदेवसूरि आदि आचार्य भी हेत्वाभासके असिद्ध आदि तीन भेद ही मानते हैं।

दृष्टान्ताभास :

व्याप्तिकी सम्प्रतिपत्तिका स्थान दृष्टान्त कहलाता है। दृष्टान्तमे साध्य और साधनका निर्णय होना आवश्यक है। जो दृष्टान्त इस दृष्टान्तके लक्षणसे रहित हो, किन्तु दृष्टान्तके स्थानमे उपस्थित किया गया हो, वह दृष्टान्ताभास है। दिङ्नागके न्यायप्रवेश (पृ० ५–६) मे दृष्टान्ताभासके साधनधर्मासिद्ध, साध्यधर्मासिद्ध; अनन्वय, उभयधर्मासिद्ध विपरीतान्वय ये पाँच साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा साध्याव्यावृत्त, साधनाव्यावृत्त, उभयाव्यावृत्त, अव्यतिरेक और विपरीतव्यतिरेक ये पाँच वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह दस दृष्टान्ताभास बताये हैं। इनमे उभयासिद्ध नामक दृष्टान्ताभासके

---

१ 'सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।"–प्रमाणसं० श्लो० ४९।
"सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।"–परीक्षामुख ६।३५
२. "लक्षण एवासौ दोषः व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।"
—परीक्षामुख ६।३९

अवान्तर दो भेद और भी दिखाये गये है। अत दिङ्नागके मतसे बारह दृष्टान्ताभास फलित होते है। [1]वैशेषिकको भी बारह निदर्शनाभास ही इष्ट है। [2]आचार्य धर्मकीर्तिने दिङ्नागके मूल दस भेदोमें सन्दिग्धसाध्यान्वय, सन्दिग्धसाधनान्वय, सन्दिग्धउभयान्वय और अप्रदर्शितान्वय ये चार साधर्म्यदृष्टान्ताभास तथा सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक, सन्दिग्धोभयव्यतिरेक और अप्रदर्शितव्यतिरेक इन चार वैधर्म्यदृष्टान्ताभासोको मिलाकर कुल अठारह दृष्टान्ताभास बतलाये हैं।

न्यायावतार (श्लो० २४–२५) मे आ० सिद्धसेनने 'साध्यादिविकल तथा सशय' शब्द देकर लगभग धर्मकीर्तिसम्मत विस्तारकी ओर ही संकेत किया है। आचार्य माणिक्यनन्दि (परीक्षामुख ४।४०–४५) असिद्धसाध्य, असिद्ध-साधन, असिद्धोभय तथा विपरीतान्वय ये चार साधर्म्य दृष्टान्ताभास तथा चार ही वैधर्म्य दृष्टान्ताभास इस तरह कुछ आठ दृष्टान्ताभास मानते हैं। इन्होने 'असिद्ध' शब्दसे अभाव और संशय दोनोको ले लिया है। इतने अनन्वय और अप्रदर्शितान्वयको भी दृष्टान्त-दोषोमे शामिल नही किया है। वादिदेवसूरि (प्रमाणनय० ६।६०–७९) धर्मकीर्तिकी तरह अठारह ही दृष्टान्ताभास मानते है। आचार्य हेमचन्द्र (प्रमाणमी० २।१।२२–२७) अनन्वय और अव्यतिरेकको स्वतन्त्र दोप नही मानकर दृष्टान्ताभासोंकी संख्या सोलह निर्धारित करते है।

परीक्षामुखके अनुसार आठ दृष्टान्ताभास इस प्रकार है :—

'शब्द अपौरुषेय है, अमूर्तिक होनेसे' इस अनुमानमे इन्द्रियसुख, परमाणु और घट ये दृष्टान्त क्रमश· असिद्धसाध्य, असिद्धसाधन और असिद्धोभय है, क्योकि इन्द्रियसुख पौरुषेय है, परमाणु मूर्तिक है तथा घडा पौरुषेय भी है और मूर्तिक भी है। 'जो अमूर्तिक है, वह अपौरुषेय है' ऐसा अन्वय मिलाना चाहिये, परन्तु 'जो अपौरुषेय है वह अमूर्तिक है' ऐसा विपरीतान्वय मिलाना दृष्टान्ताभास है, क्योकि बिजली आदि अपौरुषेय होकर भी अमूर्त्तिक नही है। उक्त अनुमानमे परमाणु, इन्द्रियसुख और आकाशका दृष्टान्त क्रमश· असिद्धसाध्यव्यतिरेक, असिद्ध-साधनव्यतिरेक और असिद्धोभय-व्यतिरेक है, क्योकि परमाणु अपौरुषेय है, इन्द्रियसुख अमूर्तिक है, और आकाश अपौरुषेय और अमूर्तिक दोनो है। अत. इनमे उन-उन धर्मोका व्यतिरेक असिद्ध है। 'जो अपौरुषेय नही है, वे अमूर्तिक नही है' ऐसा साध्याभावमे साधनाभावरूप व्यतिरेक दिखाया जाना चाहिये परन्तु 'जो अमूर्तिक नही है, वह अपौरुषेय नही है' इस प्रकारका उलटा व्यतिरेक दिखाना विपरीत-

१. प्रश० भा० पृ० २४७।
२. न्यायबि० ३।१२५।—१३६।

व्यतिरेक दृष्टान्ताभास है, क्योंकि बिजली आदिसे अतिप्रसंग दोष आता है।

आचार्य हेमचन्द्रके अनुसार अन्य आठ दृष्टान्ताभास—

(१) सन्दिग्धसाध्यान्वय—जैसे यह पुरुष रागी है, क्योंकि वचन बोलता है, रथ्यापुरुषकी तरह।

(२) सन्दिग्धसाधनान्वय—जैसे यह पुरुष मरणधर्मा है, क्योंकि यह रागी है, रथ्यापुरुषकी तरह।

(३) सन्दिग्धोभयधर्मान्वय—जैसे यह पुरुष किंचिज्ज्ञ है, क्योंकि रागी है, रथ्यापुरुषकी तरह।

इन अनुमानोंमें चूंकि परकी चित्तवृत्तिका जानना अत्यन्त कठिन है, अत राग और किंचिज्ज्ञत्वकी सत्ता सन्दिग्ध है।

(४-६) इसी तरह इन्ही अनुमानोंमें साध्य-साधनभूत राग और किंचिज्ज्ञत्व-का व्यतिरेक सन्दिग्ध होनेसे सन्दिग्धसाध्यव्यतिरेक, सन्दिग्धसाधनव्यतिरेक और सन्दिग्धोभयव्यतिरेक नामके व्यतिरेक दृष्टान्ताभास हो जाते है।

(७-८) अप्रदर्शितान्वय और अप्रदर्शितव्यतिरेक भी दृष्टान्ताभास होते है, यदि व्याप्तिका ग्राहक तर्क उपस्थित न किया जाय। 'यथावत् तथा' आदि शब्दों-का प्रयोग न होनेकी वजहसे किसीको दृष्टान्ताभास नही कहा जा सकता, क्योंकि व्याप्तिके साधक प्रमाणकी उपस्थितिमें इन शब्दोके अप्रयोगका कोई महत्त्व नही है, और इन शब्दोका प्रयोग होनेपर भी यदि व्याप्तिसाधक प्रमाण नही है, तो वे निश्चयसे दृष्टान्ताभास हो जायँगे।

वादिदेवसूरिने अनन्वय और अव्यतिरेक इन दो दृष्टान्ताभासोंका भी निर्देश किया है, परन्तु आचार्य हेमचन्द्र स्पष्ट लिखते है कि ये स्वतन्त्र दृष्टान्ताभास नही है, क्योंकि पूर्वोक्त आठ-आठ दृष्टान्ताभास अनन्वय और अव्यतिरेकके ही विस्तार है।

उदाहरणाभास :

दृष्टान्ताभासके वचनको उदाहरणाभास कहते है। उदाहरणाभासमें वस्तुगत दोष और वचनगत दोष दोनो शामिल हो सकते है। अत. इन्हें उदाहरणाभास कहनेपर ही अप्रदर्शितान्वय, विपरीतान्वय, प्रदर्शितव्यतिरेक, विपरीत व्यतिरेक जैसे वचनदोषोका सग्रह हो सकता है, दृष्टान्ताभासमें तो केवल वस्तुगत दोषोका ही सग्रह होना न्याय्य है।

बालप्रयोगाभास[1] :

यह पहले बताया जा चुका है कि उदाहरण, उपनय और निगमन बालबुद्धि शिष्योंके समझानेके लिए अनुमानके अवयवरूपमें स्वीकार किये गये हैं। जो अधिकारी जितने अवयवोंसे समझते है, उनके लिये उनसे कमका प्रयोग बालप्रयोगाभास होगा। क्योंकि जिन्हें जितने वाक्यसे समझनेकी आदत पडी हुई है, उन्हें उससे कमका बोलना अटपटा लगेगा और उन्हे उतने मात्रसे स्पष्ट अर्थबोध भी नही हो सकेगा।

आगमाभास[2] :

राग, द्वेष और मोहसे युक्त अप्रामाणिक पुरुषके वचनोसे होनेवाला ज्ञान आगमाभास है। जैसे—कोई पुरुष बच्चोके उपद्रवसे तग आकर उन्हें भगानेकी इच्छासे कहे कि 'बच्चो, नदीके किनारे लड्डू बट रहे है दौडो।' इसी प्रकारके राग-द्वेष-मोहप्रयुक्त वाक्य आगमाभास कहे जाते हैं।

सख्याभास[3] :

मुख्यरूपसे प्रमाणके दो भेद किये गये हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इसका उल्लघन करना अर्थात् एक, या तीन आदि प्रमाण मानना संख्याभास है, क्योंकि एक प्रमाण मानने पर चार्वाक प्रत्यक्षसे ही परलोकादिका निषेध, परबुद्धि आदिका ज्ञान, यहाँ तक कि स्वय प्रत्यक्षकी प्रमाणताका समर्थन भी नही कर सकता। इन कार्योंके लिए उसे अनुमान मानना ही पडेगा। इसी तरह बौद्ध, साख्य, नैयायिक, प्राभाकर और जैमिनीय अपने द्वारा स्वीकृत दो, तीन, चार, पाँच और छह प्रमाणोसे व्याप्तिका ज्ञान नही कर सकते। उन्हे व्याप्तिग्राही तर्कको स्वतन्त्र प्रमाण मानना ही चाहिये। इस तरह तर्कको अतिरिक्त प्रमाण मानने पर उनकी निश्चित प्रमाण-सख्या बिगड जाती है।

नैयायिकके उपमानका सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमें, प्रभाकरकी अर्थापत्तिका अनुमानमे और जैमिनीयके अभाव प्रमाणका यथासम्भव प्रत्यक्षादि प्रमाणोमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अत यावत् विशदज्ञानोका, जिनमें एकदेशविशद इन्द्रिय और मानस प्रत्यक्ष भी शामिल हैं, प्रत्यक्षप्रमाणमे, तथा समस्त अविशदज्ञानोका, जिनमें स्मरण,

---

१. परीक्षामुख ६।४६–५०।

२ परीक्षामुख ६।५१–५४।

३. परीक्षामुख ६।५५–६०।

प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम हैं, परोक्षप्रमाणमें अन्तर्भाव करके प्रमाणके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो ही भेद स्वीकार करना चाहिये। इनके अवान्तर भेद भी प्रतिभासभेद और आवश्यकताके आधारसे ही किये जाने चाहिये।

विषयाभास[1] :

एक ही सामान्यविशेपात्मक पदार्थ प्रमाणका विषय है, यह पहले बताया जा चुका है। यदि केवल सामान्य, केवल विशेष या सामान्य और विशेष दोनोको स्वतन्त्र-स्वतन्त्ररूपमें प्रमाणका विषय माना जाता है, तो ये सब विषयाभास हैं, क्योंकि पदार्थकी स्थिति सामान्यविशेपात्मक और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मकरूपमें ही उपलब्ध होती है। पूर्वपर्यायका त्याग, उत्तरपर्यायकी उत्पत्ति और द्रव्यरूपसे स्थिति इन त्रयात्मकताके बिना पदार्थ कोई भी अर्थक्रिया नही कर सकता। 'लोकव्यवस्था' आदि प्रकरणोमें हम इसका विस्तारसे वर्णन कर आये हैं। यदि सर्वथा नित्य सामान्य आदिरूप पदार्थ अर्थक्रियाकारी हो, तो समर्थके लिए कारणान्तरोकी अपेक्षा न होनेसे समस्त कार्योकी उत्पत्ति एकसाथ हो जानी चाहिये। और यदि असमर्थ है, तो कार्योत्पत्ति बिलकुल ही नही होनी चाहिये। 'सहकारी कारणोके मिलनेपर कार्योत्पत्ति होती है' इसका सीधा अर्थ है कि सहकारी उस कारणकी असामर्थ्यको हटाकर सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं और इस तरह वह उत्पाद और व्ययका आधार बन जाता है। सर्वथा क्षणिक पदार्थमें देशकृत क्रम न होनेके कारण कार्यकारणभाव और क्रमिक कार्योत्पत्तिका निर्वाह नही हो सकता। पूर्वका उत्तरके साथ कोई वास्तविक स्थिर सम्बन्ध न होनेसे कार्यकारणभावमूलक समस्त जगतके व्यवहारोका उच्छेद हो जायगा। बद्धको ही मोक्ष तो तब हो सकता है जब एक ही अनुस्यूत चित्त प्रथम बँधे और वही छूटे। हिंसकको ही पापका फल भोगनेका अवसर तब आ सकता है, जब हिंसाक्रियासे लेकर फल भोगने तक उसका वास्तविक अस्तित्व और परस्पर सम्बन्ध हो।

इन विषयाभासोमें ब्रह्मवाद और शब्दाद्वैतवाद नित्य पदार्थका प्रतिनिधित्व करनेवाली उपनिषद्धारासे निकले है। सांख्यका एक प्रधान अर्थात् प्रकृतिवाद भी केवल सामान्यवादमें आता है। प्रतिक्षण पदार्थोका विनाश मानना और परस्पर विशकलित क्षणिक परमाणुओका पुञ्ज मानना केवल विशेषवादमें सम्मिलित है। तथा सामान्यको स्वतन्त्र पदार्थ और द्रव्य, गुण, कर्म आदि विशेषोको पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानना परस्पर-निरपेक्ष उभयवादमें शामिल है।

---

१ 'विषयाभास. सामान्य विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम्'।

—परीक्षामुख ६।६१-६५।

ब्रह्मवादविचार :

वेदान्तीका पूर्वपक्ष :

वेदान्ती जगतमें केवल एक [1]ब्रह्मको ही सत् मानते हैं। वह कूटस्थ नित्य और अपरिवर्तनशील है। वह सत् रूप है। 'है' यह अस्तित्व ही उस महासत्ताका सबसे प्रबल साधक प्रमाण है। चेतन और अचेतन जितने भी भेद हैं, वे सब इस ब्रह्मके प्रतिभासमात्र हैं। उनकी सत्ता प्रातिभासिक या व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। जैसे एक अगाध समुद्र वायुके वेगसे अनेक प्रकारकी वीची, तरग, फेन, बुद्‌बुद आदि रूपोंमें प्रतिभासित होता है, उसी तरह एक सत् ब्रह्म अविद्या या मायाकी वजहसे अनेक जड-चेतन, जीवात्मा-परमात्मा और घट-पट आदि रूपसे प्रतिभासित होता है। यह तो दृष्टि-सृष्टि है। अविद्याके कारण अपनी पृथक् सत्ता अनुभव करनेवाला प्राणी अविद्यामें ही बैठकर अपने संस्कार और वासनाओंके अनुसार जगतको अनेक प्रकारके भेद और प्रपञ्चके रूपमें देखता है। एक ही पदार्थ अनेक प्राणियोंको अपनी-अपनी वासना-दूषित दृष्टिके अनुसार विभिन्न रूपोंमें दिखाई देता है। अविद्याके हट जानेपर सत्, चित् और आनन्दरूप ब्रह्ममें लय हो जानेपर समस्त प्रपंचोंसे रहित निर्विकल्प ब्रह्म-स्थिति प्राप्त होती है। जिस[2] प्रकार विशुद्ध आकाशको तिमिररोगी अनेक प्रकारकी चित्र-विचित्र रेखाओंसे खचित और चित्रित देखता है, उसी तरह अविद्या या मायाके कारण एक ही ब्रह्म अनेक प्रकारके देश, काल और आकारके भेदोंसे भिन्नकी तरह चित्र-विचित्र प्रतिभासित होता है। जो भी जगतमें था, है और होगा वह सब ब्रह्म ही है।

यही ब्रह्म समस्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयमें उसी तरह कारण होता है, जिस[3] प्रकार मकडी अपने जालके लिए, चन्द्रकान्तमणि जलके लिए और वट वृक्ष अपने प्ररोहोंके लिए कारण होता है। जितना भी भेद है, वह सब अतात्त्विक और झूठा है।

---

१. 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' —छान्दो० ३।१४।१।

२. 'यथा विशुद्धमाकाशं तिमिरोपप्लुतो जनः।
सकीर्णमिव मात्राभिश्चित्राभिरभिमन्यते॥
तथेदममलं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं प्रपश्यति॥'

—बृहदा० भा० वा० ३।५। ४३-४४।

३. 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' —मुण्डकोप० १।१।७।

यद्यपि [1]आत्मश्रवण, मनन और ध्यानादि भी भेदरूप होनेके कारण अविद्यात्मक है, फिर भी उनसे विद्याकी प्राप्ति संभव है। जैसे धूलिसे गदले पानीमें कतकफल या फिटकरीका चूर्ण, जो कि स्वयं भी धूलिरूप ही है, डालनेपर एक धूलि दूसरी धूलिको शान्त कर देती है और स्वयं भी शान्त होकर जलको स्वच्छ अवस्थामें पहुँचा देती है। अथवा जैसे एक विष दूसरे विषको नाशकर निरोग अवस्थाको प्राप्त करा देता है, उसी तरह आत्मश्रवण, मनन आदिरूप अविद्या भी राग-द्वेष-मोह आदिरूप मूल-अविद्याको नष्ट कर स्वगतभेदके शान्त होनेपर निर्विकल्प स्वरूपावस्था प्राप्त हो जाती है। अतात्त्विक अनादिकालीन अविद्याके उच्छेदके लिए ही मुमुक्षुओंका प्रयत्न होता है। यह अविद्या तत्त्वज्ञानका प्रागभाव है। अत. अनादि होनेपर भी उसकी निवृत्ति उसी तरह हो जाती है जिस प्रकार कि घटादि कार्योंकी उत्पत्ति होनेपर उनके प्रागभावोंकी।

इस ब्रह्मका ग्राहक सन्मात्रग्राही निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। वह मूक बच्चोंके ज्ञानकी तरह शुद्ध वस्तुजन्य और शब्दसम्पर्कसे शून्य निर्विकल्प होता है।

'अविद्या ब्रह्मसे भिन्न है या अभिन्न' इत्यादि विचार भी अप्रस्तुत हैं, क्योंकि ये विचार वस्तुस्पर्शी होते हैं और अविद्या है अवस्तु। किसी भी विचारको सहन नहीं करना ही [2]अविद्याका अविद्यात्व है।

जैनका उत्तरपक्ष :

किन्तु, प्रत्यक्षसिद्ध ठोस और तात्त्विक जड और चेतन पदार्थोंका मात्र अविद्याके हवाई प्रहारसे निषेध नहीं किया जा सकता। विज्ञानको प्रयोगशालाओंने अनन्त जड परमाणुओंका पृथक् तात्त्विक अस्तित्व सिद्ध किया ही है। तुम्हारा कल्पित ब्रह्म ही उन तथ्य और सत्यसाधक प्रयोगशालाओंमें सिद्ध नहीं हो सका है। यह ठीक है कि हम अपनी शब्दसंकेतकी वासनाके अनुसार किसी परमाणु-समुदायको घट, घडा, कलश आदि अनेक शब्दसंकेतोंसे व्यक्त करें और इस व्यक्तिकरणकी अपनी सीमित मर्यादा भी हो, पर इतने मात्रसे उन परमाणुओंकी

---

१ 'यथा पयो पयोऽन्तरं जरयति स्वयं च जीर्यति, यथा विषं विषान्तरं शमयति स्वयं च शाम्यति, यथा वा कतकरजो रजोऽन्तराविले पाथसि प्रक्षिप्तं रजोऽन्तराणि भिन्दत् स्वयमपि भिद्यमानमनाविलं पाथः करोति, एवं कर्म अविद्यात्मकमपि अविद्यान्तराणि अपगमयत् स्वयमप्यपगच्छतीति।'

—ब्रह्मसू० शा० भा० भा० पृ० ३२।

२ 'अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥'—सम्बन्धवा० का० १८१।

सत्तासे और परमाणुओसे बने हुए विशिष्ट आकारवाले ठोस पदार्थोकी सत्तासे इनकार नही किया जा सकता। स्वतन्त्र, वजनवाले और अपने गुणधर्मोंके अखण्ड आधारभूत उन परमाणुओके व्यक्तित्वका अभेदगामिनी दृष्टिके द्वारा विलय नही किया जा सकता। उन सबमें अभिन्न सत्ताका दर्शन ही काल्पनिक है। जैसे कि अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखनेवाले छात्रोके समुदायमें सामाजिक भावनासे कल्पित किया गया एक 'छात्रमण्डल' मात्र व्यवहारसत्य है, वह समझ और समझौतेके अनुसार संगठित और विघटित भी किया जाता है, उसका विस्तार और संकोच भी होता है और अन्तत उसका भावनाके सिवाय वास्तविक कोई ठोस अस्तित्व नही है, उसी तरह एक 'सत् सत्'के आधारसे कल्पित किया गया अभेद अपनी सीमाओमे सघटित और विघटित होता रहता है। इस एक सत्का ही अस्तित्व व्यावहारिक और प्रातिभासिक है, न कि अनन्त चेतन द्रव्यो और अनन्त अचेतन परमाणुओका। असख्य प्रयत्न करनेपर भी जगतके रगमञ्चसे एक भी परमाणुका अस्तित्व नही मिटाया जा सकता।

दृष्टिसृष्टि तो उस शतुर्मुर्ग जैसी बात है जो अपनी आँखोको बन्द करके गर्दन नीची कर समझता है कि जगतमे कुछ नही है। अपनी आँखें खोलने या बन्द करनेसे जगतके अस्तित्व या नास्तित्वका कोई सम्बन्ध नही है। आँखें बन्द करना और खोलना अप्रतिभास, प्रतिभास या विचित्र प्रतिभाससे सम्बन्ध रखता है, न कि विज्ञानसिद्ध कार्यकारणपरम्परासे प्रतिबद्ध पदार्थोके अस्तित्वसे। किसी स्वयंसिद्ध पदार्थमे विभिन्न रागी, द्वेषी और मोही पुरुषोके द्वारा की जाने-वाली इष्ट-अनिष्ट, अच्छी-बुरी, हित-अहित आदि कल्पनाएँ भले ही दृष्टि-सृष्टिकी सीमामे आवें और उनका अस्तित्व उस व्यक्तिके प्रतिभास तक ही सीमित हो और व्यावहारिक हो, पर उस पदार्थका और उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि वास्तविक गुण-धर्मोका अस्तित्व अपना स्वय है, किसीकी दृष्टिने उनकी सृष्टि नही की है और न किसीकी वासना या रागसे उनकी उत्पत्ति हुई है। भेद वस्तुओमें स्वाभाविक है। वह न केवल मनुष्योको ही, किन्तु संसारके प्रत्येक प्राणीको अपने-अपने प्रत्यक्षज्ञानोमें स्वत प्रतिभासित होता है। अनन्त प्रकारके विरुद्ध-धर्माध्यासोसे सिद्ध देश, काल और आकारकृत भेद पदार्थोका निजी स्वरूप है। बल्कि चरम अभेद ही कल्पनाका विषय है। उसका पता तब तक नही लगता जबतक कोई व्यक्ति उसकी सीमा और परिभाषाको न समझा दे। अभेदमूलक सगठन बनते और बिगडते है, जब कि भेद अपनी स्थिरभूमिपर जैसा है, वैसा ही रहता है, न वह बनता है और न वह बिगडता है।

आजके विज्ञानने अपनी प्रयोगशालाओसे यह सिद्ध कर दिया है कि जगतके प्रत्येक अणु-परमाणु अपना पृथक् अस्तित्व रखते है और सामग्रीके अनुसार उनमें अनेकविध परिवर्तन होते रहते हैं। लाख प्रयत्न करने पर भी किसी परमाणुका अस्तित्व नही मिटाया जा सकता और न कोई द्रव्य नया उत्पन्न किया जा सकता है। यह सारी जगतकी लीला उन्ही परमाणुओके न्यूनाधिक सयोग-वियोगजन्य विचित्र परिणमनोके कारण हो रही है।

यदि एक ही ब्रह्मका जगतमें मूलभूत अस्तित्व हो और अनन्त जीवात्मा कल्पित भेदके कारण ही प्रतिभासित होते हो, तो परस्परविरुद्ध सदाचार, दुराचार आदि क्रियाओंसे होनेवाला पुण्य-पापका वन्ध और उनके फल सुख-दु.ख आदि नही वन सकेंगे। जिस प्रकार एक शरीरमें सिरसे पैर तक सुख और दु खकी अनुभूति अखण्ड होती है, भले ही फोडा पैरसे ही हुआ हो, या पेडा मुखमें ही खाया गया हो, उसी तरह समस्त प्राणियोमें यदि मूलभूत एक ब्रह्मका ही सद्भाव है तो अखण्डभावसे सवको एक जैसी सुख-दु खकी अनुभूति होनी चाहिये थी। एक अनिर्वचनीय अविद्या या मायाका सहारा लेकर इन जलते हुए प्रश्नोको नही सुलझाया जा सकता।

ब्रह्मको जगतका उपादान कहना इसलिए असंगत है, कि एक ही उपादानसे विभिन्न सहकारियोके मिलने पर भी जड और चेतन, मूर्त्त और अमूर्त जैसे अत्यन्त विरोधी कार्य उत्पन्न नही हो सकते। एक-उपादानजन्य कार्योमें एकरूपताका अन्वय अवश्य देखा जाता है। 'ब्रह्म क्रीडाके लिए जगतको उत्पन्न करता है' यह कहना एक प्रकारकी खिलवाड है। जब ब्रह्मसे भिन्न कोई दया करने योग्य प्राणी ही नही है, तब वह किसपर दया करके भी जगतको उत्पन्न करनेकी वात सोचता है ? और जब ब्रह्मसे भिन्न अविद्या वास्तविक है ही नही, तब आत्मश्रवण, मनन और निदिध्यासन आदिके द्वारा किसकी निवृत्ति की जाती है ?

अविद्याको तत्वज्ञानका प्रागभाव नही माना जा सकता, क्योकि यदि वह सर्वथा अभावरूप है, तो भेदज्ञानरूपी कार्य उत्पन्न नही कर सकेगी ? एक विप स्वय सत् होकर, पूर्व विपको, जो कि स्वयं सत् होकर ही मूर्छादि कार्य कर रहा था, शान्त कर सकता है और उसे शान्त कर स्वयं भी शान्त हो सकता है। इसमें दो सत् पदार्थोमे ही वाध्यवाधकभाव सिद्ध होता है। ज्ञानमें विद्यात्व या अविद्यात्वकी व्यवस्था भेद या अभेदको ग्रहण करनेके कारण नही है। यह व्यवस्था तो संवाद और विसवादसे होती है और संवाद अभेदकी तरह भेदमें भी निर्विवाद रूपसे देखा जाता है।

अविद्याको भिन्नाभिन्नादि विचारोंसे दूर रखना भी उचित नहीं है, क्योंकि इतरेतराभाव आदि अवस्तु होनेपर भी भिन्नाभिन्नादि विचारोंके विषय होते हैं, तथा गुड़ और मिश्रीके परस्पर मिठासका तारतम्य वस्तु होकर भी विचारका विषय नहीं हो पाता। अत. प्रत्यक्षसिद्ध भेदका लोप कर काल्पनिक अभेदके आधारसे परमार्थ ब्रह्मकी कल्पना करना व्यवहारविरुद्ध तो है ही, प्रमाण-विरुद्ध भी है।

हाँ, प्रत्येक द्रव्य अपनेमें अद्वैत है। वह अपनी गुण और पर्यायोंमें अनेक प्रकारसे भासमान होता है; किन्तु यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि वे गुण और पर्यायरूप भेद द्रव्यमें वास्तविक हैं, केवल प्रातिभासिक और काल्पनिक नहीं हैं। द्रव्य स्वयं अपने उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावके कारण उन-उन पर्यायोंके रूपसे परिणत होता है। अत. एक द्रव्यमें अद्वैत होकर भी भेदकी स्थिति उतनी ही सत्य है जितनी कि अभेदकी। पर्यायें भी द्रव्यकी तरह वस्तुसत् हैं; क्योंकि वे उसकी पर्यायें हैं। यह ठीक है कि साधना करते समय योगीको ध्यान-कालमें ऐसी निर्विकल्प अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिसमें जगत्के अनन्त भेद या स्वपर्यायगत भेद भी प्रतिभासित न होकर मात्र अद्वैत आत्माका साक्षात्कार हो, पर इतने मात्र-से जगत्की सत्ताका लोप नहीं किया जा सकता।

'जगत क्षणभंगुर है, संसार स्वप्न है, मिथ्या है, गंधर्वनगरकी तरह प्रति-भासमात्र है' इत्यादि भावनाएँ हैं। इनसे चित्तको भावित करके उसकी प्रवृत्तिको जगतके विषयोंसे हटाकर आत्मलीन किया जाता है। भावनाओंसे तत्त्वकी व्यवस्था नहीं होती। उसके लिए तो सुनिश्चित कार्यकारणभावकी पद्धति और तन्मूलक प्रयोग ही अपेक्षित होते हैं। जैनाचार्य भी अनित्य भावनामें संसारको मिथ्या और स्वप्नवत् असत्य कहते हैं। पर उसका प्रयोजन केवल वैराग्य और उपेक्षावृत्तिको जागृत करना है। अत. भावनाओंके बलसे तत्त्वज्ञानके योग्य चित्तकी भूमिका तैयार होनेपर भी तत्त्वव्यवस्थामें उसके उपयोग करनेका मिथ्या क्रम छोड़ ही देना चाहिये।

'एक ही ब्रह्मके सब अंश हैं, परस्परका भेद झूठा है, अत. सबको मिलकरके प्रेमपूर्वक रहना चाहिये' इस प्रकारके उदार उद्देश्यसे ब्रह्मवादके समर्थनका रूप केवल औदार्यके प्रकारका कल्पित साधन हो सकता है।

आजके भारतीय दार्शनिक यह कहते नहीं अघाते कि 'दर्शनकी चरम कल्पना-का विकास अद्वैतवादमें ही हो सकता है।' तो क्या दर्शन केवल कल्पनाकी दौड़ है? यदि दर्शन मात्र कल्पनाकी सीमामें ही खेलना चाहता है, तो समझ लेना

चाहिये कि विज्ञानके इस सुसम्बद्ध कार्यकारणभावके युगमें उसका कोई विशिष्ट स्थान नहीं रहने पायगा। ठोस वस्तुका आधार छोड़कर केवल दिमागी कसरतमें पड़े रहनेके कारण ही आज भारतीयदर्शन अनेक विरोधाभासोंका -अजायबघर बना हुआ है। दर्शनका केवल यही काम था कि वह स्वयसिद्ध पदार्थोंका समुचित वर्गीकरण करके उनकी व्याख्या करता, किन्तु उसने प्रयोजन और उपयोगकी दृष्टिसे पदार्थोंका काल्पनिक निर्माण ही शुरू कर दिया है!

विभिन्न प्रत्ययोंके आधारसे पदार्थोंकी पृथक्-पृथक् सत्ता माननेका क्रम ही गलत है। एक ही पदार्थमें अवस्थाभेदसे विभिन्न प्रत्यय हो सकते हैं। 'एक जातिका होना' और 'एक होना' बिल्कुल जुदी बात है। 'सर्वत्र 'सत् सत्' ऐसा प्रत्यय होनेके कारण सन्मात्र एक तत्त्व है।' यह व्यवस्था देना केवल निरी कल्पना ही हैं, किन्तु प्रत्यक्षादिसे बाधित भी है। दो पदार्थ विभिन्नसत्ताके होते हुए भी सादृश्यके कारण समानप्रत्ययके विषय हो सकते हैं। पदार्थोंका वर्गीकरण सादृश्यके कारण 'एक जातिक' के रूपमें यदि होता है तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं हो सकता कि वे सब पदार्थ 'एक ही' है। अनन्त जड़ परमाणुओंको सामान्यलक्षणसे एक पुद्गलद्रव्य या अजीवद्रव्य जो कहा जाता है वह जातिकी अपेक्षा है, व्यक्तियाँ तो अपना पृथक्-पृथक् सत्ता रखने वाली जुदी-जुदी ही हैं। इसी तरह अनन्त जड़ और अनन्त चेतन पदार्थोंको एक द्रव्यत्वकी दृष्टिसे एक कहनेपर भी उनका अपना पृथक् व्यक्तित्व समाप्त नहीं हो जाता। इसी तरह द्रव्य, गुण, पर्याय आदिको एक सत्की दृष्टिसे सन्मात्र कहनेपर भी उनके द्रव्य और द्रव्यांश रूपके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं आनी चाहिये। ये सब कल्पनाएँ सादृश्य-मूलक है, न कि एकत्व-मूलक। एकत्व-मूलक अभेद तो प्रत्येक द्रव्यका अपने गुण और पर्यायोंके साथ ही हो सकता है वह अपनी कालक्रमसे होनेवाली अनन्त पर्यायोंकी अविच्छिन्न धारा है, जो सजातीय और विजातीय द्रव्यान्तरोंसे असंक्रान्त रहकर अनादि अनन्त प्रवाहित है। इस तरह प्रत्येक द्रव्यका अद्वैत तात्त्विक और पारमार्थिक है, किन्तु अनन्त अखण्ड द्रव्योंका 'सत्' इस सामान्यदृष्टिसे किया जानेवाला सादृश्यमूलक सगठन काल्पनिक और व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं।

अमुक भू-खण्डका नाम अमुक देश रखनेपर भी वह देश कोई द्रव्य नहीं बन जाता और न उसका मनुष्यके भावोंके अतिरिक्त कोई बाह्यमें पारमार्थिक स्थान ही है। 'सेना, वन' इत्यादि संग्रह-मूलक व्यवहार शब्दप्रयोगकी सहजताके लिए हैं, न कि इनके पारमार्थिक अस्तित्व साधनके लिए। अत. अद्वैतकी कल्पनाका

चरमविकास कहकर खुश होना स्वय उसकी व्यावहारिक और प्रातिभासिक सत्ताको घोषित करना है। हम वैज्ञानिक प्रयोग करनेपर भी दो परमाणुओको अनन्त काल-के लिए अविभागी एकद्रव्य नही बना सकते, यानी एककी सत्ताका लोप विज्ञान-की भट्टी भी नही कर सकती। तात्पर्य यह है कि दिमागी कल्पनाओको पदार्थ-व्यवस्थाका आधार नही बनाया जा सकता।

यह ठीक है कि हम प्रतिभासके बिना पदार्थका अस्तित्व दूसरेको न समझा सकें और न स्वयं समझ सकें, परन्तु इतने मात्रसे उस पदार्थको 'प्रतिभासस्वरूप' ही तो नही कहा जा सकता ? अँधेरेमें यदि बिना प्रकाशके हम घटादि पदार्थोंको नही देख सकते और न दूसरोको दिखा सकते हैं, तो उसका यह अर्थ कदापि नही हो सकता कि घटादि पदार्थ 'प्रकाशरूप' ही हैं। पदार्थोंकी अपने कारणोसे अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ हैं और प्रकाशकी अपने कारणोसे। फिर भी जैसे दोनोंमें प्रकाश्य-प्रकाशकभाव है उसी तरह प्रतिभास और पदार्थोंमें प्रतिभास्य-प्रतिभासक-भाव है। दोनोकी एक सत्ता कदापि नही हो सकती। अत. परम काल्पनिक संग्रहनयकी दृष्टिसे समस्त जगतके पदार्थोको एक 'सत्' भले ही कह दिया जाय, पर यह कहना उसी तरह एक काल्पनिक शब्दसंकेतमात्र है, जिस तरह दुनियाँके अनन्त आमोको एक आम शब्दसे कहना। जगतका हर पदार्थ अपने व्यक्तित्वके लिए संघर्ष करता दिखलाई दे रहा है और प्रकृतिका नियम अल्पकालके लिए उसके अस्तित्वको दूसरेसे सम्बद्ध करके भी उसे अन्तमें स्वतन्त्र ही रहनेका विधान करता है। जडपरमाणुओंमें इस सम्बन्धका सिलसिला परस्परसंयोगके कारण बनता और बिगडता रहता है, परन्तु चेतनतत्त्वोमें इसकी भी संभावना नही है। सबकी अपनी-अपनी अनुभूतियाँ, वासनाएँ और प्रकृतियाँ जुदी-जुदी हैं। उनमें समानता हो सकती है, एकता नही। इस तरह अनन्त भेदोंके भण्डारभूत इस विश्वमें एक अद्वैतकी बात सुन्दर कल्पनासे अधिक महत्त्व नही रखती।

जैन दर्शनमें इस प्रकारकी कल्पनाओको सग्रहनयमें स्थान देकर भी एक शर्त लगा दी है कि कोई भी नय अपने प्रतिपक्षी नयसे निरपेक्ष होकर सत्य नही हो सकता। यानी भेदसे निरपेक्ष अभेद परमार्थसत्‌की पदवीपर नही पहुँच सकता। उसे यह कहना ही होगा कि 'इन स्वय सिद्ध भेदोमें इस दृष्टिसे अभेद कहा जा सकता है।' जो नय प्रतिपक्षी नयके विषयका निराकरण करके एकान्तकी ओर जाता है वह दुर्नय है—नयाभास है। अतः सन्मात्र अद्वैत संग्रहनयका विषय नही होता, किन्तु संग्रहनयाभासका विषय है।

शब्दाद्वैतवादसमीक्षा :

पूर्वपक्ष :

[1]भर्तृहरि आदि वैयाकरण जगतमे मात्र एक 'शब्द'को परमार्थ सत् कहकर समस्त वाच्य-वाचकतत्त्वको उसी शब्दब्रह्मका विवर्त मानते हैं। यद्यपि[2] उपनिषद्में शब्दब्रह्म और परब्रह्मका वर्णन आता है और उसमें यह बताया गया है कि शब्दब्रह्ममें निष्णात व्यक्ति परब्रह्मको प्राप्त करता है। इनका कहना है कि संसारके समस्त ज्ञान शब्दानुविद्ध ही अनुभवमे आते हैं। यदि प्रत्ययोमें शब्दसस्पर्श न हो तो उनकी प्रकाशरूपता ही समाप्त हो जायगी। ज्ञानमें वाग्रूपता शाश्वती है और वही उसका प्राण है। संसारका कोई भी व्यवहार शब्दके विना नहीं होता। अविद्याके कारण ससारमें नाना प्रकारका भेद-प्रपञ्च दिखाई देता है। वस्तुत सभी उसी शब्दब्रह्मकी ही पर्यायें हैं। जैसे एक ही जल वीची, तरंग, बुद्बुद और फेन आदिके आकारको धारण करता है, उसी तरह एक ही शब्दब्रह्म वाच्य-वाचकरूपसे काल्पनिक भेदोमें विभाजित-सा दिखता है। भेद डालनेवाली अविद्याके नाश होने पर समस्त प्रपञ्चोंसे रहित निर्विकल्प शब्दब्रह्मकी प्रतीति हो जाती है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु इस शब्दब्रह्मवादकी प्रक्रिया उसी तरह दूषित है, जिस प्रकार कि पूर्वोक्त ब्रह्माद्वैतवादकी। यह ठीक है कि शब्द, ज्ञानके प्रकाश करनेका एक समर्थ माध्यम है और दूसरे तक अपने भावों और विचारोंको विना शब्दके नही भेजा जा सकता। पर इसका यह अर्थ नही हो सकता कि जगतमें एक शब्दतत्त्व ही है। कोई बूढा लाठीके विना नही चल सकता तो बूढा, लाठी, गति और जमीन सब लाठीकी पर्यायें तो नही हो सकती? अनेक प्रतिभास ऐसे होते हैं जिन्हें शब्दकी स्वल्प शक्ति स्पर्श भी नही कर सकती और असख्य पदार्थ ऐसे पड़े हुए हैं जिन तक मनुष्यका सकेत और उसके द्वारा प्रयुक्त होनेवाले शब्द नही पहुँच पाये हैं। घटादि पदार्थोको कोई जाने, या न जाने, उनके वाचक शब्दका प्रयोग करे, या न करे, पर उनका अपना अस्तित्व शब्द और ज्ञानके अभावमें भी है ही। शब्द-रहित पदार्थ आँखसे दिखाई देता है और अर्थरहित शब्द कानसे सुनाई देता है।

यदि शब्द और अर्थमें तादात्म्य हो, तो अग्नि, पत्थर, छुरा आदि शब्दोंको

---

१ 'अनादिनिधनं शब्दब्रह्मतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥'—वाक्यप० १।१।

२ 'शब्दब्रह्मणि निष्णात परं ब्रह्माधिगच्छति।'—ब्रह्मबिन्दूप० २२।

सुननेसे श्रोत्रका दाह, अभिघात और छेदन आदि होना चाहिये। शब्द और अर्थ भिन्न देश, भिन्न काल और भिन्न आकारवाले होकर एक दूसरेसे निरपेक्ष विभिन्न इन्द्रियोंसे गृहीत होते हैं। अत उनमें तादात्म्य मानना युक्ति और अनुभव दोनोंसे विरुद्ध है। जगतका व्यवहार केवल शब्दात्मक ही तो नही है? अन्य सकेत, स्थापना आदिके द्वारा भी सैकडो व्यवहार चलते है। अत शाब्दिक व्यवहार शब्दके बिना न भी हो, पर अन्य व्यवहारोके चलनेमे क्या बाधा है? यदि शब्द और अर्थ अभिन्न है, तो अघेको शब्दके सुननेपर रूप दिखाई देना चाहिये और वहरेको रूपके दिखाई देनेपर शब्द सुनाई देना चाहिये।

शब्दसे अर्थकी उत्पत्ति कहना या शब्दका अर्थरूपसे परिणमन मानना विज्ञान-सिद्ध कार्यकारणभावके सर्वथा प्रतिकूल है। शब्द तालु आदिके अभिघातसे उत्पन्न होता है और घटादि पदार्थ अपने-अपने कारणोसे। स्वयसिद्ध दोनोमें सकेतके अनुसार वाच्य-वाचकभाव बन जाता है।

जो उपनिषद्वाक्य शब्दब्रह्मकी सिद्धिके लिये दिया जाता है, उसका सीधा अर्थ तो यह है कि दो[1] विद्याएँ जगतमें उपादेय हैं—एक शब्दविद्या और दूसरी ब्रह्मविद्या। शब्दविद्यामे निष्णात व्यक्तिको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति सहजमें हो सकती है। इसमें शब्दज्ञान और आत्मज्ञानका उत्पत्ति-क्रम बताया गया है, न कि जगतमे 'मात्र एक शब्दतत्त्व है', इस प्रतीतिविरुद्ध अव्यावहारिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है। सीधी-सी बात है कि साधकको पहले शब्दव्यवहारमें कुशलता प्रा न करनी चाहिये, तभी वह शब्दोकी उलझनसे ऊपर उठकर यथार्थ तत्त्वतक पहुँच सकता है।

अविद्या और मायाके नामसे सुनिश्चित कार्यकारणभावमूलक जगतके व्यवहारोको और घटपटादि भेदोको काल्पनिक और असत्य इसलिए नही ठहराया जा सकता कि स्वयं अविद्या जब भेदप्रतिभासरूप या भेदप्रतिभासरूपी कार्यको उत्पन्न करनेवाली होनेसे वस्तुसत् सिद्ध हो जाती है, तब वह स्वय पृथक् सत् होकर उस अद्वैतकी विघातक बनती है। निष्कर्ष यह कि अविद्याकी तरह अन्य घटपटादिभेदोको वस्तुसत् होनेमें क्या बाधा है।

सर्वथा नित्य शब्दब्रह्मसे न तो कार्योंकी क्रमिक उत्पत्ति हो सकती है और न उसका क्रमिक परिणमन ही, क्योकि नित्य पदार्थ सदा एकरूप, अविकारी और समर्थ होनेके कारण क्रमिक कार्य या परिणमनका आधार नही हो सकता। सर्वथा नित्यमें परिणमन कैसा?

1. 'द्वे विद्ये वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।'—ब्रह्मबिन्दु० २२।

शब्दब्रह्म जब अर्थरूपसे परिणमन करता है, तब यदि शब्दरूपताको छोड़ देता है, तो सर्वथा नित्य कहाँ रहा ? यदि नही छोड़ता है, तो शब्द और अर्थ दोनोका एक इन्द्रियके द्वारा ग्रहण होना चाहिये। एक शब्दाकारसे अनुस्यूत होनेके कारण जगतके समस्त प्रत्ययोको एकजातिवाला या समानजातिवाला तो कह सकते है, पर एक नही। जैसे कि एक मिट्टीके आकारसे अनुस्यूत होनेके कारण घट, सुराही, सकोरा आदिको मिट्टीकी जातिका और मिट्टीसे बना हुआ ही तो कहा जाता है, न कि इन सबकी एक सत्ता स्थापित की जा सकती है। जगतका प्रत्येक पदार्थ समान और असमान दोनो धर्मोका आधार होता है। समान धर्मोकी दृष्टिसे उनमें 'एक जातिक' व्यवहार होनेपर भी अपने व्यक्तिगत असाधारण स्वभावके कारण उनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता ही है। प्राणोको अन्नमय कहनेका अर्थ यह नही है कि अन्न और प्राण एक वस्तु है।

विशुद्ध आकाशमें तिमिर-रोगीको जो अनेक प्रकारकी रेखाओका मिथ्या भान होता है, उसमें मिथ्या-प्रतिभासका कारण तिमिररोग वास्तविक है, तभी वह वस्तुसत् आकाशमें वस्तुसत् रोगीको मिथ्या प्रतीति कराता है। इसी तरह यदि भेदप्रतिभासकी कारणभूत अविद्या वस्तुसत् मानी जाती है; तो शब्दाद्वैतवाद अपने आप समाप्त है। अत शुष्क कल्पनाके क्षेत्रसे निकलकर दर्शनशास्त्रमें हमें स्वसिद्ध पदार्थोकी विज्ञानाविरुद्ध व्याख्या करनी चाहिये, न कि कल्पनाके आधारसे नये-नये पदार्थोकी सृष्टि। 'सभी ज्ञान शब्दान्वित हो ही' यह भी ऐकान्तिक नियम नही है, क्योंकि भाषा और सकेतसे अनभिज्ञ व्यक्तिको पदार्थोका प्रतिभास होने पर भी तद्वाचक शब्दोकी योजना नही हो पाती। अत शब्दाद्वैतवाद भी प्रत्यक्षादिसे बाधित है।

सांख्यके 'प्रधान' सामान्यवादकी मीमांसा :

पूर्वपक्ष :

साख्य मूलमें दो तत्त्व मानते है। एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। पुरुषतत्त्व व्यापक, निष्क्रिय, कूटस्थ, नित्य और ज्ञानादिपरिणामसे शून्य केवल चेतन है। यह पुरुषतत्त्व अनन्त है, सबकी अपनी-अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति, जिसे प्रधान भी कहते है, परिणामी-नित्य है। इसमे एक अवस्था तिरोहित होकर दूसरी अवस्था आविर्भूत होती है। यह [1]एक है, त्रिगुणात्मक है, विषय है, सामान्य है

१. "त्रिगुणमविवेकि विषय सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।
व्यक्त तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥"
—साख्यका० ११।

और महान् आदि विकारोको उत्पन्न करती है। कारणरूप प्रधान 'अव्यक्त' कहा जाता है और कार्यरूप 'व्यक्त'। [1]इस प्रधानसे, जो कि व्यापक, निष्क्रिय और एक है; सबसे पहले विषयको निश्चय करनेवाली बुद्धि उत्पन्न होती है। इसे महान् कहते हैं। महान्से 'मैं सुन्दर हूँ, मैं दर्शनीय हूँ' इत्यादि अहकार पैदा होता है। अहंकारसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँच तन्मात्राएँ, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वचन, हाथ, पैर, मलस्थान और मूत्रस्थान ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन इस प्रकार सोलह गण पैदा होते हैं। इनमे शब्दतन्मात्रासे आकाश, स्पर्शतन्मात्रासे वायु, रसतन्मात्रासे जल, रूपतन्मात्रासे अग्नि और गन्धतन्मात्रासे पृथ्वी इस प्रकार पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले महान् आदि तेईस विकार प्रकृतिके ही परिणाम हैं और उत्पत्तिके पहले प्रकृतिरूप कारणमे इनका सद्भाव है। इसीलिए साख्य सत्कार्यवादी माने जाते हैं। इस सत्कार्यवादको सिद्ध करनेके लिए निम्नलिखित पाँच हेतु दिये जाते हैं[2] :—

(१) कोई भी असत्कार्य पैदा नही होता। यदि कारणमें कार्य असत् हो, तो वह खरविषाणकी तरह उत्पन्न ही नही हो सकता।

(२) यदि कार्य असत् होता, तो लोग प्रतिनियत उपादान कारणोका ग्रहण क्यो करते ? कोदोके अकुरके लिए कोदोके बीजका बोया जाना और चनेके बीजका न बोया जाना, इस बातका प्रमाण है कि कारणमे कार्य सत् है।

(३) यदि कारणमे कार्य असत् है, तो सभी कारणोसे सभी कार्य उत्पन्न होना चाहिये थे। लेकिन सबसे सब कार्य उत्पन्न नही होते। अत ज्ञात होता है कि जिनसे जो उत्पन्न होते हैं उनमें उन कार्योका सद्भाव है।

(४) प्रतिनियत कारणोकी प्रतिनियत कार्यके उत्पन्न करनेमें ही शक्ति देखी जाती है। समर्थ भी हेतु शक्यक्रिय कार्यको ही उत्पन्न करते है, अशक्यको नही। जो अशक्य है वह शक्यक्रिय हो ही नही सकता।

(५) जगतमे कार्यकारणभाव ही सत्कार्यवादका सबसे बडा प्रमाण है। बीजको कारण कहना इस बातका साक्षी है कि उसमे ही कार्यका सद्भाव है, अन्यथा उसे कारण ही नही कह सकते थे।

---

१ "प्रकृतेर्महान् ततोऽहङ्कार तस्माद् गणश्च षोडशक ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्य. पञ्च भूतानि ॥"
—साख्यका० २२ ।

२ साख्यका० ९ ।

समस्त जगतका कारण एक प्रधान है। एक प्रधान अर्थात् प्रकृतिसे यह समस्त जगत उत्पन्न होता है।

[1]प्रधानसे उत्पन्न होनेवाले कार्य परिमित देखे जाते हैं। उनकी संख्या है। सबमें सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोका अन्वय देखा जाता है। हर कार्य किसी-न-किसीको प्रसाद, लाघव, हर्ष, प्रीति (सत्त्वगुणके कार्य), ताप, शोष, उद्वेग (रजोगुणके कार्य), दैन्य, वीभत्स, गौरव (तमोगुणके कार्य) आदि भाव उत्पन्न करता है। यदि कार्योमें स्वयं सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण न होते; तो वह उक्त भावोमें कारण नहीं बन सकता था। प्रधानमें ऐसी शक्ति है, जिससे वह महान् आदि 'व्यक्त' उत्पन्न करता है। जिस तरह घटादि कार्योको देखकर उनके मिट्टी आदि कारणोका अनुमान होता है, उसी तरह 'महान्' आदि कार्योसे उनके उत्पादक प्रधानका अनुमान होता है। प्रलयकालमें समस्त कार्योका लय इसी एक प्रकृतिमें हो जाता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओमें, तन्मात्रादि सोलह गण अहंकारमें, अहंकार बुद्धिमें और बुद्धि प्रकृतिमें लीन हो जाती है। उस समय व्यक्त अव्यक्तका विवेक नहीं रहता।

[2]इनमें मूल प्रकृति कारण ही होती है और ग्यारह इन्द्रियाँ तथा पाँच भूत ये सोलह कार्य ही होते है और महान, अहंकार तथा पाँच तन्मात्राएँ ये सात पूर्वकी अपेक्षा कार्य और उत्तरकी अपेक्षा कारण होते हैं। इस तरह एक सामान्य प्रधान तत्त्वसे इस समस्त जगतका विपरिणाम होता है और प्रलयकालमें उसीमें उनका लय हो जाता है। पुरुष जलमें कमलपत्रकी तरह निर्लिप्त है, साक्षी है, चेतन है और निर्गुण है। प्रकृतिसंसर्गके कारण [3]बुद्धिरूपी माध्यमके द्वारा इसमें भोगकी कल्पना की जाती है। बुद्धि दोनो ओरसे पारदर्शी दर्पणके समान है। इस मध्यभूत बुद्धि दर्पणमें एक ओरसे इन्द्रियों द्वारा विषयोंका प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओरसे पुरुषकी छाया। इस छायापत्तिके कारण पुरुषमें भोगनेका भान

---

१ "भेदानां परिमाणात् समन्वयात् शक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद् वैश्वरूप्यस्य ॥"
—सांख्यका० १५।

२. "मूलप्रकृतिरविकृतिः महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥"
—सांख्यका० ३।

३. "बुद्धिदर्पणे पुरुषप्रतिबिम्बसङ्क्रान्तिरेव बुद्धिप्रतिसंवेदित्वं पुंसः। तथा च दृशिच्छायापन्नया बुद्ध्या संसृष्टाः शब्दादयो भवन्ति दृश्या इत्यर्थः।"—योगसू० तत्त्वै० २।२०।

होता है, यानी परिणमन तो बुद्धिमें ही होता है और भोगका भान पुरुषमें होता है। वही बुद्धि पुरुष और पदार्थ दोनोकी छायाको ग्रहण करती है। इस तरह बुद्धिदर्पणमें दोनोके प्रतिबिम्बित होनेका नाम ही भोग है। वैसे पुरुष तो कूटस्थ-नित्य और अविकारी है, उसमे कोई परिणमन नही होता।

बँधती भी प्रकृति ही है और छूटती भी प्रकृति ही है। प्रकृति एक वेश्याके समान है। जब वह जान लेती है कि इस पुरुषको 'मै प्रकृतिका नही हूँ, प्रकृति मेरी नही है' इस प्रकारका तत्त्वज्ञान हो गया है और यह मुझसे विरक्त है, तब वह स्वयं हताश होकर पुरुषका संसर्ग छोड देती है। तात्पर्य यह कि सारा खेल इस प्रकृतिका है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु सांख्यकी इस तत्त्वप्रक्रियामे सबसे बड़े दोष ये है। जब [1]एक ही प्रधानका अस्तित्व संसारमें है, तब उस एक तत्त्वसे महान्, अहकाररूप चेतन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्शादि अचेतन इस तरह परस्पर विरोधी दो कार्य कैसे उत्पन्न हो सकते है ? उसी एक कारणसे अमूर्तिक आकाश और मूर्तिक पृथिव्यादिकी उत्पत्ति मानना भी किसी तरह सगत नही है। एक कारण परस्पर अत्यन्त विरोधी दो कार्योको उत्पन्न नही कर सकता। विषयोका निश्चय करनेवाली बुद्धि और अहकार चेतनके धर्म है। इनका उपादान कारण जड प्रकृति नही हो सकती। सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोके कार्य जो प्रसाद, ताप, शोष आदि बताये है, वे भी चेतनके ही विकार है। उसमे प्रकृतिको उपादान कहना किसी भी तरह संगत नही है। एक अखण्ड तत्त्व एक ही समयमे परस्पर विरोधी चेतन-अचेतन, मूर्त्त-अमूर्त्त, सत्त्वप्रधान, रज प्रधान, तम प्रधान आदि अनेक विरोधी कार्योंके रूपसे कैसे वास्तविक परिणमन कर सकता है ? किसी आत्मामें एक पुस्तक राग उत्पन्न करती है और वही पुस्तक दूसरी आत्मामें द्वेष उत्पन्न करती है, तो उसका अर्थ नही है कि पुस्तकमें राग और द्वेप है। चेतन भावोमें चेतन ही उपादान हो सकता है, जड नही। स्वयं राग और द्वेषसे शून्य जड पदार्थ आत्माओके राग और द्वेषके निमित्त बन सकते है।

---

१. यद्यपि मौलिक सांख्योंका एक प्राचीन पक्ष यह था कि हर एक पुरुषके साथ संसर्ग रखनेवाला 'प्रधान' जुदा-जुदा है अर्थात् प्रधान अनेक है। जैसा कि षट्द० समु० गुणरत्न-टीका (पृ० ९९) के इस अवतरणसे ज्ञात होता है—"मौलिकसांख्या हि आत्मानमात्मान प्रति पृथक् प्रधान वदन्ति। उत्तरे तु सांख्या. सर्वात्मस्वपि एक नित्य प्रधानमिति प्रतिपन्ना.।" किन्तु सांख्यकारिका आदि उपलब्ध सांख्यग्रन्थोंमें इस पक्षका कोई निर्देश तक नहीं मिलता।

यदि बन्ध और मोक्ष प्रकृतिको ही होते है, तो पुरुषकी कल्पना निरर्थक है। बुद्धिमें विषयकी छाया पडनेपर भी यदि पुरुषमें भोक्तृत्वरूप परिणमन नही होता, तो उसे भोक्ता कैसे माना जाय ? पुरुष यदि सर्वथा निष्क्रिय है, तो वह भोगक्रिया-का कर्त्ता भी नही हो सकता और इसीलिए भोक्तृत्वके साथ अकर्ता पुरुषकी कोई संगति ही नही बैठती।

मूल प्रकृति यदि निर्विकार है और उत्पाद और व्यय केवल धर्मोमें ही होते है, तो प्रकृतिको परिणामी कैसे कहा जा सकता है ? कारणमें कार्योत्पादनकी शक्ति तो मानी जा सकती है, पर कार्यकालकी तरह उसका प्रकट सद्भाव स्वीकार नही किया जा सकता। 'मिट्टीमे घडा अपने आकारमें मौजूद है और वह केवल कुम्हारके व्यापारसे प्रकट होता है' इसके स्थानमें यह कहना अधिक उपयुक्त है कि 'मिट्टीमें सामान्य रूपसे घटादि कार्योके उत्पादन करनेकी शक्ति है, कुम्हारके व्यापार आदिका निमित्त पाकर वह शक्तिवाली मिट्टी अपनी पूर्वपिण्डपर्यायको छोडकर घटपर्यायको धारण करती है', यानी मिट्टी स्वयं घडा बन जाती है। कार्य द्रव्यकी पर्याय है और वह पर्याय किसी भी द्रव्यमें शक्तिरूपसे ही व्यवहृत हो सकती है।

वस्तुत प्रकृतिके ससर्गसे उत्पन्न होनेपर भी बुद्धि, अहकार आदि धर्मोका आधार पुरुष ही हो सकता है, भले ही ये धर्म प्रकृतिससर्गज होनेसे अनित्य हो। अभिन्न स्वभाववाली एक ही प्रकृति अखण्ड तत्त्व होकर कैसे अनन्त पुरुषोके साथ विभिन्न प्रकारका ससर्ग एक साथ कर सकती है ? अभिन्न स्वभाव होनेके कारण सबके साथ एक प्रकारका ही ससर्ग होना चाहिये। फिर मुक्तात्माओंके साथ अससर्ग और ससारी आत्माओंके साथ ससर्ग यह भेद भी व्यापक और अभिन्न प्रकृतिमें कैसे बन सकता है ?

प्रकृतिको अन्धी और पुरुषको पङ्गु मानकर दोनोके ससर्गसे सृष्टिकी कल्पना-का विचार सुननेमें सुन्दर तो लगता है, पर जिस प्रकार अन्ध और पङ्गु दोनोमे ससर्गकी इच्छा और उस जातिका परिणमन होनेपर ही सृष्टि सम्भव होती है, उसी तरह जबतक पुरुष और प्रकृति दोनोमे स्वतन्त्र परिणमनकी योग्यता नही मानी जायगी तबतक एकके परिणामी होनेपर भी न तो संसर्गकी सम्भावना है और न सृष्टिकी ही। दोनो एक दूसरेके परिणमनोमें निमित्त कारण हो सकते है, उपादान नही।

एक ही चैतन्य हर्ष, विषाद, ज्ञान, विज्ञान आदि अनेक पर्यायोको धारण करनेवाला संविद्-रूपसे अनुभवमें आता है। उसीमें महान्, अहङ्कार आदि सज्ञाएँ

की जा सकती है, पर इन विभिन्न भावोको चेतनसे भिन्न जड-प्रकृतिका धर्म नही माना जा सकता। जलमें कमलकी तरह पुरुष यदि सर्वथा निर्लिप्त है, तो प्रकृति-गत परिणामोका औपचारिक भोक्तृत्व घटा देनेपर भी वस्तुत. न तो वह भोक्ता ही सिद्ध होता है और न चेतयिता ही। अत पुरुषको वास्तविक उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका आधार मानकर परिणामी नित्य ही स्वीकार करना चाहिए। अन्यथा कृतनाश और अकृताभ्यागम नामके दूषण आते हैं। जिस प्रकृतिने कार्य किया, वह तो उसका फल नही भोगती और जो पुरुष भोक्ता होता है, वह कर्त्ता नही है। यह असगति पुरुषको अधिकारी माननेमें बनी ही रहती है।

यदि 'व्यक्त' रूप महदादि विकार और 'अव्यक्त' रूप प्रकृतिमें अभेद है, तो महदादिकी उत्पत्ति और विनाशसे प्रकृति अलिप्त कैसे रह सकती है? अत परस्पर विरोधी अनन्त कार्योकी उत्पत्तिके निर्वाहके लिए अनन्त ही प्रकृतितत्त्व जुदे-जुदे मानना चाहिये, जिसके विलक्षण परिणमनोसे इस सृष्टिका वैचित्र्य सुसंगत हो सकता है। वे सब तत्त्व एक प्रकृतिजातिके हो सकते है यानी जातिकी, अपेक्षा वे एक कहे जा सकते है, पर सर्वथा एक नही, उनका पृथक् अस्तित्व रहना ही चाहिए। शब्दसे आकाश, रूपसे अग्नि इत्यादि गुणोसे गुणीकी उत्पत्तिकी बात असगत है। गुण गुणीको पैदा नही करता, बल्कि गुणीमें ही नाना गुण अव-स्थाभेदसे उत्पन्न होते और विनष्ट होते है। घट, सकोरा, सुराही आदि कार्योमें मिट्टीका अन्वय देखकर यही तो सिद्ध किया जा सकता है कि इनके उत्पादक परमाणु एक मिट्टी जातिके है।

सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिए जो 'असदकरणात्' आदि पाँच हेतु दिये है, वे सब कथञ्चित् सद्-असद् कार्यवादमें ही सम्भव हो सकते है। अर्थात् प्रत्येक कार्य अपने आधारभूत द्रव्यमें शक्तिकी दृष्टिसे ही सत् कहा जा सकता है, पर्यायकी दृष्टिसे नही। यदि पर्यायकी दृष्टिसे भी सत् हो, तो कारणोका व्यापार निरर्थक हो जाता है। उपादान-उपादेयभाव, शक्य हेतुका शक्यक्रिय कार्यको ही पैदा करना, और कारणकार्यविभाग आदि कथचित् सत्कार्यवादमें ही सम्भव है।

त्रिगुणका अन्वय देखकर कार्योको एक जातिका ही तो माना जा सकता है न कि एक कारणसे उत्पन्न। समस्त पुरुषोमें परस्पर चेतनत्व और भोक्तृत्व आदि धर्मोका अन्वय देखा जाता है, पर वे सब किसी एक कारणसे उत्पन्न नही हुए हैं। प्रधान और पुरुषमें नित्यत्व, सत्त्व आदि धर्मोका अन्वय होनेपर भी दोनोकी एक कारणसे उत्पत्ति नही मानी जाती।

यदि प्रकृति नित्यस्वभाव होकर तत्त्वसृष्टि या भूतसृष्टिमें प्रवृत्त होती है, तो अचेतन प्रकृतिको यह ज्ञान नही हो सकता कि इतनी ही तत्त्वसृष्टि होनी चाहिए

और यह ही इसका उपकारक है। ऐसी हालतमें निरन्तर प्रवृत्ति नहीं हो सकती। यदि हो, तो प्रवृत्तिका अन्त नहीं आ सकता। 'पुरुषके भोगके लिए मैं सृष्टि करूँ' यह ज्ञान भी अचेतन प्रकृतिको कैसे हो सकता है?

वेश्याके दृष्टान्तसे बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था जमाना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वेश्याका संसर्ग उसी पुरुषसे होता है, जो स्वयं उसकी कामना करता है, उसी पर उसका जादू चलता है। यानी अनुराग होने पर आसक्ति और विराग होने पर विरक्तिका चक्र तभी चलेगा, जब पुरुष स्वयं अनुराग और विराग अवस्थाओंको धारण करे। कोई वेश्या स्वयं अनुरक्त होकर किसी पत्थरसे नहीं चिपटती। अतः जब तक पुरुषका मिथ्याज्ञान, अनुराग और विराग आदि परिणमनोंका वास्तविक आधार नहीं माना जाता, तब तक बन्ध और मोक्षकी प्रक्रिया बन ही नहीं सकती। जब उसके स्वरूपभूत चैतन्यका ही प्रकृतिसंसर्गसे विकारी परिणमन हो तभी वह मिथ्याज्ञानी होकर विपर्ययमूलक बन्ध-दशाको पा सकता है और चैतन्यकी भावना-से सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातरूप समाधिसे पहुँचकर जीवन्मुक्त और परममुक्त दशा-को पहुँच सकता है। अतः पुरुषको परिणामी नित्य माने बिना न तो प्रतीतिसिद्ध लोकव्यवहारका ही निर्वाह हो सकता है और न पारमार्थिक [illegible] का बन्ध-मोक्षव्यवस्थाका ही सुसंगत रूप बन सकता है।

जब पुरुष स्वय राग, विराग, विपर्यय, विवेक और ज्ञान-विज्ञानरूप परिणमनोका वास्तविक उपादान होता है, तब उसे हम लगडा नही कह सकते। एक दृष्टिसे प्रकृति न केवल अन्धी है, किन्तु पुरुषके परिणमनोके लिए वह लँगडी भी है। 'जो करे वह भोगे' यह एक निरपवाद सिद्धान्त है। अत पुरुपमें जब वास्तविक भोक्तृत्व माने बिना चारा नही है, तब वास्तविक कर्तृत्व भी उसीमें मानना ही उचित है। जब कर्तृत्व और भोक्तृत्व अवस्थाएँ पुरुषगत ही हो जाती है, तब उसका कूटस्थ नित्यत्व अपने आप समाप्त हो जाता है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप परिणाम प्रत्येक सत्का अपरिहार्य लक्षण है, चाहे चेतन हो या अचेतन, मूर्त्त हो या अमूर्त्त, प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने स्वाभाविक परिणामी स्वभावके अनुसार एक पर्यायको छोडकर दूसरी पर्यायको धारण करता चला जा रहा है। ये परिणमन सदृश भी होते है और विसदृश भी। परिणमनकी धाराको तो अपनी गतिसे प्रतिक्षण बहना है। बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके अनुसार उसमे विविधता बराबर आती रहती है। साख्यके इस मतको केवल सामान्यवादमे इसलिए शामिल किया है कि उसने प्रकृतिको एक, नित्य, व्यापक और अखण्ड तत्त्व मानकर उसे ही मूर्त्त, अमूर्त्त आदि विरोधी परिणमनोका सामान्य आधार माना है।

विशेषपदार्थवाद :

बौद्धका पूर्वपक्ष :

बौद्ध साधारणतया विशेषपदार्थको ही वास्तविक तत्त्व मानते है। स्वलक्षण, चाहे चेतन हो या अचेतन, क्षणिक और परमाणुरूप है। जो, जहाँ और जिस कालमे उत्पन्न होता है वह वही और उसी समय नष्ट हो जाता है। कोई भी पदार्थ देशान्तर और कालान्तरमें व्याप्त नही हो सकता, वह दो देशोको स्पर्श नही कर सकता। हर पदार्थका प्रतिक्षण नष्ट होना स्वभाव है। उसे नाशके लिए किसी अन्य कारणकी आवश्यकता नही है। अगले क्षणकी उत्पत्तिके जितने कारण है उनसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा पूर्वक्षणके विनाशको नही होती, वह उतने ही कारणोसे हो जाता है, अत उसे निर्हेतुक कहते है। निर्हेतुका अर्थ 'कारणोके अभावमे हो जाना' नही है, किन्तु 'उत्पादके कारणोसे भिन्न किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नही रखना' यह है। हर पूर्वक्षण स्वयं विनष्ट होता हुआ उत्तरक्षणको उत्पन्न करता जाता है और इस तरह एक वर्तमानक्षण ही अस्तित्वमें[1]

---

१. 'यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव स ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥'

—उद्धृत प्रमेयरत्नमाला ४।१।

चित्तक्षण भी इसी तरह क्षणप्रवाहरूप है, अपरिवर्तनशील और नित्य नही है। इसी क्षणप्रवाहमें प्राप्त वासनाके अनुसार पूर्वक्षण उत्तरक्षणको उत्पन्न करता हुआ अपना अस्तित्व नि शेष करता जाता है। एकत्व और शाश्वतिकता भ्रम है। उत्तरका पूर्वके साथ इतना ही सम्बन्ध है कि वह उससे उत्पन्न हुआ है और उसका ही वह सर्वस्व है। जगत् केवल प्रतीत्यसमुत्पाद ही है। 'इससे यह उत्पन्न होता है' यह अनवरत कारणकार्यपरम्परा नाम और रूप सभीमें चालू है। निर्वाण अवस्थामें भी यही क्रम चालू रहता है। अन्तर इतना ही है कि जो चित्तसन्तति सास्रव थी, वह निर्वाणमे निरास्रव हो जाती है।

विनाशका भी एक अपना क्रम है। मुद्गरका अभिघात होनेपर जो घटक्षण आगे द्वितीय समर्थ घटको उत्पन्न करता था वह असमर्थ, असमर्थतर और असमर्थतम क्षणोको उत्पन्न करता हुआ कपालकी उत्पत्तिमे कारण हो जाता है। तात्पर्य यह कि उत्पाद सहेतुक है, न कि विनाश। चूँकि विनाशको किसी हेतुकी अपेक्षा नही है, अत वह स्वभावत प्रतिक्षण होता ही रहता है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु [1]क्षणिक परमाणुरूप पदार्थ माननेपर स्कन्ध अवस्था भ्रान्त ठहरती है। यदि पुञ्ज होने पर भी परमाणु अपनी परमाणुरूपता नही छोडते और स्कन्ध-

---

१. दिग्नागादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित क्षणिकवाद इसी रूपमें बुद्धको अभिप्रेत न था, इस विषयकी चर्चा प्रो० दलसुखजीने जैन तर्कवा० टि० पृ० २८१ में इस प्रकार की है—'इस विषयमें प्रथम यह बात ध्यान देनेकी है कि भगवान् बुद्धने उत्पाद, स्थिति और व्यय इन तीनोंके भिन्न क्षण माने थे, ऐसा अगुत्तरनिकाय और अभिधर्म ग्रन्थोंके देखनेसे प्रतीत होता है ("उप्पादठितिभगवसेन खणत्तय एकचित्तक्खणं नाम। तानि पन सत्तरस चित्तक्खणानि रूपधम्मान आयु"—अभिधम्मत्थ० ४ ८) अगुत्तरनिकायमें सस्कृतके तीन लक्षण बताये गये है—सस्कृत वस्तुका उत्पाद होता है, व्यय होता है और स्थितिका अन्यथात्व होता है। इससे फलित होता है कि प्रथम उत्पत्ति, फिर जरा और फिर विनाश, इस क्रमसे वस्तुमें अनित्यता—क्षणिकता सिद्ध है। • चित्तक्षण क्षणिक है, इसका अर्थ है कि वह तीन क्षण तक है। प्राचीन बौद्ध शास्त्रमें मात्र चित्त-नाम ही को योगाचारकी तरह वस्तुसत् नही माना है और उसकी आयु योगाचारकी तरह एकक्षण नहीं, स्वसम्मत चित्तकी तरह त्रिक्षण नहीं, किन्तु १७ क्षण मानी गई है। ये १७ क्षण भी समयके अर्थमें नहीं, किन्तु १७ चित्तक्षणके अर्थमें लिये गये हैं अर्थात् वस्तुत एक चित्तक्षण बराबर ३ क्षण होनेसे ५१ क्षणकी आयु रूपकी मानी गई है। यदि अभिधम्मत्थसंगहकारने जो बताया है वैसा ही भगवान् बुद्धको अभिप्रेत हो तो कहना होगा कि बुद्धसम्मत क्षणिकता और योगाचारसम्मत क्षणिकतामें महत्त्वपूर्ण अन्तर है।…सर्वास्तिवादियोंके मतसे 'सत्'

अवस्था धारण नही करते तथा अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओका पुज भी अतीन्द्रिय ही बना रहता है, तो वह घट, पट आदि रूपसे इन्द्रियग्राह्य नही हो सकेगा। परमाणुओमें परस्पर विशिष्ट रासायनिक सम्बन्ध होनेपर ही उनमें स्थूलता आती है, और तभी वे इन्द्रियग्राह्य होते है। परमाणुओका परस्पर जो सम्बन्ध होता है वह स्निग्धता और रूक्षताके कारण गुणात्मक परिवर्तनके रूपमें होता है। वह कथञ्चित्तादात्म्यरूप है, उसमें एकदेशादि विकल्प नही उठ सकते। वे ही परमाणु अपनी सूक्ष्मता छोडकर स्थूलरूपताको धारण कर लेते है। पुद्गलोका यही स्वभाव है। यदि परमाणु परस्पर सर्वथा असंसृष्ट रहते है, तो जैसे बिखरे हुए परमाणुओसे जलधारण नही किया जा सकता था वैसे पुञ्जीभूत परमाणुओसे भी जलधारण आदि क्रियाएँ नही हो सकेंगी। पदार्थ पर्यायकी दृष्टिसे प्रतिक्षण विनाशी होकर भी अपनी अविच्छिन्न सन्ततिकी दृष्टिसे कथञ्चित् ध्रुव भी है।

सन्तति, पक्ति और सेनाकी तरह बुद्धिकल्पित ही नही है, किन्तु वास्तविक कार्यकारणपरम्पराकी ध्रुव कोल है। इसीलिए निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद नही माना जा सकता। दीपनिर्वाणका दृष्टान्त भी इसलिये उचित नही है कि दीपकका भी सर्वथा उच्छेद नही होता। जो परमाणु दीपक अवस्थामे भासुराकार और दीप्त थे वे बुझनेपर श्यामरूप और अदीप्त बन जाते है। यहाँ केवल पर्यायपरिवर्तन ही हुआ। किसी मौलिक तत्त्वका सर्वथा उच्छेद मानना अवैज्ञानिक है।

वस्तुत बुद्धने विषयोसे वैराग्य और ब्रह्मचर्यकी साधनाके लिये जगत्के क्षणिकत्व और अनित्यत्वकी भावनापर इसलिये भार दिया था कि मोही और परिग्रही प्राणी पदार्थोको स्थिर और स्थूल मानकर उनमे राग करता है, तृष्णासे उनके परिग्रहकी चेष्टा करता है, स्त्री आदिको एक स्थिर और स्थूल पदार्थ

को त्रैकालिक अस्तित्वसे व्याप्ति है। जो सत् है अर्थात् वस्तु है वह तीनों कालमें अस्ति है। 'सर्व' वस्तुको तीनों कालोंमें अस्ति माननेके कारण ही उस वादका नाम सर्वास्तिवाद पड़ा है (देखो, सिस्टम ऑफ बुद्धिस्टिक थाट् पृ० १०२) सर्वास्तिवादियोंने रूपपरमाणुको नित्य मानकर उसीमें पृथिवी, अप्, तेज, वायुरूप होनेकी शक्ति मानी है। (वही पृ० १३४, १३७) ' सर्वास्तिवादियोंने नैयायिकोंके समान परमाणुसमुदायजन्य अवयवीको अतिरिक्त नहीं, किन्तु परमाणुसमुदायको ही अवयवी माना है। दोनोंने परमाणुको नित्य मानते हुए भी समुदाय और अवयवीको अनित्य माना है। सर्वास्तिवादियोंने एक ही परमाणुको अन्य परमाणुके संसर्गसे नाना अवस्थाएँ मानी है और उन्हीं नाना अवस्थाओंको अनित्य माना है, परमाणुको नहीं (वही, पृ० १०१, १३७)'–जैनतर्कवा० टि० पृ० २८२।

मानकर उनके स्तन आदि अवयवोमे रागदृष्टि गडाता है। यदि प्राणी उन्हें केवल हड्डियोका ढाँचा और मासका पिंड, अन्तत परमाणुपुजके रूपमे देखे, तो उसका रागभाव अवश्य कम होगा। 'स्त्री' यह सज्ञा भी स्थूलताके आधारसे कल्पित होती है। अत. वीतरागताकी साधनाके लिये जगत् और शरीरकी अनित्यताका विचार और उसकी बार-बार भावना अत्यन्त अपेक्षित है। जैन साधुओको भी चित्तमे वैराग्यकी दृढताके लिये अनित्यत्व, अशरणत्व आदि भावनाओका उपदेश दिया गया है। परन्तु भावना जुदी वस्तु है और वस्तुतत्त्वका निरूपण जुदा। वैज्ञानिक भावनाके बलपर वस्तुस्वरूपकी मीमासा नही करता, अपितु सुनिश्चित कार्यकारणभावोके प्रयोगसे।

स्त्रीका सर्पिणी, नरकका द्वार, पापकी खानि, नागिन और विषवेल आदि रूपसे जो भावनात्मक वर्णन पाया जाता है वह केवल वैराग्य जागृत करनेके लिये है, इससे स्त्री सर्पिणी या नागिन नही बन जाती। किसी पदार्थको नित्य माननेसे उसमें सहज राग पैदा होता है। आत्माको शाश्वत माननेसे मनुष्य उसके चिर सुखके लिये न्याय और अन्यायसे जैसे-बने-तैसे परिग्रहका संग्रह करने लगता है। अत बुद्धने इस तृष्णामूलक परिग्रहसे विरक्ति लानेके लिये शाश्वत आत्माका ही निषेध करके नैरात्म्यका उपदेश दिया। उन्हें बडा डर था कि जिस प्रकार नित्य आत्माके मोहमे पगे अन्य तीर्थिक तृष्णामें आकठ डूबे हुए है उस तरहके बुद्धके भिक्षु न हो और इसीलिये उन्होने बडी कठोरतासे आत्माकी शाश्वतिकता ही नही, आत्माका ही निषेध कर दिया। जगत्को क्षणिक, शून्य, निरात्मक, अशुचि और दु.खरूप कहना भी मात्र भावनाएँ है। किन्तु आगे जाकर इन्ही भावनाओने दर्शनका रूप ले लिया और एक-एक शब्दको लेकर एक-एक क्षणिकवाद, शून्यवाद, नैरात्म्यवाद आदि वाद खडे हो गये। एक बार इन्हे दार्शनिक रूप मिल जानेपर तो उनका बडे उग्ररूपमें समर्थन हुआ।

बुद्धने योगिज्ञानकी उत्पत्ति चार आर्यसत्योकी भावनाके[1] प्रकर्ष पर्यन्त गमनसे ही तो मानी है। उसमें दृष्टान्त भी दिया है[2] कामुकका। जैसे कोई कामुक अपनी प्रिय कामिनीकी तीव्रतम भावनाके द्वारा उसका सामने उपस्थितकी तरह साक्षात्कार कर लेता है, उसी तरह भावनासे सत्यका साक्षात्कार भी हो जाता है। अत जहाँ तक वैराग्यका सम्बन्ध है वहाँ तक जगत्को क्षणिक और परमाणुपुजरूप मानकर

१. 'भूतार्थभावनाप्रकर्षपर्यन्तजं योगिज्ञानम्।'—न्यायवि० १।११।

२. 'कामशोकभयोन्मादचौरस्वप्नाद्युपप्लुता'।
अभूतानपि पश्यन्ति पुरतोऽवस्थितानिव ॥'—प्रमाणवा० २।२८२।

चलनेमें कोई हानि नही है, क्योकि असत्योपाधिसे भी सत्य तक पहुँचा जाता है, पर दार्शनिकक्षेत्र तो वस्तुस्वरूपकी यथार्थ मीमासा करना चाहता है। अत वहाँ भावनाओका कार्य नही है। प्रतीतिसिद्ध स्थिर और स्थूल पदार्थोको भावनावश असत्यताका फतवा नही दिया जा सकता।

जिस क्रम और यौगपद्यसे अर्थक्रियाकी व्याप्ति है वे सर्वथा क्षणिक पदार्थमें भी नही बन सकते। यदि पूर्वका उत्तरके साथ कोई सम्बन्ध नही है, तो उनमें कार्यकारणभाव ही नही बन सकता। अव्यभिचारी कार्यकारणभाव या उपादानोपादेयभावके लिये पूर्व और उत्तर क्षणमें कोई वास्तविक सम्बन्ध या अन्वय मानना ही होगा, अन्यथा सन्तानान्तरवर्ती उत्तरक्षणके साथ भी उपादानोपादेयभाव बन जाना चाहिये। एक वस्तु जब क्रमश दो क्षणोको या दो देशोको प्राप्त होती है तो उसमें कालकृत या देशकृत क्रम माना जा सकता है, किन्तु जो जहाँ और जब उत्पन्न हो तथा वही और तभी नष्ट हो जाय, तो उसमें क्रम कैसा ? क्रमके अभावमें यौगपद्यकी चर्चा ही व्यर्थ है। जगत्के पदार्थोके विनाशको निर्हेतुक मानकर उसे स्वभावसिद्ध कहना उचित नही है, क्योकि जिस प्रकर उत्तरका उत्पाद अपने कारणोंसे होता है उसी तरह पूर्वका विनाश भी उन्ही कारणोसे होता है। उनमें कारणभेद नही है, इसलिये वस्तुत स्वरूपभेद भी नही है। पूर्वका विनाश और उत्तरका उत्पाद दोनों एक ही वस्तु है। कार्यका उत्पाद ही कारणका विनाश है। जो स्वभावभूत उत्पाद और विनाश है वे तो स्वरसत होते ही रहते है। रह जाती है स्थूल विनाशकी बात, सो वह स्पष्ट ही कारणोकी अपेक्षा रखता है। जब वस्तुमें उत्पाद और विनाश दोनो ही समान कोटिके धर्म है तब उनमेंसे एकको सहेतुक तथा दूसरेको अहेतुक कहना किसी भी तरह उचित नही है।

संसारके समस्त ही जड और चेतन पदार्थोमे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव चारो प्रकारके सम्बन्ध बराबर अनुभवमे आते है। इनमें क्षेत्र, काल और भाव प्रत्यासत्तियाँ व्यवहारके निर्वाहके लिये भी हो पर उपादानोपादेयभावको स्थापित करनेके लिये द्रव्यप्रत्यासत्ति परमार्थ ही मानना होगी। और यह एकद्रव्यतादात्म्यको छोडकर अन्य नही हो सकती। इस एकद्रव्यतादात्म्यके विना बन्ध-मोक्ष, लेन-देन, गुरु-शिष्यादि समस्त व्यवहार समाप्त हो जाते है। 'प्रतीत्य समुत्पाद' स्वयं, जिसको प्रतीत्य जो समुत्पादको प्राप्त करता है उनमें परस्पर सम्बन्धकी सिद्धि कर देता है। यहाँ केवल क्रिया मात्र ही नही है, किन्तु क्रियाका आधार कर्ता भी है। जो प्रतीत्य—अपेक्षा करता है, वही उत्पन्न होता है। अत इस एक द्रव्यप्रत्यासत्तिको हर हालतमें स्वीकार करना ही होगा। अव्यभिचारी कार्यकारणभावके आधारसे

पूर्व और उत्तर क्षणोमें एक सन्तति तभी बन सकती है जब कार्य और कारणमें अव्यभिचारिताका नियामक कोई अनुस्यूत परमार्थ तत्त्व स्वीकार किया जाय।

विज्ञानवादकी समीक्षा :

इसी तरह विज्ञानवादमें बाह्यार्थके अस्तित्वका सर्वथा लोप करके केवल उन्हें वासनाकल्पित ही कहना उचित नही है। यह ठीक है कि पदार्थोमे अनेक प्रकारकी सज्ञाएँ और शब्दप्रयोग हमारी कल्पनासे कल्पित हो, पर जो ठोस और सत्य पदार्थ है उनकी सत्तासे इनकार नही किया जा सकता। नीलपदार्थकी सत्ता नीलविज्ञानसे सिद्ध भले ही हो, पर नीलविज्ञान नीलपदार्थकी सत्ताको उत्पन्न नही करता। वह स्वयं सिद्ध है, और नीलविज्ञानके न होनेपर भी उसका स्वसिद्ध अस्तित्व है ही। आँख पदार्थको देखती है, न कि पदार्थको उत्पन्न करती है। प्रमेय और प्रमाण ये सज्ञाएँ सापेक्ष हो, पर दोनो पदार्थ अपनी-अपनी सामग्रीसे स्वतःसिद्ध उत्पत्तिवाले हैं। वासना और कल्पनासे पदार्थको इष्ट-अनिष्ट रूपमें चित्रित किया जाता है, परन्तु पदार्थ उत्पन्न नही किया जा सकता। अत. विज्ञानवाद आजके प्रयोगसिद्ध विज्ञानसे न केवल बाधित ही है, किन्तु व्यवहारानुपयोगी भी है।

शून्यवादकी आलोचना :

शून्यवादके दो रूप हमारे सामने है—एक तो स्वप्नप्रत्ययकी तरह समस्त प्रत्ययोको निरालम्बन कहना अर्थात् प्रत्ययकी सत्ता तो स्वीकार करना, पर उन्हें निर्विषय मानना और दूसरा बाह्यार्थकी तरह ज्ञानका भी लोप करके सर्वशून्य मानना। प्रथम कल्पना एक प्रकार से निर्विषय ज्ञान माननेकी है, जो प्रतीतिविरुद्ध है, क्योंकि प्रकृत अनुमानको यदि निर्विषय माना जाता है, तो इससे 'निरालम्बन ज्ञानवाद' ही सिद्ध नही हो सकता। यदि सविषय मानते हैं; तो इसी अनुमानसे हेतु व्यभिचारी हो जाता है। अतः जिन प्रत्ययोका बाह्यार्थ उपलब्ध होता है उन्हें सविषय और जिनका उपलब्ध नही होता, उन्हें निर्विषय मानना उचित है। ज्ञानोमे सत्य और असत्य या अविसंवादी और विसंवादी व्यवस्था बाह्यार्थकी प्राप्ति और अप्राप्तिसे ही तो होती है। अग्निके ज्ञानसे पानी गरम नही किया जा सकता। जगत्का समस्त बाह्य व्यवहार बाह्य-पदार्थोकी वास्तविक सत्तासे ही सभव होता है। सकेतके अनुसार शब्दप्रयोगोकी स्वतन्त्रता होनेपर भी पदार्थोके निजसिद्ध स्वरूप या अस्तित्व किसीके संकेतसे उत्पन्न नही हो सकते।

बाह्यार्थकी तरह ज्ञानका भी अभाव माननेवाले सर्वशून्यपक्षको तो सिद्ध करना ही कठिन है। जिस प्रमाणसे सर्वशून्यता साधी जाती है उस प्रमाणको भी यदि शून्य अर्थात् असत् माना जाता है, तो फिर शून्यता किससे सिद्ध की जायगी ? और यदि वह प्रमाण अशून्य अर्थात् सत् है, तो 'सर्वं शून्यम्' कहाँ रहा ? कम-से-कम उस प्रमाणको तो अशून्य मानना ही पडा। प्रमाण और प्रमेय व्यवहार परस्परसापेक्ष हो सकते है, परन्तु उनका स्वरूप परस्पर-सापेक्ष नही है, वह तो स्वत सिद्ध है। अत. क्षणिक और शून्य भावनाओसे वस्तुकी सिद्धि नही की जा सकती।

इस तरह विशेषपदार्थवाद भी विपयगभास है, क्योकि जैसा उसका वर्णन ह वैसा उसका अस्तित्व सिद्ध नही हो पाता।

उभयस्वतन्त्रवाद मीमांसा :

पूर्वपक्ष :

वैशेपिक सामान्य अर्थात् जाति और द्रव्य, गुण, कर्मरूप विशेष अर्थात् व्यक्तियोको स्वतन्त्र पदार्थ मानते है। सामान्य और विशेषका समवाय सम्वन्ध होता है। वैशेपिकका मूल मन्त्र है—प्रत्ययके आधारसे पदार्थ व्यवस्था करना! चूंकि 'द्रव्य द्रव्य' यह प्रत्यय होता है, अत. द्रव्य एक पदार्थ है। 'गुण. गुण.' 'कर्म कर्म' इस प्रकारके स्वतन्त्र प्रत्यय होते हैं, अत. गुण और कर्म स्वतन्त्र पदार्थ है। इसी तरह अनुगताकार प्रत्ययके कारण सामान्य पदार्थ, नित्य पदार्थोमे परस्पर भेद स्थापित करनेके लिये विशेषपदार्थ और 'इहेदं' प्रत्ययसे समवाय पदार्थ माने गये है। जितने प्रकारके ज्ञान और शब्दव्यवहार होते है उनका वर्गीकरण करके असाकर्यभावसे उतने पदार्थ माननेका प्रयत्न वैशेपिकोने किया है। इसीलिए इन्हे 'सप्रत्ययोपाध्याय' कहा जाता है।

उत्तरपक्ष :

किन्तु प्रत्यय अर्थात् ज्ञान और शब्दका व्यवहार इतने अपरिपूर्ण और लचर है कि इनपर पूरा-पूरा भरोसा नही किया जा सकता। वे तो वस्तुस्वरूपकी ओर मात्र इशारा ही कर सकते है। वल्कि अखण्ड और अनिर्वचनीय वस्तुको समझने-समझानेके लिये उसको खड-खड कर डालते है और इतना विश्लेपण कर डालते है कि उसी वस्तुके अंश स्वतन्त्र पदार्थ मालूम पडने लगते है। गुण-गुणाश और देश-देशांशकी कल्पना भी आखिर वुद्धि और शब्द व्यवहारकी ही करामात है। एक अखड द्रव्यसे पृथक्भूत या पृथक्सिद्ध गुण और क्रिया नही रह सकती और

न बताई जा सकती है फिर भी बुद्धि उन्हे पृथक् पदार्थ बतानेको तैयार है। पदार्थ तो अपना ठोस और अखड अस्तित्व रखता है, वह अपने परिणमनके अनुसार अनेक प्रत्ययोका विषय हो सकता है। गुण, क्रिया और सम्बन्ध आदि स्वतन्त्र पदार्थ नही है, ये तो द्रव्यकी अवस्थाओके विभिन्न व्यवहार है।

इस तरह सामान्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ नही है, जो नित्य और एक होकर अनेक स्वतन्त्रसत्ताक व्यक्तियोमे मोतियोमे सूतकी तरह पिरोया गया हो। पदार्थोके कुछ परिणमन सदृश भी होते हैं और कुछ विसदृश भी। दो स्वतन्त्रसत्ताक विभिन्न व्यक्तियोमे भूय साम्य देखकर अनुगत व्यवहार होता है। अनेक आत्माएँ संसार अवस्थामें अपने विभिन्न शरीरोमें वर्तमान है। जिनकी अवयवरचना अमुक प्रकारकी सदृश है उनमे 'मनुष्य. मनुष्य' ऐसा व्यवहार सकेतके अनुसार होता है और जिनकी शरीररचना सकेतानुसार घोडो जैसी है उनमें 'अश्व. अश्व.' यह व्यवहार होता है। जिन आत्माओमें अवयवसादृश्यके आधारसे मनुष्यव्यवहार होता है उनमें 'मनुष्यत्व' नामका कोई ऐसा सामान्य पदार्थ नही है, जो अपनी स्वतन्त्र, नित्य, एक और अनेकानुगत सत्ता रखता हो और समवायसम्बन्धसे उनमे रहता हो। इतनी भेदकल्पना पदार्थस्थितिके प्रतिकूल है। 'सत् सत्', 'द्रव्यम् द्रव्यम्', 'गुण. गुण.', 'मनुष्य मनुष्य' इत्यादि सभी व्यवहार सादृश्यमूलक है। सादृश्य भी प्रत्येकनिष्ठ धर्म है, कोई अनेकनिष्ठ स्वतन्त्र पदार्थ नही है। वह तो अनेक अवयवोकी समानतारूप है और तत्तद् अवयव उन-उन व्यक्तियोमें ही रहते है। उनमें समानता देखकर द्रष्टा अनेक प्रकारके छोटे-बड़े दायरेवाले अनुगत-व्यवहार करने लगता है।

सामान्य नित्य, एक और निरश होकर यदि सर्वगत है, तो उसे विभिन्न-देशवाली स्वव्यक्तियोमे खण्डश रहना होगा, क्योकि एक वस्तु एक साथ भिन्न देशोमें पूर्णरूपसे नही रह सकती। नित्य और निरश सामान्य जिस समय एक व्यक्तिमे प्रकट होता है उसी समय उसे सर्वत्र—व्यक्तियोके अन्तरालमें भी प्रकट होना चाहिये। अन्यथा क्वचित् व्यक्त और क्वचित् अव्यक्त रूपसे स्वरूपभेद होनेपर अनित्यत्व और साशत्वका प्रसंग प्राप्त होता है।

जिस तरह सत्तासामान्य पदार्थ अन्य किसी 'सत्तात्व' नामक सामान्यके बिना ही स्वत सत् है उसी तरह द्रव्यादि भी स्वतः सत् ही क्यो न माने जायँ? सत्ताके सम्बन्धसे पहले पदार्थ सत् है, या असत्? यदि सत् है, तो सत्ताका सम्बन्ध मानना निरर्थक है। यदि असत् है, तो उनमें खरविषाणकी तरह सत्तासम्बन्ध हो नही सकता। इसी तरह अन्य सामान्योके सम्बन्धमें भी समझना चाहिए। जिस

तरह सामान्य, विशेष और समवाय स्वत. सत् है—इनमें किसी अन्य सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना नही की जाती, उसी तरह द्रव्यादि भी स्वत सिद्ध सत् है, इनमें भी सत्ताके सम्बन्धकी कल्पना निरर्थक है।

वैशेषिक तुल्य आकृतिवाले और तुल्य गुणवाले परमाणुओमे, मुक्त आत्माओ-मे और मुक्त आत्माओ द्वारा त्यक्त मनोमें भेद-प्रत्यय करानेके लिये इन प्रत्येकमे एक विशेष नामक पदार्थ मानते हैं। ये विशेष अनन्त हैं और नित्यद्रव्यवृत्ति है। अन्य अवयवी आदि पदार्थोमे जाति, आकृति और अवयवसंयोग आदिके कारण भेद किया जा सकता है, पर समान आकृतिवाले, समानगुणवाले नित्य द्रव्योमें भेद करनेके लिये कोई अन्य निमित्त चाहिये और वह निमित्त है विशेप पदार्थ। परन्तु प्रत्ययके आधारसे पदार्थ-व्यवस्था माननेका सिद्धान्त ही गलत है। जितने प्रकारके प्रत्यय होते है, उतने स्वतन्त्र पदार्थ यदि माने जायँ तो पदार्थोकी कोई सीमा ही नही रहेगी। जिस प्रकार एक विशेप दूसरे विशेपसे स्वत. व्यावृत्त है, उसमें अन्य किसी व्यावर्तककी आवश्यकता नही है, उसी तरह परमाणु आदि समस्त पदार्थ अपने असाधारण निज स्वरूपसे ही स्वत. व्यावृत्त रह सकते है, इसके लिये भी किसी स्वतन्त्र विशेप पदार्थकी कोई आवश्यकता नही है। व्यक्तियाँ स्वय ही विशेप है। प्रमाणका कार्य है स्वत सिद्ध पदार्थोकी असंकर व्याख्या करना न कि नये-नये पदार्थोकी कल्पना करना।

फलाभास[1] :

प्रमाणसे फलको सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न कहना फलाभास है। यदि प्रमाण और फलमें सर्वथा भेद माना जाता है, तो भिन्न-भिन्न आत्माओके प्रमाण और फलोमें जैसे प्रमाण-फलभाव नही बनता, उसी तरह एक आत्माके प्रमाण और फलमे भी प्रमाण-फलव्यवहार नही होना चाहिये। समवायसम्बन्ध भी सर्वथा भेद की स्थितिमे नियामक नही हो सकता। यदि सर्वथा अभेद माना जाता है तो 'यह प्रमाण है और यह फल' इस प्रकारका भेदव्यवहार और कारणकार्यभाव भी नही हो सकेगा। जिस आत्माकी प्रमाणरूपसे परिणति हुई है उसीकी अज्ञान-निवृत्ति होती है, अत एक आत्माकी दृष्टिसे प्रमाण और फलमें अभेद है और साधकतमकरणरूप तथा प्रमितिक्रियारूप पर्यायोकी दृष्टिसे उनमे भेद है। अत. प्रमाण और फलमे कथञ्चिद् भेदाभेद मानना ही उचित है।

●

१. परीक्षामुख ६ ६६–७२।

९. नय-विचार

नयका लक्षण :

अधिगमके उपायोंमें प्रमाणके साथ नयका भी निर्देश किया गया है। प्रमाण वस्तुके पूर्णरूपको ग्रहण करता है और नय प्रमाणके द्वारा गृहीत वस्तुके एक अंशको जानता है। ज्ञाताका वह अभिप्रायविशेष नय[1] है जो प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एकदेशको स्पर्श करता है। वस्तु अनन्तधर्मवाली है। प्रमाणज्ञान उसे समग्रभावसे ग्रहण करता है, उसमें अंशविभाजन करनेकी ओर उसका लक्ष्य नही होता। जैसे 'यह घडा है' इस ज्ञानमे प्रमाण घडेको अखड भावसे उसके रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनन्त गुणधर्मोंका विभाग न करके पूर्णरूपमे जानता है, जब कि कोई भी नय उसका विभाजन करके 'रूपवान् घट.' 'रसवान् घट' आदि रूपमें उसे अपने-अपने अभिप्रायके अनुसार जानता है। एक बात ध्यानमे रखनेकी है कि प्रमाण और नय ज्ञानकी ही वृत्तियाँ है, दोनों ज्ञानात्मक पर्यायें है। जब ज्ञाताकी सकलके ग्रहणकी दृष्टि होती है तब उसका ज्ञान प्रमाण होता है और जब उसी प्रमाणसे गृहीत वस्तुको खडश: ग्रहण करनेका अभिप्राय होता है तब वह अंशग्राही अभिप्राय नय कहलाता है। प्रमाणज्ञान नयकी उत्पत्तिके लिये भूमि तैयार करता है।

यद्यपि छद्मस्थोके सभी ज्ञान वस्तुके पूर्णरूपको नही जान पाते, फिर भी जितनेको वह जानते हैं उनमे भी उनकी यदि समग्रके ग्रहणकी दृष्टि है तो वे सकलग्राही ज्ञान प्रमाण है और अंशग्राही विकल्पज्ञान नय। 'रूपवान् घट.' यह ज्ञान भी यदि रूपमुखेन समस्त घटका ज्ञान अखडभावसे करता है तो प्रमाणकी ही सीमामे पहुँचता है और घटके रूप, रस आदिका विभाजन कर यदि घड़ेके रूपको मुख्यतया जानता है तो वह नय कहलाता है। प्रमाणके जाननेका क्रम एकदेशके द्वारा भी समग्रकी तरफ ही है, जब कि नय समग्रवस्तुको विभाजित कर उसके अंशविशेषकी ओर ही झुकता है। प्रमाण चक्षुके द्वारा रूपको देखकर भी उस द्वारसे पूरे घड़ेको आत्मसात् करता है और नय उस घड़ेका विश्लेपण कर उसके रूप आदि अंशोके जाननेकी ओर प्रवृत्त होता है ? इसीलिये प्रमाणको

---

१. 'नयो ज्ञातुरभिप्राय.।'—लघी० श्लो० ५५।
'ज्ञातृणामभिसन्धय. खलु नया.।'—सिद्धिवि०, टी० पृ० ५१७।

सकलादेशी और नयको विकलादेशी कहा है। प्रमाणके द्वारा जानी गई वस्तुको शब्दकी तरंगोंसे अभिव्यक्त करनेके लिये जो ज्ञानकी उठान होती है वह नय है।

नय प्रमाणका एकदेश है :

'नय प्रमाण है या अप्रमाण ?' इस प्रश्नका समाधान 'हाँ' और 'नहीं' में नहीं किया जा सकता है ? जैसे कि घड़ेमें भरे हुए समुद्रके जलको न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र ही[1]। नय प्रमाणसे उत्पन्न होता है, अतः प्रमाणात्मक होकर भी अंशग्राही होनेके कारण पूर्ण प्रमाण नहीं कहा जा सकता, और अप्रमाण तो वह हो ही नहीं सकता। अतः जैसे घड़ेका जल समुद्रैकदेश है असमुद्र नहीं, उसी तरह नय भी प्रमाणैकदेश है, अप्रमाण नहीं। नयके द्वारा ग्रहण की जानेवाली वस्तु भी न तो पूर्ण वस्तु कही जा सकती है और न अवस्तु, किन्तु वह 'वस्त्वेकदेश' ही हो सकती है। तात्पर्य यह कि प्रमाणसागरका वह अंश नय है जिसे ज्ञाताने अपने अभिप्रायके पात्रमें भर लिया है। उसका उत्पत्तिस्थान समुद्र ही है पर उसमें वह विशालता और समग्रता नहीं है जिससे उसमे सब समा सकें। छोटे-बड़े पात्र अपनी मर्यादाके अनुसार ही तो जल ग्रहण करते हैं। प्रमाणकी रंगशालामे नय अनेक रूपों और वेशोंमें अपना नाटक रचता है।

सुनय, दुर्नय :

यद्यपि अनेकान्तात्मक वस्तुके एक-एक अन्त अर्थात् धर्मोको विषय करनेवाले अभिप्रायविशेष प्रमाणकी ही सन्तान है, पर इनमें यदि सुमेल, परस्पर प्रीति और अपेक्षा है तो ही ये सुनय हैं, अन्यथा दुर्नय। सुनय अनेकान्तात्मक वस्तुके अमुक अंशको मुख्यभावसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोका निराकरण नहीं करता, उनकी ओर तटस्थभाव रखता है। जैसे बापकी जायदादमें सभी सन्तानोका समान हक होता है और सपूत वही कहा जाता है जो अपने अन्य भाइयोंके हकको ईमानदारीसे स्वीकार करता है, उनके हड़पनेकी चेष्टा कभी भी नहीं करता, किन्तु सद्भाव ही उत्पन्न करता है, उसी तरह अनन्तधर्मा वस्तुमें सभी नयोका समान अधिकार है और सुनय वही कहा जायगा जो अपने अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्यके अंशोको गौण तो करे पर उनका निराकरण न करे, उनकी अपेक्षा करे अर्थात् उनके अस्तित्वको स्वीकार करे। जो दूसरेका निराकरण करता है और अपना ही अधिकार जमाता है वह कलहकारी कपूतकी तरह दुर्नय कहलाता है।

---

१. 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥'

—त० श्लो० १।६। नयविवरण श्लो० ६।

प्रमाणमें पूर्ण वस्तु समाती है। नय एक अंशको मुख्य रूपसे ग्रहण करके भी अन्य अंशोको गौण करता है, पर उनकी अपेक्षा रखता है, तिरस्कार तो कभी भी नही करता। किन्तु दुर्नय अन्यनिरपेक्ष होकर अन्यका निराकरण करता है। प्रमाण[1] 'तत् और अतत्' सभीको जानता है, नयमें 'अतत्' या 'तत्' गौण रहता है और केवल 'तत्' या 'अतत्' की प्रतिपत्ति होती है, पर दुर्नय अन्यका निराकरण करता है। [2]प्रमाण 'सत्' को ग्रहण करता है, और नय 'स्यात् सत्' इस तरह सापेक्ष रूपसे जानता है जब कि दुर्नय 'सदेव' ऐसा अवधारणकर अन्यका तिरस्कार करता है। निष्कर्ष यह कि सापेक्षता ही नयका[3] प्राण है।

आचार्य सिद्धसेनने अपने सन्मतिसूत्र (१।२१–२५) में कहा है कि—

"तम्हा सव्वे वि णया मिच्छादिट्ठी सपक्खपडिबद्धा।
अण्णोण्णणिस्सिआ उण हवन्ति सम्मत्तसब्भावा॥"

—सन्मति० १।२२।

वे सभी नय मिथ्यादृष्टि है जो अपने ही पक्षका आग्रह करते हैं—परका निषेध करते है, किन्तु जब वे ही परस्पर सापेक्ष और अन्योन्याश्रित होते है तब सम्यक्त्वके सद्भाववाले होते है अर्थात् सम्यग्दृष्टि होते है। जैसे अनेक प्रकारके गुणवाली वैडूर्य आदि मणियाँ महामूल्यवाली होकर भी यदि एक सूत्रमें पिरोई हुई न हो, परस्पर घटक न हो, तो 'रत्नावली' सज्ञा नही पा सकती, उसी तरह अपने नियत वादोका आग्रह रखनेवाले परस्पर-निरपेक्ष नय सम्यक्त्वपनेको नही पा सकते, भले ही वे अपने-अपने पक्षके लिये कितने ही महत्त्वके क्यो न हो। जिस प्रकार वे ही मणियाँ एक सूतमें पिरोई जाकर 'रत्नावली या रत्नाहार' बन जाती है उसी तरह सभी नय परस्परसापेक्ष होकर सम्यक्पनेको प्राप्त हो जाते है, वे सुनय बन जाते है। अन्तमें वे कहते हैं—

"जे वयणिज्जवियप्पा सजुज्जतेसु होंति एएसु।
सा ससमयपण्णवणा तित्थयरासायणा अण्णा॥"

—सन्मति० १।५३।

---

१ 'धर्मान्तरादानोपेक्षाहानिलक्षणत्वात् प्रमाणनय दुर्नयाना प्रकारान्तरासंभवाच्च। प्रमाणात्त दतत्स्वभावप्रतिपत्तेः तत्प्रतिपत्तेः तदन्यनिराकृतेश्च।'

—अष्टश०, अष्टसह० पृ० २९०।

२ 'सदेव सत् स्यात् सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणैः।'

—अन्ययोगव्य० श्लो० २८।

३. 'निरपेक्षा नया मिथ्या- सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्।'

—आप्तमी० श्लो० १०८।

जो वचनविकल्परूपी नय परस्पर सम्बद्ध होकर स्वविषयका प्रतिपादन करते है वह उनकी स्वसमयप्रज्ञापना है तथा अन्य—निरपेक्षवृत्ति तीर्थङ्करकी आसादना है।

आचार्य कुन्दकुन्द इसी तत्त्वको बडी मार्मिक रीतिसे समझाते है—

"दोण्हवि णयाण भणिय जाणइ णवरिं तु समयपडिवद्धो।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किञ्चिवि णयपक्खपरिहीणो॥"

—समयसार गाथा १४३।

स्वसमयी व्यक्ति दोनों नयोके वक्तव्यको जानता तो है, पर किसी एक नयका तिरस्कार करके दूसरे नयके पक्षको ग्रहण नही करता। वह एक नयको द्वितीय-सापेक्षरूपसे ही ग्रहण करता है।

वस्तु जब अनन्तधर्मात्मक है तब स्वभावत. एक-एक धर्मको ग्रहण करनेवाले अभिप्राय भी अनन्त ही होगे, भले ही उनके वाचक पृथक्-पृथक् शब्द न मिलें, पर जितने शब्द है उनके वाच्य धर्मोको जाननेवाले उतने अभिप्राय तो अवश्य ही होते है। यानी अभिप्रायोकी संख्याकी अपेक्षा हम नयोकी सीमा न बाँध सकें, पर यह तो सुनिश्चितरूपसे कह ही सकते है कि जितने शब्द है उतने तो नय अवश्य हो सकते हैं, क्योकि कोई भी वचनमार्ग अभिप्रायके विना हो ही नही सकता। ऐसे अनेक अभिप्राय तो संभव है जिनके वाचक शब्द न मिले, पर ऐसा एक भी सार्थक शब्द नही हो सकता, जो बिना अभिप्रायके प्रयुक्त होता हो। अत सामान्यतया जितने शब्द है उतने[1] नय है।

यह विधान यह मानकर किया जाता है कि प्रत्येक शब्द वस्तुके किसी-न-किसी धर्मका वाचक होता है। इसीलिए तत्त्वार्थभाष्य (१।३४) में 'ये नय क्या एक वस्तुके विषयमे परस्पर विरोधी तन्त्रोंके मतवाद है या जैनाचार्योके ही परस्पर मतभेद हैं ?' इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्पष्ट लिखा है कि 'न तो ये तन्त्रान्तरीय मतवाद है और न आचार्योके ही पारस्परिक मतभेद है ?' किन्तु ज्ञेय अर्थको जाननेवाले नाना अध्यवसाय है।' एक ही वस्तुको अपेक्षाभेदसे या अनेक दृष्टिकोणोंसे ग्रहण करनेवाले विकल्प हैं। वे हवाई कल्पनाएँ नही है। और न शेखचिल्लीके विचार ही हैं, किन्तु अर्थको नाना प्रकारसे जाननेवाले अभिप्राय-विशेष है।

ये निर्विषय न होकर ज्ञान, शब्द या अर्थ किसी-न-किसीको विषय अवश्य करते है। इसका विवेक करना ज्ञाताका कार्य है। जैसे एक ही लोक सत्की

१. "जावइया वयणपहा तावइया होंति णयवाया।" —सन्मति० ३।४७।

अपेक्षा एक है, जीव और अजीवके भेदसे दो, ऊर्ध्व, मध्य और अध के भेदसे तीन, चार प्रकारके द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावरूप होनेसे चार, पाँच अस्तिकायोकी अपेक्षा पाँच और छह द्रव्योकी अपेक्षा छह प्रकारका कहा जा सकता है। ये अपेक्षाभेदसे होनेवाले विकल्प हैं, मात्र मतभेद या विवाद नही हैं। उसी तरह नयवाद भी अपेक्षाभेदसे होनेवाले वस्तुके विभिन्न अध्यवसाय हैं।

दो नयः द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

इस तरह सामान्यतया अभिप्रायोकी अनन्तता होनेपर भी उन्हे दो विभागोमें बाँटा जा सकता है—एक अभेदको ग्रहण करनेवाले और दूसरे भेदको ग्रहण करने वाले। वस्तुमे स्वरूपत अभेद है, वह अखड है और अपनेमें एक मौलिक है। उसे अनेक गुण, पर्याय और धर्मोके द्वारा अनेकरूपमें ग्रहण किया जाता है। अभेदग्राहिणी दृष्टि द्रव्यदृष्टि कही जाती है और भेदग्राहिणी दृष्टि पर्यायदृष्टि। द्रव्यको मुख्यरूपसे ग्रहण करनेवाला नय द्रव्यास्तिक या अव्युच्छित्ति नय कहलाता है और पर्यायको ग्रहण करनेवाला नय पर्यायास्तिक या व्युच्छित्ति नय। अभेद अर्थात् सामान्य और भेद यानी विशेप। वस्तुओंमें अभेद और भेदकी कल्पनाके दो-दो प्रकार है। अभेदकी एक कल्पना तो एक अखण्ड मौलिक द्रव्यमें अपनी द्रव्यशक्तिके कारण विवक्षित अभेद है, जो द्रव्य या ऊर्ध्वतासामान्य कहा जाता है। यह अपनी कालक्रमसे होनेवाली क्रमिक पर्यायोमे ऊपरसे नीचे तक व्याप्त रहनेके कारण ऊर्ध्वतासामान्य कहलाता है। यह जिस प्रकार अपनी क्रमिक पर्यायोंको व्याप्त करता है उसी तरह अपने सहभावी गुण और धर्मोको भी व्याप्त करता है। दूसरी अभेद-कल्पना विभिन्नसत्ताक अनेक द्रव्योमे संग्रहकी दृष्टिसे की जाती है। यह कल्पना शब्दव्यवहारके निर्वाहके लिए सादृश्यकी अपेक्षासे की जाती है। अनेक स्वतन्त्रसत्ताक मनुष्योमें सादृश्यमूलक मनुष्यत्व जातिकी अपेक्षा मनुष्यत्व सामान्यकी कल्पना तिर्यक्सामान्य कहलाती है। यह अनेक द्रव्योमें तिरछी चलती है। एक द्रव्यकी पर्यायोमे होनेवाली एक भेदकल्पना पर्यायविशेप कहलाती है तथा विभिन्न द्रव्योमे प्रतीत होनेवाली दूसरी भेद कल्पना व्यतिरेक-विशेष कही जाती है। इस प्रकार दोनो प्रकारके अभेदोको विषय करनेवाली दृष्टि द्रव्यदृष्टि है और दोनो भेदोको विषय करनेवाली दृष्टि पर्यायदृष्टि है।

परमार्थ और व्यवहार :

परमार्थत. प्रत्येक द्रव्यगत अभेदको ग्रहण करनेवाली दृष्टि ही द्रव्यार्थिक और प्रत्येक द्रव्यगत पर्यायभेदको जाननेवाली दृष्टि ही पर्यायार्थिक होती है। अनेक द्रव्यगत अभेद औपचारिक और व्यावहारिक है, अतः उनमें सादृश्यमूलक अभेद

भी व्यावहारिक ही है, पारमार्थिक नही। अनेक द्रव्योका भेद पारमार्थिक ही है। 'मनुष्यत्व' मात्र सादृश्यमूलक कल्पना है। कोई एक ऐसा मनुष्यत्व नामका पदार्थ नही है, जो अनेक मनुष्यद्रव्योमें मोतियोमें सूतकी तरह पिरोया गया हो। सादृश्य भी अनेकनिष्ठ धर्म नही है, किन्तु प्रत्येक व्यक्तिमें रहता है। उसका व्यवहार अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो प्रत्येकनिष्ठ ही है। अत. किन्ही भी सजातीय या विजातीय अनेक द्रव्योका सादृश्यमूलक अभेदसे सग्रह केवल व्यावहारिक है, पारमार्थिक नही। अनन्त पुद्‌गलपरमाणुद्रव्योंको पुद्‌गलत्वेन एक कहना व्यवहार-के लिए है। दो पृथक् परमाणुओकी सत्ता कभी भी एक नही हो सकती। एक द्रव्यगत ऊर्ध्वतासामान्यको छोडकर जितनी भी अभेद-कल्पनाएँ अवान्तरसामान्य या महासामान्यके नामसे की जाती है, वे सब व्यावहारिक हैं। उनका वस्तुस्थिति-से इतना ही सम्बन्ध है कि वे शब्दोके द्वारा उन पृथक् वस्तुओका सग्रह कर रही हैं। जिस प्रकार अनेकद्रव्यगत अभेद व्यावहारिक है उसी तरह एक द्रव्यमें कालिक पर्यायभेद वास्तविक होकर भी उनमें गुणभेद और धर्मभेद उस अखड अनिर्वच-नीय वस्तुको समझने-समझाने और कहनेके लिए किया जाता है। जिस प्रकार पृथक् सिद्ध द्रव्योको हम विश्लेषणकर अलग स्वतन्त्रभावसे गिना सकते हैं उस तरह किसी एक द्रव्यके गुण और धर्मोको नही बता सकते। अत. परमार्थद्रव्या-र्थिकनय एकद्रव्यगत अभेदको विषय करता है, और व्यवहार पर्यायार्थिक एकद्रव्य-की क्रमिक पर्यायोके कल्पित भेदको। व्यवहारद्रव्यार्थिक अनेकद्रव्यगत कल्पित अभेदको जानता है और परमार्थ पर्यायार्थिक दो द्रव्योके वास्तविक परस्पर भेद-को जानता है। वस्तुत. व्यवहारपर्यायार्थिककी सीमा एक द्रव्यगत गुणभेद और धर्मभेद तक ही है।

द्रव्यास्तिक और द्रव्यार्थिक :

तत्त्वार्थवार्तिक (१।३३) में द्रव्यार्थिकके स्थानमें आनेवाला द्रव्यास्तिक और पर्यायार्थिकके स्थानमें आनेवाला पर्यायास्तिक शब्द इसी सूक्ष्मभेदको सूचित करता है। द्रव्यास्तिकका तात्पर्य है कि जो एकद्रव्यके परमार्थ अस्तित्वको विषय करे और तन्मूलक ही अभेदका प्रख्यापन करे। पर्यायास्तिक एकद्रव्यकी वास्तविक क्रमिक पर्यायोके अस्तित्वको मानकर उन्हीके आधारसे भेदव्यवहार करता है। इस दृष्टिसे अनेकद्रव्यगत परमार्थ भेदको पर्यायार्थिक विषय करके भी उनके भेदको किसी द्रव्यकी पर्याय नही मानता। यहाँ पर्यायशब्दका प्रयोग व्यवहारार्थ है। तात्पर्य यह है कि एकद्रव्यगत अभेदको द्रव्यास्तिक और परमार्थ द्रव्यार्थिक, एकद्रव्यगत पर्यायभेदको पर्यायास्तिक और व्यवहार पर्यायार्थिक, अनेक-

द्रव्योंके सादृश्यमूलक अभेदको व्यवहार द्रव्यार्थिक तथा अनेकद्रव्यगत भेदको परमार्थ पर्यायार्थिक जानता है। अनेकद्रव्यगत भेदको हम 'पर्याय' शब्दसे व्यवहारके लिए ही कहते हैं। इस तरह भेदाभेदात्मक या अनन्तधर्मात्मक ज्ञेयमें ज्ञाताके अभिप्रायानुसार भेद या अभेदको मुख्य और इतरको गौण करके द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयोंकी प्रवृत्ति होती है। कहाँ, कौन-सा भेद या अभेद विवक्षित है, यह समझना वक्ता और श्रोताकी कुशलतापर निर्भर करता है।

यहाँ यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि परमार्थ अभेद एकद्रव्यमें ही होता है और परमार्थ भेद दो स्वतन्त्र द्रव्योंमें। इसी तरह व्यावहारिक अभेद दो पृथक् द्रव्योंमें सादृश्यमूलक होता है और व्यावहारिक भेद एकद्रव्यके दो गुणों, धर्मों या पर्यायोंमें परस्पर होता है। द्रव्य का अपने गुण, धर्म और पर्यायोंसे व्यावहारिक भेद ही होता है, परमार्थतः तो उनकी सत्ता अभिन्न ही है।

तीन प्रकारके पदार्थ और निक्षेप :

तीर्थंकरोंके द्वारा उपदिष्ट समस्त अर्थका संग्रह इन्हीं दो नयोंमें हो जाता है। उनका कथन या तो अभेदप्रधान होता है या भेदप्रधान। जगत्में ठोस और मौलिक अस्तित्व यद्यपि द्रव्यका है और परमार्थ अर्थसंज्ञा भी इसी गुण-पर्यायवाले द्रव्यको दी जाती है। परन्तु व्यवहार केवल परमार्थ अर्थसे ही नहीं चलता। अतः व्यवहारके लिए पदार्थोंका निक्षेप शब्द, ज्ञान और अर्थ तीन प्रकारसे किया जाता है। जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया आदि निमित्तोंकी अपेक्षा किये बिना ही इच्छानुसार संज्ञा रखना 'नाम' कहलाता है। जैसे—किसी लड़केका 'गजराज' यह नाम। शब्दात्मक अर्थका आधार होता है। जिसका नामकरण हो चुका है उस पदार्थका उसीके आकार वाली वस्तुमें या अतदाकार वस्तुमें स्थापना करना 'स्थापना' निक्षेप है। जैसे—हाथीकी मूर्तिमें हाथीकी स्थापना या शतरंजके मुहरेको हाथी कहना। यह ज्ञानात्मक अर्थका आश्रय होता है। अतीत और अनागत पर्यायकी योग्यताकी दृष्टिसे पदार्थमें वह व्यवहार करना 'द्रव्य' निक्षेप है। जैसे—युवराजको राजा कहना या जिसने राजपद छोड़ दिया है उसे भी वर्तमानमें राजा कहना। वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे होनेवाला व्यवहार 'भाव' निक्षेप है जैसे—राज्य करनेवालेको राजा कहना।

इसमें परमार्थ अर्थ—द्रव्य और भाव हैं। ज्ञानात्मक अर्थ स्थापना निक्षेप और शब्दात्मक अर्थ नामनिक्षेपमें गर्भित है। यदि बच्चा शेरके लिये रोता है तो उसे शेरका तदाकार खिलौना देकर ही व्यवहार निभाया जा सकता है। जगत्के समस्त शाब्दिक व्यवहार शब्दसे ही चल रहे हैं। द्रव्य और भाव पदार्थको त्रैकालिक

पर्यायोमें होनेवाले व्यवहारके आधार बनते हैं। 'गजराजको बुला लाओ' यह कहनेपर इस नामक व्यक्ति ही बुलाया जाता है, न कि गजराज-हाथी। राज्याभिषेकके समय युवराज ही 'राजा साहिब' कहे जाते हैं और राज-सभामें वर्तमान राजा ही 'राजा' कहा जाता है। इत्यादि समस्त व्यवहार कही शब्द, कही अर्थ और कही स्थापना अर्थात् ज्ञानसे चलते हुए देखे जाते हैं।

अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका बोध कराना, संशयको दूर करना और तत्त्वार्थका अवधारण करना निक्षेप-प्रक्रियाका प्रयोजन है[1]। प्राचीन शैलीमें प्रत्येक शब्दके प्रयोगके समय निक्षेप करके समझानेकी प्रक्रिया देखी जाती है। जैसे—'घड़ा लाओ' इस वाक्यमें समझाएँगे कि 'घडा' शब्दसे नामघट, स्थापनाघट और द्रव्यघट विवक्षित नही, किन्तु 'भावघट' विवक्षित है। शेरके लिये रोनेवाले बालकको चुप करनेके लिये नामशेर, द्रव्यशेर और भावशेर नही चाहिये, किन्तु स्थापनाशेर चाहिये। 'गजराजको बुलाओ' यहाँ स्थापनागजराज, द्रव्यगजराज या भावगजराज नही बुलाया जाता किन्तु 'नाम गजराज' ही बुलाया जाता है। अत अप्रस्तुतका निराकरण करके प्रस्तुतका ज्ञान करना निक्षेपका मुख्य प्रयोजन है।

तीन और सात नय :

इस तरह जब हम प्रत्येक पदार्थको अर्थ, शब्द और ज्ञानके आकारोमें बाँटते हैं तो इनके ग्राहक ज्ञान भी स्वभावत तीन श्रेणियोमें बँट जाते हैं—ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय। कुछ व्यवहार केवल ज्ञानाश्रयी होते है, उनमें अर्थके तथाभूत होनेकी चिन्ता नही होती, वे केवल संकल्पसे चलते है। जैसे—आज 'महावीर जयन्ती' है। अर्थके आधारसे चलनेवाले व्यवहारमें एक ओर नित्य, एक और व्यापी रूपमें चरम अभेदकी कल्पना की जा सकती है, तो दूसरी ओर क्षणिकत्व, परमाणुत्व और निरंशत्वकी दृष्टिसे अन्तिम भेदकी कल्पना। तीसरी कल्पना इन दोनो चरम कोटियोके मध्यकी है। पहली कोटिमें सर्वथा अभेद—एकत्व स्वीकार करनेवाले औपनिषद अद्वैतवादी है तो दूसरी ओर वस्तुकी सूक्ष्मतम वर्तमानक्षणवर्ती अर्थपर्यायके ऊपर दृष्टि रखनेवाले क्षणिक निरंश परमाणुवादी बौद्ध हैं। तीसरी कोटिमें पदार्थको नानारूपसे व्यवहारमें लानेवाले

---

१. "उक्त हि—अवगयणिवारणट्ठ पयदस्स परूवणाणिमित्त च।
संसयविणासणट्ठं तच्चत्थवधारणट्ठं च॥"
—धवला टी० सत्प्र०।

नैयायिक, वैशेषिक आदि हैं। चौथे प्रकारके व्यक्ति हैं भाषाशास्त्री। ये एक ही अर्थमे विभिन्न शब्दोके प्रयोगको मानते हैं, परन्तु शब्दनय शब्दभेदसे अर्थभेदको अनिवार्य समझता है। इन सभी प्रकारके व्यवहारोके समन्वयके लिये जैन परम्पराने 'नय-पद्धति' स्वीकार की है। नयका अर्थ है—अभिप्राय, दृष्टि, विवक्षा या अपेक्षा।

ज्ञाननय, अर्थनय और शब्दनय :

इनमें ज्ञानाश्रित व्यवहारका संकल्पमात्रग्राही नैगमनयमे समावेश होता है। अर्थाश्रित अभेद व्यवहारका, जो "आत्मैवेदं सर्वम्" "एकस्मिन् वा विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" आदि उपनिषद्-वाक्योसे प्रकट होता है, संग्रहनयमें अन्तर्भाव किया गया है। इससे नीचे तथा एक परमाणुकी वर्तमानकालीन एक अर्थपर्यायसे पहले होनेवाले यावत् मध्यवर्ती भेदोको, जिनमें नैयायिक, वैशेषिकादि दर्शन हैं, व्यवहारनयमें शामिल किया गया है। अर्थकी आखिरी देश-कोटि परमाणुरूपता तथा अन्तिम काल-कोटिमे क्षणिकताको ग्रहण करनेवाली बौद्धदृष्टि ऋजुसूत्रनयमें स्थान पाती है। यहाँ तक अर्थको सामने रखकर भेद और अभेद कल्पित हुए हैं। अब शब्दशास्त्रियोका नम्बर आता है। काल, कारक, संख्या तथा धातुके साथ लगनेवाले भिन्न-भिन्न उपसर्ग आदिसे प्रयुक्त होनेवाले शब्दोके वाच्य अर्थ भिन्न-भिन्न हैं। इस काल-कारकादिवाचक शब्दभेदसे अर्थभेद ग्रहण करनेवाली दृष्टिका शब्द-नयमें समावेश होता है। एक ही साधनसे निष्पन्न तथा एककालवाचक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। अतः इन पर्यायवाची शब्दोसे भी अर्थभेद माननेवाली दृष्टि समभिरूढमे स्थान पाती है। एवम्भूत नय कहता है कि जिस समय, जो अर्थ, जिस क्रियामें परिणत हो, उसी समय, उसमे, तत्क्रियासे निष्पन्न शब्दका प्रयोग होना चाहिये। इसकी दृष्टिसे सभी शब्द क्रियासे निष्पन्न है। गुणवाचक 'शुक्ल' शब्द शुचिभवनरूप क्रियासे, जातिवाचक 'अश्व' शब्द आशुगमनरूप क्रियासे, क्रियावाचक 'चलति' शब्द चलनेरूप क्रियासे और नामवाचक यदृच्छाशब्द 'देवदत्त' आदि भी 'देवने इसको दिया' आदि क्रियाओसे निष्पन्न होते हैं। इस तरह ज्ञानाश्रयी, अर्थाश्रयी और शब्दाश्रयी समस्त व्यवहारोका समन्वय इन नयोमें किया गया है।

मूल नय सात :

नयोके मूल भेद सात है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत। आचार्य सिद्धसेन (सन्मति० १।४-५) अभेदग्राही नैगमका संग्रहमें तथा भेदग्राही नैगमका व्यवहारनयमें अन्तर्भाव करके नयोके छह भेद ही मानते

है । तत्त्वार्थभाष्यमें नयोंके मूल भेद पाँच मानकर फिर शब्दनयके तीन भेद करके नयोंके सात भेद गिनाये हैं । नैगमनयके देशपरिक्षेपी और सर्वपरिक्षेपी भेद भी तत्त्वार्थभाष्य (१।३४-३५) में पाये जाते हैं । षट्खंडागममें नयोंके नैगमादि शब्दान्त पाँच भेद गिनाये हैं, पर कसायपाहुडमें मूल पाँच भेद गिनाकर शब्दनयके तीन भेद कर दिये हैं और नैगमनयके संग्रहिक और असंग्रहिक दो भेद भी किये हैं । इस तरह सात नय मानना प्रायः सर्वसम्मत है ।

नैगमनय :

[1]संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाला नैगमनय होता है । जैसे कोई पुरुष दरवाजा बनानेके लिये लकड़ी काटने जंगल जा रहा है । पूछनेपर वह कहता है कि 'दरवाजा लेने जा रहा हूँ ।' यहाँ दरवाजा बनानेके संकल्पमें ही 'दरवाजा' व्यवहार किया गया है । संकल्प सत्में भी होता है और असत्में भी । इसी नैगमनयकी मर्यादामें अनेकों औपचारिक व्यवहार भी आते हैं । 'आज महावीर जयन्ती है' इत्यादि व्यवहार इसी नयकी दृष्टिसे किये जाते हैं । निगम गाँवको कहते हैं, अतः गाँवोंमें जिस प्रकारके ग्रामीण व्यवहार चलते हैं वे सब इसी नयकी दृष्टिसे होते हैं ।

[2]अकलंकदेवने धर्म और धर्मी दोनोंको गौण-मुख्यभावसे ग्रहण करना नैगम नयका कार्य बताया है । जैसे—'जीव' कहनेसे ज्ञानादि गुण गौण होकर 'जीव द्रव्य' ही मुख्यरूपसे विवक्षित होता है और 'ज्ञानवान् जीव' कहनेसे ज्ञान-गुण मुख्य हो जाता है और जीव-द्रव्य गौण । यह न केवल धर्मको ही ग्रहण करता है और न केवल धर्मीको ही । विवक्षानुसार दोनों ही इसके विषय होते हैं । भेद और अभेद दोनों ही इसके कार्यक्षेत्रमें आते हैं । दो [illegible]धर्मोंमें, दो धर्मियोंमें तथा धर्म और धर्मीमें एकको प्रधान तथा अन्यको गौण करके ग्रहण करना नैगमनयका ही कार्य है, जब कि संग्रहनय केवल अभेदको ही विषय करता है और व्यवहारनय मात्र भेदको ही । यह किसी एकपर निर्भर नहीं रहता । इसे [illegible] ([illegible]) नैगम कहते हैं । कार्य-कारण और आधार-आधेय आदिकी दृष्टिसे होनेवाले सभी प्रकारके उपचारोंको भी यही विषय करता है ।

---

1. "[illegible]" [illegible]
2. [illegible] [illegible]
3. [illegible] [illegible] ।
4. [illegible] ।

नैगमाभास :

अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, सामान्य और सामान्यवान् आदिमे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योकि गुण गुणीसे पृथक् अपनी सत्ता नही रखता और न गुणोकी उपेक्षा करके गुणी ही अपना अस्तित्व रख सकता है। अत इनमें कथचित्तादात्म्य सम्बन्ध मानना ही उचित है। इसी तरह अवयव-अवयवी, क्रिया-क्रियावान् तथा सामान्य-विशेषमें भी कथंचित्तादात्म्य सम्बन्धको छोडकर दूसरा सम्बन्ध नही है। यदि गुण आदि गुणी आदिसे सर्वथा भिन्न, स्वतन्त्र पदार्थ हो, तो उनमे नियत सम्बन्ध न होनेके कारण गुण-गुणीभाव आदि नही बन सकेंगे। कथचित्तादात्म्यका अर्थ है कि गुण आदि गुणी आदि रूप ही है—उनसे भिन्न नही है। जो स्वय ज्ञानरूप नही है वह ज्ञानके समवायसे भी 'ज्ञ' कैसे बन सकता है? अत. वैशेषिकका गुण आदिका गुणी आदिसे सर्वथा निरपेक्ष भेद मानना नैगमाभास है।[1]

साख्यका ज्ञान और सुख आदिको आत्मासे भिन्न मानना नैगमाभास है। साख्यका कहना है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिके सुख-ज्ञानादिक धर्म है, वे उसीमे आविर्भूत और तिरोहित होते रहते है। इसी प्रकृतिके संसर्गसे पुरुषमें ज्ञानादिकी प्रतीति होती है। प्रकृति इस ज्ञानसुखादिरूप 'व्यक्तकार्यकी' दृष्टिसे दृश्य है तथा अपने कारणरूप 'अव्यक्त' स्वरूपसे अदृश्य है। चेतन पुरुष कूटस्थ—अपरिणामी नित्य है। चैतन्य बुद्धिसे भिन्न है। अत चेतन पुरुषका धर्म बुद्धि नही है। इस तरह साख्यका ज्ञान और आत्मामे सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है, क्योकि चैतन्य और ज्ञानमें कोई भेद नही है। बुद्धि उपलब्धि चैतन्य और ज्ञान आदि सभी पर्यायवाची है। सुख और ज्ञानादिको सर्वथा अनित्य और पुरुषको सर्वथा नित्य मानना भी उचित नही है, क्योकि कूटस्थ नित्य पुरुषमें प्रकृतिके ससर्गसे भी बन्ध, मोक्ष और भोग आदि नही बन सकते। अत. पुरुषको परिणामी-नित्य ही मानना चाहिये, तभी उसमें बन्ध-मोक्षादि व्यवहार घट सकते है। तात्पर्य यह कि अभेद-निरपेक्ष सर्वथा भेद मानना नैगमाभास है।

संग्रह और संग्रहाभास :

अनेक पर्यायोको एकद्रव्यरूपसे या अनेक द्रव्योको सादृश्य-मूलक एकत्वरूपसे अभेदग्राही संग्रह[2] नय होता है। इसकी दृष्टिमें विधि ही मुख्य है। द्रव्यको छोडकर

---

१. लघी० स्व० श्लो० ३६।

२. 'शुद्धं द्रव्यमभिप्रैति संग्रहस्तदभेदतः।'—लघी० श्लो० ३२।

पर्यायें है ही नही। यह दो प्रकारका होता है—एक परसंग्रह और दूसरा अपर-संग्रह। परसग्रहमें सत्‌रूपसे समस्त पदार्थोका संग्रह किया जाता है तथा अपर-संग्रहमे एकद्रव्यरूपसे समस्त पर्यायोका तथा द्रव्यरूपसे समस्त द्रव्योका, गुणरूपसे समस्त गुणोका, गोत्वरूपसे समस्त गौओंका, मनुष्यत्वरूपसे समस्त मनुष्योका इत्यादि संग्रह किया जाता है।

यह अपरसग्रह तब तक चलता है जब तक भेदमूलक व्यवहार अपनी चरमकोटि तक नही पहुँच जाता। अर्थात् जब व्यवहारनय भेद करते-करते ऋजुसूत्रनयकी विपयभूत एक वर्तमानकालीन क्षणवर्ती अर्थपर्याय तक पहुँचता है यानी सग्रह करनेके लिये दो रह ही नही जाते, तब अपरसंग्रहकी मर्यादा समाप्त हो जाती है। परसग्रहके बाद और ऋजुसूत्रनयसे पहले अपरसग्रह और व्यवहार-नयका समान क्षेत्र है, पर दृष्टिमें भेद है। जब अपरसग्रहमें सादृश्यमूलक या द्रव्यमूलक अभेददृष्टि मुख्य है और इसीलिये वह एकत्व लाकर सग्रह करता है तब व्यवहार नयमें भेदकी ही प्रधानता है, वह पर्याय-पर्यायमें भी भेद डालता है। परसग्रहनयकी दृष्टिमें सद्‌रूपसे सभी पदार्थ एक है, उनमे किसी प्रकारका भेद नही है। जीव, अजीव आदि सभी सद्‌रूपसे अभिन्न है। जिस प्रकार एक चित्रज्ञान अपने अनेक नीलादि आकारोमें व्याप्त है उसी तरह सन्मात्र तत्त्व सभी पदार्थोमें व्याप्त है। जीव, अजीव आदि सभी उसीके भेद है। कोई भी ज्ञान सन्मात्रतत्त्वको जाने बिना भेदोको नही जान सकता। कोई भी भेद सन्मात्रसे बाहर अर्थात् असत् नही है। प्रत्यक्ष चाहे चेतन सुखादिमें प्रवृत्ति करे, या बाह्य अचेतन नीलादि पदार्थोको जाने, वह सद्‌रूपसे अभेदांशको विपय करता ही है। इतना ध्यान रखनेकी बात है कि एक-द्रव्यमूलक पर्यायोके सग्रहके सिवाय अन्य सभी प्रकारके संग्रह सादृश्यमूलक एकत्वका आरोप करके ही होते है और वे केवल सक्षिप्त शब्दव्यवहारकी सुविधाके लिये है। दो स्वतन्त्र द्रव्योमें चाहे वे सजातीय हो, या विजातीय, वास्तविक एकत्व आ ही नही सकता।

सग्रहनयकी इस अभेददृष्टिसे सीधी टक्कर लेनेवाली बौद्धकी भेददृष्टि है, जिसमें अभेदको कल्पनात्मक कहकर उसका वस्तुमें कोई स्थान ही नही रहने दिया है। इस आत्यन्तिक भेदके कारण ही बौद्ध अवयवी, स्थूल, नित्य आदि अभेद-दृष्टिके विपयभूत पदार्थोकी सत्ता ही नही मानते। नित्यत्व कालिक अभेदके आधारपर स्थिर है, क्योकि जब वही एक द्रव्य त्रिकालानुयायी होता है तभी वह नित्य कहा जा सकता है। अवयवी और स्थूलता दैशिक अभेदके आधारसे माने जाते है। जब एक वस्तु अनेक अवयवोमें कथञ्चित्तादात्म्यरूपसे व्याप्ति रखे, तभी

वह अवयवीव्यपदेश पा सकती है। स्थूलतामे भी अनेकप्रदेशव्यापित्वरूप दैशिक अभेददृष्टि ही अपेक्षणीय होती है।

इस नयकी दृष्टिसे कह सकते हैं 'विश्व सन्मात्ररूप[1] है, एक है, अद्वैत है, क्योकि सद्रूपसे चेतन और अचेतनमे कोई भेद नही है।

अद्वयब्रह्मवाद संग्रहाभास है, क्योकि इसमें भेदका "नेह नानास्ति किञ्चन" (कठोप० ४।११) कहकर सर्वथा निराकरण कर दिया है। संग्रहनयमें अभेद मुख्य होनेपर भी भेदका निराकरण नही किया जाता, वह गौण अवश्य हो जाता है, पर उसके अस्तित्वसे इनकार नही किया जा सकता। अद्वयब्रह्मवादमें कारक और क्रियाओके प्रत्यक्षसिद्ध भेदका निराकरण हो जाता है। कर्मद्वैत, फलद्वैत, लोकद्वैत, विद्या-अविद्याद्वैत आदि सभीका लोप इस मतमें प्राप्त होता है। अत साग्रहिक व्यवहारके लिये भले ही परसंग्रहनय जगत्के समस्त पदार्थोको 'सत्' कह ले, पर इससे प्रत्येक द्रव्यके मौलिक अस्तित्वका लोप नही हो सकता। विज्ञानकी प्रयोगशाला प्रत्येक अणुका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार करती है। अत संग्रहनयकी उपयोगिता अभेदव्यवहारके लिये ही है, वस्तुस्थितिका लोप करनेके लिये नही।

इसी तरह शब्दाद्वैत भी सग्रहाभास है। यह इसलिये कि इसमें भेदका और द्रव्योंके उस मौलिक अस्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, जो प्रमाणसे प्रसिद्ध तो है ही, विज्ञानने भी जिसे प्रत्यक्ष कर दिखाया है।

व्यवहार और अव्यवहाराभास :

संग्रहनयके द्वारा संगृहीत अर्थमे विधिपूर्वक, अविसंवादी और वस्तुस्थिति-मूलक भेद करनेवाला व्यवहारनय[2] है। यह व्यवहारनय लोकप्रसिद्ध व्यवहारका अविरोधी होता है। लोकव्यवहारविरुद्ध, विसंवादी और वस्तुस्थितिकी उपेक्षा करनेवाली भेदकल्पना [3]व्यवहाराभास है। लोकव्यवहार अर्थ, शब्द और ज्ञान तीनोसे चलता है। जीवव्यवहार जीव-अर्थ जीव-विषयक ज्ञान और जीव-शब्द तीनोसे सधता है। 'वस्तु उत्पादव्यय-ध्रौव्यवाली है, द्रव्य गुण-पर्याय वाला है,

---

१. 'सर्वमेकं सदविशेषात्'–तत्त्वार्थभा० १।३५।

२. 'संग्रहनयाक्षिप्तानामर्थाना विधिपूर्वकमवहरणं व्यवहारः।'
—सर्वार्थसि० १।३३।

३. 'कल्पनारोपितद्रव्यपर्यायप्रविभागभाक्।
प्रमाणबाधितोऽन्यस्तु तदाभासोऽवसीयताम्॥'–त० श्लो० पृ० २७१।

जीव चैतन्यरूप है' इत्यादि भेदक-वाक्य प्रमाणाविरोधी है तथा लोकव्यवहारमें अविसवादी होनेसे प्रमाण हैं। ये वस्तुगत अभेदका निराकरण न करनेके कारण तथा पूर्वापराविरोधी होनेसे सत्व्यवहारके विषय हैं। सौत्रान्तिकका जड़ या चेतन सभी पदार्थोको सर्वथा क्षणिक निरंश और परमाणुरूप मानना, योगाचारका क्षणिक अविभागी विज्ञानाद्वैत मानना, माध्यमिकका निरावलम्बन ज्ञान या सर्वशून्यता स्वीकार करना प्रमाणविरोधी और लोकव्यवहारमे विसवादक होनेसे व्यवहाराभास है।

जो भेद वस्तुके अपने निजी मौलिक एकत्वकी अपेक्षा रखता है, वह व्यवहार है। अभेदका सर्वथा निराकरण करनेवाला व्यवहाराभास है। दो स्वतन्त्र दूसरा, स्तविक भेद है, उनमें सादृश्यके कारण अभेद आरोपित होता है, जब सामने आ के गुण और पर्यायोमें वास्तविक अभेद है, उनमें भेद उस अखण्ड अविकतम गुणकर समझनेके लिए कल्पित होता है। इस मूल वस्तुस्थितिको श्वे० आ ना या अभेदकल्पना तदाभास होती है, पारमार्थिक नही। विश्वके अवस्तव्रा का अपना व्यक्तित्व मौलिक भेदपर ही टिका हुआ है। एक द्रव्यके में जो भेद वस्तुत. मिथ्या कहा जा सकता है और उसे अविद्याकल्पित कहकर एक द्रव्यके अद्वैत तक पहुंच सकते है, पर अनन्त अद्वैतोमें तो क्या, दो अद्वैतोमें भी अभेदकी कल्पना उसी तरह औपचारिक है, जैसे सेना, वन, प्रान्त और देश आदि की कल्पना। वैशेपिककी प्रतीतिविरुद्ध द्रव्यादिभेदकल्पना भी व्यवहाराभासमें आती है।

ऋजुसूत्र और तदाभास :

व्यवहारनय तक भेद और अभेदकी कल्पना मुख्यतया अनेक द्रव्योंको सामने रखकर चलती है। 'एक द्रव्यमें भी कालक्रमसे पर्यायभेद होता है और वर्तमान क्षणका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध नही है' यह विचार ऋजुसूत्रनय प्रस्तुत करता है। यह नय[1] वर्तमानक्षणवर्ती शुद्ध अर्थपर्यायको ही विपय करता है। अतीत चूंकि विनष्ट है और अनागत अनुत्पन्न है, अत. उसमें पर्याय व्यवहार ही नही हो सकता। इसकी दृष्टिसे नित्य कोई वस्तु नही है और स्थूल भी कोई चीज नही है। सरल सूतकी तरह यह[2] केवल वर्तमान पर्यायको स्पर्श करता है।

---

१ 'पच्चुप्पन्नग्गाही उज्जुसुओ णयविही मुणेयव्वो।'—अनुयोग० द्वा० ४।
अकलङ्कग्रन्थत्रय टि० पृ० १४६।

२. 'सूत्रपातवद् ऋजुसूत्रः।'—तत्त्वार्थवा० १।३३

यह नय पच्यमान वस्तुको भी अंशत पक्व कहता है। क्रियमाणको भी अंशतः कृत, भुज्यमानको भी भुक्त और बद्ध्यमानको भी बद्ध कहना इसकी सूक्ष्मदृष्टिमे शामिल है।

इस नयकी दृष्टिसे 'कुम्भकार' व्यवहार नही हो सकता, क्योंकि जब तक कुम्हार शिविक, छत्रक आदि पर्यायोको कर रहा है, तब तक तो कुम्भकार कहा नही जा सकता, और जब कुम्भ पर्यायका समय आता है, तब वह स्वय अपने उपादानसे निष्पन्न हो जाती है। अब किसे करनेके कारण वह 'कुम्भकार' कहा जाय ?

जिस समय जो आकरके बैठा है, वह यह नही कह सकता कि 'अभी ही आ रहा हूँ' इस नयकी दृष्टिमें 'ग्रामनिवास', 'गृहनिवास' आदि व्यवहार नही हो सकते, क्योकि हर व्यक्ति स्वात्मस्थित होता है, वह न तो ग्राममे रहता है और न घरमें ही।

'कौआ काला है' यह नही हो सकता, क्योकि कौआ कौआ है और काला काला। यदि काला कौआ हो, तो समस्त भौरा आदि काले पदार्थ कौआ हो जायँगे। यदि कौआ काला हो, तो सफेद कौआ नही हो सकेगा। फिर कौआके रक्त, मास, पित्त, हड्डी, चमडी आदि मिलकर पचरगी वस्तु होते है, अतः उसे केवल काला ही कैसे कह सकते है ?

इस नयकी दृष्टिमे पलालका दाह नही हो सकता, क्योकि आगीका सुलगाना, धौकना और जलाना आदि असंख्य समयकी क्रियाएँ वर्तमान क्षण में नही हो सकती। जिस समय दाह है उस समय पलाल नही और जिस समय पलाल है उस समय दाह नही, तब पलालदाह कैसा ? 'जो पलाल है वह जलता है' यह भी नही कह सकते; क्योकि बहुत-सा पलाल बिना जला हुआ पडा है।

इस नयकी सूक्ष्म विश्लेषक दृष्टिमे पान, भोजन आदि अनेक-समय-साध्य कोई भी क्रियाएँ नही बन सकती, क्योकि एक क्षणमे तो क्रिया होती नही और वर्तमानका अतीत और अनागतसे कोई सम्बन्ध इसे स्वीकार नही है। जिस द्रव्यरूपी माध्यमसे पूर्व और उत्तर पर्यायोमे सम्बन्ध जुटता है उस माध्यमका अस्तित्व ही इसे स्वीकार्य नही है।

इस नयको लोकव्यवहारके विरोधकी कोई चिन्ता नही है।[1] लोक व्यवहार

१. "ननु सव्यवहारलोपप्रसङ्ग इति चेत्, न, अस्य नयस्य विषयमात्रप्रदर्शनं क्रियते। सर्वनयसमूहसाध्यो हि लोकसंव्यवहार·।"
—सर्वार्थसि० १।३३।

तो यथायोग्य व्यवहार, नैगम आदि अन्य नयोसे चलेगा ही। इतना सब क्षण-पर्यायकी दृष्टिसे विश्लेपण करनेपर भी यह नय द्रव्यका लोप नही करता। वह पर्यायकी मुख्यता भले ही कर ले, पर द्रव्यकी परमार्थसत्ता उसे क्षणकी तरह ही स्वीकृत है। उसकी दृष्टिमे द्रव्यका अस्तित्व गौणरूपमें विद्यमान रहता ही है।

बौद्धका सर्वथा क्षणिकवाद ऋजुसूत्रनयाभास है, क्योंकि इसमें द्रव्यका विलोप हो जाता है और जब निर्वाण अवस्थामे चित्तसन्तति दीपककी तरह बुझ जाती है, यानी अस्तित्वशून्य हो जाती है, तब उनके मतमें द्रव्यका सर्वथा लोप स्पष्ट हो जाता है।

क्षणिक पक्षका समन्वय ऋजुसूत्रनय तभी कर सकता है, जब उसमें द्रव्यका पारमार्थिक अस्तित्व विद्यमान रहे, भले ही वह गौण हो। परन्तु व्यवहार और स्वरूपभूत अर्थक्रियाके लिये उसकी नितान्त आवश्यकता है।

शब्दनय और तदाभास :

काल, कारक, लिंग तथा संख्याके भेदसे शब्दभेद होनें पर उनके भिन्न-भिन्न अर्थोंको ग्रहण करनेवाला शब्दनय[1] है। शब्दनयके अभिप्रायमें अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन क्रियाओके साथ प्रयुक्त होनेवाला एक ही देवदत्त भिन्न हो जाता है। 'करोति क्रियते' आदि भिन्न साधनोके साथ प्रयुक्त देवदत्त भी भिन्न है। 'देवदत्त देवदत्ता' इस लिंगभेदमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी एक नही है। एकवचन, द्विवचन और बहुवचनमें प्रयुक्त होनेवाला देवदत्त भी भिन्न-भिन्न है। इसकी दृष्टिमें भिन्नकालीन, भिन्नकारकनिष्पन्न, भिन्नलिंगक और भिन्नसंख्याक शब्द एक अर्थके वाचक नही हो सकते। शब्दभेदसे अर्थभेद होना ही चाहिये। शब्दनय उन वैयाकरणोंके तरीकेको अन्याय्य समझता है जो शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नही मानना चाहते, अर्थात् जो एकान्तनित्य आदि रूप पदार्थ मानते हैं, उसमें पर्यायभेद स्वीकार नही करते। उनके मतमें कालकारकादिभेद होने पर भी अर्थ एकरूप बना रहता है। तब यह नय कहता है कि तुम्हारी मान्यता उचित नही है। एक ही देवदत्त कैसे विभिन्न लिंगक, भिन्नसंख्याक और भिन्नकालीन शब्दो का वाच्य हो सकेगा? उसमें भिन्न शब्दोकी वाच्यभूत पर्यायें भिन्न-भिन्न स्वीकार करनी ही चाहिये, अन्यथा लिंगव्यभिचार, साधनव्यभिचार और काल-व्यभिचार आदि बने रहेंगे। व्यभिचारका यहाँ अर्थ है शब्दभेद होने पर अर्थभेद नही मानना, यानी एक ही अर्थका विभिन्न शब्दोंसे अनुचित सम्बन्ध। अनुचित

---

१. "कालकारकलिङ्गादिभेदाच्छब्दोऽर्थभेदकृत्।"
—लघी० श्लो० ४४। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४६।

इसलिये कि हर शब्दकी वाचकशक्ति जुदा-जुदा होती है, यदि पदार्थमें तदनुकूल वाच्यशक्ति नही मानी जाती है तो अनौचित्य तो स्पष्ट ही है, उनका मेल कैसे बैठ सकता है ?

काल स्वयं परिणमन करनेवाले वर्तनाशील पदार्थोंके परिणमनमें साधारण निमित्त होता है। इसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन भेद है। केवल शक्ति तथा अनपेक्ष द्रव्य और शक्तिको कारक नही कहते, किन्तु शक्तिविशिष्ट द्रव्यको कारक कहते हैं। लिंग चिह्नको कहते है। जो गर्भधारण करे वह स्त्री, जो पुत्रादिकी उत्पादक सामर्थ्य रखे वह पुरुष और जिसमें दोनो ही सामर्थ्य न हो वह नपुंसक कहलाता है। कालादिके ये लक्षण अनेकान्त अर्थमें ही बन सकते है। एक ही वस्तु विभिन्न सामग्रीके मिलने पर षट्कारकी रूपसे परिणति कर सकती है। कालादिके भेदसे एक ही द्रव्यकी नाना पर्यायें हो सकती है। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य वस्तुमें ऐसे परिणमनकी सम्भावना नही है, क्योंकि सर्वथा नित्यमें उत्पाद और व्यय तथा सर्वथा क्षणिकमें स्थैर्य—ध्रौव्य नही है। इस तरह कारकव्यवस्था न होनेसे विभिन्न कारकोंमें निष्पन्न षट्कारकी, स्त्रीलिंगादि लिंग और वचनभेद आदिकी व्यवस्था एकान्तपक्षमें सम्भव नही है।

यह शब्दनय वैयाकरणोको शब्दशास्त्रकी सिद्धिका दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, और बताता है कि सिद्धि अनेकान्तसे ही हो सकती है। जब तक वस्तुको अनेकान्तात्मक नही मानोगे, तब तक एक ही वर्तमान पर्यायमें विभिन्न-लिंगक, विभिन्नसंख्याक शब्दोका प्रयोग नही कर सकोगे, अन्यथा व्यभिचार दोष होगा। अत. उस एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेद मानना ही होगा। जो वैयाकरण ऐसा नही मानते उनका शब्दभेद होनेपर भी अर्थभेद न मानना शब्द-नयाभास है। उनके मतमें उपसर्गभेद, अन्यपुरुषकी जगह मध्यमपुरुष आदि पुरुष-भेद, भावि और वर्तमानक्रियाका एक कारकसे सम्बन्ध आदि समस्त व्याकरणकी प्रक्रियाएँ निराधार एवं निर्विषयक हो जायँगी। इसीलिये जैनेन्द्रव्याकरणके रचयिता आचार्यवर्य पूज्यपादने अपने जैनेन्द्रव्याकरणका प्रारम्भ "सिद्धिरनेकान्तात्" सूत्रसे और आचार्य हेमचन्द्रने हेमशब्दानुशासनका प्रारम्भ "सिद्धि. स्याद्वादात्" सूत्रसे किया है। अत. अन्य वैयाकरणोका प्रचलित क्रम शब्दनयाभास है।

समभिरूढ और तदाभास :

एककालवाचक, एकलिंगक तथा एकसंख्याक भी अनेक पर्यायवाची शब्द होते हैं। समभिरूढनय[1] उन प्रत्येक पर्यायवाची शब्दोका भी अर्थभेद मानता है।

---

१. 'अभिरूढस्तु पर्याये.'—लघी० श्लो० ४४, अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

इस नयके अभिप्रायसे एकलिंगवाले इन्द्र, शक्र और पुरन्दर इन तीन शब्दोंमें प्रवृत्तिनिमित्तकी भिन्नता होनेसे भिन्नार्थवाचकता है। शक्र शब्द शासनक्रियाकी अपेक्षासे, इन्द्र शब्द इन्दन—ऐश्वर्यक्रियाकी अपेक्षासे और पुरन्दर शब्द पूर्दारण क्रियाकी अपेक्षासे, प्रवृत्त हुआ है। अत. तीनो शब्द विभिन्न अवस्थाओंके वाचक है। शब्दनयमे एकलिंगवाले पर्यायवाची शब्दोंमें अर्थभेद नही था, पर समभिरूढनय प्रवृत्तिनिमित्तोकी विभिन्नता होनेसे पर्यायवाची शब्दोंमें भी अर्थभेद मानता है। यह नय उन कोशकारोको दार्शनिक आधार प्रस्तुत करता है, जिनने एक ही राजा या पृथ्वीके अनेक नाम—पर्यायवाची शब्द तो प्रस्तुत कर दिये है, पर उस पदार्थमें उन पर्यायशब्दोकी वाच्यशक्ति जुदा-जुदा स्वीकार नही की। जिस प्रकार एक अर्थ अनेक शब्दोका वाच्य नही हो सकता, उसी प्रकार एक शब्द अनेक अर्थोका वाचक भी नही हो सकता। एक गोशब्दके ग्यारह अर्थ नही हो सकते, उस शब्दमें ग्यारह प्रकारकी वाचकशक्ति मानना ही होगी। अन्यथा यदि वह जिस शक्तिसे पृथिवीका वाचक है उसी शक्तिसे गायका भी वाचक हो, तो एकशक्तिक शब्दसे वाच्य होनेके कारण पृथिवी और गाय दोनो एक हो जायँगे। अत शब्दमें वाच्य-भेदके हिसाबसे अनेक वाचकशक्तियोंकी तरह पदार्थमें भी वाचकभेदकी अपेक्षा अनेक वाचकशक्तियाँ माननी ही चाहिये। प्रत्येक शब्दके व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त जुदे-जुदे होते है, उनके अनुसार वाच्यभूत अर्थमे पर्यायभेद या शक्तिभेद मानना ही चाहिये। यदि एकरूप ही पदार्थ हो, तो उसमें विभिन्न क्रियाओंसे निष्पन्न अनेक शब्दोका प्रयोग ही नही हो सकेगा। इस तरह समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोकी अपेक्षा भी अर्थभेद स्वीकार करता है।

पर्यायवाची शब्दभेद मानकर भी अर्थभेद नही मानना समभिरूढनयाभास है। जो मत पदार्थको एकान्तरूप मानकर भी अनेक शब्दोका प्रयोग करते है उनकी यह मान्यता तदाभास है।

एवम्भूत और तदाभास :

एवम्भूतनय[1], पदार्थ जिस समय जिस क्रियामें परिणत हो उस समय उसी क्रियासे निष्पन्न शब्दकी प्रवृत्ति स्वीकार करता है। जिस समय शासन कर रहा हो उसी समय उसे शक्र कहेंगे, इन्दन-क्रियाके समय नही। जिस समय घटन-क्रिया हो रही हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये, अन्य समयमें नही।

---

१. 'येनात्मना भूतस्तेनैवाध्यवसाययति इत्येवम्भूत'।'
—सर्वार्थसिद्धि १।३३। अकलङ्कग्रन्थत्रयटि० पृ० १४७।

समभिरूढनय उस समय क्रिया हो या न हो, पर शक्तिकी अपेक्षा अन्य शब्दोका प्रयोग भी स्वीकार कर लेता है, परन्तु एवम्भूतनय ऐसा नही करता। क्रियाक्षणमें ही कारक कहा जाय, अन्य क्षणमें नही। पूजा करते समय ही पुजारी कहा जाय, अन्य समयमें नही; और पूजा करते समय उसे अन्य शब्दसे भी नही कहा जाय। इस तरह समभिरूढनयके द्वारा वर्तमान पर्यायमे शक्तिभेद मानकर जो अनेक पर्यायशब्दोके प्रयोगकी स्वीकृति थी, वह इसकी दृष्टिमें नही है। यह तो क्रियाका धनी है। वर्तमानमें शक्तिकी अभिव्यक्ति देखता है। तत्क्रियाकालमें अन्य शब्दका प्रयोग करना या उस शब्दका प्रयोग नही करना एवम्भूताभास है। इस नयको व्यवहारकी कोई चिन्ता नही है। हाँ, कभी-कभी इससे भी व्यवहारकी अनेक गुत्थियाँ सुलझ जाती है। न्यायाधीश जब न्यायकी कुरसीपर बैठता है तभी न्यायाधीश है। अन्य कालमें भी यदि उसके सिरपर न्यायाधीशत्व सवार हो, तो गृहस्थी चलना कठिन हो जाय। अत व्यवहारको जो सर्वनयसाध्य कहा है, वह ठीक ही कहा है।

नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म और अल्पविषयक है :

इन नयोमें[1] उत्तरोत्तर सूक्ष्मता और अल्पविषयता है। नैगमनय संकल्पग्राही होनेसे सत् और असत् दोनोको विषय करता है, जब कि संग्रहनय 'सत्' तक ही सीमित है। नैगमनय भेद और अभेद दोनोको गौण-मुख्यभावसे विषय करता है, जब कि संग्रहनयकी दृष्टि केवल अभेदपर है, अत. नैगमनय महाविषयक और स्थूल है, परन्तु संग्रहनय अल्पविषयक और सूक्ष्म है। सन्मात्रग्राही संग्रहनयसे सद्विशेषग्राही व्यवहार अल्पविषयक है। संग्रहके द्वारा संगृहीत अर्थमें व्यवहार भेद करता है, अत. वह अल्पविषयक हो ही जाता है। व्यवहारनय द्रव्यग्राही और त्रिकालवर्ती सद्विशेषको विषय करता है, अत. वर्तमानकालीन पर्यायको ग्रहण करनेवाला ऋजुसूत्र उससे सूक्ष्म हो ही जाता है। शब्दभेदकी चिन्ता नही करनेवाले ऋजुसूत्रनयसे वर्तमानकालीन एक पर्यायमें भी शब्दभेदसे अर्थभेदकी चिन्ता करनेवाला शब्दनय सूक्ष्म है। पर्यायवाची शब्दोमे भेद होनेपर भी अर्थभेद न माननेवाले शब्दनयसे पर्यायवाची शब्दो द्वारा पदार्थमें शक्तिभेद कल्पना करनेवाला समभिरूढनय सूक्ष्म है। शब्दप्रयोगमें क्रियाकी चिन्ता नही करनेवाले समभिरूढसे क्रियाकालमे ही उस शब्दका प्रयोग माननेवाला एवम्भूत सूक्ष्मतम और अल्पविषयक है।

---

१. 'एवमेते नया. पूर्वपूर्वविरुद्धमहाविषया उत्तरोत्तरानुकूलाल्पविषया.।'
—तत्त्वार्थवा० १।३३।

और व्यवहार इन दो प्रकारोको अपनाया है। अन्तर इतना है कि जैन अध्यात्मका निश्चयनय वास्तविक स्थितिको उपादानके आधारसे पकडता है, वह अन्य पदार्थोंके अस्तित्वका निषेध नही करता; जब कि वेदान्त या विज्ञानद्वैतका परमार्थ अन्य पदार्थोंके अस्तित्वको ही समाप्त कर देता है। बुद्धकी धर्मदेशनाको परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य इन दो रूपसे[1] घटानेका भी प्रयत्न हुआ है।

निश्चयनय परनिरपेक्ष स्वभावका वर्णन करता है। जिन पर्यायोमें 'पर' निमित्त पड जाता है उन्हे वह शुद्ध स्वकीय नही कहता। परजन्य पर्यायोको 'पर' मानता है। जैसे—जीवके रागादि भावोमें यद्यपि आत्मा स्वयं उपादान होता है, वही रागरूपसे परिणति करता है, परन्तु चूंकि ये भाव कर्मनिमित्तक है, अत इन्हे वह अपने आत्माके निजरूप नही मानता। अन्य आत्माओ और जगत्‌के समस्त अजीवोको तो वह अपना मान ही नही सकता, किन्तु जिन आत्मविकासके स्थानोमें परका थोडा भी निमित्तत्व होता है उन्हे वह 'पर'के खातेमे ही खतया देता है। इसीलिये समयसारमें जब आत्माके वर्ण, रस, स्पर्श आदि प्रसिद्ध पररूपोका निषेध किया है तो उसी श्लोकमे गुणस्थान आदि परनिमित्तक स्वधर्मोका भी निषेध कर दिया गया है।[2] दूसरे शब्दोमे निश्चयनय अपने मूल लक्ष्य या आदर्शका खालिस वर्णन करना चाहता है, जिससे साधकको भ्रम न हो और वह भटक न जाय। इसलिये आत्माका नैश्चयिक वर्णन करते समय शुद्ध ज्ञायक रूप ही आत्माका स्वरूप प्रक.शित किया गया है। बन्ध और रागादिको भी उसी एक 'पर' कोटिमें डाल दिया है जिसमें पुद्गल आदि प्रकट परपदार्थ पडे हुए है। व्यवहारनय परसापेक्ष पर्यायोको ग्रहण करनेवाला होता है। परद्रव्य तो स्वतन्त्र है, अत. उन्हें तो अपना कहनेका प्रश्न ही नही उठता।

अध्यात्मशास्त्रका उद्देश्य है कि वह साधकको यह स्पष्ट बता दे कि तुम्हारा गन्तव्य स्थान क्या है? तुम्हारा परम ध्येय और चरम लक्ष्य क्या हो सकता है? बीचके पडाव तुम्हारे साध्य नही है। तुम्हे तो उनसे बहुत ऊँचे उठकर परम स्वावलम्बी बनना है। लक्ष्यका दो टूक वर्णन किये बिना मोही जीव भटक ही जाता है। साधकको उन स्वोपादानक, किन्तु परनिमित्तक विभूति या विकारोंसे

---

१. 'द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धाना धर्मदेशना।
लोकसंवृतिसत्य च सत्यं च परमार्थत.॥'
माध्यमिककारिका, आर्यसत्यपरीक्षा, श्लो० ८।

२. 'णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स पज्जाया॥ ५५।—समयसार।

उसी तरह अलिप्त रहना है, उनसे ऊपर उठना है, जिस तरह कि वह स्त्री, पुत्रादि परचेतन तथा धन-धान्यादि पर अचेतन पदार्थोंसे नाता तोड़कर स्वावलम्बी मार्ग पकड़ता है। यद्यपि यह साधककी भावना मात्र है, पर इसे आ० कुन्दकुन्दने दार्शनिक आधार पकड़ाया है। वे उस लोकव्यवहारको हेय मानते हैं, जिसमें अंशतः भी परावलम्बन हो। किन्तु यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि ये सत्य-स्थितिका अपलाप नहीं करना चाहते। वे लिखते हैं[1] कि 'जीवके परिणामोंको निमित्त पाकर पुद्गलद्रव्य कर्मपर्यायको प्राप्त होते हैं और उन कर्मोंके निमित्तसे जीवमें रागादि परिणाम होते हैं, यद्यपि दोनो अपने-अपने परिणामोंमें उपादान होते हैं, पर वे परिणमन परस्परहेतुक—अन्योन्यनिमित्तक है।' उन्होंने "अण्णो-ण्णणिमित्तेण" पदसे इसी भावका समर्थन किया है। यानी कार्य उपादान और निमित्त दोनो सामग्रीसे होता है।

इस तथ्यका वे अपलाप नहीं करके उसका विवेचन करते है और जगत्के उस अहंकारमूलक नैमित्तिक कर्त्तृत्वका खरा विश्लेषण करके कहते हैं[2] कि बताओ 'कुम्हारने घडा बनाया' इसमें कुम्हारने आखिर क्या किया? यह सही है कि कुम्हारको घडा बनानेकी इच्छा हुई, उसने उपयोग लगाया और योग—अर्थात् हाथ-पैर हिलाये, किन्तु 'घट' पर्याय तो आखिर मिट्टीमें ही उत्पन्न हुई। यदि कुम्हारकी इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न ही घटके अन्तिम उत्पादक होते तो उनसे रेत या पत्थरमें भी घडा उत्पन्न हो जाना चाहिये था। आखिर वह मिट्टीकी उपादान-योग्यतापर ही निर्भर करता है, वही योग्यता घटाकार बन जाती है। यह ठीक है कि कुम्हारके ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके निमित्त बने बिना मिट्टीकी योग्यता विकसित नहीं हो सकती थी, पर इतने निमित्तमात्रसे हम उपादानकी निजयोग्यता-की विभूतिकी उपेक्षा नहीं कर सकते। इस निमित्तका अहंकार तो देखिए कि जिसमें रंचमात्र भी इसका अंश नहीं जाता, अर्थात् न तो कुम्हारका ज्ञान मिट्टीमें घुसता है, न इच्छा और न प्रयत्न, फिर भी वह 'कुम्भकार' कहलाता है! कुम्भके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श आदि मिट्टीसे ही उत्पन्न होते है, उसका एक भी गुण

---

१ 'जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवोवि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥'
—समयसार।

२ 'जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥'—समयसार।

कुम्हारने उपजाया नही है। कुम्हारका एक भी गुण मिट्टीमे पहुँचा नही है, फिर भी वह सर्वाधिकारी बनकर 'कुम्भकार' होनेका दुरभिमान करता है!

राग, द्वेष आदिकी स्थिति यद्यपि विभिन्न प्रकारकी है, क्योकि इसमें आत्मा स्वयं राग और द्वेष आदि पर्यायो रूपसे परिणत होता है, फिर भी यहाँ वे विश्लेषण करते है कि बताओ तो सही—क्या शुद्ध आत्मा इनमें उपादान बनता है? यदि सिद्ध और शुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बनने लगे, तो मुक्तिका क्या स्वरूप रह जाता है? अत इनमें उपादान रागादिपर्यायसे विशिष्ट आत्मा ही बनता है, दूसरे शब्दोमें रागादिसे ही रागादि होते है। निश्चयनय जीव और कर्मके अनादि बन्धनसे इनकार नही करता। पर उस बधनका विश्लेषण करता है कि जब दो स्वतत्र द्रव्य है तो इनका सयोग ही तो हो सकता है, तादात्म्य नही। केवल संयोग तो अनेक द्रव्योसे इस आत्माका सदा ही रहनेवाला है, केवल वह हानिकारक नही होता। धर्म, अधर्म, आकाश और काल तथा अन्य अनेक आत्माओसे इसका सम्बन्ध बराबर मौजूद है, पर उससे इसके स्वरूपमे कोई विकार नही होता। सिद्धिशिलापर विद्यमान सिद्धात्माओके साथ वहाँके पुद्गल परमाणुओका संयोग है ही, पर इतने मात्रसे उनमे बन्धन नही कहा जा सकता और न उस संयोगसे सिद्धोमें रागादि ही उत्पन्न होते है। अत- यह स्पष्ट है कि शुद्ध आत्मा परसंयोगरूप निमित्तके रहनेपर भी रागादिमें उपादान नही होता और न पर निमित्त उसमे बलात् रागादि उत्पन्न ही कर सकते है। हमें सोचना ऊपरकी तरफसे है कि जो हमारा वास्तविक स्वरूप बन सकता है, जो हम हो सकते है, वह स्वरूप क्या रागादिमे उपादान होता है? नीचेकी ओरसे नही सोचना है, क्योकि अनादिकालसे तो अशुद्ध आत्मा रागादिमें उपादान बन ही रहा है और उसमें रागादिकी परम्परा बराबर चालू है।

अत निश्चयनयको यह कहनेके स्थानमे कि 'मै शुद्ध हूँ, अबद्ध हूँ, अस्पृष्ट हूँ, यह कहना चाहिये कि 'मैं शुद्ध, अबद्ध और अस्पृष्ट हो सकता हूँ।' क्योकि आज तक तो उसने आत्माकी इस शुद्ध आदर्श दशाका अनुभव किया ही नही है। बल्कि अनादिकालसे रागादिपकमें ही वह लिप्त रहा है। यह निश्चित तो इस आधारपर किया जा रहा है कि जब दो स्वतन्त्र द्रव्य है, तब उनका सयोग भले ही अनादि हो, पर वह टूट सकता है, और वह टूटेगा तो अपने परमार्थ स्वरूपकी प्राप्तिकी ओर लक्ष्य करनेसे। इस शक्तिका निश्चय भी द्रव्यका स्वतन्त्र अस्तित्व मानकर ही तो किया जा सकता है। अनादि अशुद्ध आत्मामे शुद्ध होनेकी शक्ति है, वह शुद्ध हो सकता है। यह शक्यता—भविष्यत्का ही तो विचार है। हमारा भूत

और वर्तमान अशुद्ध है, फिर भी निश्चयनय हमारे उज्ज्वल भविष्यकी ओर, कल्पनासे नही, वस्तुके आधारसे ध्यान दिलाता है। इसी तत्त्वको आचार्य कुन्द-कुन्द[1] बड़ी सुन्दरतासे कहते हैं कि 'काम, भोग और बन्धकी कथा सभीको श्रुत, परिचित और अनुभूत है, पर विभक्त—शुद्ध आत्माके एकत्वकी उपलब्धि सुलभ नहीं है।' कारण यह है कि शुद्ध आत्माका स्वरूप संसारी जीवोंको केवल श्रुतपूर्व है अर्थात् उसके सुननेमें ही कदाचित् आया हो, पर न तो उसने कभी इसका परिचय पाया है और न कभी इसने उसका अनुभव ही किया है। आ० कुन्दकुन्द (समयसार गा० ५) अपने आत्मविश्वाससे भरोसा दिलाते हैं कि 'मैं अपनी समस्त सामर्थ्य और बुद्धिका विभव लगाकर उसे दिखाता हूँ।' फिर भी वे थोड़ी कचाई-का अनुभव करके यह भी कह देते हैं कि 'यदि चूक जाऊँ, तो छल नही मानना।'

द्रव्य का शुद्ध लक्षण :

उनका एक ही दृष्टिकोण है कि द्रव्यका स्वरूप वही हो सकता है जो द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायमें व्याप्त होता है। यद्यपि द्रव्य किसी-न-किसी पर्यायको प्राप्त होता है और होगा, पर एक पर्याय दूसरी पर्यायमें तो नही पाई जा सकती और इस-लिये द्रव्यकी कोई भी पर्याय द्रव्यसे अभिन्न होकर भी द्रव्यका शुद्धरूप नही कही जा सकती। अब आप आत्माके स्वरूपपर क्रमश· विचार कीजिए। वर्ण, रस आदि तो स्पष्ट पुद्गलके गुण है, वे पुद्गलकी ही पर्याये हैं और उनमे पुद्गल ही उपादान होता है, अत· वे आत्माके स्वरूप नही हो सकते, यह बात निर्विवाद है। रागादि समस्त विकारोमे यद्यपि अपने परिणामीस्वभावके कारण आत्मा ही उपादान होता है, उसकी विरागता ही बिगड़कर राग बनती है, उसीका सम्यक्त्व बिगड़कर मिथ्यात्वरूप हो जाता है, पर वे विरागता और सम्यक्त्व भी आत्माके त्रिकालानुयायी शुद्ध रूप नही हो सकते; क्योकि वे निगोद आदि अवस्थामें तथा सिद्ध अवस्था में नहीं पाये जाते। सम्यग्दर्शन आदि गुणस्थान भी, उन-उन पर्यायों के नाम है जो कि त्रिकालानुयायी नही है, उनकी सत्ता मिथ्यात्व आदि अवस्थाओं-में तथा सिद्ध अवस्था में नही रहती। इनमें परपदार्थ निमित्त पड़ता है। किसी-न-किसी पर कर्मका उपशम, क्षय या क्षयोपशम उसमें निमित्त होता ही है। केवली अवस्थामें जो अनन्तज्ञानादि गुण प्रकट हुए हैं वे घातिया कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुए हैं और अघातिया कर्मोंका उदय उनके जीवनपर्यन्त बना ही रहता है।

---

१. सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विभत्तस्स॥

—समयसार गा० ४।

योगजन्य चंचलता उनके आत्मप्रदेशोमे है ही। अत. परनिमित्तक होनेसे ये भी शुद्ध द्रव्यका स्वरूप नही कहे जा सकते। चौदहवे गुणस्थानको पार करके जो सिद्ध अवस्था है वह शुद्ध द्रव्यका ऐसा स्वरूप तो है जो प्रथमक्षणभावी सिद्ध अवस्थासे लेकर आगेके अनन्तकाल तकके समस्त भविष्यमें अनुयायी है, उसमें कोई भी परनिमित्तक विकार नही आ सकता, किन्तु वह संसारी दशामें नही पाया जाता। एक त्रिकालानुयायी स्वरूप ही लक्षण हो सकता है, और वह है—शुद्ध ज्ञायक रूप, चैतन्य रूप। इनमें ज्ञायक रूप भी परपदार्थके जाननेरूप उपाधिकी अपेक्षा रखता है।

त्रिकालव्यापी 'चित्' ही लक्षण हो सकती है :

अत: केवल 'चित्' रूप ही ऐसा बचता है जो भविष्यत्में तो प्रकटरूपसे व्याप्त होता ही है, साथ ही अतीतकी प्रत्येक पर्यायमें, चाहे वह निगोद जैसी अत्यल्पज्ञानवाली अवस्था हो और केवलज्ञान जैसी समग्र विकसित अवस्था हो, सबमें निर्विवादरूपसे पाया जाता है। 'चित्' रूपका अभाव कभी भी आत्मद्रव्यमें न रहा है, न है और न होगा। वही अश द्रवणशील होनेसे द्रव्य कहा जा सकता है और अलक्ष्यसे व्यावर्तक होनेके कारण लक्ष्यव्यापी लक्षण हो सकता है। यह शंका नही की जा सकती कि 'सिद्ध अवस्था भी अपनी पूर्वकी संसारी निगोद आदि अवस्थाओमें नही पाई जाती, अत. वह शुद्धद्रव्यका लक्षण नही हो सकती', क्योंकि यहाँ सिद्धपर्यायको लक्षण नही बनाया जा रहा है, लक्षण तो वह द्रव्य है जो सिद्धपर्यायमें पहली बार विकसित हुआ है और चूंकि उस अवस्थासे लेकर आगेकी अनन्तकालभावी समस्त अवस्थाओमे कभी भी परनिमित्तक किसी भी अन्य परिणमनकी संभावना नही है, अत. वह 'चित्' अंश ही द्रव्यका यथार्थ परिचायक होता है। शुद्ध और अशुद्ध विशेषण भी उसमे नही लगते, क्योंकि वे उस अखण्ड चित्का विभाग कर देते है। इसलिये कहा[1] है कि मैं अर्थात् 'चित्' न तो प्रमत्त हैं और न अप्रमत्त, न तो अशुद्ध है और न शुद्ध, वह तो केवल 'ज्ञायक' है। हाँ, उस शुद्ध और व्यापक 'चित्' का प्रथम विकास मुक्त अवस्थामें ही होता है। इसीलिये आत्माके विकारी रागादिभावोकी तरह कर्मके उदय, उपशम, क्षयोपशम और क्षयसे होनेवाले भावोको भी अनादि-अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यव्यापी न होनेसे आत्माका स्वरूप या लक्षण नही माना गया और उन्हे भी वर्णादिकी तरह परभाव कह दिया गया है। न केवल उन अव्यापक परनिमित्तक

---

१ "ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्ध णाओ जो सो उ सो चेव ॥६॥"—समयसार।

रागादि विकारी भावोको 'पर भाव' ही कहा गया है, किन्तु पुद्गलनिमित्तक होनेसे 'पुद्गलकी पर्याय' तक कह दिया गया है।

तात्पर्य इतना ही है कि—ये सब बीचकी मंजिलें हैं। आत्मा अपने अज्ञानके कारण उन-उन पर्यायोको धारण अवश्य करता है, पर ये सब शुद्ध और मूलभूत द्रव्य नही हैं। आत्माके इस त्रिकालव्यापी स्वरूपको आचार्यने इसीलिये अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणोसे व्यक्त किया है[1]। यानी एक ऐसी 'चित्' है जो अनादिकालसे अनन्तकाल तक अपनी प्रवहमान मौलिक सत्ता रखती है। उस अखड 'चित्' को हम न निगोदरूपमें, न नारकादि पर्यायोमें, न प्रमत्त, अप्रमत्त आदि गुणस्थानोमें, न केवलज्ञानादि क्षायिक भावोमें और न अयोगकेवली अवस्थामें ही सीमित कर सकते हैं। उसका यदि दर्शन कर सकते हैं तो निरुपाधि, शुद्ध, सिद्ध अवस्थामें। वह मूलभूत 'चित्' अनादिकालसे अपने परिणामी स्वभावके कारण विकारी परिणमनमें पडी हुई है। यदि विकारका कारण परभावसंसर्ग हट जाय, तो वही निखरकर निर्मल, निर्लेप और खालिस शुद्ध बन सकती है।

तात्पर्य यह कि हम शुद्धनिश्चयनयसे उस 'चित्' का यदि रागादि अशुद्ध अवस्थामें या गुणस्थानोकी शुद्धाशुद्ध अवस्थाओमें दर्शन करना चाहते हैं तो इन सबसे दृष्टि हटाकर हमे उस महाव्यापक मूलद्रव्यपर दृष्टि ले जानी होगी और उस समय कहना ही होगा कि 'ये रागादि भाव आत्माके यानी शुद्ध आत्माके नही है, ये तो विनाशी है, वह अविनाशी अनाद्यनन्त तत्त्व तो जुदा ही है।'

समयसारका शुद्धनय इसी मूलतत्त्वपर दृष्टि रखता है। वह वस्तुके परिणमनका निषेध नही करता और न उस चित्के रागादि पर्यायोमे रुलनेका प्रतिषेधक ही है। किन्तु वह कहना चाहता है कि 'अनादिकालीन अशुद्ध किट्ट-कालिमा आदिसे विकृत बने हुए इस सोनेमें भी उस १०० टचके सोनेकी शक्तिरूपसे विद्यमान आभापर एकबार दृष्टि तो दो, तुम्हे इस किट्ट-कालिमा आदिमें जो पूर्ण सुवर्णत्वकी बुद्धि हो रही है, वह अपने-आप हट जायगी। इस शुद्ध स्वरूपपर लक्ष्य दिये बिना कभी उसकी प्राप्तिकी दिशामे प्रयत्न नही किया जा सकता। वे अबद्ध और अस्पृष्ट या असयुक्त विशेषणसे यही दिखाना चाहते है कि आत्माकी बद्ध, स्पृष्ट और सयुक्त अवस्थाएँ बीचकी हैं, ये उनका त्रिकालव्यापी मूल स्वरूप नही है।

---

१ "जो पस्सदि अप्पाण अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।
अविसेसमसंजुत्तं त सुद्धणयं वियाणीहि ॥१४॥"—समयसार।

उस एक 'चित्' का ज्ञान, दर्शन और चारित्ररूपसे विभाजन या उसका विशेषरूपसे कथन करना भी एक प्रकारका व्यवहार है, वह केवल समझने-समझानेके लिये है[१]। आप ज्ञानको या दर्शनको या चारित्रको भी शुद्ध आत्माका असाधारण लक्षण नही कह सकते, क्योकि ये सब उस 'चित्' के अश है और उस अखड तत्त्वको खंड-खंड करनेवाले विशेष है। वह 'चित्' तो इन विशेषोसे परे 'अविशेष' है, 'अनन्य' है और 'नियत' है। आचार्य आत्मविश्वाससे कहते है कि 'जिसने इसको जान लिया उसने समस्त जिनशासनको जान लिया।'

निश्चयका वर्णन असाधारण लक्षणका कथन है :

दर्शनशास्त्रमें आत्मभूत लक्षण उस असाधारण धर्मको कहते है जो समस्त लक्ष्योमें व्याप्त हो तथा अलक्ष्यमें बिलकुल न पाया जाय। जो लक्षण लक्ष्यमें नही पाया जाता वह असम्भवि लक्षणाभास कहलाता है, जो लक्ष्य और अलक्ष्य दोनोमें पाया जाता है वह अतिव्याप्त लक्षणाभास है और जो लक्ष्यके एक देशमें रहता है वह अव्याप्त लक्षणाभास कहा जाता है। आत्मद्रव्यका आत्मभूत लक्षण करते समय हम इन तीनो दोषो का परिहार करके जब निर्दोष लक्षण खोजते है तो केवल 'चित्' के सिवाय दूसरा कोई पकडमे नही आता। वर्णादि तो स्पष्टतया पुद्गलके धर्म है, अत वर्णादि तो जीवमें असंभव हैं। रागादि विभावपर्यायें तथा केवलज्ञानादि स्वभावपर्यायें, जिनमे आत्मा स्वयं उपादान होता है, समस्त आत्माओंमें व्यापक नही होनेसे अव्याप्त है। अत. केवल 'चित्' ही ऐसा स्वरूप है, जो पुद्गलादि अलक्ष्योमें नही पाया जाता और लक्ष्यभूत सभी आत्माओमें अनाद्यनन्त व्याप्त रहता है। इसलिये 'चित्' ही आत्म द्रव्यका स्वरूपभूत लक्षण हो सकती है।

यद्यपि यही 'चित्' प्रमत्त, अप्रमत्त, नर, नारकादि सभी अवस्थाओको प्राप्त होती है, पर निश्चयसे वे पर्यायें आत्माका व्यापक लक्षण नही बन सकती। इसी व्याप्यव्यापकभावको लक्ष्यमें रख कर अनेक अशुद्ध अवस्थाओमें भी शुद्ध आत्म-द्रव्यकी पहिचान करानेके लिये आचार्यने शुद्ध नयका अवलम्बन किया है। इसीलिये 'शुद्ध चित्' का सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि रूपसे विभाग भी उन्हें इष्ट नही है। वे एक अनिर्वचनीय अखण्ड चित्को ही आत्मद्रव्यके स्थानमे रखते है। आचार्यने इस लक्षणभूत 'चित्' के सिवाय जितने भी वर्णादि और रागादि

१. 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ॥
ण वि णाणं च चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥'
—समयसार।

कहना। यहाँ क्रोधादिमें जो पुद्गलद्रव्यके मूर्तत्वका आरोप किया गया है—यह असद्भूत है और गुण-गुणीका जो भेद विवक्षित है वह व्यवहार है। सद्भूत और असद्भूत व्यवहार दोनो ही उपचरित और अनुपचरितके भेदसे दो-दो प्रकारके होते है। 'ज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है तथा 'अर्थ-विकल्पात्मक ज्ञान प्रमाण है और वही जीवका गुण है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसमें ज्ञानमे अर्थविकल्पात्मकता उपचरित है और गुण-गुणीका भेद व्यवहार है।

अनगारधर्मामृत (अध्याय १ श्लो० १०४····) आदिमे जो 'केवलज्ञान जीवका है' यह अनुपचरित सद्भूत व्यवहार तथा 'मतिज्ञान जीवका है' यह उपचरित सद्भूत व्यवहारका उदाहरण दिया है, उसमें यह दृष्टि है कि शुद्ध गुणका कथन अनुपचरित तथा अशुद्ध गुणका कथन उपचरित है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय 'अबुद्धिपूर्वक' होनेवाले क्रोधादि भावोको जीवका कहता है और उपचरित सद्भूत व्यवहारनय उदयमें आये हुए अर्थात् प्रकट अनुभवमें आने-वाले क्रोधादिभावोको जीवके कहता है। पहलेमे वैभाविकी शक्तिका आत्मासे अभेद माना है। अनगारधर्मामृतमें 'शरीर मेरा है' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारका तथा 'देश मेरा है' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण माना गया है।

पंचाध्यायीकार किसी दूसरे द्रव्यके गुणका दूसरे द्रव्यमें आरोप करना नया-भास मानते है। जैसे—वर्णादिको जीवके कहना, शरीरको जीवका कहना, मूर्त-कर्मद्रव्योका कर्त्ता और भोक्ता जीवको मानना, धन, धान्य, स्त्री आदिका भोक्ता और कर्त्ता जीवको मानना, ज्ञान और ज्ञेयमें बोध्यबोधक सम्बन्ध होनेसे ज्ञानको ज्ञेयगत मानना आदि, ये सब नयाभास है।

समयसारमें तो एक शुद्धद्रव्यको निश्चयनयका विषय मानकर बाकी परनिमित्तक स्वभाव या परभाव सभीको व्यवहारके गड्ढेमें डालकर उन्हें हेय और अभूतार्थ कहा है। एक बात ध्यानमे रखनेकी है कि नैगमादिनयोका विवेचन वस्तुस्वरूपकी मीमासा करनेकी दृष्टिसे है जब कि समयसारगत नयोका वर्णन अध्यात्मभावनाको परिपुष्ट कर हेय और उपादेयके विचारसे मोक्षमार्गमें लगानेके लक्ष्यसे है।

●

१०. स्याद्वाद और सप्तभङ्गी

स्याद्वाद :

स्याद्वादकी उद्‌भूति :

जैन दर्शनने सामान्यरूपसे यावत् सत्‌को परिणामी-नित्य माना है। प्रत्येक सत् अनन्तधर्मात्मक है। उसका पूर्णरूप वचनोंके अगोचर है। कोई ऐसा शब्द नही है जो वस्तुके पूरे रूपको स्पर्श कर सकता हो। 'सत्' शब्द भी वस्तुके एक 'अस्तित्व' धर्मको कहता है, शेष नास्तित्व आदि धर्मोको नही। वस्तुस्थिति ऐसी होने पर भी उसको समझने-समझानेका प्रयत्न प्रत्येक मानवने किया ही है और आगे भी उसे करना ही होगा। तब उस विराट्‌को जानने और दूसरोको समझानेमें बड़ी सावधानी रखनेकी आवश्यकता है। हमारे जाननेका तरीका ऐसा हो, जिससे हम उन अनन्तधर्मा अखण्ड वस्तुके अधिक-से-अधिक समीप पहुँच सकें, उसका विपर्यास तो हरगिज न करे। दूसरोको समझानेकी—शब्द प्रयोगकी प्रणाली भी ऐसी ही हो, जो उस तत्त्वका सही-सही प्रतिनिधित्व कर सके, उसके स्वरूपकी ओर सकेत कर सके, भ्रम तो उत्पन्न करे ही नही। इन दोनो आवश्यकताओंने अनेकान्तदृष्टि और स्याद्वादको जन्म दिया है।

[अनेकान्तदृष्टि या नयदृष्टि विराट् वस्तुको जाननेका वह प्रकार है, जिसमे विवक्षित धर्मको जानकर भी अन्य धर्मोका निषेध नही किया जाता, उन्हें गौण या अविवक्षित कर दिया जाता है और इस तरह हर हालतमें पूरी वस्तुका मुख्य-गौणभावसे स्पर्श हो जाता है। उसका कोई भी अंश कभी नही छूट पाता। जिस समय जो धर्म विवक्षित होता है वह उस समय मुख्य या अर्पित बन जाता है और शेष धर्म गौण या अनर्पित रह जाते है। इस तरह जब मनुष्य की दृष्टि अनेकान्ततत्त्वका स्पर्श करनेवाली बन जाती है तब उसके समझानेका ढंग भी निराला ही हो जाता है। वह सोचता है कि हमे उस शैलीसे वचनप्रयोग करना चाहिये, जिससे वस्तुतत्त्वका यथार्थ प्रतिपादन हो। इस शैली या भाषाके निर्दोष प्रकारकी आवश्यकताने 'स्याद्वाद'का आविष्कार किया है।]

'स्याद्वाद' भाषाकी वह निर्दोष प्रणाली है, जो वस्तुतत्त्वका सम्यक् प्रतिपादन करती है। इसमें लगा हुआ 'स्यात्' शब्द प्रत्येक वाक्यके सापेक्ष होनेकी सूचना देता है। 'स्यात् अस्ति' वाक्यमें 'अस्ति' पद वस्तुके अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे

कहन् ।दन करता है तो 'स्यात्' शब्द उसमे रहने वाले नास्तित्व आदि शेष अनन्तधर्मोका सद्भाव बताता है कि 'वस्तु अस्ति मात्र ही नही है, उसमें गौणरूपसे नास्तित्व आदि धर्म भी विद्यमान है।' मनुष्य अहकारका पुतला है। अहकारकी सहस्र नही, असंख्य जिह्वाएँ है। यह विषधर थोडी भी असावधानी होनेपर डस लेता है। अत. जिस प्रकार दृष्टिमे अहकारका विष न आने देनेके लिए 'अनेकान्तदृष्टि' सजीवनीका रहना आवश्यक है उसी तरह भाषामे अवधारण या अहंकारका विष निर्मूल करनेके लिए 'स्याद्वाद' अमृत अपेक्षणीय होता है। अनेकान्तवाद स्याद्वादका इस अर्थमें पर्यायवाची है कि ऐसा वाद—कथन अनेकान्तवाद कहलाता है जिसमें वस्तुके अनन्तधर्मात्मक स्वरूपका प्रतिपादन मुख्य-गौणभावसे होता है। यद्यपि ये दोनो पर्यायवाची है फिर भी 'स्याद्वाद' ही निर्दुष्ट भाषाशैलीका प्रतीक बन गया है। अनेकान्तदृष्टि तो ज्ञानरूप है, अत. वचनरूप 'स्याद्वाद'से उसका भेद स्पष्ट है। इस अनेकान्तवादके बिना लोकव्यवहार नही चल सकता। पग-पगपर इसके बिना विसवादकी सम्भावना है। अतः इस त्रिभुवनके एक गुरु अनेकान्तवाद-को नमस्कार करते हुए आचार्य सिद्धसेनने ठीक ही लिखा है—

"जेण विणा लोगस्स ववहारो सव्वथा ण णिव्वडए।
तस्स भुवणेकगुरुणो णमोऽणेगतवायस्स ॥"

—सन्मति० ३।६८।

स्याद्वादकी व्युत्पत्ति :

'स्याद्वाद' स्यात् और वाद इन दो पदोसे बना है। वादका अर्थ है कथन या प्रतिपादन। 'स्यात्' विधिलिङ्में बना हुआ तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। वह अपनेमें एक महान् उद्देश्य और वाचक शक्तिको छिपाये हुए है। स्यात्के विधि-लिङ्में विधि, विचार आदि अनेक अर्थ होते है। उसमे 'अनेकान्त' अर्थ यहाँ विवक्षित है। हिन्दीमें यह 'शायद' अर्थमें प्रचलित-सा हो गया है, परन्तु हमें उसकी उस निर्दोष परम्पराका अनुगमन करना चाहिये जिसके कारण यह शब्द 'सत्यलाछन' अर्थात् सत्यका चिह्न या प्रतीक बना है। 'स्यात्' शब्द 'कथञ्चित्'के अर्थमें विशेषरूपसे उपयुक्त बैठता है। 'कथञ्चित्' अर्थात् 'अमुक निश्चित अपेक्षासे' वस्तु अमुक धर्मवाली है। न तो यह 'शायद', न 'संभावना' और न 'कदाचित्'का प्रतिपादक है, किन्तु 'सुनिश्चित दृष्टिकोण'का वाचक है। शब्दका स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है, इसलिये अन्यके प्रतिषेध करनेमें वह निरंकुश रहता है। इस अन्यके प्रतिषेध पर अकुश लगानेका कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान् घट.' वाक्य घडेके रूपका प्रतिपादन भले ही करे, पर वह 'रूपवान्.

ही है' यह अवधारण करके घड़ेमें रहनेवाले रस, गन्ध आदिका प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थको मुख्य रूपसे कहे, यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर 'अपने ही स्वार्थ'को सब कुछ मानकर शेषका निषेध करता है, तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थितिका विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्यायको रोकता है और न्याय्य वचनपद्धतिकी सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्यके साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्यको मुख्य-गौणभावसे अनेकान्त अर्थका प्रतिपादक बनाता है।

'स्यात्' निपात है। निपात द्योतक भी होते हैं और वाचक भी। यद्यपि 'स्यात्' शब्द अनेकान्त-सामान्यका वाचक होता है फिर भी 'अस्ति' आदि विशेष धर्मोंका प्रतिपादन करनेके लिए 'अस्ति' आदि तत्तत् धर्मवाचक शब्दोंका प्रयोग करना ही पड़ता है। तात्पर्य यह कि 'स्यात् अस्ति' वाक्यमें 'अस्ति' पद अस्तित्व धर्मका वाचक है और 'स्यात्' शब्द 'अनेकान्त' का। वह उस समय अस्तिसे भिन्न अन्य शेष धर्मोंका प्रतिनिधित्व करता है। जब 'स्यात्' अनेकान्तका द्योतन करता है तब 'अस्ति' आदि पदोंके प्रयोगसे जिन अस्तित्व आदि धर्मोंका प्रतिपादन किया जा रहा है वह 'अनेकान्त रूप है' यह द्योतन 'स्यात्' शब्द करता है। यदि यह पद न हो, तो 'सर्वथा अस्तित्व' रूप एकान्तकी शंका हो जाती है। यद्यपि स्यात् और कथंचित्‌का अनेकात्मक अर्थ इन शब्दोंके प्रयोग न करनेपर भी कुशल वक्ता समझ लेता है, परन्तु वक्ताको यदि अनेकान्त वस्तुका दर्शन नहीं है, तो वह एकान्तमें भटक सकता है। अत. उसे वस्तुतत्त्वपर आनेके लिए आलोकस्तम्भके समान इस 'स्यात्' ज्योतिकी नितान्त आवश्यकता है।

स्याद्वाद विशिष्ट भाषापद्धति :

स्याद्वाद सुनयका निरूपण करनेवाली विशिष्ट भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह निश्चितरूपसे बताता है कि 'वस्तु केवल इसी धर्मवाली ही नहीं है। उसमें इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म समान हैं' उसमें अविवक्षित गुणधर्मोंके अस्तित्वकी रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान् घट'में 'स्यात्' शब्द 'रूपवान्' के साथ नहीं जुटता, क्योंकि रूपके अस्तित्वकी सूचना तो 'रूपवान्' शब्द स्वयं ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मोंके साथ उसका अन्वय है। वह 'रूपवान्' को पूरे घड़ेपर अधिकार जमानेसे रोकता है और साफ कह देता है कि 'घड़ा बहुत बड़ा है, उसमें अनन्तधर्म हैं। रूप भी उसमेंसे एक है।' यद्यपि रूपकी विवक्षा होनेसे अभी रूप हमारी दृष्टिमें मुख्य है और वही शब्दके द्वारा वाच्य बन रहा है, पर रसकी विवक्षा होनेपर वह गौणराशिमें शामिल हो जायगा और रस प्रधान

बन जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौण-मुख्यभावसे अनेकान्त अर्थके प्रतिपादक है। इसी सत्यका उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

मैंने पहले बताया है, कि 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है। जो उच्चरित धर्मको इधर-उधर नही जाने देता। वह अविवक्षित धर्मोके अधिकारका सरक्षक है। इसलिए जो लोग स्यात्का रूपवान्के साथ अन्वय करके और उसका 'शायद, संभावना और कदाचित्' अर्थ करके घडेमे रूपकी स्थितिको भी सदिग्ध बनाना चाहते है वे वस्तुत· प्रगाढ भ्रममे है। इसी तरह 'स्यादस्ति घट·' वाक्यमें 'अस्ति' यह अस्तित्व अश घटमें सुनिश्चित रूपसे विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्वकी स्थिति कमजोर नही बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आशिक स्थितिकी सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मोके गौण सद्भावका प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कही अस्ति नामका धर्म, जिसे शब्दसे उच्चारित होनेके कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तुको ही न हडप जाय और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियोके स्थानको समाप्त न कर दे। इसलिए वह प्रतिवाक्यमे चेतावनी देता रहता है कि 'हे भाई अस्ति, तुम वस्तुके एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयोके हकको हडपनेकी कुचेष्टा नही करना।' इस भयका कारण है कि प्राचीन कालसे 'नित्य ही है', 'अनित्य ही है' आदि हडपू प्रकृतिके अशवाक्योने वस्तुपर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत्मे अनेक तरहसे वितण्डा और संघर्ष उत्पन्न किये है। इसके फलस्वरूप पदार्थके साथ तो अन्याय हुआ ही है, पर इस वाद-प्रतिवादने अनेक कुमतवादोकी सृष्टि करके अहकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदिसे विश्वको अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसाज्वालामें पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्यके उस जहरको निकाल देता है, जिससे अहंकारका सृजन होता है।

'स्यात्' शब्द एक ओर एक निश्चित अपेक्षासे जहाँ अस्तित्व धर्मकी स्थिति सुदृढ और सहेतुक बताता है वहाँ वह उसकी उस सर्वहरा प्रवृत्तिको भी नष्ट करता है, जिससे वह पूरी वस्तुका मालिक बनना चाहता है। वह न्यायाधीशकी तरह तुरन्त कह देता है कि 'हे अस्ति, तुम अपनी अधिकार-सीमा को समझो। स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी दृष्टिसे जिस प्रकार तुम घटमें रहते हो, उसी तरह परद्रव्यादिकी अपेक्षा 'नास्ति' नामका तुम्हारा सगा भाई भी उसी घटमे रहता है। घटका परिवार बहुत बडा है। अभी तुम्हारा नाम लेकर पुकारा गया है, इसका इतना ही अर्थ है कि इस समय तुमसे कार्य है, तुम्हारा प्रयोजन है, तुम्हारी मुख्यता, तुम्हारी विवक्षा है, पर इसका यह अर्थ कदापि नही है कि 'तुम अपने

समानाधिकारी भाइयोंके सद्भावको ही उखाड़ कर फेंकनेका दुष्प्रयास करो। वास्तविक बात तो यह है यदि परकी अपेक्षा 'नास्ति' धर्म न हो, तो जिस घडेमें तुम रहते हो वह घडा 'घडा' ही न रह जायगा, किन्तु कपड़ा आदि परपदार्थरूप हो जायगा। अत तुम्हे अपनी स्थितिके लिये भी यह आवश्यक है कि तुम अन्य धर्मोंकी वास्तविक स्थितिको समझो। तुम उनकी हिंसा न कर सको, इसके लिये अहिंसाका प्रतीक 'स्यात्' शब्द तुमसे पहले ही वाक्यमें लगा दिया जाता है। भाई अस्ति, यह तुम्हारा दोष नही है। तुम तो बराबर अपने नास्ति आदि भाइयोके साथ हिलमिल कर अनन्तधर्मा वस्तुमे रहते ही हो, सब धर्म-भाई अपने-अपने स्वरूपको सापेक्षभावसे वस्तुमें रखे हो, पर इन फूट डालनेवाले वस्तुद्रष्टाओंको क्या कहा जाय ? ये अपनी एकागी दृष्टिसे तुममें फूट डालना चाहते हैं और चाहते है कि तुममें भी अहकारपूर्ण स्थिति उत्पन्न होकर आपसमें भेदभाव एवं हिंसाकी सृष्टि हो।' बस, 'स्यात्' शब्द एक ऐसी अञ्जनशलाका है जो उनकी दृष्टिको विकृत नही होने देती, वह उसे निर्मल और पूर्णदर्शी बनाती है। इस अविवक्षित-संरक्षक, दृष्टिविषापहारी, सचेतक प्रहरी, अहिंसा और सत्यके प्रतीक, जीवन्त न्यायरूप, शब्दको सुधामय करनेवाले तथा सुनिश्चित अपेक्षाद्योतक 'स्यात्' शब्दके स्वरूपके साथ हमारे दार्शनिकोने न्याय तो किया ही नही, किन्तु उसके स्वरूपका 'शायद, सम्भव और कदाचित्' जैसे भ्रष्ट पर्यायोंसे विकृत करनेका अशोभन प्रयत्न अवश्य किया है, और आजतक किया जा रहा है।

विरोध-परिहार :

सबसे थोथा तर्क तो यह दिया जाता है कि 'घडा जब अस्ति है, तो नास्ति कैसे हो सकता है ? घडा जब एक है तो अनेक कैसे हो सकता है ? यह तो प्रत्यक्ष-विरोध है।' पर विचार तो करो—घडा आखिर 'घडा' ही तो है, कपडा तो नही है, कुरसी तो नही है, टेबिल तो नही है। तात्पर्य यह कि वह घटसे भिन्न अनन्त पदार्थोंरूप नहीं है। तो यह कहनेमे आपको क्यो संकोच होता है कि 'घड़ा अपने स्वरूपसे अस्ति है और स्वभिन्न पररूपोंसे नास्ति है।' इस घडेमें अनन्त पररूपकी अपेक्षा 'नास्तित्व' है, अन्यथा दुनियामें कोई शक्ति ऐसी नहीं, जो घड़ेको कपडा आदि बननेसे रोक सकती। यह नास्तित्व धर्म ही घडेको घडेके रूपमें कायम रखता है। इसी नास्ति धर्मकी सूचना 'अस्ति'के प्रयोग कालमें स्यात्' शब्द देता है। इसी तरह 'घडा समग्र भावसे एक होकर भी अपने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, छोटा, बडा, हलका, भारी आदि अनन्त गुण, और धर्मोंकी दृष्टिसे अनेक रूपोंमें दिखाई देता है या नही ?' यह आप स्वयं बतावें। यदि अनेक

रूपमे दिखाई देता है तो आपको यह मानने और कहनेमें क्यो कष्ट होता है कि 'घडा द्रव्यरूपसे एक होकर भी अपने गुण धर्म और शक्ति आदिकी दृष्टिसे अनेक है।' जब प्रत्यक्षसे वस्तुमे अनेक विरोधी धर्मोका स्पष्ट प्रतिभास हो रहा है, वस्तु स्वयं अनन्त विरोधी धर्मोंका अविरोधी क्रीडास्थल है, तब हमें क्यो संशय और विरोध उत्पन्न करना चाहिये ? हमें उसके स्वरूपको विकृतरूपमें देखनेकी दुर्दृष्टि तो नही करनी चाहिए। हम उस महान् 'स्यात्' शब्दको, जो वस्तुके इस पूर्ण रूपकी झाँकी सापेक्षभावसे बताता है, विरोध, संशय जैसी गालियोसे दुरदुराते है। किमाश्चर्यमत परम्। यहाँ धर्मकीर्तिका यह श्लोकाश ध्यानमे आ जाता है—

"यदीयं स्वयमर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्।

—प्रमाणवा० २।२१०।

अर्थात् यदि यह चित्ररूपता—अनेकधर्मता वस्तुको स्वयं रुच रही है, उसके विना उसका अस्तित्व ही सम्भव नही है, तो हम बीचमें काजी बननेवाले कौन ? जगत्का एक-एक कण इस अनन्तधर्मताका आकर है। हमें तो सिर्फ अपनी दृष्टिको ही निर्मल और विशाल बनानेकी आवश्यकता है। वस्तुमें विरोध नही है। विरोध तो हमारी दृष्टियोमें है। और इस दृष्टि विरोध-ज्वरकी अमृता (गुरबेल) 'स्यात्' शब्द है, जो रोगीको तत्काल कटु तो अवश्य लगती है, पर इसके बिना यह दृष्टि-विषमज्वर उतर भी नही सकता।

वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकता :

'वस्तु अनेकान्तरूप है' यह बात थोडा गम्भीर विचार करते ही अनुभवमें आ जाती है, और यह भी प्रतिभासित होने लगता है कि हमारे क्षुद्र ज्ञानने कितनी उछल-कूद मचा रखी है तथा वस्तुके विराट् स्वरूपके साथ खिलवाड कर रखी है। पदार्थ भावरूप भी है और अभावरूप भी है। यदि सर्वथा भावरूप माना जाय, तो प्रागभाव, प्रध्वसाभाव, अन्योन्याभाव और अत्यन्ताभाव इन चार अभावोका लोप हो जानेसे पर्यायें भी अनादि, अनन्त और सर्वसंकररूप हो जायेंगी तथा एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप होकर प्रतिनियत द्रव्यव्यवस्थाको ही समाप्त कर देगा।

प्रागभाव :

कोई भी कार्य अपनी उत्पत्तिके पहले 'असत्' होता है। वह कारणोसे उत्पन्न होता है। कार्यका उत्पत्तिके पहले न होना ही प्रागभाव कहलाता है। यह अभाव भावान्तररूप होता है। यह तो ध्रुवसत्य है कि किसी भी द्रव्यकी उत्पत्ति नही होती। द्रव्य तो विश्वमे अनादि-अनन्त गिने-गिनाये है। उनकी संख्या न तो कम

होती है और न अधिक। उत्पाद होता है पर्यायका। द्रव्य अपने द्रव्यरूपसे कारण होता है और पर्यायरूपसे कार्य। जो पर्याय उत्पन्न होने जा रही है वह उत्पत्तिके पहले पर्यायरूपमें तो नही है' अत. उसका जो यह अभाव है वही प्रागभाव है। यह प्रागभाव पूर्वपर्यायरूप होता है, अर्थात् 'घडा' पर्याय जबतक उत्पन्न नही हुई, तबतक वह 'असत्' है और जिस मिट्टी द्रव्यसे वह उत्पन्न होनेवाली है उस, द्रव्यकी घटसे पहलेकी पर्याय घटका प्रागभाव कही जाती है। यानी वही पर्याय नष्ट होकर घट पर्याय बनती है, अत वह पर्याय घट-प्रागभाव है। इस तरह अत्यन्त सूक्ष्म कालकी दृष्टिसे पूर्वपर्याय ही उत्तर-पर्यायका प्रागभाव है, और सन्ततिकी दृष्टिसे यह प्रागभाव अनादि भी कहा जाता है। पूर्वपर्यायका प्रागभाव तत्पूर्व पर्याय है, तथा तत्पूर्वपर्यायका प्रागभाव उससे भी पूर्वकी पर्याय होगा, इस तरह सन्ततिकी दृष्टिसे यह अनादि होता है। यदि कार्य-पर्यायका प्रागभाव नही माना जाता है, तो कार्यपर्याय अनादि हो जायगी और द्रव्यमें त्रिकालवर्ती सभी पर्यायोका एक कालमें प्रकट सद्भाव मानना होगा, जो कि सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है।

प्रध्वंसाभाव :

द्रव्यका विनाश नही होता, विनाश होता है पर्यायका। अत. कारणपर्यायका नाश कार्यपर्यायरूप होता है, कारण नष्ट होकर कार्य बन जाता है। कोई भी विनाश सर्वथा अभावरूप या तुच्छ न होकर उत्तरपर्यायरूप होता है। घडा पर्याय नष्ट होकर कपाल पर्याय बनती है, अत. घटविनाश कपाल (खपरियाँ) रूप ही फलित होता है। तात्पर्य यह कि पूर्वका नाश उत्तररूप होता है। यदि यह प्रध्वसाभाव न माना जाय तो सभी पर्यायें अनन्त हो जायँगी, यानी वर्तमान क्षणमें अनादिकालसे अब तक हुई सभी पर्यायोका सद्भाव अनुभवमे आना चाहिये, जो कि असम्भव है। वर्तमानमें तो एक ही पर्याय अनुभवमे आती है। यह शंका भी नही ही हो सकती कि 'घटविनाश यदि कपालरूप है तो कपालका विनाश होने पर, यानी घटविनाशका नाश होनेपर फिर घडेको पुनरुज्जीवित हो जाना चाहिये, क्योंकि विनाशका विनाश तो सद्भावरूप होता है'; क्योंकि कारणका उपमर्दन करके तो कार्य उत्पन्न होता है पर कार्यका उपमर्दन करके कारण नहीं। उपादानका उपमर्दन करके उपादेयकी उत्पत्ति ही सर्वजनसिद्ध है। प्रागभाव (पूर्वपर्याय) और प्रध्वसाभाव (उत्तर पर्याय) में उपादान-उपादेयभाव है। प्रागभावका नाश करके प्रध्वस उत्पन्न होता है, पर प्रध्वसका नाश करके प्रागभाव पुनरुज्जीवित नहीं हो सकता। जो नष्ट हुआ, वह नष्ट हुआ। नाश

अनन्त हैं। जो पर्याय गयी वह अनन्तकालके लिये गयी, वह फिर वापिस नही आ सकती। 'यदतीतमतीतमेव तत्' यह ध्रुव नियम है। यदि प्रध्वसाभाव नही माना जाता है तो कोई भी पर्याय नष्ट नही होगी, सभी पर्याये अनन्त हो जाँयगी, अत प्रध्वंसाभाव प्रतिनियत पदार्थ-व्यवस्थाके लिये नितान्त आवश्यक है।

इतरेतराभाव :

एक पर्यायका दूसरी पर्यायमें जो अभाव है वह इतरेतराभाव है। स्वभावान्तरसे स्वस्वभावकी व्यावृत्तिको इतरेतराभाव कहते हैं। प्रत्येक पदार्थके अपने-अपने स्वभाव निश्चित हैं। एक स्वभाव दूसरे रूप नही होता। यह जो स्वभावोकी प्रतिनियतता है वही इतरेतराभाव है। इसमे एक द्रव्यकी पर्यायोका परस्परमें जो अभाव है वही इतरेतराभाव फलित होता है, जैसे घटका पटमें और पटका घटमें वर्तमानकालिक अभाव। कालान्तरमें घटके परमाणु मिट्टी; कपास और तन्तु बनकर पटपर्यायको धारण कर सकते हैं, पर वर्तमानमें तो घट पट नही हो सकता है। यह जो वर्तमानकालीन परस्पर व्यावृत्ति है वह अन्योन्याभाव है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभावसे अन्योन्याभावका कार्य नही चलाया जा सकता; क्योकि जिसके अभावमें नियमसे कार्यकी उत्पत्ति हो वह प्रागभाव और जिसके होने पर नियमसे कार्यका विनाश हो वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है, पर इतरेतराभावके अभाव या भावसे कार्योत्पत्ति या विनाशका कोई सम्बन्ध नही है। वह तो वर्तमान पर्यायोके प्रतिनियत स्वरूपकी व्यवस्था करता है कि वे एक दूसरे रूप नही हैं। यदि यह इतरेतराभाव नही माना जाता, तो कोई भी प्रतिनियत पर्याय सर्वात्मक हो जायगी, यानी सब सर्वात्मक हो जायेगे।

अत्यन्ताभाव :

एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें जो त्रैकालिक अभाव है वह अत्यन्ताभाव है। ज्ञानका आत्मामें समवाय है, उसका समवाय कभी भी पुद्गलमें नही हो सकता, यह अत्यन्ताभाव कहलाता है। इतरेतराभाव वर्तमानकालीन होता है और एक स्वभावकी दूसरेसे व्यावृत्ति कराना ही उसका लक्ष्य होता है। यदि अत्यन्ताभावका लोप कर दिया जाये तो किसी भी द्रव्यका कोई असाधारण स्वरूप नही रह जायगा। सब द्रव्य सब रूप हो जायेंगे। अत्यन्ताभावके कारण ही एक द्रव्य दूसरे द्रव्यरूप नही हो पाता। द्रव्य चाहे सजातीय हों, या विजातीय, उनका अपना प्रतिनियत अखंड स्वरूप होता है। एक द्रव्य दूसरेमें कभी भी ऐसा विलीन नही होता, जिससे उसकी सत्ता ही समाप्त हो जाय। इस तरह ये चार अभाव,

जो कि प्रकारान्तरसे भावरूप ही है, वस्तुके धर्म हैं। इनका लोप होनेपर, यानी पदार्थोंको सर्वथा भावात्मक माननेपर उक्त दूषण आते हैं। अत. अभावांश भी वस्तुका उसी तरह धर्म है जिस प्रकार कि भावांश। अत. वस्तु भावाभावात्मक है।

यदि वस्तु अभावात्मक ही मानी जाय, यानी सर्वथा शून्य हो; तो, बोध और वाक्यका भी अभाव होनेसे 'अभावात्मक तत्त्व' की स्वयं कैसे प्रतीति होगी ? तथा परको कैसे समझाया जायगा ? स्वप्रतिपत्तिका साधन है बोध तथा परप्रतिपत्तिका उपाय है वाक्य। इन दोनोके अभावमे स्वपक्षका साधन और परपक्षका दूषण कैसे हो सकेगा ? इस तरह विचार करनेसे लोकका प्रत्येक पदार्थ भावाभावात्मक प्रतीत होता है। सीधी बात है—कोई भी पदार्थ अपने निजरूपमें ही होगा, पररूपमें नही। उसका इस प्रकार स्वरूपमय होना ही पदार्थमात्रकी अनेकान्तात्मकताको सिद्ध कर देता है। यहाँ तक तो पदार्थकी सामान्य स्थितिका विचार हुआ। अब हम प्रत्येक द्रव्यको लेकर भी विचार करें तो हर द्रव्य सदसदात्मक ही अनुभवमें आता है।

सदसदात्मक तत्त्व :

प्रत्येक द्रव्यका अपना असाधारण स्वरूप होता है, उसका निजी क्षेत्र, काल और भाव होता है, जिनमें उसकी सत्ता सीमित रहती है। सूक्ष्म विचार करनेपर क्षेत्र, काल और भाव अन्ततः द्रव्यकी असाधारण स्थिति रूप ही फलित होते हैं। यह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावका चतुष्टय स्वरूपचतुष्टय कहलाता है। प्रत्येक द्रव्य अपने स्वरूपचतुष्टयसे सत् होता है और पररूपचतुष्टयसे असत्। यदि स्वरूपचतुष्टयकी तरह पररूपचतुष्टयसे भी सत् मान लिया जाय, तो स्व और परमें कोई भेद नही रहकर सबको सर्वात्मकताका प्रसंग प्राप्त होता है। यदि पररूपकी तरह स्वरूपसे भी असत् हो जाय, तो निःस्वरूप होनेसे अभावात्मकताका प्रसंग होता है। अत. लोककी प्रतीतिसिद्ध व्यवस्थाके लिये प्रत्येक पदार्थको स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् मानना ही चाहिये। द्रव्य एक इकाई है, अखंड मौलिक है। पुद्गल द्रव्योंमें ही परमाणुओंके परस्पर संयोगसे छोटे-बडे अनेक स्कन्ध तैयार होते हैं। ये स्कन्ध सयुक्तपर्याय हैं। अनेक द्रव्योंके संयोगसे ही घट, पट आदि स्थूल पदार्थोंकी सृष्टि होती है। ये सयुक्त स्थूल पर्यायें भी अपने द्रव्य, अपने क्षेत्र, अपने काल और अपने असाधारण निज धर्मकी दृष्टिसे 'सत्' हैं और परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी दृष्टिसे असत् हैं। इस तरह कोई भी पदार्थ इस सदसदात्मकताका अपवाद नही हो सकता।

एकानेकात्मक तत्त्व :

हम पहले लिख चुके हैं कि दो द्रव्य व्यवहारके लिये ही एक कहे जा सकते हैं। वस्तुत दो पृथक् स्वतंत्रसिद्ध द्रव्य एकसत्ताक नही हो सकते। पुद्गल द्रव्यके अनेक अणु जब स्कन्ध अवस्थाको प्राप्त होते हैं तब उनका ऐसा रासायनिक मिश्रण होता है, जिससे ये अमुक काल तक एकसत्ताक जैसे हो जाते हैं। ऐसी दशामें हमें प्रत्येक द्रव्यका विचार करते समय द्रव्यदृष्टिसे उसे एक मानना होगा और गुण तथा पर्यायोकी दृष्टिसे अनेक। एक ही मनुष्यजीव अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओकी दृष्टिसे अनेक अनुभवमे आता है। द्रव्य अपनी गुण और पर्यायोसे, सज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भिन्न होकर भी चूंकि द्रव्यसे पृथक् गुण और पर्यायोकी सत्ता नही पाई जाती, या प्रयत्न करने पर भी हम द्रव्यसे गुणपर्यायोका विवेचन-पृथक्करण नही कर सकते, अत वे अभिन्न हैं। सत्सामान्यकी दृष्टिसे समस्त द्रव्योको एक कहा जा सकता है और अपने-अपने व्यक्तित्वकी दृष्टिसे पृथक् अर्थात् अनेक। इस तरह समग्र विश्व अनेक होकर भी व्यवहारार्थ सग्रह-नयकी दृष्टिसे एक कहा जाता है। एक द्रव्य अपने गुण और पर्यायोकी दृष्टिसे अनेकात्मक है। एक ही आत्मा हर्ष-विषाद, सुख-दु ख, ज्ञान आदि अनेक रूपोमें अनुभव में आता है। द्रव्यका लक्षण अन्वयरूप है, जब कि पर्याय व्यतिरेकरूप होती है। द्रव्यकी सख्या एक है और पर्यायोकी अनेक। द्रव्यका प्रयोजन अन्वयज्ञान है और पर्यायका प्रयोजन है व्यतिरेक ज्ञान। पर्यायें प्रतिक्षण नष्ट होती हैं और द्रव्य अनादि अनन्त होता है। इस तरह एक होकर भी द्रव्यकी अनेकरूपता जब प्रतीतिसिद्ध है तब उसमे विरोध, संशय आदि दूषणोका कोई अवकाश नही है।

नित्यानित्यात्मक तत्त्व :

यदि द्रव्यको सर्वथा नित्य माना जाता है तो उसमे किसी भी प्रकार के परिणमनकी संभावना नही होनेसे कोई अर्थक्रिया नही हो सकेगी और अर्थक्रिया-शून्य होनेसे पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष, लेन-देन आदिकी समस्त व्यवस्थाएँ नष्ट हो जायँगी। यदि पदार्थ एक जैसा कूटस्थ नित्य रहता है तो जगके प्रतिक्षणके परिवर्तन असंभव हो जायँगे। और यदि पदार्थको सर्वथा विनाशी माना जाता है, तो पूर्वपर्यायका उत्तरपर्यायके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध न होनेके कारण लेन-देन, बन्ध-मोक्ष, स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि व्यवहार उच्छिन्न हो जायँगे। जो करता है उसके भोगनेका क्रम ही नही रहेगा। नित्य पक्षमें कर्त्तृत्व नही बनता, तो अनित्य पक्षमे करनेवाला एक और भोगनेवाला दूसरा होता है। उपादान-उपादेयभावमूलक

कार्यकारणभाव भी इस पक्षमे नही बन सकता। अत. समस्त लोक-परलोक तथा कार्यकारणभाव आदिकी सुव्यवस्थाके लिये पदार्थोंमें परिवर्तनके साथ-ही-साथ उसकी मौलिकता और अनादिअनन्तरूप द्रव्यत्वका आधारभूत ध्रुवत्व भी स्वीकार करना ही चाहिये।

• इसके माने विना द्रव्यका मौलिकत्व सुरक्षित नही रह सकता। अत. प्रत्येक द्रव्य अपनी अनादि अनन्त धारामें प्रतिक्षण सदृश, विसदृश, अल्पसदृश, अर्धसदृश आदि अनेकरूप परिणमन करता हुआ भी कभी समाप्त नही होता, उसका समूल उच्छेद या विनाश नही होता। आत्माको मोक्ष हो जाने पर भी उसकी समाप्ति नही होती, किन्तु वह अपने शुद्धतम स्वरूपमें स्थिर हो जाता है। उस समय उसमे वैभाविक परिणमन नही होकर द्रव्यगत उत्पाद-व्यय स्वरूपके कारण स्वभाव-भूत सदृश परिणमन सदा होता रहता है। कभी भी यह परिणमनचक्र रुकता नही है और न कभी कोई भी द्रव्य समाप्त ही हो सकता है। अत प्रत्येक द्रव्य नित्या-नित्यात्मक है।

यद्यपि हम स्वयं अपनी बाल, युवा, वृद्ध आदि अवस्थाओंमें बदल रहे है, फिर भी हमारा एक ऐसा अस्तित्व तो है ही, जो इन सब परिवर्तनोमें हमारी एकरूपता रखता है। वस्तुस्थिति जब इस तरह परिणामी-नित्यकी है, तब यह शका कि 'जो नित्य है वह अनित्य कैसा?' निर्मूल है; क्योकि परिवर्तनोके आधारभूत पदार्थकी सन्तानपरम्परा उसके अनाद्यनन्त सत्त्वके विना बन ही नही सकती। यही उसकी नित्यता है जो अनन्त परिवर्तनोके बावजूद भी वह समाप्त नही होता और अपने अतीतके संस्कारोको लेता-छोडता वर्तमान तक आता है और अपने भविष्यके एक-एक क्षणको वर्तमान बनाता हुआ उन्हें अतीतके गह्वरमें ढकेलता जाता है, पर कभी स्वय रुकता नही है। किसी ऐसे कालकी कल्पना नही की जा सकती, जो स्वय अतिम हो, जिसके बाद दूसरा काल नही आनेवाला हो। कालकी तरह समस्त जगत्के अणु-परमाणु और चेतन आदिमेंसे कोई एक या सभी कभी निर्मूल समाप्त हो जायेंगे, ऐसी कल्पना ही नही होती। यह कोई बुद्धिकी सीमाके परेकी बात नही है। बुद्धि 'अमुक क्षणमें अमुक पदार्थकी अमुक अवस्था होगी' इस प्रकार परिवर्तनका विशेपरूप न भी जान सके, पर इतना तो उसे स्पष्ट भान होता है कि 'पदार्थका भविष्यमें प्रत्येक क्षणमे कोई-न-कोई परिवर्तन अवश्य होगा।' जब द्रव्य अपनेमें मौलिक है, तब उसकी समाप्ति, यानी समूल नाशका प्रश्न ही नही है। अत. पदार्थमात्र, चाहे वह चेतन हो, या अचेतन, परिणामीनित्य है। वह प्रतिक्षण त्रिलक्षण है। हर समय कोई एक पर्याय उसकी होगी ही। वह

अतीत पर्यायका नाश कर जिस प्रकार स्वयं अस्तित्वमे आई है उसी तरह उत्तर पर्यायको उत्पन्न कर स्वयं नष्ट हो जायगी। अतीतका व्यय और वर्तमानका उत्पाद दोनोमे द्रव्यरूपसे ध्रुवता है ही।

यह त्रयात्मकता वस्तुकी जान है। इसीको स्वामी समन्तभद्र[1] तथा भट्ट कुमारिलने लौकिक दृष्टान्तसे इस प्रकार समझाया है कि जब सोनेके कलशको मिटाकर मुकुट बनाया गया, तो कलशार्थीको शोक हुआ, मुकुटाभिलाषीको हर्ष और सुवर्णार्थीको माध्यस्थ्यभाव रहा। कलशार्थीको शोक कलशके नाशके कारण हुआ, मुकुटाभिलाषीको हर्ष मुकुटके उत्पादके कारण तथा सुवर्णार्थीकी तटस्थता दोनो दशाओमें सुवर्णके बने रहनेके कारण हुई है। अत. वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है। जब [2]दूधको जमाकर दही बनाया गया, तो जिस व्यक्तिको दूध खानेका व्रत है वह दहीको नही खायगा, पर जिसे दही खानेका व्रत है वह दहीको तो खा लेगा, पर दूधको नही खायगा, और जिसे गोरसके त्यागका व्रत है वह न दूध खायगा और न दही, क्योकि दोनो ही अवस्थाओमें गोरस है ही। इससे ज्ञात होता है कि गोरसकी ही दूध और दही दोनो क्रमिक पर्यायें थी।

[3]पातञ्जल महाभाष्यमें भी पदार्थके त्रयात्मकत्वका समर्थन शब्दार्थ मीमांसाके प्रकरण में मिलता है। आकृति नष्ट होने पर भी पदार्थकी सत्ता बनी रहती है। एक ही क्षणमें वस्तुके त्रयात्मक कहनेका स्पष्ट अर्थ यह है कि पूर्वका विनाश और

---

१. "घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥"—आप्तमी० श्लो० ५९।
"वर्धमानकभङ्गे च रुचक क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिन. शोक प्रीतिश्चाप्युत्तरार्थिन॥
हेमार्थिनतु माध्यस्थ्यं तस्माद्वस्तु त्रयात्मकम्।
न नाशेन विना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यस्थ्य तेन सामान्यनित्यता॥"
—मी० श्लो० पृ० ६१९।

२. "पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्व त्रयात्मकम्॥" —आप्तमी० श्लो० ६०।

३ "द्रव्य हि नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटका क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते, पुनरावृत्त सुवर्णपिण्ड पुनरपरया आकृत्या युक्त खदिराङ्गारसदृशे कुण्डले भवत। आकृतिरन्या अन्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।" —पात० महाभा० १।१।१। योगभा० ४।१३।

उत्तरका उत्पाद दो चीजे नही है, किन्तु एक कारणसे उत्पन्न होनेके कारण पूर्व-विनाश ही उत्तरोत्पाद है। जो उत्पन्न होता है वही नष्ट होता है और वही ध्रुव है। यह सुननेमें तो अटपटा लगता है कि 'जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह ध्रुव कैसे हो सकता है? यह तो प्रकट विरोध है, परन्तु वस्तुस्थितिका थोडी स्थिरतासे विचार करने पर यह कुछ भी अटपटा नही लगता। इसके माने बिना तत्त्वके स्वरूपका निर्वाह ही नही हो सकता।

भेदाभेदात्मक तत्त्व :

गुण और गुणीमें, सामान्य और सामान्यवान्मे, अवयव और अवयवीमें, कारण और कार्यमें सर्वथा भेद माननेसे गुणगुणीभाव आदि नही ही बन सकते। सर्वथा अभेद मानने पर भी यह गुण है और यह गुणी, यह व्यवहार नही हो सकता। गुण यदि गुणीसे सर्वथा भिन्न है, तो अमुक गुणका अमुक गुणीसे ही नियत सम्बन्ध कैसे किया जा सकता है? अवयवी यदि अवयवोमे सर्वथा भिन्न है, तो एक अवयवी अपने अवयवोंमे सर्वात्मना रहता है, या एकदेशसे? यदि पूर्णरूपसे; तो जितने अवयव है उतने ही अवयवी मानना होंगे। यदि एकदेशसे, तो जितने अवयव है उतने प्रदेश उस अवयवीके स्वीकार करना होगें। इस तरह सर्वथा भेद और अभेद पक्षमें अनेक दूपण आते है। अत तत्त्वको पूर्वोक्त प्रकारसे कथञ्चित् भेदाभेदात्मक मानना चाहिये। जो द्रव्य है वही अभेद है और जो गुण और पर्याय है वही भेद है। दो पृथक्सिद्ध द्रव्योंमें जिस प्रकार अभेद काल्पनिक है उसी तरह एक द्रव्यका अपने गुण और पर्यायोसे भेद मानना भी सिर्फ समझने और समझानेके लिये है। गुण और पर्यायको छोड़कर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है, जो इनमें रहता हो।

इसी तरह [1]अन्यानन्यात्मक और [2]पृथक्त्वापृथक्त्वात्मक तत्त्वकी भी व्याख्या कर लेनी चाहिये।

[3]धर्म-धर्मिभावका व्यवहार भले ही आपेक्षिक हो, पर स्वरूप तो स्वत सिद्ध ही है। जैसे—एक ही व्यक्ति विभिन्न अपेक्षाओंसे कर्ता, कर्म, करण आदि कारक-रूपसे व्यवहारमें आता है, पर उस व्यक्तिका स्वरूप स्वत.सिद्ध ही हुआ करता है; उसी तरह प्रत्येक पदार्थमें अनन्तधर्म स्वरूप-सिद्ध होकर भी परकी अपेक्षासे व्यवहारमें आते है।

---

१ आप्तमी० श्लो० ६१। २ आप्तमी० श्लो० २८।
३ आप्तमी० श्लो० ७३–७५।

निष्कर्ष इतना ही है कि प्रत्येक अखण्ड तत्त्व या द्रव्यको व्यवहारमे उतारनेके लिये उसका अनेक धर्मोके आकारके रूपमें वर्णन किया जाता है। उस द्रव्यको छोडकर धर्मोकी स्वतन्त्र सत्ता नही है। दूसरे शब्दोमे अन्तत. गुण, पर्याय और धर्मोको छोडकर द्रव्यका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही है। कोई ऐसा समय नही आ सकता, जब गुणपर्यायशून्य द्रव्य पृथक् मिल सके, या द्रव्यसे भिन्न गुण और पर्यायें दिखाई जा सकें। इस तह स्याद्वाद इस अनेकान्तरूप अर्थको निर्दोषपद्धतिसे वचनव्यवहारमे उतारता है और प्रत्येक वाक्यकी सापेक्षता और आंशिक स्थितिका बोध कराता है।

सप्तभंगी :

वस्तुकी अनेकान्तात्मकता और भाषाके निर्दोष प्रकार—स्याद्वादको समझ लेनेके बाद सप्तभंगीका स्वरूप समझनेमें आसानी हो जाती है। 'अनेकान्त'मे यह बतलाया गया है कि वस्तुमे सामान्यतया विभिन्न अपेक्षाओसे अनन्तधर्म होते है। विशेषत. अनेकान्तका प्रयोजन 'प्रत्येक धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्मके साथ वस्तुमें रहता है' यह प्रतिपादन करना ही है। यो तो एक पुद्गलमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, हलका, भारी, सत्त्व, एकत्व आदि अनेक धर्म गिनाये जा सकते है। परन्तु 'सत्' असत्का अविनाभावी है और एक अनेकका अविनाभावी है' यह स्थापित करना ही अनेकान्तका मुख्य लक्ष्य है। इसी विशेष हेतुसे प्रमाणाविरोधी विधि-प्रतिषेधकी कल्पनाको सप्तभगी कहते है।

इस भारतभूमिमें विश्वके सम्बन्धसे सत्, असत्, उभय और अनुभय ये चार पक्ष वैदिककालसे ही विचारकोटिमें रहे है। "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्" (छान्दो० ६।२) "असदेवेदमग्र आसीत्" (छान्दो० ३।१९।१) इत्यादि वाक्य जगत्के सम्बन्धमे सत् और असत् रूपसे परस्पर-विरोधी दो कल्पनाओको स्पष्ट उपस्थित कर रहे है। तो वही सत् और असत् इस उभयरूपताका तथा इन सबसे परे वचनागोचर तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले पक्ष भी मौजूद थे। बुद्धके अव्याकृतवाद और संजयके अज्ञानवादमें इन्ही चार पक्षोके दर्शन होते है। उस समयका वातावरण ही ऐसा था कि प्रत्येक वस्तुका स्वरूप 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इन चार कोटियोसे विचारा जाता था। भगवान् महावीरने अपनी विशाल और उदार तत्त्वदृष्टिसे वस्तुके विराटरूपको देखा और बताया कि वस्तुके अनन्तधर्ममय स्वरूपसागरमे ये चार कोटियाँ तो क्या, ऐसी अनन्त कोटियाँ लहरा रही है।

अपुनरुक्त भंग सात हैं :

चार कोटियोमें तीसरी उभयकोटि तो सत् और असत् दो को मिलाकर बनाई गई है। मूल भङ्ग तो तीन ही हैं—सत्, असत् और अनुभय अर्थात् अवक्तव्य। गणितके नियमके अनुसार तीनके अपुनरुक्त विकल्प सात ही हो सकते हैं, अधिक नही। जैसे—सोठ, मिरच और पीपलके प्रत्येक-प्रत्येक तीन स्वाद और द्विसयोगी तीन—(सोठ-मिरच, सोठ-पीपल और मिरच-पीपल) तथा एक त्रिसयोगी (सोठ-मिरच-पीपल मिलाकर) इस तरह अपुनरुक्त स्वाद सात ही हो सकते हैं, उसी तरह सत्, असत् और अनुभय (अवक्तव्य)के अपुनरुक्त भग सात ही हो सकते हैं। भ० महावीरने कहा कि वस्तु इतनी विराट् है कि उसमें चार कोटियाँ तो क्या, इनके मिलान-जुडानके बाद अधिक-से-अधिक सम्भव होनेवाली सात कोटियाँ भी विद्यमान हैं। आज लोगोका प्रश्न चार कोटियोमें घूमता है, पर कल्पना तो एक-एक धर्ममें अधिक-से-अधिक सात प्रकारकी हो सकती है। ये सातो प्रकारके अपुनरुक्त धर्म वस्तुमें विद्यमान है। यहाँ यह बात खास तौर ध्यानमें रखनेकी है कि एक-एक धर्मको केन्द्रमे रखकर उसके प्रतिपक्षी वि ।र धर्मके साथ वस्तुके वास्तविकरूप या शब्दकी असामर्थ्यजन्य अवक्तव्यताको रि किन्तु सात भगो या सात धर्मोकी कल्पना होती है। ऐसे असख्य सात-सात र .सामर्थ्य- धर्मकी अपेक्षासे वस्तुमें सम्भव है। इसलिये वस्तुको सप्तधर्मा न क र्मा या अनेकान्तात्मक कहा गया है। जब हम अस्तित्व धर्मका सरा इसका प्रतिपक्षी स्तित्वविषयक सात भंग बनते हैं और जब नित्यत्व धर्म सामर्थ्य होनेसे ४ रा नित्यत्वको केन्द्रमे रखकर सात भंग बन जाते हैं। की विवक्षा होनेपर सात भग वस्तुमें सम्भव होते हैं। और द्वितीय समयमें

सात ही भंग क्यों ? :

क्यो घट., छठवाँ प्रथम

'भग सात ही क्यो होते हैं ?' इस प्रश्नका मिक विवक्षा होनेपर (६) वस्तुओके गणितके नियमके अनुसार अपुनरुक्त १ अस्ति, द्वितीय समयमें नास्ति समाधान है कि प्रश्न सात प्रकारके ही होक्षा होनेपर (७) स्यादस्ति नास्ति है ?' इसका उत्तर है कि जिज्ञासा सात। प्रकारकी क्यो होती है ?' इसका उत्तनतुष्टयकी दृष्टिसे है। उसके अपने द्रव्य, 'सशय सात प्रकारके क्यो है ?' इसकामक है। है। तात्पर्य यह कि सप्तभंगीन्यायवेचन तत्त्वार्थवार्तिक (१।६) में इस प्रकार है— छानबीन करके वैज्ञानिक आघ शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न असत्, उभय और अनुभय'

उनका अधिक-से-अधिक विकास सात रूपमे ही सम्भव हो सकता है। सत्य तो त्रिकालावाधित होता है, अत. तर्कजन्य प्रश्नोकी अधिकतम सम्भावना करके ही उनका समाधान इस सप्तभगी प्रक्रियासे किया गया है।

वस्तुका निजरूप तो वचनातीत—अनिर्वचनीय है। शब्द उसके अखण्ड आत्मरूप तक नही पहुँच सकते। कोई ज्ञानी उस अवक्तव्य, अखण्ड वस्तुको कहना चाहता है तो वह पहले उसका 'अस्ति' रूपमें वर्णन करता है। पर जब वह देखता है कि इससे वस्तुका पूर्ण रूप वर्णित नही हो सकता है, तो उसका 'नास्ति' रूपमें वर्णन करनेकी ओर झुकता है। किन्तु फिर भी वस्तुकी अनन्तधर्मात्मकताकी सीमाको नही छू पाता। फिर वह कालक्रमसे उभयरूपमें वर्णन करके भी उसकी पूर्णताको नही पहुँच पाता, तब बरबस अपनी तथा शब्दकी असामर्थ्यपर खीझ कर कह उठता है "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" (तैत्तिरी० २।४।१) अर्थात् जिसके स्वरूपकी प्राप्ति वचन तथा मन भी नही कर सकते, वे भी उससे निवृत्त हो जाते हैं, ऐसा वह वचन तथा मनका अगोचर अखण्ड 'निर्वचीय अनन्तधर्मा वस्तुतत्त्व। इस स्थितिके अनुसार वह मूलरूप तो अवक्तव्य रहा उसके कहनेकी चेष्टा जिस धर्मसे प्रारम्भ होती है वह तथा उसका प्रतिपक्षी स्पर्श, इस तरह तीन धर्म मुख्य है, और इन्ही तीनका विस्तार सप्तभंगीके रूपमे 'सत्' आ है। आगेके भग वस्तुत. स्वतन्त्र भंग नही है, वे तो प्रश्नोकी करना ही म्भावनाके रूप है।

प्रतिषेधको वे म ग्रन्थोमें यद्यपि कण्ठोक्त रूपमें 'सिय अत्थि सिय णत्थि सिय तीन भगोके नाम मिलते है, पर भगवतीसूत्र (१२।१०। ये चा

इस भारत आया है उसमें स्पष्ट रूपसे सातो भंगोका प्रयोग किया गया

पक्ष वैदिककालसे चास्तिकाय (गा० १४) में सात भंगोके नाम गिनाकर

(छान्दो० ६।२) ग किया है। इसमे अन्तर इतना ही है कि भगवतीसूत्रमें

वाक्य जगत्के सम्बन्धमे दिया है जब कि कुन्दकुन्दने उसे पचास्तिकायमे

स्पष्ट उपस्थित कर रहे है। वचनसार (गा० २३) में इसे तीसरे नम्बर पर

सबसे परे वचनागोचर तत्त्वका श्वेताम्बर तर्क-ग्रन्थोमें इस भंगका दोनो ही

अव्याकृतवाद और संजयके अज्ञान

समयका वातावरण ही ऐसा था कि

और अनुभय' इन चार कोटियोसे विचा

विशाल और उदार तत्त्वदृष्टिसे वस्तुके वि तो शब्दकी असामर्थ्यके कारण वस्तुके

अनन्तधर्ममय स्वरूपसागरमे ये चार को तव्य कहना और दूसरा विवक्षित

लहरा रही है।

सप्तभंगीमे प्रथम और द्वितीय भगोंके युगपत् कह सकनेकी सामर्थ्य न होनेके कारण अवक्तव्य कहना। पहले प्रकारमें वह एक व्यापक रूप है जो वस्तुके सामान्य पूर्ण रूपपर लागू होता है और दूसरा प्रकार विवक्षित दो धर्मोको युगपत् न कह सकनेकी दृष्टिसे होनेके कारण वह एक धर्मके रूपमें सामने आता है अर्थात् वस्तुका एक रूप अवक्तव्य भी है और एक रूप वक्तव्य भी, जो शेष धर्मोके द्वारा प्रतिपादित होता है। यहाँ तक कि 'अवक्तव्य' शब्दके द्वारा भी उसीका स्पर्श होता है। दो धर्मोको युगपत् न कह सकनेकी दृष्टिसे जो अवक्तव्य धर्म फलित होता है वह तत्तत् सप्तभगियोमें जुदा-जुदा ही है, यानी सत् और असत्को युगपत् न कह सकनेके कारण जो अवक्तव्य धर्म होगा वह एक भगसे जुदा होगा। अवक्तव्य और वक्तव्यको लेकर जो सप्तभगी चलेगी उसमेका अवक्तव्य भी वक्तव्य और अवक्तव्यको युगपत् न कह सकनेके कारण ही फलित होगा, वह भी एक धर्मरूप ही होगा। सप्तभगीमें जो अवक्तव्य धर्म विवक्षित है वह दो धर्मोके युगपत् कहनेकी असामर्थ्यके कारण फलित होनेवाला ही विवक्षित है। वस्तुके पूर्णरूपवाला अवक्तव्य भी यद्यपि एक धर्म ही होता है, पर उसका इस सप्तभंगीवाले अवक्तव्यसे भेद है। उसमे भी पूर्णरूपसे अवक्तव्यता और अंशरूपसे वक्तव्यताकी विवक्षा करनेपर सप्तभंगी बनाई जा सकती है। किन्तु निरुपाधि अनिर्वचनीयता और विवक्षित दो धर्मोको युगपत् कह सकनेकी असामर्थ्य-जन्य अवक्तव्यतामें व्याप्य-व्यापकरूपसे भेद तो है ही।

'सत्' विषयक सप्तभंगीमें प्रथमभग (१) स्यादस्ति घटः, दूसरा इसका प्रतिपक्षी (२) स्यान्नास्ति घट, तीसरा भग युगपत् कहनेकी असामर्थ्य होनेसे (३) स्यादवक्तव्यो घट, चौथा भग क्रमसे प्रथम और द्वितीयकी विवक्षा होनेपर (४) स्यादुभयो घटः, पाँचवाँ प्रथम समयमें अस्तिकी और द्वितीय समयमें अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षा होनेपर (५) स्यादस्ति अवक्तव्यो घट, छठवाँ प्रथम समयमें नास्ति और द्वितीय समयमें अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षा होनेपर (६) स्यान्नास्ति अवक्तव्यो घट., सातवाँ प्रथम समयमें अस्ति, द्वितीय समयमें नास्ति और तृतीय समयमें अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षा होनेपर (७) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्यो घट, इस प्रकार सात भग होते हैं।

प्रथम भंग—घटका अस्तित्व [1]स्वचतुष्टयकी दृष्टिसे है। उसके अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव ही अस्तित्वके नियामक हैं।

---

[1] घडेके स्वचतुष्टय और परचतुष्टयका विवेचन तत्त्वार्थवार्तिक (१।६) में इस प्रकार है—(१) जिसमें 'घट' बुद्धि और 'घट' शब्दका व्यवहार हो वह स्वात्मा तथा उससे भिन्न

द्वितीय भंग—घटका नास्तित्व घटभिन्न यावत् परपदार्थोंके द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे है, क्योंकि घटमे तथा परपदार्थोंमें भेदकी प्रतीति प्रमाणसिद्ध है।

परात्मा। 'घट' स्वात्माकी दृष्टिसे अस्ति है और परात्माकी दृष्टिसे नास्ति। (२) नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपोंका जो आधार होता है वह स्वात्मा तथा अन्य परात्मा। यदि अन्य रूपसे भी 'घट' अस्ति कहा जाय तो प्रतिनियत नामादि व्यवहारका उच्छेद ही हो जायगा। (३) 'घट' शब्दके वाच्य अनेक घडोंमेंसे विवक्षित अमुक घटका जो आकार आदि है वह स्वात्मा, अन्य परात्मा। यदि इतर घटके आकारसे भी वह 'घट' अस्ति हो, तो सभी घडे एकरूप हो जायेंगे। (४) अमुक घट भी द्रव्यदृष्टिसे अनेकक्षण स्थायी होता है। चूँकि अन्वयी मृद्द्रव्यकी अपेक्षा स्थास, कोश, कुशूल, कपाल आदि पूर्वोत्तर अवस्थाओंमें भी 'घट' व्यवहार सभव है। अत मध्यक्षणवर्ती 'घट' पर्याय स्वात्मा है तथा अन्य पूर्वोत्तर पर्यायें परात्मा। उसी अवस्थामें वह घट है, क्योंकि घटके गुण, क्रिया आदि उसी अवस्थामें पाये जाते है। (५) उस मध्यकालवर्ती घट पर्यायमें भी प्रतिक्षण उपचय और अपचय होता रहता है, अत ऋजुसूत्रनयकी दृष्टिसे एकक्षणवर्ती घट ही स्वात्मा है, अतीत अनागत कालीन उसी घटकी पर्यायें परात्मा हैं। यदि प्रत्युत्पन्न क्षणकी तरह अतीत और अनागत क्षणोंसे भी घटका अस्तित्व माना जाय तो सभी घट वर्तमान क्षणमात्र ही हो जायगें। अतीत और अनागतकी तरह प्रत्युत्पन्न क्षणसे भी असत्त्व माना जाय, तो जगत्से घटव्यवहारका लोप ही हो जायगा। (६) उस प्रत्युत्पन्न घट क्षणमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आकार आदि अनेक गुण और पर्यायें हैं, अत. घडा पृथुबुध्नोदराकारसे है; क्योंकि घटव्यवहार इसी आकारसे होता है, अन्यसे नहीं। (७) आकारमें रूप, रस आदि सभी हैं। घडेके रूपको आंखसे देखकर ही घडेके अस्तित्व-का व्यवहार होता है, अत. रूप स्वात्मा है तथा रसादि परात्मा। आँखसे घडेको देखता हूँ, यहाँ रूपकी तरह रसादि भी घटके स्वात्मा हो जाँय, तो रसादि भी चक्षुग्राह्य होनेसे रूपात्मक हो जायेंगे। ऐसी दशामें अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना ही निरर्थक हो जाती है। (८) शब्दभेदसे अर्थभेद होता है। अत घट शब्दका अर्थ जुदा है तथा कुट आदि शब्दोंका जुदा, घटन क्रियाके कारण घट है तथा कुटिल होनेसे कुट। अत· घडा जिस समय घटन क्रियामें परिणत हो, उसी समय उसे घट कहना चाहिये। इसलिये घटन क्रियामें कर्त्तारूपसे उपयुक्त होनेवाला स्वरूप स्वात्मा है और अन्य परात्मा। यदि इतर-रूपसे भी घट कहा जाय, तो पटादिमें भी घटव्यवहार होना चाहिये। इस तरह सभी पदार्थ एक शब्दके वाच्य हो जायगें। (९) घटशब्दके प्रयोगके बाद उत्पन्न घटज्ञानाकार स्वात्मा है, क्योंकि वही अन्तरंग है और अहेय है, बाह्य घटाकार परात्मा है, अत घ[illegible] उपयोगाकारसे है, अन्यसे नहीं। (१०) चैतन्यशक्तिके दो आकार होते हैं—१ ज्ञानाक[illegible] २ ज्ञेयाकार। प्रतिबिम्बशून्य दर्पणकी तरह ज्ञानाकार है और सप्रतिबिम्ब दर्पणकी त[illegible] ज्ञेयाकार। इनमें ज्ञेयाकार स्वात्मा है क्योंकि घटाकार ज्ञानसे ही घटव्यवहार होता है[illegible] ज्ञानाकार परात्मा है, क्योंकि वह सर्वसाधारण है। यदि ज्ञानाकारसे घट माना जाय [illegible] घटादि ज्ञान कालमें भी घटव्यवहार होना चाहिए। यदि ज्ञेयाकारसे भी घट 'नास्ति' माना जाय, तो घट व्यवहार निराधार हो जायगा।"

तृतीय भंग—जब घडेके दोनो स्वरूप युगपत् विवक्षित होते है, तो कोई ऐसा शब्द नही है जो दोनोको मुख्यभावसे एक साथ कह सके, अत. घट अवक्तव्य है।

आगेके चार भग सयोगज है और वे इन तीन भंगोकी क्रमिक विवक्षा पर सामूहिक दृष्टि रहनेपर बनते है। यथा—

चतुर्थ भग—अस्तिनास्ति उभयरूप है। प्रथम क्षणमें स्वचतुष्टय, द्वितीय-क्षणमें परचतुष्टयकी क्रमिक विवक्षा होनेपर और दोनोपर सामूहिक दृष्टि रहनेपर घट उभयात्मक है।

पञ्चम भग—प्रथम क्षणमे स्वचतुष्टय, तथा द्वितीय क्षणमें युगपत् स्व-परचतुष्टय रूप अवक्तव्यको क्रमिक विवक्षा और दोनों समयोपर सामूहिक दृष्टि होनेपर घट स्यादस्तिअवक्तव्य है।

छठवाँ भग—स्यान्नास्ति अवक्तव्य है। प्रथम समयमें परचतुष्टय, द्वितीय समयमें अवक्तव्यकी क्रमिक विवक्षा होनेपर तथा दोनो समयोपर सामूहिक दृष्टि होनेपर घडा स्यान्नास्ति अवक्तव्य है।

सातवाँ भग—स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य है। प्रथम समयमें स्वचतुष्टय, द्वितीय समयमें परचतुष्टय तथा तृतीय समयमे युगपत् स्वपरचतुष्टयकी क्रमिक विवक्षा होनेपर और तीनो समयोपर सामूहिक दृष्टि होनेपर घड़ा स्यादस्तिनास्ति अवक्तव्य-रूप सिद्ध होता है।

मैं यह बता चुका हूँ कि चौथेसे सातवें तकके भगोकी सृष्टि सयोगज है, और वह संभव धर्मोके अपुनरुक्त अस्तित्वकी स्वीकृति देती है।

'स्यात्' शब्दके प्रयोगका नियम :

प्रत्येक भगमें स्वधर्म मुख्य होता है और शेष धर्म गौण होते है। इसी गौण-मुख्य विवक्षाका सूचन 'स्यात्' शब्द करता है। वक्ता और श्रोता यदि शब्दशक्ति और वस्तुस्वरूपके विवेचनमें कुशल[1] है तो 'स्यात्' शब्दके प्रयोगका कोई नियम नही है। उसके बिना प्रयोगके भी उसका सापेक्ष अनेकान्तद्योतन सिद्ध हो जाता है। [2]जैसे—'अहम् अस्मि' इन दो पदोमें एकका प्रयोग होने पर दूसरेका अर्थ स्वत गम्यमान हो जाता है, फिर भी स्पष्टताके लिये दोनोका प्रयोग किया जाता है उसी तरह 'स्यात्' पदका प्रयोग भी स्पष्टता और अभ्रान्तिके लिये करना उचित

---

१ लघी० श्लो० २२।
२ न्यायविनिश्चय श्लो० ४५४। अष्टसहस्री पृ० १३९।

है। संसारमें समझदारोंकी अपेक्षा कमसमझ या नासमझोंकी सख्या ही औसत दर्जे अधिक रहती आई है। अत सर्वत्र 'स्यात्' शब्दका प्रयोग करना ही राजमार्ग है।

परमतकी अपेक्षा भग-योजना :

स्यादस्ति अवक्तव्य आदि तीन भग परमतकी अपेक्षा इस तरह लगाये जाते है[3]। अद्वैतवादियोका सन्मात्र तत्त्व अस्ति होकर भी अवक्तव्य है, क्योकि केवल सामान्यमे वचनोकी प्रवृत्ति नही होती। बौद्धोका अन्यापोह नास्तिरूप होकर भी अवक्तव्य है, क्योकि शब्दके द्वारा मात्र अन्यका अपोह करनेसे किसी विधिरूप वस्तुका बोध नही हो सकेगा। वैशेषिकके स्वतन्त्र सामान्य और विशेष अस्ति-नास्ति-सामान्य-विशेषरूप होकर भी अवक्तव्य है—शब्दके वाच्य नही हो सकते, क्योकि दोनोको स्वतन्त्र मानने पर उनमे सामान्य-विशेषभाव नही हो सकता। सर्वथा भिन्न सामान्य और विशेषमे शब्दकी प्रवृत्ति नही होती और न उनसे कोई अर्थक्रिया ही हो सकती है।

सकलादेश और विकलादेश :

लघीयस्त्रयमे सकलादेश और विकलादेशके सम्बन्धमे लिखा है—

"उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वाद-नयसज्ञितौ।
स्याद्वाद. सकलादेशी नयो विकलसंकथा ॥३२॥"

अर्थात् श्रुतज्ञानके दो उपयोग है—एक स्याद्वाद और दूसरा नय। स्याद्वाद सकलादेशरूप होता है और नय विकलादेश। सकलादेशको प्रमाण तथा विकलादेशको नय कहते है। ये सातो ही भग जब सकलादेशी होते है तब प्रमाण और जब विकलादेशी होते है तब नय कहे जाते है। इस तरह सप्तभंगी भी प्रमाण-सप्तभंगी और नयसप्तभगीके रूपमे विभाजित हो जाती है। एक धर्मके द्वारा समस्त वस्तुको अखडरूपसे ग्रहण करनेवाला सकलादेश है तथा उसी धर्मको प्रधान तथा शेष धर्मोंको गौण करनेवाला विकलादेश है। स्याद्वाद अनेकान्तात्मक अर्थको ग्रहण करता है। जैसे—'जीव' कहनेसे ज्ञान, दर्शन आदि असाधारण गुणवाले सत्त्व, प्रमेयत्वादि साधारण स्वभाववाले तथा अमूर्तत्व, असख्यातप्रदेशित्व आदि साधारणासाधारणधर्मशाली जीवका समग्रभावसे ग्रहण हो जाता है। इसमें सभी धर्म एकरूपसे गृहीत होते है, अत., गौणमुख्यव्यवस्था अन्तर्लीन हो जाती है।'

विकलादेशी नय एक धर्मका मुख्यरूपसे कथन करता है। जैसे—'ज्ञो जीव' कहनेसे जीवके ज्ञानगुणका मुख्यतया बोध होता है, शेष धर्मोंका गौणरूपसे उसीके

गर्भमे प्रतिभास होता है। विकल अर्थात् एक धर्मका मुख्यरूपसे ज्ञान करानेके कारण ही यह वाक्य विकलादेश या नय कहा जाता है। विकलादेशी वाक्यमें भी 'स्यात्' पदका प्रयोग होता है जो शेष धर्मोकी गौणता अर्थात् उनका अस्तित्व-मात्र सूचित करता है। इसीलिए 'स्यात्' पदलाछित नय सम्यक्नय कहलाता है। सकलादेशमे धर्मीवाचक शब्दके साथ एवकार लगता है। यथा—'स्याज्जीव एव'। अत एव यह धर्मीका अखडभावसे वोध कराता है, विकलादेशमें 'स्यादस्त्येव जीव' इस तरह धर्मवाचक शब्दके साथ एवकार लगता है जो अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे ज्ञान कराता है।

अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (४।४२) मे दोनोका 'स्यादस्त्येव जीवः' यही उदाहरण दिया है। उसकी सकलविकलादेशता समझाते हुए उन्होने लिखा है कि जहाँ अस्ति शब्दके द्वारा सारी वस्तु समग्रभावसे पकड ली जाय वह सकलादेश है और जहाँ अस्तिके द्वारा अस्तित्व धर्मका मुख्यरूपसे तथा शेप धर्मोका गौणरूपसे भान हो वह विकलादेश है। यद्यपि दोनो वाक्योंमें समग्र वस्तु गृहीत होती है पर सकलादेशमें समग्र धर्म यानी पूरा धर्मी एकभावसे गृहीत होता है जब कि विकलादेशमें एक ही धर्म मुख्यरूपसे गृहीत होता है। यहाँ यह प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि 'जब सकलादेशका प्रत्येक भग समग्र वस्तुका ग्रहण करता है तब सकलादेशके सातो भगोमे परस्पर क्या भेद हुआ ?' इसका समाधान यह है कि—यद्यपि सभी धर्मोमें पूरी वस्तु गृहीत होती है सही, पर स्यादस्ति भगमें वह अस्तित्व धर्मके द्वारा गृहीत होती है और नास्तित्व आदि भगोमें नास्तित्व आदि धर्मोके द्वारा। उनमें मुख्य-गौणभाव भी इतना ही है कि जहाँ अस्ति शब्दका प्रयोग है वहाँ मात्र 'अस्ति' इस शाब्दिक प्रयोगकी ही मुख्यता है, धर्मकी नही। शेप धर्मोकी गौणता भी इतनी ही है कि उनका उस समय शाब्दिक प्रयोग द्वारा कथन नही हुआ है।

कालादिकी दृष्टिसे भेदाभेद कथन :

प्रथम भंगमें द्रव्यार्थिकके प्रधान होनेसे 'अस्ति' शब्दका प्रयोग है और उसी रूपसे समस्त वस्तुका ग्रहण है। द्वितीय भंगमें पर्यायार्थिकके प्रधान होनेसे 'नास्ति' शब्दका प्रयोग है और उसी रूपसे पूरी वस्तुका ग्रहण किया जाता है। जैसे—किसी चौकोर कागजको हम क्रमश. चारो छोरोको पकडकर उठावें तो हर बार उठेगा तो पूरा कागज, पर उठानेका ढग वदलता जायगा, वैसे ही सकलादेशके भगोमें प्रत्येकके द्वारा ग्रहण तो पूरी ही वस्तुका होता है; पर उन भगोका क्रम वदलता जाता है। विकलादेशमें वही धर्म मुख्यरूपसे गृहीत होता है और शेप

धर्म गौण हो जाते हैं। जब द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा होती है तब समस्त गुणोमे अभेदवृत्ति तो स्वत हो जाती है, परन्तु पर्यायार्थिकनयकी विवक्षा होने पर गुण और धर्मोमें काल आदिकी दृष्टिसे अभेदोचार करके समस्त वस्तुका ग्रहण कर लिया जाता है। काल, आत्मरूप, अर्थ, सम्बन्ध, उपकार, गुणिदेश, ससर्ग और शब्द इन आठ दृष्टियोसे गुणादिमें अभेदका उपचार किया जाता है। जो काल एक गुणका है वही अन्य अशेष गुणोका है, अत कालकी दृष्टिसे उनमें अभेदका उपचार हो जाता है। जो एक गुणका 'तद्गुणत्व' स्वरूप है वही शेष समस्त गुणोका है। जो आधारभूत अर्थ एक गुणका है वही शेष सभी गुणोका है। जो कथञ्चित्तादात्म्य सम्बन्ध एक गुणका है वही शेष गुणोका भी है। जो उपकार अपने अनुकूल विशिष्टबुद्धि उत्पन्न करना एक गुणका है वही उपकार अन्य शेष गुणोका है। जो गुणिदेश एक गुणका है वही अन्य शेष गुणोका है। जो ससर्ग एक गुणका है वही शेप धर्मोका भी है। जो शब्द 'उस द्रव्यका गुण' एक गुणके लिये प्रयुक्त होता है वही शेष धर्मोके लिये प्रयुक्त होता है। तात्पर्य यह कि पर्यायार्थिककी विवक्षामें परस्पर भिन्न गुण और पर्यायोमे अभेदका उपचार करके अखडभावसे समग्र द्रव्य गृहीत हो जाता है विकलादेशमें द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा होने पर भेदका उपचार करके एक धर्मका मुख्यभावसे ग्रहण होता है। पर्यायार्थिकनयमें तो भेदवृत्ति स्वत है ही।

भंगोमें सकलविकलादेशता :

यह स भगी सकलादेशके रूपमें प्रमाणसप्तभंगी कही जाती है और विकलादेशके रूपमे नयसप्तभगी नाम पाती है। नयसप्तभगी अर्थात् विकलादेशमे मुख्य रूपसे विवक्षित धर्म गृहीत होता है, शेषका निराकरण तो नही ही होता पर ग्रहण भी नही होता, जब कि सकलादेशमें विवक्षितधर्मके द्वारा शेष धर्मोका भी ग्रहण होता है।

आ० सिद्धसेनगणि, अभयदेव सूरि (सन्मति० टी० पृ० ४४६) आदिने 'सत्, असत् और अवक्तव्य' इन तीन भंगोको सकलादेशी तथा शेष चार भगोको विकलादेशी माना है। इनका तात्पर्य यह है कि प्रथम भगमें द्रव्यार्थिक दृष्टिसे 'सत्' रूपसे अभेद मानकर सपूर्ण द्रव्यका ग्रहण हो जाता है। द्वितीय भगमें पर्यायार्थिक दृष्टिसे समस्त पर्यायोमे अभेदोपचार करके समस्त द्रव्यको ग्रहण कर सकते है। और तृतीय अवक्तव्य भगमें तो सामान्यतया अविवक्षित भेदवाले द्रव्यका ग्रहण होता है। अत: इन तीनोको सकलादेशी कहना चाहिये। परन्तु चतुर्थ आदि भंगोमें तो दो-दो अगवाली तथा सातवें भगमें तीन अगवाली वस्तुके

ग्रहण करते समय दृष्टिके सामने अंशकल्पना बराबर रहती है, अत. इन्हें विकला-देशी कहना चाहिये। यद्यपि 'स्यात्' पद होनेसे शेष धर्मोका संग्रह इनमें भी हो जाता है, पर धर्मभेद होनेसे अखड धर्मी अभिन्नभावसे गृहीत नही हो पाती, इसलिये ये विकलादेश है। उ० यशोविजयजीने जैनतर्क-भाषा और गुरुतत्त्वविनि-श्चय आदि अपने ग्रन्थोमें इस परम्पराका अनुसरण न करके सातो ही भंगोको सकलादेशी और विकलादेशी दोनो रूप माना है। पर अष्टसहस्रीविवरण (पृ० २०८ बी०) में वे तीन भगोको सकलादेशी और शेषको विकलादेशी माननेका पक्ष भी स्वीकार करते है। वे लिखते है कि देश भेदके विना क्रमसे सत्, असत्, उभयकी विवक्षा हो नही सकती, अत. निरवयव द्रव्यको विषय करना सभव नही है, इसलिये चारो भगोको विकलादेशी मानना चाहिये। यह मतभेद कोई महत्त्वका नही है, कारण जिस प्रकार हम सत्त्वमुखेन समस्त वस्तुका सग्रह कर सकते है, उसी तरह सत्त्व और असत्त्व दो धर्मोके द्वारा भी अखड वस्तुका स्पर्श करनेमे कोई बाधा प्रतीत नही होती। यह तो विवक्षाभेद और दृष्टिभेदकी बात है।

मलयगिरि आचार्यके मतकी मीमांसा :

आचार्य मलयगिरि (आव० नि० मलय० टी० पृ० ३७१ ए) प्रमाणवाक्यमें ही 'स्यात्' शब्दका प्रयोग मानते है। उनका अभिप्राय है कि नयवाक्यमें जब 'स्यात्' पदके द्वारा शेष धर्मोका संग्रह हो जाता है तो वह समस्त वस्तुका ग्राहक होनेसे प्रमाण ही हो जायगा, नय नही रह सकता, क्योकि नय तो एक धर्मका ग्राहक होता है। इनके मतसे सभी नय एकान्तग्राहक होनेसे मिथ्यारूप हैं। किन्तु उनके इस मतकी उ० यशोविजयजीने गुरुतत्त्वविनिश्चय (पृ० १७ बी) में आलोचना की है। वे लिखते हैं कि "नयान्तरसापेक्ष नयका प्रमाणमे अन्तर्भाव करने पर व्यवहारनयको प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह निश्चयकी अपेक्षा रखता है। इसी तरह चारो निक्षेपोको विषय करनेवाले शब्दनय भी भावविषयक शब्द-नयसापेक्ष होनेसे प्रमाण हो जायेंगे। वास्तविक बात तो यह है कि नयवाक्यमे 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी नयके विषयकी सापेक्षता ही उपस्थित करता है, न कि अन्य अनन्त धर्मोका परामर्श करता है। यदि ऐसा न हो तो अनेकान्तमें सम्यगेकान्तका अन्तर्भाव ही नही हो सकेगा। सम्यगेकान्त अर्थात् प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षा रखने-वाला एकान्त। इसलिए 'स्यात्' इस अव्ययको अनेकान्तका द्योतक माना है न कि अनन्तधर्मका परामर्श करनेवाला। अत. प्रमाणवाक्यमें 'स्यात्' पद अनन्त धर्मका परामर्श करता है और नयवाक्यमें प्रतिपक्षी धर्मकी अपेक्षाका द्योतन करता है।" प्रमाणमें तत् और अतत् दोनो गृहीत होते हैं और 'स्यात्' पदसे उस अनेकान्त

अर्थका द्योतन होता है। नयमें एक धर्मका मुख्यभावसे ग्रहण होकर भी शेष धर्मोका निराकरण नही किया जाता है। उनका सद्भाव गौणरूपसे स्वीकृत रहता है जब कि दुर्नयमे अन्य धर्मोका निराकरण कर दिया जाता है। नयवाक्यमें 'स्यात्' पद प्रतिपक्षी शेष धर्मोके अस्तित्वकी रक्षा करता है। दुर्नयमें अपने धर्मका अवधारण होकर अन्यका निराकरण ही हो जाता है। अनेकान्तमें जो सम्यगेकान्त समाता है वह धर्मान्तरसापेक्ष धर्मका ग्राहक ही तो होता है।

यह मै बता चुका हूँ कि आजसे तीन हजार वर्ष पूर्व तथा इससे भी पहले भारतके मनीषी विश्व और तदन्तर्गत प्रत्येक पदार्थके स्वरूपका 'सत्; असत्, उभय और अनुभय, एक अनेक उभय और अनुभय' आदि चार कोटियोमें विभाजित कर वर्णन करते थे। जिज्ञासु भी अपने प्रश्नको इन्ही चार कोटियोमें पूँछता था। म० बुद्धसे जब तत्त्वके सम्बन्धमें विशेषत आत्माके सम्बन्धमें प्रश्न किये गये, तो उनने उसे अव्याकृत कहा। सजय इन प्रश्नोके सम्बन्धमें अपना अज्ञान ही प्रकट करता था। किन्तु भ० महावीरने अपने सप्तभगीन्यायसे इन चार कोटियोंका ही वैज्ञानिक समाधान नही किया, अपितु अधिक-से-अधिक संभवित सात कोटियो तकका उत्तर दिया। ये उत्तर ही सप्तभगी या स्याद्वाद है।

संजयके विक्षेपवादसे स्याद्वाद नहीं निकला[1] :

महापण्डित राहुल साकृत्यायन तथा इत पूर्व डॉ० हर्मन जैकोबी आदिने स्याद्वाद या सप्तभंगकी उत्पत्तिको संजयवेलट्ठिपुत्तके मतसे बतानेका प्रयत्न किया है। राहुलजीने दर्शनदिग्दर्शनमें लिखा है कि—"आधुनिक जैनदर्शनका आधार स्याद्वाद है। जो मालूम होता है संजयवेलट्ठिपुत्तके चार अगवाले अनेकान्तवादको लेकर उसे सात अगवाला किया गया है। संजय तत्त्वो (परलोक, देवता) के बारेमें कुछ भी निश्चयात्मक रूपसे कहनेसे इनकार करते हुए उस इनकारको चार प्रकार कहा है—

१ 'है ?' नही कह सकता। २ 'नही है ?' नही कह सकता। ३ 'है भी और नही भी' नही कह सकता। ४ 'न है और न नही है ?' नही कह सकता। इसकी तुलना कीजिए जैनोके सात प्रकारके स्याद्वाद से—

१ 'है ?' हो सकता है (स्यादस्ति), २ 'नही है ?' नही भी हो सकता है (स्यान्नास्ति), ३ 'है भी और नही भी ?' है भी और नही भी हो सकता (स्यादस्ति च नास्ति च)।

---

१. देखो, न्यायविनिश्चय विवरण प्रथम भागकी प्रस्तावना।

उक्त तीनो उत्तर क्या कहे जा सकते है (—वक्तव्य है) ? इसका उत्तर जैन 'नही'में देते है—

४ स्यात् (हो सकता है) क्या यह कहा जा सकता है ? नही, स्याद् अ—वक्तव्य है।

५ 'स्यादस्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, स्यादस्ति अवक्तव्य है।

६ 'स्यान्नास्ति' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्यात् नास्ति' अवक्तव्य है।

७ 'स्यादस्ति च नास्ति च' क्या यह वक्तव्य है ? नही, 'स्यादस्ति च नास्ति च' अ—वक्तव्य है। दोनोके मिलानेसे मालूम होगा कि जैनोने संजयके पहले वाले तीन वाक्यो (प्रश्न और उत्तर दोनो) को अलग करके अपने स्याद्वादकी छह भगियाँ बनायी है और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नही है' को जोड़कर स्यात्सदसत् भी अवक्तव्य है यह सातवाँ भंग तैयार कर अपनी सप्तभगी पूरी की।............इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (—स्यात्) की स्थापना न करना जो कि संजयका वाद था, उसीको सजयके अनुयायियोके लुप्त हो जानेपर जैनोने अपना लिया और उसके चतुर्भङ्गी न्यायको सप्तभंगीमें परिणत कर दिया।" —दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९६।

राहुलजीने उक्त सन्दर्भमें सप्तभगी और स्याद्वादके रहस्यको न समझकर केवल शब्दसाम्य देखकर एक नये मतकी सृष्टि की है। यह तो ऐसा ही है। जैसे कि चोरसे जज यह पूछे कि—'क्या तुमने यह कार्य किया है ?' चोर कहे कि 'इससे आपको क्या ?' या 'मै जानता होऊँ, तो कहूँ ?' फिर जज अन्य प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर दे कि 'चोरने यह कार्य किया है' तब शब्दसाम्य देखकर यह कहना कि जजका फैसला चोरके बयानसे निकला है।

[1]संजयवेलट्ठिपुत्तके दर्शनका विवेचन स्वयं राहुलजीने (दर्शनदिग्दर्शन पृ० ४९१ में) इन शब्दोमे किया है—"यदि आप पूछें—'क्या परलोक है ?' तो यदि मैं समझता होऊँ कि परलोक है तो आपको बतलाऊँ कि परलोक है। मैं ऐसा भी नही कहता, वैसा भी नही कहता, दूसरी तरहसे भी नही कहता। मैं यह भी नही कहता कि वह नही है, मै यह भी नहीं कहता कि वह नही नही है। परलोक नही है, परलोक नही नही है, परलोक है भी और नही भी है, परलोक न है और न नही है।"

---

१. इसके मतका विस्तृत वर्णन दीघनिकाय सामञ्ञफलसुत्तमे है। यह विक्षेपवादी था। 'अमराविक्षेपवाद' रूपसे भी इसका मत प्रसिद्ध था।

संजयके परलोक, देवता, कर्मफल और मुक्तिके सम्बन्धके ये विचार शत-प्रतिशत अज्ञान या अनिश्चयवादके है। वह स्पष्ट कहता है कि "यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ।" वह सशयालु नही, घोर अनिश्चयवादी था। इसलिये उसका दर्शन बकौल राहुलजीके "मानवकी सहजबुद्धिको भ्रममे नही डालना चाहता और न कुछ निश्चय कर भ्रान्त धारणाओकी पुष्टि ही करना चाहता है।" वह आज्ञानिक था।

बुद्ध और संजय :

म० बुद्धने १. लोक नित्य है, २ अनित्य है, ३ नित्य-अनित्य है, ४. न नित्य न अनित्य है, ५ लोक अन्तवान् है, ६. नही है, ७ है नही है, ८ न है न नही है, ९ मरनेके बाद तथागत होते है, १० नही होते, ११. होते है नही होते, १२ न होते है न नही होते, १३. जीव शरीरसे भिन्न है, १४. जीव शरीरसे भिन्न नही है।' (माध्यमिकवृत्ति पृ० ४४६) इन चौदह वस्तुओको अव्याकृत कहा है। मज्झिमनिकाय (२।२३) में इनकी सख्या दस है। इनमें आदिके दो प्रश्नोंमें तीसरा और चौथा विकल्प नही गिनाया है। 'इनके अव्याकृत होनेका कारण बुद्धने बताया है कि इनके बारेमे कहना सार्थक नही, भिक्षुचर्याके लिये उपयोगी नही, न यह निर्वेद, निरोध, शान्ति, परमज्ञान या निर्वाणके लिये आवश्यक है।' तात्पर्य यह कि बुद्धकी दृष्टिमें इनका जानना मुमुक्षुके लिये आवश्यक नही था। दूसरे शब्दोमें बुद्ध भी संजयकी तरह इनके बारेमें कुछ कहकर मानवकी सहज बुद्धिको भ्रममें नही डालना चाहते थे और न भ्रान्त-धारणाओकी सृष्टि ही करना चाहते थे। हाँ, सजय जब अपनी अज्ञानता और अनिश्चय को साफ-साफ शब्दोमे कह देता है कि 'यदि मैं जानता होऊँ तो बताऊँ,' तब बुद्ध अपने जानने न जाननेका उल्लेख न करके उस रहस्यको शिष्योके लिये अनुपयोगी बताकर अपना पीछा छुडा लेते है। आज तक यह प्रश्न तार्किकोके सामने ज्यो-का-त्यो है कि बुद्धकी अव्याकृतता और संजयके अनिश्चयवादमे क्या अंतर है, खासकर चित्तकी निर्णयभूमिमें ? सिवाय इसके कि सजय फक्कडकी तरह पल्ला झाडकर खरी-खरी बात कह देता है और बुद्ध कुशल बडे आदमियोकी शालीनताका निर्वाह करते है।

बुद्ध और संजय ही क्या, उस समयके वातावरणमें आत्मा, लोक, परलोक और मुक्तिके स्वरूपके सम्बन्धमे सत्, असत्, उभय और अनुभय या अवक्तव्य ये चार कोटियाँ गूँजती थी। जिस प्रकार आजका राजनैतिक प्रश्न 'मजदूर और मालिक, शोष्य और शोषकके' द्वन्द्वकी छायामें ही सामने आता है, उसी प्रकार

उस समयके आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थविषयक प्रश्न चतुष्कोटिमें ही पूछे जाते थे। वेद और उपनिषद्में इस चतुष्कोटिके दर्शन बराबर होते हैं। 'यह विश्व सत्से हुआ या असत्से? यह सत् है या असत् या उभय या अनिर्वचनीय' ये प्रश्न जब सहस्रों वर्षसे प्रचलित रहे हैं तब राहुलजीका स्याद्वादके विषयमें यह फतवा दे देना कि 'संजयके प्रश्नोंके शब्दोंसे या उसकी चतुर्भङ्गीको तोड़-मरोड़कर सप्तभंगी बनी'—कहाँ तक उचित है, इसका वे स्वयं विचार करें।

बुद्धके समकालीन जो अन्य पाँच तीर्थिक थे, उनमें निग्गंठ नाथपुत्त वर्धमान-महावीरकी सर्वज्ञ और सर्वदर्शीके रूपमें प्रसिद्धि थी। 'वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी थे, या नहीं' यह इस समयकी चरचाका विषय नहीं है, पर वे विशिष्ट तत्त्व-विचारक अवश्य थे और किसी भी प्रश्नको संजयकी तरह अनिश्चय या विक्षेप कोटिमें और बुद्धकी तरह अव्याकृत कोटिमें डालनेवाले नहीं थे, और न शिष्योंकी सहज जिज्ञासाको अनुपयोगिताके भयप्रद चक्करमें डुबा देना चाहते थे। उनका विश्वास था कि संघके पँचमेल व्यक्ति जब तक वस्तुतत्त्वका ठीक निर्णय नहीं कर लेते, तब तक उनमें बौद्धिक दृढ़ता और मानसबल नहीं आ सकता। वे सदा अपने समानशील अन्य संघके भिक्षुओंके सामने अपनी बौद्धिक दीनताके कारण हतप्रभ रहेंगे और इसका असर उनके जीवन और आचारपर आये बिना नहीं रहेगा। वे अपने शिष्योंको पर्देबन्द पद्मिनियोंकी तरह जगत्के स्वरूप-विचारकी बाह्य हवासे अपरिचित नहीं रखना चाहते थे। किन्तु चाहते थे कि प्रत्येक मानव अपनी सहज जिज्ञासा और मनन शक्तिको वस्तुके यथार्थ स्वरूपके विचारकी ओर लगावे। न उन्हें बुद्धकी तरह यह भय व्याप्त था कि यदि आत्माके सम्बन्धमें 'हाँ' कहते हैं तो शाश्वतवाद अर्थात् उपनिषद्वादियोंकी तरह लोग नित्यत्वकी ओर झुक जायेंगे और 'नहीं हैं' कहनेसे उच्छेदवाद अर्थात् चार्वाककी तरह नास्तिकताका प्रसंग उपस्थित होगा, अतः इस प्रश्नको अव्याकृत रखना ही श्रेष्ठ है। वे चाहते थे कि मौजूदा तर्कों और संशयोंका समाधान वस्तुस्थितिके आधारसे होना ही चाहिये। अतः उन्होंने वस्तुस्वरूपका अनुभव कर बताया कि जगत्का प्रत्येक सत् अनन्त धर्मात्मक है और प्रतिक्षण परिणामी है। हमारा ज्ञानलव (दृष्टि) उसे एक-एक अंशसे जानकर भी अपनेमें पूर्णताका मिथ्याभिमान कर बैठता है। अतः हमें सावधानीसे वस्तुके विराट् अनेकान्तात्मक स्वरूपका विचार करना चाहिये। अनेकान्त दृष्टिसे तत्त्वका विचार करनेपर न तो शाश्वतवादका भय है और न उच्छेदवादका। पर्यायकी दृष्टिसे आत्मा उच्छिन्न होकर भी अपनी अना-द्यनन्त धाराकी दृष्टिसे अविच्छिन्न है, शाश्वत है। इसी दृष्टिसे हम लोकके शाश्वत-अशाश्वत आदि प्रश्नोंको भी देखें।

(१) क्या लोक शाश्वत है ? हाँ, लोक शाश्वत है—द्रव्योकी संख्याकी दृष्टिसे। इसमें जितने सत् अनादिसे है, उनमेंसे एक भी सत् कम नही हो सकता और न उसमें किसी नये 'सत्' की वृद्धि ही हो सकती है, न एक सत् दूसरेमे विलीन ही हो सकता है। कभी भी ऐसा समय नही आ सकता, जब इसके अगभूत एक भी द्रव्यका लोप हो जाय या सब समाप्त हो जाँय। निर्वाण अवस्थामे भी आत्माकी निरास्रव चित्-सन्तति अपने शुद्धरूपमे बराबर चालू रहती है, दीपकी तरह बुझ नही जाती, यानी समूल समाप्त नही हो जाती।

(२) क्या लोक अशाश्वत है ? हाँ, लोक अशाश्वत है द्रव्योके प्रतिक्षण-भावी परिणमनोकी दृष्टिसे। प्रत्येक सत् प्रतिक्षण अपने उत्पाद, विनाश और ध्रौव्यात्मक परिणामी स्वभावके कारण सदृश या विसदृश परिणमन करता रहता है। कोई भी पर्याय दो क्षण नही ठहरती। जो हमें अनेक क्षण ठहरनेवाला परिणमन दिखाई देता है वह प्रतिक्षणभावी अनेक सदृश परिणमनोका अवलोकन मात्र है। इस तरह सतत परिवर्तनशील सयोग-वियोगोकी दृष्टिसे विचार कीजिए, तो लोक अशाश्वत है, अनित्य है, प्रतिक्षण परिवर्तित है।

(३) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनो रूप है ? हाँ, क्रमशः उपर्युक्त दोनो दृष्टियोसे विचार करने पर लोक शाश्वत भी है (द्रव्यदृष्टिसे) और अशाश्वत भी है (पर्यायदृष्टिसे), दोनो दृष्टिकोणोको क्रमशः प्रयुक्त करनेपर और उन दोनोपर स्थूल दृष्टिसे विचार करनेपर जगत् उभयरूप भी प्रतिभासित होता है।

(४) क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत दोनो रूप नही है ? आखिर उसका पूर्ण रूप क्या है ? हाँ, लोकका पूर्ण रूप वचनोके अगोचर है, अवक्तव्य है। कोई ऐसा शब्द नही, जो एक साथ लोकके शाश्वत और अशाश्वत दोनो स्वरूपोको तथा उसमें विद्यमान अन्य अनन्त धर्मोको युगपत् कह सके। अत. शब्दकी असामर्थ्यके कारण जगत्का पूर्ण रूप अवक्तव्य है, अनुभय है, वचनातीत है।

इस निरूपणमें आप देखेंगे कि वस्तुका पूर्णरूप वचनोके अगोचर है, अवक्तव्य है। चौथा उत्तर वस्तुके पूर्ण रूपको युगपत् न कह सकनेकी दृष्टिसे है पर वही जगत् शाश्वत कहा जाता है द्रव्यदृष्टिसे और अशाश्वत कहा जाता है पर्यायदृष्टिसे। इस तरह मूलत चौथा, पहला और दूसरा ये तीन प्रश्न मौलिक है। तीसरा उभयरूपताका प्रश्न तो प्रथम और द्वितीयका संयोगरूप है। अब आप विचारें कि जब संजयने लोकके शाश्वत और अशाश्वत आदिके बारेमें स्पष्ट कहा है कि 'यदि मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ' और बुद्धने कह दिया कि 'इनके चक्करमें न पडो, इनका जानना उपयोगी नही है, ये अव्याकृत है' तब महावीरने उन प्रश्नोका

वस्तुस्थितिके अनुसार यथार्थ उत्तर दिया और शिष्योकी जिज्ञासाका समाधान कर उनको बौद्धिक दीनतासे त्राण दिया। इन प्रश्नोका स्वरूप इस प्रकार है—

प्रश्न	संजय	बुद्ध	महावीर
१ क्या लोक शाश्वत है ?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ ? (अनिश्चय, अज्ञान)	इनका जानना अनुपयोगी है, (अव्याकरणीय, अकथनीय)	हाँ, लोक द्रव्यदृष्टिसे शाश्वत है। इसके किसी भी सत्का सर्वथा नाश नही हो सकता, न किसी असत्से नये सत्का उत्पाद ही संभव है।
२ क्या लोक अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, लोक अपने प्रतिक्षणभावी परिणमनोकी दृष्टिसे अशाश्वत है। कोई भी पर्याय दो क्षण ठहरनेवाली नही है।
३. क्या लोक शाश्वत और अशाश्वत है ?	,,	,,	हाँ, लोक दोनो दृष्टियोसे क्रमश विचार करने पर शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।
४. क्या लोक दोनोरूप नही है, अनुभय है ?	मैं जानता होऊँ, तो बताऊँ (अज्ञान, अनिश्चय)	अव्याकृत	हाँ, ऐसा कोई शब्द नही, जो लोकके परिपूर्ण स्वरूपको एक साथ समग्रभावसे कह सके, अत. पूर्ण रूपसे वस्तु अनुभय है, अवक्तव्य है।

संजय और बुद्ध जिन प्रश्नोका समाधान नही करते, उन्हें अनिश्चय या अव्याकृत कहकर उनसे पिंड छुडा लेते है, महावीर उन्हीका वास्तविक और युक्तिसंगत[1] समाधान करते है। इस पर भी राहुलजी यह कहनेका साहस करते है कि 'संजयके अनुयायियोके लुप्त हो जाने पर संजयके वादको ही जैनियोने अपना

१. बुद्धके अव्याकृत प्रश्नोका पूरा समाधान तथा उनके आगमिक अवतरणोंके लिये देखो, जैनतर्कवार्तिककी प्रस्तावना पृ० १४–२४।

लिया।' यह तो ऐसा ही है, जैसे कोई कहे कि 'भारतमे रही परतंत्रताको परतन्त्रता-विधायक अंग्रेजोके चले जानेपर भारतीयोने उसे अपरतंत्रता (स्वतन्त्रता) के रूपमे अपना लिया, क्योकि अपरतन्त्रतामें भी 'प र त न्त्र ता' ये पाँच अक्षर तो मौजूद है ही।' या 'हिंसाको ही बुद्ध और महावीरने उसके अनुयायियोके लुप्त होने पर 'अहिंसाके रूपसे अपना लिया है, क्योकि अहिंसामें भी 'हिं सा' ये दो अक्षर है ही।' जितना परतन्त्रताका अपरतन्त्रतासे और हिंसाका अहिंसासे भेद है उतना ही सजयके अनिश्चय या अज्ञानवादसे स्याद्वादका अन्तर है। ये तो तीन और छह (३६) की तरह परस्पर विमुख है। स्याद्वाद सजयके अज्ञान और अनिश्चयका ही तो उच्छेद करता है। साथ-ही-साथ तत्त्वमें जो विपर्यय और संशय है उनका भी समूल नाश कर देता है। यह देखकर तो और भी आश्चर्य होता है कि आप (पृ० ४८४ में) अनिश्चिततावादियोकी सूचीमें सजय के साथ निग्गंठनाथपुत्त (महावीर) का नाम भी लिख जाते है तथा (पृ० ४९१ में) सजयको अनेकान्तवादी भी। क्या इसे धर्मकीर्तिके शब्दोमे 'धिग् व्यापकं तम' नही कह सकते ?

'स्यात्' का अर्थ शायद, संभव या कदाचित् नहीं :

'स्यात्' शब्दके प्रयोगसे साधारणतया लोगोको सशय, अनिश्चय और संभावनाका भ्रम होता है। पर यह तो भाषाकी पुरानी शैली है उस प्रसगकी, जहाँ एक वादका स्थापन नही किया जाता। एकाधिक भेद या विकल्पकी सूचना जहाँ करनी होती है वहाँ 'सिया' (स्यात्) पदका प्रयोग भाषाकी विशिष्ट शैली-का एक रूप रहा है जैसा कि मज्झिमनिकायके महाराहुलोवादसुत्तके अवतरणसे[1] विदित होता है। इसमें तेजोधातुके दोनो सुनिश्चित भेदोकी सूचना 'सिया' शब्द देता है, न कि उन भेदोका अनिश्चय, सशय या सम्भावना व्यक्त करता है। इसी तरह 'स्यादस्ति' के साथ लगा हुआ 'स्यात्' शब्द 'अस्ति' की स्थितिको निश्चि[त] अपेक्षासे दृढ तो करता ही है, साथ-ही-साथ अस्तिसे भिन्न और भी अनेक धर्म वस्तुमे है, पर वे विवक्षित न होनेसे इस समय गौण है, इस सापेक्ष स्थितिको [भी] बताता है।

राहुलजीने 'दर्शनदिग्दर्शन' मे सप्तभंगीके पाँचवें, छठे और सातवे भंगक[ो] जिस अशोभन तरीकेसे तोडा-मरोडा है वह उनकी अपनी निरी कल्पना और साह[स] है। जब वे दर्शनको व्यापक, नई और वैज्ञानिक दृष्टिसे देखना चाहते है तो किसी भी दर्शनकी समीक्षा उसके ठीक स्वरूपको समझकर करनी चाहिये। वे 'अवक्तव्य

---

१. देखो, पृ० ५३।

नामक धर्मका, जो कि 'अस्ति' आदिके साथ स्वतन्त्र भावसे द्विसंयोगी हुआ है, तोडकर अ—वक्तव्य करके उसका सजयके 'नही' के साथ मेल बैठा देते हैं और [1]संजयके घोर अनिश्चयवादको ही अनेकान्तवाद कह डालते है! किमाश्चर्यमत. परम्!!

डॉ० सम्पूर्णानन्दका मत :

डॉ० सम्पूर्णानन्दजी 'जैनधर्म' पुस्तककी प्रस्तावना (पृ० ३) में अनेकान्तवादकी ग्राह्यता स्वीकार करके भी सप्तभगी न्यायको बालकी खाल निकालनेके समान आवश्यकतासे अधिक बारीकीमें जाना समझते हैं। पर सप्तभंगीको आजसे अढाई हजार वर्ष पहलेके वातावरणमें देखनेपर वे स्वय उसे समयकी माँग कहे बिना नही रह सकते। उस समय आबाल-गोपाल प्रत्येक प्रश्नको सहज ही 'सत्, असत्, उभय और अनुभय' इस चार कोटियोमें गूँथकर ही उपस्थित करते थे और उस समयके आचार्य उत्तर भी उस चतुष्कोटिका 'हाँ' या 'ना' में देते थे। तीर्थंकर महावीरने मूल तीन भगोके गणितके नियमानुसार अधिक-से-अधिक अनुपरुक्त सात भग बनाकर कहा कि वस्तु अनेकान्तात्मक है—उसमें चार विकल्प भी बराबर सम्भव है। 'अवक्तव्य, सत् और असत् इन तीन मूलधर्मोके सात भंग ही हो सकते हैं। इन सब सम्भव प्रश्नोका समाधान करना ही सप्तभंगीका प्रयोजन है। यह तो जैसे-को-तैसा उत्तर है। अर्थात् चार प्रश्न तो क्या सात प्रश्नोकी भी कल्पना करके एक-एक धर्मविषयक सप्तभगी बनाई जा सकती है और ऐसे अनन्त सप्तभंग वस्तुके विराट् स्वरूपमें सभव हैं। यह सब निरूपण वस्तुस्थितिके आधारसे किया जाता है, केवल कल्पनासे नही।

जैनदर्शनने दर्शनशब्दकी काल्पनिक भूमिसे ऊपर उठकर वस्तुसीमापर खड़े होकर जगत्में वस्तुस्थितिके आधारसे सवाद, समीकरण और यथार्थ तत्त्वज्ञानकी अनेकान्त-दृष्टि और स्याद्वाद-भाषा दी। जिनकी उपासनासे विश्व अपने वास्तविक स्वरूपको समझ निरर्थक वादविवादसे बचकर संवादी बन सकता हैं।

---

१ जैन कथाग्रन्थोंमें महावीरके बालजीवनकी एक घटनाका वर्णन मिलता है कि सजय और विजय नामके दो साधुओंका सशय महावीरको देखते ही नष्ट हो गया था, इसीलिए इनका नाम 'सन्मति' रखा गया था। सम्भव है, ये सजय, सजयवेलट्ठिपुत्त ही हों और इन्हींके सशय या अनिश्चयका नाश महावीरके सप्तभगीन्यायसे हुआ हो। यहाँ 'वेलट्ठिपुत्त' विशेषण अपभ्रष्ट होकर विजय नाम का दूसरा साधु बन गया है।

शङ्कराचार्य और स्याद्वाद :

बादरायणने ब्रह्मसूत्रमें[1] सामान्यरूपसे 'अनेकान्त' तत्त्वमें दूषण दिया है कि एक वस्तुमें अनेकधर्म नही हो सकते। श्रीशङ्कराचार्यजी अपने भाष्यमें[2] इसे विवसनसमय (दिगम्बर सिद्धान्त) लिखकर इसके सप्तभगी नयमे सूत्रनिर्दिष्ट विरोधके सिवाय सशय दोष भी देते है। वे लिखते है कि "एक वस्तुमें परस्पर-विरोधी अनेक धर्म नही हो सकते, जैसे कि एक ही वस्तु शीत और उष्ण नही हो सकती। जो सात पदार्थ या पंचास्तिकाय बताये है, उनका वर्णन जिस रूपमें है, वे उस रूपमें भी होगे और अन्य रूपमे भी। यानी एक भी रूपसे उनका निश्चय नही होनेसे सशयदूषण आता है। प्रमाता, प्रमिति आदिके स्वरूपमे भी इसी तरह निश्चयात्मकता न होनेसे तीर्थंकर किसे उपदेश देंगे और श्रोता कैसे प्रवृत्ति करेंगे? पाँच अस्तिकायोकी 'पाँच सख्या' है भी और नही भी, यह तो बडी विचित्र बात है। 'एक तरफ अवक्तव्य भी कहते है, फिर उसे अवक्तव्य शब्दसे कहते भी जाते है।' यह तो स्पष्ट विरोध है कि—'स्वर्ग और मोक्ष है भी और नही भी, नित्य भी है और अनित्य भी।' तात्पर्य यह कि एक वस्तुमे परस्पर विरोधी दो धर्मोका होना सम्भव ही नही है। अत आर्हतमतका 'स्याद्वाद' सिद्धान्त असगत है।'

हम पहले लिख आये है कि 'स्यात्' शब्द जिस धर्मके साथ लगता है उसकी स्थिति कमजोर नही करके वस्तुमे रहनेवाले तत्प्रतिपक्षी धर्मकी सूचना देता है। वस्तु अनेकान्तरूप है, यह समझनेकी बात नही है। उसमें साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण आदि अनेक धर्म पाये जाते है। एक ही पदार्थ अपेक्षा-भेदसे परस्परविरोधी अनेक धर्मोका आधार होता है। एक ही देवदत्त अपेक्षाभेदसे पिता भी है, पुत्र भी है, गुरु भी है, शिष्य भी है, शासक भी है, शास्य भी है, ज्येष्ठ भी है, कनिष्ठ भी है, दूर भी है, और पास भी है। इस तरह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विभिन्न अपेक्षाओसे उसमें अनन्त धर्म सम्भव है। केवल यह कह देनेसे कि 'जो पिता है वह पुत्र कैसा? जो गुरु है वह शिष्य कैसा? जो ज्येष्ठ है वह कनिष्ठ कैसा? जो दूर है वह पास कैसा, प्रतीतिसिद्ध स्वरूपका अपलाप नही किया जा सकता। एक ही मेचकरत्न अपने अनेक रंगोकी अपेक्षा अनेक है। चित्रज्ञान एक होकर भी अनेक आकारवाला प्रसिद्ध ही है। एक ही स्त्री अपेक्षा-भेदसे माता भी है और पत्नी भी। एक ही पृथिवीत्वसामान्य पृथिवीव्यक्तियोमें अनुगत होनेके कारण सामान्य होकर भी जलादिसे व्यावृत्ति कराता है। अत विशेष भी है। इसीलिये इसको *सामान्यविशेष या अपरसामान्य* कहते है। स्वयं

---

१. नैकस्मिन्नसंभवात्।' —ब्रह्मसू० २।२।३३। २. शांकरभाष्य २।२।३३।

संशयज्ञान एक होकर भी 'सशय और निश्चय' इन दो आकारोको धारण करता है। 'सशय परस्पर विरोधी दो आकारोवाला है' यह बात तो सुनिश्चित है, इसमें तो कोई सन्देह नही है। एक ही नरसिंह एक भागसे नर होकर भी द्वितीय भागकी अपेक्षा सिंह है। एक ही धूपदहनी अग्निसे सयुक्त भागमें उष्ण होकर भी पकडने-वाले भागमें ठंडी है। हमारा समस्त जीवन-व्यवहार ही सापेक्ष धर्मोसे चलता है। कोई पिता अपने बेटेसे 'बेटा' कहे और वह बेटा, जो अपने लडकेका बाप है, अपने पितासे इसलिये झगड पडे कि 'वह उसे बेटा क्यो कहता है?' तो हम उस बेटेको ही पागल कहेंगे, बापको नही। अत जब ये परस्परविरोधी अनन्तधर्म वस्तुके विराट्रूपमें समाये हुए है, उसके अस्तित्वके आधार है, तब विरोध कैसा?

सात तत्त्वका जो स्वरूप है, उस स्वरूपसे ही तो उनका अस्तित्व है, भिन्न स्वरूपसे उनका नास्तित्व ही है। यदि जिस रूपसे अस्तित्व कहा जाता है उसी रूपसे नास्तित्व कहा जाता, तो विरोध या असगति होती। स्त्री जिसकी पत्नी है, यदि उसीकी माता कही जाय, तो ही लडाई हो सकती है। ब्रह्मका जो स्वरूप नित्य, एक और व्यापक बताया जाता है उसी रूपसे तो ब्रह्मका अस्तित्व माना जा सकता है, अनित्य, अव्यापक और अनेकके रूपसे तो नही। हम पूछते है कि जिस प्रकार ब्रह्म नित्यादिरूपसे अस्ति है, क्या उसी तरह अनित्यादिरूपसे भी उसका अस्तित्व है क्या? यदि हाँ, तो आप स्वयं देखिये, ब्रह्मका स्वरूप किसी अनुन्मत्तके समझने लायक रह [illegible]ता है क्या? यदि नही, तो ब्रह्म जिस प्रकार नित्यादिरूपसे 'सत्' और अ[illegible]त्यादिरूपसे 'असत्' है, और इस तरह अनेक-धर्मात्मक सिद्ध होता है उसी तरह जगत्के समस्त पदार्थ इस त्रिकालाबाधित स्वरूपसे व्याप्त है।

प्रमाता और प्रमिति आदिके जो स्वरूप है, उनकी दृष्टिसे ही तो उनका अस्तित्व होगा, अन्य स्वरूपोसे कैसे हो सकता है? अन्यथा स्वरूपसाकर्य होनेसे जगत्की व्यवस्थाका लोप ही प्राप्त होता है।

'पंचास्तिकायकी पांच सख्या है, चार या तीन नही', इसमे क्या विरोध है? यदि कहा जाता कि 'पंचास्तिकाय पाँच है और पाँच नही है' तो विरोध होता, पर अपेक्षाभेदसे तो पंचास्तिकाय पाँच है, चार आदि नही है। फिर पाँचों अस्तिकाय अस्तिकायत्वेन एक होकर भी तत्तद्व्यक्तियोकी दृष्टिसे पाँच भी है। सामान्यसे एक भी है और विशेष रूपसे पाँच भी है, इसमे क्या विरोध है?

स्वर्ग और मोक्ष अपने स्वरूपकी दृष्टिसे 'है', नरकादिकी दृष्टिसे 'नही', इसमे क्या आपत्ति है? 'स्वर्ग स्वर्ग है, नरक तो नही है', यह तो आप भी मानेंगे। 'मोक्ष मोक्ष ही तो होगा, ससार तो नही होगा।'

अवक्तव्य भी एक धर्म है, जो वस्तुके पूर्णरूपकी अपेक्षासे है। कोई ऐस शब्द नही, जो वस्तुके अनेकधर्मात्मक अखंड रूपका वर्णन कर सके। अत. व अवक्तव्य होकर भी तत्तद्धर्मोकी अपेक्षा वक्तव्य है और उस अवक्तव्य धर्मको भ इसीलिये 'अवक्तव्य' शब्दसे कहते भी है। 'स्यात्' पद इसीलिये प्रत्येक वाक्यके साथ लगकर वक्ता और श्रोता दोनोकी वस्तुके विराट् स्वरूप और विवक्षा य अपेक्षाकी याद दिलाता रहता है, जिससे लोग सरसरी तौरपर वस्तुके स्वरूपके साथ खिलवाड न करें। 'प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपसे है, अपने क्षेत्रमे है, अपने कालसे है और अपनी गुणपर्यायोसे है, भिन्न रूपोसे नही है' यह एक सीधी-सादी बात है, जिसे आबाल-गोपाल सभी सहज ही समझ सकते है। यदि एक ही अपेक्षासे दो विरोधी धर्म बताये जाते, तो विरोध हो सकता था। एक ही देवदत्त जब जवानीमें अपने बाल-चरितोका स्मरण करता है तो मनमें लज्जित होता है पर वर्तमान सदाचारसे प्रसन्न होता है। यदि देवदत्तकी बालपन और जवानी दो अवस्थाऐं नही हुई होती और दोनों अवस्थाओमें देवदत्तका अन्वय न होता, तो उसे बचपनका स्मरण कैसे आता ? और क्यो वह उस बालचरितको अपना मानकर लज्जित होता ? इससे देवदत्त आत्मत्वेन एक और नित्य होकर भी अपनी अवस्थाओकी दृष्टिसे अनेक और अनित्य भी है। यह सब रस्सीमें साँपकी तरह केवल प्रातिभासिक नही है, किन्तु परमार्थसत् है, ठोस सत्य है। जब वस्तुका स्वरूपसे 'अस्ति' रूप भी निश्चित है, और पररूपसे 'नास्ति' रूप भी निश्चित है तब संशय कैसे हो सकता है ? संशय तो, दोनो कोटियोके अनिश्चयकी दशामें ज्ञान जब दोनो ओर झूलता है, तब होता है। अत. न तो अनेकान्तस्वरूपमें विरोध ही हो सकता है और न संशय ही।

श्वे० उपनिषद्के "अणोरणीयान् महतो महीयान्" (३।२०) "क्षरम-क्षरं च व्यक्ताव्यक्तं" (१।८) आदि वाक्योकी संगति भी तो आखिर अपेक्षा-भेदके बिना नही बैठाई जा सकती। स्वयं शकराचार्यजीके द्वारा समन्वयाधिकरणमें जिन श्रुतियोका समन्वय किया गया है, वह भी तो अपेक्षाभेदसे ही सम्भव हो सका है।

स्व० महामहोपाध्याय डॉ० गगानाथ झाने इस सम्बन्धमें अपनी विचारपूर्ण सम्मतिमें लिखा था कि "जबसे मैंने शकराचार्य द्वारा जैन सिद्धान्तका खडन पढा है, तबसे मुझे विश्वास हुआ है कि इस सिद्धान्तमे बहुत कुछ है जिसे वेदान्तके आचार्योंने नही समझा।"

हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शनशास्त्रके भूतपूर्व प्रधानाध्यक्ष स्व० प्रो० फणिभूषण अधिकारीने तो और भी स्पष्ट लिखा था कि 'जैनधर्मके स्याद्वाद सिद्धान्तको जितना गलत समझा गया है उतना किसी अन्य सिद्धान्तको नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी इस दोषसे मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्तके प्रति अन्याय किया है, यह बात अल्पज्ञ पुरुषोंके लिए क्षम्य हो सकती थी। किन्तु यदि मुझे कहनेका अधिकार है तो मैं भारतके इस महान् विद्वान्‌के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा। यद्यपि मैं इस महर्षिको अतीव आदरकी दृष्टिसे देखता हूँ। ऐसा जान पडता है कि उन्होंने इस धर्मके मूल ग्रन्थोंके अध्ययनकी परवाह नहीं की।"

अनेकान्त भी अनेकान्त है :

अनेकान्त भी प्रमाण और नयकी दृष्टिसे अनेकान्त अर्थात् कथञ्चित् अनेकान्त और कथञ्चित् एकान्तरूप है। वह प्रमाणका विषय होनेसे अनेकान्तरूप है। अनेकान्त दो प्रकारका—सम्यगनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। परस्परसापेक्ष अनेक धर्मोंका सकल भावसे ग्रहण करना सम्यगनेकान्त है और परस्पर निरपेक्ष अनेक धर्मोंका ग्रहण मिथ्या अनेकान्त है। अन्यसापेक्ष एक धर्मका ग्रहण सम्यगेकान्त है तथा अन्य धर्मका निषेध करके एकका अवधारण करना मिथ्यैकान्त है। वस्तुमें सम्यगेकान्त और सम्यगनेकान्त ही मिल सकते हैं, मिथ्या अनेकान्त और मिथ्यैकान्त जो प्रमाणाभास और दुर्नयके विषय पडते हैं नहीं, वे केवल बुद्धिगत ही हैं, वैसी वस्तु बाह्यमें स्थित नहीं है। अत एकान्तका निषेध बुद्धिकल्पित एकान्तका ही किया जाता है। वस्तुमे जो एक धर्म है वह स्वभावत. परसापेक्ष होनेके कारण सम्यगेकान्त रूप होता है। तात्पर्य यह कि अनेकान्त अर्थात् सकलादेशका विषय प्रमाणाधीन होता है, और वह एकान्तकी अर्थात् नयाधीन विकलादेशके विषयकी अपेक्षा रखता है। यही बात स्वामी समन्तभद्रने अपने बृहत्स्वयंभूस्तोत्रमें कही है—

> "अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
> अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥१०२॥"

अर्थात् प्रमाण और नयका विषय होनेसे अनेकान्त यानी अनेक धर्मवाला पदार्थ भी अनेकान्तरूप है। वह जब प्रमाणके द्वारा समग्रभावसे गृहीत होता है तब वह अनेकान्त—अनेकधर्मात्मक है और जब किसी विवक्षित नयका विषय होता है तब एकान्त एकधर्मरूप है, उस समय शेष धर्म पदार्थमें विद्यमान रहकर भी दृष्टिके सामने नहीं होते। इस तरह पदार्थकी स्थिति हर हालतमें अनेकान्तरूप ही सिद्ध होती है।

प्रो० बलदेवजी उपाध्यायके मतकी आलोचना :

प्रो० बलदेवजी उपाध्यायने अपने भारतीयदर्शन (पृ० १५५) मे स्याद्वादका अर्थ बताते हुए लिखा है कि "स्यात् (शायद, सम्भवत) शब्द अस् धातुके विधिलिङ्के रूपका तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घडेके विषयमें हमारा मत स्यादस्ति—सम्भवत: यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिए।" यहाँ उपाध्यायजी 'स्यात्' शब्दको शायदका पर्यायवाची तो नही मानना चाहते, इसलिये वे शायद शब्दको कोष्ठकमे लिखकर भी आगे 'सम्भवत.' अर्थका समर्थन करते है। वैदिक आचार्य स्वामी शकराचार्यने जो स्याद्वादकी गलत बयानी की है उसका सस्कार आज भी कुछ विद्वानोके मस्तिष्कपर पडा हुआ है और वे उसी सस्कारवश 'स्यात्' का अर्थ 'शायद' करनेमें नही चूकते। जब यह स्पष्ट रूपसे अवधारण करके निश्चयात्मक रूपसे कहा जाता है कि 'घडा अपने स्वरूपसे 'स्यादस्ति'—है ही, घडा स्वभिन्न पररूपसे 'स्यान्नास्ति'—नही ही है', तब शायद या संशयकी गुन्जाइश कहाँ है ? 'स्यात्' शब्द तो श्रोताको यह सूचना देता है कि जिस 'अस्ति' धर्मका प्रतिपादन हो रहा है वह धर्म सापेक्ष स्थितिवाला है, अमुक स्वचतुष्टयकी अपेक्षासे उसका सद्भाव है। 'स्यात्' शब्द यह बताता है कि वस्तुमे अस्तिसे भिन्न अन्य धर्म भी सत्ता रखते है। जब कि संशय और शायदमे एक भी धर्म निश्चित नही होता। अनेकान्त-सिद्धान्तमे अनेक ही धर्म निश्चित है और उनके दृष्टिकोण भी निर्धारित है। आश्चर्य है कि अपनेको तटस्थ माननेवाले विद्वान् आज भी उसी संशय और शायदकी परम्पराको चलाये जाते है। रूढिवादका माहात्म्य अगम्य है।

इसी सस्कारवश उपाध्यायजी 'स्यात्' के पर्यायवाचियोमें 'शायद' शब्दको लिखकर (पृ० १७३) जैनदर्शनकी समीक्षा करते समय शंकराचार्यकी वकालत इन शब्दोमे करते हैं—"यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय दृष्टिसे वह पदार्थोके विभिन्न रूपोका समीकरण करता जाता तो समग्र विश्वमे अनुस्यूत परम तत्त्व तक अवश्य पहुँच जाता। इसी दृष्टिको ध्यानमे रखकर शंकराचार्यने इस स्याद्वादका मार्मिक खण्डन अपने शारीरक भाष्य (२।२।३३) में प्रबल युक्तियोके सहारे किया है" पर, उपाध्यायजी, जब आप 'स्यात्' का अर्थ निश्चितरूपसे 'संशय' नही मानते, तब शंकराचार्यके खण्डनका मार्मिकत्व क्या रह जाता है ?

जैनदर्शन स्याद्वाद-सिद्धान्तके अनुसार वस्तुस्थितिके आधारसे समन्वय करता है। जो धर्म वस्तुमें विद्यमान है उन्हीका तो समन्वय हो सकता है। जैनदर्शनको आपने वास्तव-बहुत्ववादी लिखा है। अनेक स्वतन्त्र चेतन, अचेतन सत्-व्यवहारके

लिये सद्रूपसे 'एक' भले ही कहे जायँ, पर वह काल्पनिक एकत्व मौलिक वस्तुकी सज्ञा नही पा सकता। यह कैसे संभव है कि चेतन और अचेतन दोनो ही एक सत्‌के प्रातिभासिक विवर्त हो। जिस काल्पनिक समन्वयकी ओर उपाध्यायजीने सकेत किया है, उस ओर जैन दार्शनिकोने प्रारंभसे ही दृष्टिपात किया है। परम-सग्रहनयकी दृष्टिमे सद्रूपसे यावत् चेतन-अचेतन द्रव्योका संग्रह करके 'एकसत्' इस शब्दव्यवहारके करनेमें जैन दार्शनिकोको कोई आपत्ति नही है। पर यह एकत्व वस्तुसिद्ध भेदका अपलाप नही कर सकता। सैकडो आरोपित और काल्पनिक व्यवहार होते है, पर उनसे मौलिक तत्त्व-व्यवस्था नही की जा सकती। 'एक देश या एक राष्ट्र' अपनेमे क्या वस्तु है? भूखण्डोका अपना-अपना जुदा अस्तित्व होनेपर भी बुद्धिगत सीमाकी अपेक्षा राष्ट्रोकी सीमाएँ बनती बिगडती रहती है। उसमें व्यवहारकी सुविधाके लिये प्रान्त, जिला आदि सज्ञाएँ जैसे काल्पनिक है— मात्र व्यवहारसत्य है, उसी तरह एक सत् या एक ब्रह्म काल्पनिक सत् होकर मात्र व्यवहारसत्य ही बन सकता है और कल्पनाकी दौड़का चरमबिन्दु भी हो सकता है, पर उसका तत्त्वसत् या परमार्थसत् होना नितान्त असभव है, आज विज्ञान एटम तकका विश्लेषण कर चुका है। अत- इतना बडा अभेद, जिसमे चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी लीन हो जाँय, कल्पनासाम्राज्यकी चरम कोटि है। और इस कल्पनाकोटिको परमार्थसत् न माननेके कारण जैनदर्शनका स्याद्वाद-सिद्धान्त यदि आपको मूलभूत तत्त्वके/ स्वरूप समझनेमें नितान्त असमर्थ प्रतीत होता है, तो हो, पर वह वस्तुकी सीमाका उल्लघन नही कर सकता और न कल्पनालोककी लम्बी दौड ही लगा सकता है।

'स्यात्' शब्दको उपाध्यायजी सशयका पर्यायवाची नही मानते, यह तो प्राय निश्चित है, क्योकि आप स्वय लिखते है (पृ० १७३) कि "यह अनेकान्तवाद सशयवादका रूपान्तर नही है"। पर आप उसे संभववाद अवश्य कहना चाहते है। परन्तु 'स्यात्'का अर्थ 'संभवत' करना भी न्यायसगत नही है, क्योकि संभावना, सशयगत उभयकोटियोंमेसे किसी एककी अर्थनिश्चितताकी ओर सकेतमात्र है, निश्चय उससे बिलकुल भिन्न होता है, स्याद्वादको सशय और निश्चयके मध्यमें संभावनावादकी जगह रखनेका अर्थ है कि वह एक प्रकारका अनध्यवसाय ही है। परन्तु जब स्याद्वादका प्रत्येक भग स्पष्ट रूपसे अपनी सापेक्ष सत्यताका अवधारण करा रहा है कि 'घडा स्वचतुष्टयकी दृष्टिसे 'है ही', इस दृष्टिसे 'नही' कभी भी नही है। परचतुष्टयकी दृष्टिसे 'नही ही है', 'है' कभी भी नही, तब संशय और सभावनाकी कल्पना ही नही की जा सकती। 'घट स्यादस्त्येव' इसमें जो एवकार

लगा हुआ है वह निर्दिष्टधर्मके अवधारणको बताता है। इस प्रकार जब स्याद्वाद सुनिश्चित दृष्टिकोणोसे उन-उन धर्मोका खरा निश्चय करा रहा है, तब इसे संभावनावादमे नही रखा जा सकता। यह स्याद्वाद व्यवहार, निर्वाहके लक्ष्यसे कल्पित धर्मोमे भी भले ही लग जाय, पर वस्तुव्यवस्थाके समय वह वस्तुकी सीमाको नही लाँघता। अत न यह सशयवाद है, न अनिश्चयवाद ही, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है।

सर राधाकृष्णन्के मतकी मीमांसा :

डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्ने इण्डियन फिलासफी (जिल्द १ पृ० ३०५-६) में स्याद्वादके ऊपर अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि "इससे हमें केवल आपेक्षिक अथवा अर्धसत्यका ही ज्ञान हो सकता है। स्याद्वादसे हम पूर्ण सत्यको नही जान सकते। दूसरे शब्दोमे स्याद्वाद हमे अर्धसत्योके पास लाकर पटक देता है, और इन्ही अर्धसत्योको पूर्णसत्य मान लेनेकी प्रेरणा करता है। परन्तु केवल निश्चित अनिश्चित अर्धसत्योको मिलाकर एक साथ रख देनेसे वह पूर्णसत्य नही कहा जा सकता!" आदि। क्या सर राधाकृष्णन् यह बतानेकी कृपा करेंगे कि स्याद्वादने निश्चित-अनिश्चित अर्धसत्योको पूर्ण सत्य मान लेनेकी प्रेरणा कैसे की है? हाँ, वह वेदान्तकी तरह चेतन और अचेतनके काल्पनिक अभेदकी दिमागी दौडमें अवश्य शामिल नही हुआ और न वह किसी ऐसे सिद्धान्तके समन्वय करने-की सलाह देता है, जिसमें वस्तुस्थितिकी उपेक्षा की गई हो। सर राधाकृष्णन्को पूर्ण सत्यके रूपमें वह काल्पनिक अभेद या ब्रह्म इष्ट है, जिसमें चेतन, अचेतन, मूर्त, अमूर्त सभी काल्पनिक रीतिसे समा जाते है। वे स्याद्वादकी समन्वय दृष्टिको अर्धसत्योके पास लाकर पटकना समझते है, पर जब प्रत्येक वस्तु स्वरूपत. अनन्त-धर्मात्मक है, तब उस वास्तविक नतीजेपर पहुँचनेको अर्धसत्य कैसे कह सकते है? हाँ, स्याद्वाद उस प्रमाणविरुद्ध काल्पनिक अभेदकी ओर वस्तुस्थितिमूलक दृष्टिसे नही जा सकता। वैसे परमसंग्रहनयकी दृष्टिसे एक चरम अभेदकी कल्पना जैन-दर्शनकारोने भी की है, जिसमे सद्रूपसे सभी चेतन और अचेतन समा जाते हैं—"सर्वमेक सदविशेषात्"—सब एक है, सत् रूपसे चेतन अचेतनमें कोई भेद नही है। पर यह एक कल्पना ही है, क्योकि ऐसा कोई एक 'वस्तुसत्' नही है जो प्रत्येक मौलिक द्रव्यमें अनुगत रहता हो। अत. यदि सर राधाकृष्णन्को चरम अभेदकी कल्पना ही देखनी हो, तो वह परमसंग्रहनयमे देखी जा सकती है। पर वह सादृश्यमूलक अभेदोपचार ही होगा, वस्तुस्थिति नही। या प्रत्येक द्रव्य अपनी गुण और पर्यायोसे वास्तविक अभेद रखता है, पर ऐसे स्वनिष्ठ एकत्ववाले

अनन्तानन्त द्रव्य लोकमें वस्तुसत् हैं। पूर्णसत्य तो वस्तुके यथार्थ अनेकान्तस्वरूप-का दर्शन ही है, न कि काल्पनिक अभेदका खयाल। बुद्धिगत अभेद हमारे आनन्दका विषय हो सकता है, पर इससे दो द्रव्योंकी एक सत्ता स्थापित नहीं हो सकती।

कुछ इसी प्रकारके विचार प्रो० बलदेवजी उपाध्याय भी राधाकृष्णन्‌का अनुसरण कर 'भारतीय दर्शन' (पृ० १७३) में प्रकट करते हैं—"इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थके बीचोबीच तत्त्वविचारको कतिपय क्षणके लिये विस्रम्भ तथा विराम देनेवाले विश्रामगृहसे बढकर अधिक महत्त्व नहीं रखता।" आप चाहते हैं कि प्रत्येक दर्शनको उस काल्पनिक अभेद तक पहुँचना चाहिये। पर स्याद्वाद जब वस्तुका विचार कर रहा है, तब वह परमार्थसत् वस्तुकी सीमाको कैसे लाँघ सकता है? ब्रह्मैकवाद न केवल युक्ति-विरुद्ध ही है, किन्तु आजके विज्ञानसे उसके एकीकरणका कोई वास्तविक मूल्य सिद्ध नहीं होता। विज्ञानने एटमका भी विश्लेषण किया है और प्रत्येक परमाणुकी अपनी मौलिक और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। अत यदि स्याद्वाद वस्तुको अनेकान्तात्मक सीमापर पहुँचा-कर बुद्धिको विराम देता है, तो यह उसका भूषण ही है। दिमागी अभेदसे वास्तविक स्थितिकी उपेक्षा करना मनोरजनसे अधिक महत्त्वकी बात नहीं हो सकती।

डॉ० देवराजजीने 'पूर्वी और पश्चिमी दर्शन' (पृ० ६५) में 'स्यात्' शब्दका 'कदाचित्' अनुवाद किया है। यह भी भ्रमपूर्ण है। कदाचित् शब्द कालापेक्ष है। इसका सीधा अर्थ है—किसी समय। और प्रचलित अर्थमें कदाचित् शब्द एक तरहसे संशयकी ओर ही झुकता है। वस्तुमें अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक ही कालमें रहते हैं, न कि भिन्नकालमें। कदाचित् अस्ति और कदाचित् नास्ति नहीं हैं, किन्तु सह—एक साथ अस्ति और नास्ति है। स्यात्का सही और सटीक अर्थ है—'कथञ्चित्' अर्थात् एक निश्चित प्रकारसे। यानी अमुक निश्चित दृष्टिकोणसे वस्तु 'अस्ति' है और उसी समय द्वितीय निश्चित दृष्टिकोणसे 'नास्ति' है, इनमें कालभेद नहीं है। अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद ही स्याद्वादका अभ्रान्त वाच्यार्थ हो सकता है।

श्री हनुमन्तराव एम० ए० ने अपने 'Jain Instrumental Theory of Knowledge" नामक लेखमें लिखा है कि "स्याद्वाद सरल समझौतेका मार्ग उपस्थित करता है, वह पूर्ण सत्यतक नहीं ले जाता" आदि। ये सब एक ही प्रकारके विचार हैं जो स्याद्वादके स्वरूपको न समझने या वस्तुस्थितिकी उपेक्षा

करनेके परिणाम है। वस्तु तो अपने स्थानपर अपने विराट् रूपमें प्रतिष्ठित है, उसमें अनन्तधर्म, जो हमें परस्पर विरोधी मालूम होते हैं, अविरुद्ध भावसे विद्यमान हैं। पर हमारी दृष्टिमे विरोध होनेसे हम उसकी यथार्थ स्थितिको नही समझ पा रहे हैं।

धर्मकीर्ति और अनेकान्तवाद :

आचार्य धर्मकीर्ति प्रमाणवार्तिक (३।१८०–१८४) में उभयरूप तत्त्वके स्वरूपमे विपर्यास कर वडे रोषसे अनेकान्ततत्त्वको प्रलापमात्र कहते हैं। वे सांख्यमतका खंडन करनेके बाद जैनमतके खंडनका उपक्रम करते हुए लिखते हैं—

"एतेनैव यदह्रीकाः किमप्ययुक्तमाकुलम्।
प्रलपन्ति प्रतिक्षिप्तं तदप्येकान्तसम्भवात्॥"—प्र० वा० ३।१८०।

अर्थात् साख्यमतके खंडन करनेसे ही अह्रीक यानी दिगम्बर लोग जो कुछ अयुक्त और आकुल प्रलाप करते है वह खंडित हो जाता है; क्योंकि तत्त्व एकान्त-रूप ही हो सकता है।

यदि[1] सभी तत्त्वोको उभयरूप यानी स्व-पररूप माना जाता है, तो पदार्थोंमें विशेषताका निराकरण हो जानेसे 'दही खाओ' इस प्रकारकी आज्ञा दिया पुरुष ऊँटको खानेके लिये क्यो नही दौडता ? क्योकि दही 'स्व-दहीकी तरह पर-ऊँटरूप भी है। यदि दही और ऊँटमें कोई विशेषता या अतिशय है, जिसके कारण दही शब्दसे दहीमें तथा ऊँट शब्दसे ऊँटमें ही प्रवृत्ति होती है, तो वही विशेषता सर्वत्र मान लेनी चाहिये, ऐसी दशामे तत्त्व उभयात्मक नही रहकर अनुभयात्मक यानी प्रतिनियत स्वरूपवाला सिद्ध होगा।

इस प्रसङ्गमें आ० धर्मकीर्तिने जैनतत्त्वके विपर्यास करनेमें हद कर दी है। तत्त्वको उभयात्मक अर्थात् सत्-असदात्मक, नित्यानित्यात्मक या भेदाभेदात्मक कहनेका तात्पर्य यह है कि दही, दही रूपसे सत् है और दहीसे भिन्न उष्ट्रादिरूपसे वह 'नास्ति' है। जब जैन तत्त्वज्ञान यह स्पष्ट कह रहा है कि 'हर वस्तु स्वरूपसे है, पररूपसे नही है; तब उससे तो यही फलित हो रहा है कि 'दही दही है, ऊँट

---

१. 'सर्वस्योभयरूपत्वे तद्विशेषनिराकृते.।
चोदितो दधि खादेति किमुष्ट्रं नाभिधावति॥
अथास्त्यतिशयः कश्चिद् तेन भेदेन वर्तते।
स एव विशेषोऽन्यत्र नास्तीत्यनुभयं वरम्॥'
—प्रमाणवा० ३।१८१–१८२।

आदि रूप नही है।' ऐसी हालतमें दही खानेको कहा गया पुरुष ऊँटको खानेके लिये क्यो दौडेगा ? जब ऊँटका नास्तित्व दहीमे है, तब उसमें प्रवृत्ति करनेका प्रसग किसी अनुन्मत्तको कैसे हो सकता है ? दूसरे श्लोकमें जिस विशेषताका निर्देश करके समाधान किया गया है, वह विशेषता तो प्रत्येक पदार्थमें स्वभावभूत मानी ही जाती है। अत. स्वास्तित्व और परनास्तित्वकी इतनी स्पष्ट घोषणा होनेपर भी स्वभिन्न परपदार्थमें प्रवृत्तिकी बात कहना ही वस्तुत. अश्लीकता है।

उभयात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायात्मक मानकर द्रव्य यानी पुद्गलद्रव्यकी दृष्टिसे दही और ऊँटके शरीरको एक मानकर दही खानेके बदले ऊँटके खानेका दूषण देना भी उचित नही है, क्योंकि प्रत्येक परमाणु, स्वतन्त्र पुद्गलद्रव्य है, अनेक परमाणु मिलकर स्कन्धरूपमें दही कहलाते है और उनसे भिन्न अनेक परमाणु स्कन्धका शरीर बने है। अनेक भिन्नसत्ताक परमाणुद्रव्योंमें पुद्गलरूपसे जो एकता है वह सादृश्यमूलक एकता है, वास्तविक एकता नही है। वे एकजातीय है, एकसत्ताक नही। ऐसी दशामें दही और ऊँटके शरीरमे एकताका प्रसंग लाकर मखौल उडाना शोभन बात तो नही है। जिन परमाणुओंसे दही स्कन्ध बना है उनमें भी विचारकर देखा जाय, तो सादृश्यमूलक ही एकत्वारोप हो रहा है, वस्तुत. एकत्व तो एक द्रव्यमें ही है। ऐसी स्थितिमे दही और ऊँटमें एकत्वका भान किस स्वस्थ पुरुषको हो सकता है ?

यदि कहा जाय कि "जिन परमाणुओसे दही बना है वे परमाणु कभी-न-कभी ऊँटके शरीरमें भी रहे होगे और ऊँटके शरीरके परमाणु दही भी बने होगे, और आगे भी दहीके परमाणु ऊँटके शरीररूप हो सकनेकी योग्यता रखते है, इस दृष्टिसे दही और ऊँटका शरीर अभिन्न हो सकता है ?" सो भी ठीक नही है, क्योंकि द्रव्यकी अतीत और अनागत पर्यायें जुदा होती है, व्यवहार तो वर्तमान पर्यायके अनुसार चलता है। खानेके उपयोगमें दही पर्याय आती है और सवारीके उपयोगमें ऊँट पर्याय। फिर शब्दका वाच्य भी जुदा-जुदा है। दही शब्दका प्रयोग दही पर्यायवाले द्रव्योको विषय करता है न कि ऊँटकी पर्यायवाले द्रव्यको। प्रतिनियत शब्द प्रतिनियत पर्यायवाले द्रव्यका कथन करते है। यदि अतीत पर्यायकी सम्भावनासे दही और ऊँटमें एकत्व लाया जाता है तो सुगत अपने पूर्वजातकमें मृग हुए थे और वही मृग मरकर सुगत हुआ है, अत. सन्तानकी दृष्टिसे एकत्व होनेपर भी जैसे सुगत पूज्य ही होते है और मृग खाद्य माना जाता है, उसी तरह दही और ऊँटमें खाद्य-अखाद्यकी व्यवस्था है। आप मृग और सुगतमें खाद्यत्व और वन्द्यत्वका विपर्यास नही करते, क्योंकि दोनो

तथा खाद्यत्वका सम्बन्ध अवस्थाओंसे है, उसी तरह प्रत्येक पदार्थकी स्थिति द्रव्यपर्यायात्मक है। पर्यायोकी क्षणपरम्परा अनादिसे अनन्त काल तक चली जाती है, कभी विच्छिन्न नही होती, यही उसकी द्रव्यता ध्रौव्य या नित्यत्व है। नित्यत्व या शाश्वतपनेसे बिचकनेकी आवश्यकता नही है। सन्तति या परम्पराके अविच्छेद-की दृष्टिसे आंशिक नित्यता तो वस्तुका निज रूप है। उससे इनकार नही किया जा सकता। आप जो यह कहते है कि 'विशेषताका निराकरण हो जानेसे सब सर्वात्मक हो जायँगें', सो द्रव्योंमे एकजातीयता होनेपर स्वरूपकी भिन्नता और विशेषता है ही। पर्यायोमे परस्पर भेद ही है, अत. दही और ऊँटके अभेदका प्रसंग देना वस्तुका जानते-बूझते विपर्यास करना है। विशेषता तो प्रत्येक द्रव्यमें है और एक द्रव्यकी दो पर्यायोमे भी मौजूद है ही, उससे इनकार नही किया जा सकता।

प्रज्ञाकरगुप्त और अर्चट, तथा स्याद्वाद :

प्रज्ञाकरगुप्त धर्मकीर्तिके शिष्य है। वे प्रमाणवार्तिकालंकारमे जैनदर्शनके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक परिणामवादमे दूषण देते हुए लिखते[1] हैं कि "जिस समय व्यय होगा, उस समय सत्त्व कैसे ? यदि सत्त्व है, तो व्यय कैसे ? अत. नित्यानित्यात्मक वस्तुकी सम्भावना नही है। या तो वह एकान्तसे नित्य हो सकती है या एकान्तसे अनित्य।"

हेतुबिन्दुके टीकाकार अर्चट भी वस्तुके उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक लक्षणमें ही विरोध दूषणका उद्भावन करते है। वे कहते है[2] कि "जिस रूपसे उत्पाद और व्यय है उस रूपसे ध्रौव्य नही है, और जिस रूपसे ध्रौव्य है उस रूपसे उत्पाद और व्यय नही है। एक धर्मीमे परस्पर विरोधी दो धर्म नही हो सकते।"

---

१. "अथोत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं यत्तत्सदिष्यते।
एषामेव न सत्त्वं स्यात् एतद्भावात्त्रियोगत ॥
यदा व्ययस्तदा सत्त्वं कथं तस्य प्रतीयते ?
पूर्वं प्रतीते सत्त्वं स्यात् तदा तस्य व्यय. कथम् ॥
ध्रौव्येऽपि यदि नास्मिन् धी कथं सत्त्वं प्रतीयते।
प्रतीतेरेव सर्वस्य तस्मात् सत्त्वं कुतोऽन्यथा ॥
तस्मान्न नित्यानित्यस्य वस्तुन. संभव क्वचित्।
अनित्यं नित्यमथवास्तु एकान्तेन युक्तिमत् ॥"

—प्रमाणवार्तिकाल०, पृ० १४२।

२. "ध्रौव्येण उत्पादव्यययोर्विरोधात्, एकस्मिन् धर्मिण्ययोगात्।"

—हेतुबि० टी० पृ० १४६।

किन्तु जब बौद्ध स्वयं इतना स्वीकार करते हैं कि वस्तु प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और नष्ट होती है तथा उसकी इस धाराका कभी विच्छेद नही होता। यह नही कहा जा सकता कि वह कबसे प्रारम्भ हुई और न यह बताया जा सकता है कि वह कब तक चलेगी। प्रथम क्षण नष्ट होकर अपना सारा उत्तराधिकार द्वितीय क्षणको सौंप देता है और वह तीसरे क्षणको। इस तरह यह क्षणसन्तति अनन्तकाल तक चालू रहती है। यह भी सिद्ध है कि विवक्षित क्षण अपने सजातीय क्षणमे ही उपादान होता है, कभी भी उपादानसाङ्कर्य नही होता। आखिर इस अनन्तकाल तक चलनेवाली उपादानकी असंकरताका नियामक क्या है? क्यो नही वह विच्छिन्न होता और क्यो नही कोई विजातीयक्षणमे उपादान बनता? ध्रौव्य इसी असंकरता और अविच्छिन्नताका नाम है। इसीके कारण कोई भी मौलिक तत्त्व अपनी मौलिकता नही खोता। इसका उत्पाद और व्ययके साथ क्या विरोध है? उत्पाद और व्ययको अपनी लाइन पर चालू रखनेके लिये, और अनन्तकाल तक उसकी लड़ी बनाये रखनेके लिये ध्रौव्यका मानना नितान्त आवश्यक है। अन्यथा स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, लेन-देन, बन्ध-मोक्ष, गुरु-शिष्यादि समस्त व्यवहारोका उच्छेद हो जायगा। आज विज्ञान भी इस मूल सिद्धान्त[1] पर ही स्थिर है कि "किसी नये सत्का उत्पाद नही होता और मौजूद सत्का सर्वथा उच्छेद नही होता, परिवर्तन प्रतिक्षण होता रहता है" इनमे जो तत्त्वकी मौलिक स्थिति है उसीको ध्रौव्य कहते है। बौद्ध दर्शनमे 'सन्तान' शब्द कुछ इसी अर्थमें प्रयुक्त होकर भी वह अपनी सत्यता खो बैठा है, और उसे पंक्ति और सेनाकी तरह मृषा कहनेका पक्ष प्रबल हो गया है। पंक्ति और सेना अनेक स्वतन्त्र सिद्ध मौलिक द्रव्योमें संक्षिप्त व्यवहारके लिये कल्पित बुद्धिगत स्फुरण है, जो उन्हें ही प्रतीत होता है, जिनने संकेत ग्रहण कर लिया है, परन्तु ध्रौव्य या द्रव्यकी मौलिकता बुद्धिकल्पित नही है, किन्तु क्षणकी तरह ठोस सत्य है, जो उसकी अनादि अनन्त असंकर स्थितिको प्रवहमान रखता है। जब वस्तुका स्वरूप ही इस तरह त्रयात्मक है तब उस प्रतीयमान स्वरूपमें विरोध कैसा? हाँ, जिस दृष्टिसे उत्पाद और व्यय कहे जाते है, उसी दृष्टिसे यह ध्रौव्य कहा जाता तो अवश्य विरोध होता, पर उत्पाद और व्यय तो पर्यायकी दृष्टिसे है तथा ध्रौव्य उस द्रवणशील मौलिकत्वकी अपेक्षासे है, जो अनादिसे अनन्त तक अपनी पर्यायोमें

---

१. "भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो ॥१५॥"

—पंचास्तिकाय।

बहता रहता है। कोई भी दार्शनिक कैसे इस ठोस सत्यसे इनकार कर सकता है? इसके बिना विचारका कोई आधार ही नही रह जाता।

बुद्धको शाश्वतवादसे यदि भय था, तो वे उच्छेदवाद भी तो नही चाहते थे। ये तत्त्वको न शाश्वत कहते थे और न उच्छिन्न। उनने उसके स्वरूपको दो 'न' से कहा, जब कि उसका विध्यात्मक रूप उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक ही बन सकता है। बुद्ध तो कहते है कि न तो वस्तु नित्य है और न सर्वथा उच्छिन्न जब कि प्रज्ञाकरगुप्त यह विधान करते है कि या तो वस्तुको नित्य मानो या क्षणिक अर्थात् उच्छिन्न। क्षणिकका अर्थ उच्छिन्न मैंने जानबूझकर इसलिये किया है कि ऐसा क्षणिक, जिसके मौलिकत्व और असंकरताकी कोई गारटी नही है, उच्छिन्नके सिवाय क्या हो सकता है? वर्तमान क्षणमें अतीतके सस्कार और भविष्यकी योग्यताका होना ही ध्रौव्यत्वकी व्याख्या है। अतीतका सद्‌भाव तो कोई भी नही मान सकता और न भविष्यतका ही। द्रव्यको त्रैकालिक भी इसी अर्थमें कहा जाता है कि वह अतीतसे प्रवहमान होता हुआ वर्तमान तक आया है और आगेकी मंजिलकी तैयारी कर रहा है।

अर्चट कहते हैं कि जिस रूपसे उत्पाद और व्यय है उस रूपसे ध्रौव्य नही सो ठीक है, किन्तु 'वे दोनो रूप एक धर्मीमें नही रह सकते' यह कैसे? जब सभी प्रमाण उस अनन्तधर्मात्मक वस्तुकी साक्षी दे रहे है तब उसका अगुली हिलाकर निषेध कैसे किया जा सकता है?

> "यस्मिन्नेव तु सन्ताने आहिता कर्मवासना।
> फलं तत्रैव सन्धत्ते कार्पासे रक्तता यथा॥"

यह कर्म और कर्मफलको एक अधिकरणमें सिद्ध करनेवाला प्रमाण स्पष्ट कह रहा है कि जिस सन्तानमे कर्मवासना—यानी कर्मके संस्कार पडते है, उसीमें फलका अनुसन्धान होता है। जैसे कि जिस कपासके बीजमें लाक्षारसका सिंचन किया गया है उसीसे उत्पन्न होनेवाली कपास लाल रंगकी होती है। यह सब क्या है? सन्तान एक सन्तन्यमान तत्त्व है जो पूर्व और उत्तरको जोडता है और वे पूर्व तथा उत्तर परिवर्तित होते है। इसीको तो जैन ध्रौव्य शब्दसे कहते है, जिसके कारण द्रव्य अनादि-अनन्त परिवर्तमान रहता है। द्रव्य एक आम्रेडित अखंड मौलिक है। उसका अपने धर्मोंसे कथञ्चित् भेदाभेद या कथञ्चित्तादात्म्य है। अभेद इसलिये कि द्रव्यसे उन धर्मोंको पृथक् नही किया जा सकता, उनका विवेचन—पृथक्करण अशक्य है। भेद इसलिये कि द्रव्य और पर्यायोमें सज्ञा, सख्या, स्वलक्षण और प्रयोजन आदिकी विविधता पाई जाती है।

अर्चटको इसपर भी आपत्ति है। वे लिखते[1] है कि "द्रव्य और पर्यायमें संख्यादिके भेदसे भेद मानना उचित नही है। भेद और अभेद पक्षमें जो दोष होते है वे दोनो पक्ष मानने पर अवश्य होगे। भिन्नाभिन्नात्मक एक वस्तुकी सभावना नही है, अत यह वाद दुष्कल्पित है।" आदि।

परन्तु जो अभेद अंश है वही द्रव्य है और भेद है वही पर्याय है। सर्वथा भेद और सर्वथा अभेद नही माना गया है, जिससे भेदपक्ष और अभेदपक्षके दोनो दोष ऐसी वस्तुमें आवें। स्थिति यह है कि द्रव्य एक अखड मौलिक है। उसके कालक्रमसे होनेवाले परिणमन पर्याय कहलाते हैं। वे उसी द्रव्यमें होते हैं। यानी द्रव्य अतीतके सस्कार लेता हुआ वर्तमान पर्यायरूप होता है और भविष्यके लिये कारण बनता है। अखंड द्रव्यको समझानेके लिये उसमें अनेक गुण माने जाते है, जो पर्यायरूपसे परिणत होते है। द्रव्य और पर्यायमे जो सज्ञाभेद, सख्याभेद, लक्षणभेद और कार्यभेद आदि बताये जाते है, वे उन दोनोका भेद समझानेके लिये है, वस्तुत उनसे ऐसा भेद नही है, जिससे पर्यायोको द्रव्यसे निकालकर जुदा बताया जा सके। पर्यायरूपसे द्रव्य अनित्य है। द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण पर्याय यदि नित्य कही जाती है तो भी कोई दूषण नही है, क्योकि द्रव्यका अस्तित्व किसी-न-किसी पर्यायमें ही तो होता है। द्रव्यका स्वरूप जुदा और पर्यायका स्वरूप जुदा—इसका इतना ही अर्थ है कि दोनोको पृथक् समझानेके लिये उनके लक्षण जुदा-जुदा होते है। कार्य भी जुदे इसलिये है कि द्रव्यसे अन्वय-ज्ञान होता है जब कि पर्यायोसे व्यावृत्तज्ञान या भेदज्ञान। द्रव्य एक होता है और पर्यायें कालक्रमसे अनेक। अत. इन सज्ञा आदिसे वस्तुके टुकडे माननेपर जो दूषण दिये जाते है वे इसमें लागू नही होते। हाँ, वैशेषिक जो द्रव्य, गुण और कर्म आदिको स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, उसके भेदपक्षमे इन दूषणोका समर्थन तो जैन भी करते है। सर्वथा अभेदरूप ब्रह्मवादमें विवर्त, विकार या भिन्नप्रतिभास आदिकी सम्भावना नही है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक, ज्ञान-ज्ञेय आदिका भेद भी असम्भव है। इस तरह एक पूर्वबद्ध धारणाके कारण जैनदर्शनके भेदाभेदवादमें

---

१. 'द्रव्यपर्यायरूपत्वात् द्वैरूप्यं वस्तुन. किल।
तयोरेकात्मकत्वेऽपि भेद. सज्ञादिभेदत ॥१॥'
भेदाभेदोक्तदोषाश्च तयोरिष्टौ कथ न वा।
प्रत्येकं ये प्रसज्यन्ते द्वयोर्भावे कथन्न ते ॥६२॥'
न चैवं गम्यते येन वादोऽय जाल्मकल्पित· ॥४५॥'
—हेतुबि० टी० पृ० १०४–१०७।

विना विचारे ही विरोधादि दूषण लाद दिये जाते है। 'सत् सामान्य'से जो सब पदार्थोको 'एक' कहते है वह वस्तुसत् ऐक्य नही है, व्यवहारार्थ संग्रहभूत एकत्व है, जो कि उपचरित है, मुख्य नही। शब्दप्रयोगकी दृष्टिसे एक द्रव्यमे विवक्षित धर्मभेद और दो द्रव्योमे रहने वाला परमार्थसत् भेद, दोनो बिलकुल जुदे प्रकारके है। वस्तुकी समीक्षा करते समय हमे सावधानीसे उसके वर्णित स्वरूपपर विचार करना चाहिये।

शान्तरक्षित और स्याद्वाद :

आ० शान्तरक्षितने तत्त्वसग्रहमें स्याद्वादपरीक्षा (पृ० ४८६) नामका एक स्वतन्त्र प्रकरण ही लिखा है। वे सामान्यविशेषात्मक या भावाभावात्मक तत्त्वमें दूषण उद्भावित करते है कि "यदि सामान्य और विशेषरूप एक ही वस्तु है, तो एक वस्तुसे अभिन्न होनेके कारण सामान्य और विशेषमें स्वरूपसाकर्य हो जायगा। यदि सामान्य और विशेष परस्पर भिन्न है और उनसे वस्तु अभिन्न होने जाती है, तो वस्तुमें भेद हो जायगा। विधि और प्रतिषेध परस्पर विरोधी है, अत वे एक वस्तुमे नही हो सकते। नरसिंह, मेचकरत्न आदि दृष्टान्त भी ठीक नही है, क्योकि वे सब अनेक अणुओके समूहरूप है, अत. उनका यह स्वरूप अवयवीकी तरह विकल्प-कल्पित है।" आदि।

बौद्धाचार्योकी एक ही दलील है कि एक वस्तु दो रूप नही हो सकती। वे सोचे कि जब प्रत्येक स्वलक्षण परस्पर भिन्न है, एक दूसरे रूप नही है, तो इतना तो मानना ही चाहिए कि रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षणत्वेन 'अस्ति' है और रसादि-स्वलक्षणत्वेन 'नास्ति' है, अन्यथा रूप और रस मिलकर एक हो जायँगे। हम स्वरूप-अस्तित्वको ही पररूपनास्तित्व नही कह सकते, क्योकि दोनोकी अपेक्षाएँ जुदा-जुदा है, प्रत्यय भिन्न-भिन्न है और कार्य भिन्न-भिन्न है। एक ही हेतु स्वपक्षका साधक होता है और परपक्षका दूषक, इन दोनो धर्मोकी स्थिति जुदा-जुदा है। हेतुमे यदि केवल साधक स्वरूप ही हो, तो उसे स्वपक्षकी तरह परपक्षको भी सिद्ध ही करना चाहिये। इसी तरह दूषकरूप ही हो, तो परपक्षकी तरह स्वपक्षका भी दूषण ही करना चाहिये। यदि एक हेतुमे पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षा-सत्त्व तीनो रूप भिन्न-भिन्न माने जाते है, तो क्यो नही सपक्षसत्त्वको ही विपक्षा-सत्त्व मान लेते ? अत. जिस प्रकार हेतुमें विपक्षासत्त्व सपक्षसत्त्वसे जुदा रूप है उसी तरह प्रत्येक वस्तुमे स्वरूपास्तित्वसे पररूपनास्तित्व जुदा ही स्वरूप है। अन्वयज्ञान और व्यतिरेकज्ञानरूप प्रयोजन और कार्य भी उनके जुदे ही है। यदि रूपस्वलक्षण अपने उत्तररूपस्वलक्षणमे उपादान होता है और रसस्वलक्षणमें

निमित्त; तो उसमे ये दोनो धर्म विभिन्न हैं या नही ? यदि रूपमे एक ही स्वभावसे उपादान और निमित्तत्वकी व्यवस्था की जाती है ? तो बताइए एक ही स्वभाव दो रूप हुआ या नही ? उसने दो कार्य किये या नही ? तो जिस प्रकार एक ही स्वभाव रूपकी दृष्टिसे उपादान है और रसकी दृष्टिसे निमित्त, उसी प्रकार विभिन्न अपेक्षाओसे एक ही वस्तुमे अनेक धर्म माननेमे क्यो विरोधका हल्ला किया जाता है ?

बौद्ध कहते है कि "दृष्ट पदार्थके अखिल गुण दृष्ट हो जाते हैं, पर भ्रान्तिसे उनका निश्चय नही होता, अत अनुमानकी प्रवृत्ति होती है।"[1] यहाँ प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पसे नीलस्वलक्षणके नीलांशका निश्चय होनेपर क्षणिकत्व और स्वर्गप्रापणशक्ति आदिका निश्चय नही होता, अत अनुमान करना पडता है; तो एक ही नीलस्वलक्षणमें अपेक्षाभेदसे निश्चितत्व और अनिश्चितत्व ये दो धर्म तो मानना ही चाहिए। पदार्थमें अनेकधर्म या गुण माननेमें विरोधका कोई स्थान नही है, वे तो प्रतीत हैं। वस्तुमे सर्वथा भेद स्वीकार करनेवाले बौद्धोके यहाँ पररूपसे नास्तित्व माने बिना स्वरूपकी प्रतिनियत व्यवस्था ही नही बन सकती। दानक्षणका दानत्व प्रतीत होनेपर भी उसकी स्वर्गदानशक्तिका निश्चय नही होता। ऐसी दशामें दानक्षणमे निश्चितता और अनिश्चितता दोनो ही मानना होगी। एक रूपस्वलक्षण अनादिकालसे अनन्तकाल तक प्रतिक्षण परिवर्तित होकर भी कभी समाप्त नही होता, उसका समूल उच्छेद नही होता, वह न तो सजातीय रूपान्तर बनता है और न विजातीय रसादि ही। यह उसकी जो अनाद्यनन्त असंकर स्थिति है, उसका क्या नियामक है ? वस्तु विपरिवर्तमान होकर भी जो समाप्त नहीं होती, इसीका नाम ध्रौव्य है जिसके कारण विवक्षित क्षण क्षणान्तर नहीं होता और न सर्वथा उच्छिन्न ही होता है। अत जब रूपस्वलक्षण रूपस्वलक्षण ही है, रसादि नही, रूपस्वलक्षण प्रतिक्षण परिवर्तित होता हुआ भी सर्वथा उच्छिन्न नही होता, रूपस्वलक्षण उपादान भी है और निमित्त भी, रूपस्वलक्षण निश्चित भी है और अनिश्चित भी, रूपस्वलक्षणोमें सादृश्यमूलक सामान्य धर्म भी है और वह विशेष भी है, रूपस्वलक्षण रूपशब्दका अभिधेय है रसादिका अनभिधेय; तब ऐसी स्थितिमें उसकी अनेकधर्मात्मकता स्वय सिद्ध है।

स्याद्वाद वस्तुकी इसी अनेकान्तात्मकताका प्रतिपादन करनेवाली एक भाषापद्धति है, जो वस्तुका सही-सही प्रतिबिम्ब करती है। आप नामान्तरसे अन्या-

१ "तस्माद् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुण.।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधनं सम्प्रवर्तते ॥"—प्रमाणवा० ३।४४।

पोहरूप कह भी लीजिए पर 'अगोव्यावृत्ति गोव्यक्तियोमे ही क्यो पायी जाती है, अश्वादिमें क्यो नही' इसका नियामक गोमें पाया जानेवाला सादृश्य ही हो सकता है। सादृश्य दो पदार्थोमे पाया जानेवाला एक धर्म नही है, किन्तु प्रत्येकनिष्ठ है। जितने पररूप है उनकी व्यावृत्ति यदि वस्तुमे पायी जाती है, तो उतने धर्मभेद माननेमें क्या आपत्ति है ? प्रत्येक वस्तु अपने अखडरूपमे अविभागी और अनिर्वाच्य होकर भी जब उन-उन धर्मोकी अपेक्षा निर्देश्य होती है तो उसकी अभिधेयता स्पष्ट ही है। वस्तुका अवक्तव्यत्व धर्म स्वय उसकी अनेकान्तात्मकताको पुकार-पुकारकर कह रहा है। वस्तुमे इतने धर्म, गुण और पर्याय है कि उसके पूर्ण स्वरूपको हम शब्दोसे नही कह सकते और इसी लिये उसे अवक्तव्य कहते हैं। आ० शान्तिरक्षित[1] स्वयं क्षणिक प्रतीत्यसमुत्पादमे अनाद्यनन्त और असक्रान्ति विशेषण देकर उसकी सन्ततिनित्यता स्वीकार करते है, फिर भी द्रव्यके नित्यानित्यात्मक होनेमें उन्हे विरोधका भय दिखाई देता है ! किमाश्चर्यमत परम् !! अनन्त स्वलक्षणोकी परस्पर विविक्तसत्ता मानकर पररूप-नास्तित्वसे नही बचा जा सकता। मेचकरत्न या नरसिहका दृष्टान्त तो स्थूल रूपसे ही दिया जाता है, क्योकि जब तक मेचकरत्न अनेकाणुओका कालान्तरस्थायी सघात बना हुआ है और जब तक उनमे विशेष प्रकारका रासायनिक मिश्रण होकर बन्ध है, तब तक मेचकरत्नकी, सादृश्यमूलक पुञ्जके रूपमें ही सही, एक सत्ता तो है ही और उसमें उस समय अनेक रूपोका प्रत्यक्ष दर्शन होता ही है। नरसिंह भी इसी तरह कालान्तरस्थायी सघातके रूपमे एक होकर भी अनेकाकारके रूपमे प्रत्यक्षगोचर होता है।

तत्त्वसं० त्रैकाल्यपरीक्षा (पृ० ५०४) में कुछ बौद्धैकदेशियोके मत दिये हैं, जो त्रिकालवर्ती द्रव्यको स्वीकार करते थे। इनमें भदन्त धर्मत्रात भावान्यथावादी थे। वे द्रव्यमें परिणाम न मानकर भावमें परिणाम मानते थे। जैसे कटक, कुंडल, केयूरादि अवस्थाओमें परिणाम होता है द्रव्यस्थानीय सुवर्णमें नही, उसी तरह धर्मोमे अन्यथात्व होता है, द्रव्यमें नही। धर्म ही अनागतपनेको छोडकर वर्तमान बनता है और वर्तमानको छोड़कर अतीतके गह्वरमें चला जाता है।

भदन्त घोषक लक्षणान्यथावादी थे। एक ही धर्म अतीतादि लक्षणोसे युक्त होकर अतीत, अनागत और वर्तमान कहा जाता है।

भदन्त वसुमित्र अवस्थान्यथावादी थे। धर्म अतीतादि भिन्न-भिन्न अवस्थाओको प्राप्त कर अतीतादि कहा जाता है, द्रव्य तो त्रिकालानुयायी रहता है। जैसे

१. तत्त्वसं० श्लो० ४।

एक मिट्टीकी गोली भिन्न-भिन्न गोलियोके ढेरमें पडकर अनेक सख्यावाली हो जाती है उसी तरह धर्म अतीतादि व्यवहारको प्राप्त हो जाता है, द्रव्य तो एक रहता है।

बुद्धदेव अन्यथान्यथिक थे। धर्म पूर्व-परकी अपेक्षा अन्य-अन्य कहा जाता है। जैसे एक ही स्त्री माता भी है और पुत्री भी। जिसका पूर्व ही है, अपर नही, वह अनागत कहलाता है। जिसका पूर्व भी है और अपर भी, वह वर्तमान, और जिसका अपर ही है, पूर्व नही, वह अतीत कहलाता है।

ये चारो अस्तिवादी कहे जाते थे। इनके मतोका विस्तृत विवरण नही मिलता कि ये धर्म और अवस्थासे द्रव्यका तादात्म्य मानते थे, या अन्य कोई सम्बन्ध, फिर भी इतना तो पता चलता है कि ये वादी यह अनुभव करते थे कि सर्वथा क्षणिकवादमें लोक-परलोक, कर्म-फलव्यवस्था आदि नही बन सकते, अत. किसी रूपमें ध्रौव्य या द्रव्यके स्वीकार किये बिना चारा नही है।

शान्तरक्षित स्वय परलोकपरीक्षा[1] में चार्वाकका खडन करते समय ज्ञानादि-सन्ततिको अनादि-अनन्त स्वीकार करके ही परलोककी व्याख्या करते है। यह ज्ञानादि-सन्ततिका अनाद्यनन्त होना ही तो द्रव्यता या ध्रौव्य है, जो अतीतके सस्कारोको लेता हुआ भविष्यतका कारण बनता जाता है। कर्म-फलसम्बन्धपरीक्षा (पृ० १८४) में किन्ही चित्तोमें विशिष्ट कार्यकारणभाव मानकर ही स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदिके घटानेका जो प्रयास किया गया है वह सस्काराधायक चित्त-क्षणोकी सन्ततिमें ही सभव हो सकता है' यह बात स्वय शान्तरक्षित भी स्वीकार करते है। वे बन्ध और मोक्षकी व्याख्या करते हुए लिखते[2] है कि कार्यकारण-परम्परासे चले आये अविद्या, सस्कार आदि बन्ध है और इनके नाश हो जाने पर जो चित्तकी निर्मलता होती है उसे मुक्ति कहते है। इसमें जो चित्त अविद्यादि-मलोसे सास्रव हो रहा था उसीका निर्मल हो जाना, चित्तकी अनुस्यूतता और अनाद्यनन्तताका स्पष्ट निरूपण है, जो वस्तुको एक ही समयमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सिद्ध कर देता है। तत्त्वसग्रहपजिका (पृ० १८४) में उद्धृत एक प्राचीन श्लोकमें तो "तदेव तैर्विनिर्मुक्त भवान्त इति कथ्यते" यह कहकर 'तदेव'

---

१ 'उपादानतदादेयभूतज्ञानादिसन्तते।
काचिन्नियतमर्यादावस्थैव परिकीर्त्यते॥
तस्याश्चानाद्यनन्ताया पर. पूर्व इहेति च'
—तत्त्वस० श्लो० १८७२-७३।

२ "कार्यकारणभूताश्च तत्राविद्यादयो मता.।
बन्धस्तद्विगमादिष्टो मुक्तिर्निर्मलता धिय ॥"
—तत्त्वस० श्लो० ५४४।

पदसे चित्तकी सान्वयता और बन्ध-मोक्षाधारताका अतिविशद वर्णन कर दिया गया है।

'किन्ही चित्तोमे ही विशिष्ट कार्यकारणभावका मानना और अन्यमें नही', यह प्रतिनियत स्वभावव्यवस्था तत्त्वको भावाभावात्मक माने बिना बन नही सकती। यानी वे चित्त, जिनमे परस्पर उपादानोपादेयभाव होता है, परस्पर कुछ विशेषता अवश्य ही रखते है, जिसके कारण उन्हीमे ही प्रतिसन्धान, वास्यवासक-भाव, कर्तृ-भोक्तृभाव आदि एकात्मगत व्यवस्थाएँ जमती हैं, सन्तानान्तरचित्तके साथ नही। एकसन्तानगत चित्तोमें ही उपादानोपादेयभाव होता है, सन्तानान्तर-चित्तोमे नही। यह प्रतिनियत सन्तानव्यवस्था स्वय सिद्ध करती है कि तत्त्व केवल उत्पाद-व्ययकी निरन्वय परम्परा नही है। यह ठीक है कि पूर्व और उत्तर पर्यायो-के उत्पाद-व्ययरूपसे बदलते रहने पर भी कोई ऐसा अविकारी कूटस्थ नित्य अश नही है, जो सभी पर्यायोमें सूतकी तरह अविकृत भावसे पिरोया जाता हो। पर वर्तमान अतीतकी यावत् सस्कार-सपत्तिका मालिक बनकर ही तो भविष्यको अपना उत्तराधिकार देता है। यह जो अधिकारके ग्रहण और विसर्जनकी परम्परा अमुक-चित्तक्षणोमे ही चलती है, सन्तानान्तर चित्तोमे नही, वह प्रकृत चित्तक्षणो-का परस्पर ऐसा तादात्म्य सिद्ध कर रही है, जिसको हम सहज ही ध्रौव्य या द्रव्यकी जगह बैठा सकते है। बीज और अकुरका कार्यकारणभाव भी सर्वथा निरन्वय नही है, किन्तु जो अणु पहले बीजके आकारमे थे, उन्हीमेंके कुछ अणु अन्य अणुओका साहचर्य पाकर अकुराकारको धारण कर लेते है। यहाँ भी ध्रौव्य या द्रव्य विच्छिन्न नही होता, केवल अवस्था बदल जाती है। प्रतीत्यसमुत्पादमें भी प्रतीत्य और समुत्पाद इन दो क्रियाओका एक कर्त्ता माने बिना गति नही है। 'केवल क्रियाएँ ही है और कारक नही है', यह निराश्रय बात प्रतीतिका विषय नही होती। अत. तत्त्वको उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक तथा व्यवहारके लिये सामान्य-विशेषात्मक स्वीकार करना ही चाहिये।

कर्णकगोमि और स्याद्वाद :

सर्वप्रथम ये दिगम्बरोके 'अन्यापोह—इतरेतराभाव न माननेपर एक वस्तु सर्वात्मक हो जायगी' इस सिद्धान्तका खडन[१] करते हुए लिखते है कि 'अभावके

१. 'योऽपि दिगम्बरो मन्यते—सर्वात्मकमेक स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे। तस्माद् भेद एवान्यथा न स्यादन्योन्याभावो भावाना यदि न भवेदिति, सोऽप्यनेन निरस्त, अभावेन भावभेदस्य कर्तुमशक्यत्वात्। नाप्यभिन्नाना हेतुतो निष्पन्नानामन्योन्याभाव. सभवति, अभिन्नाश्चे-न्निष्पन्ना, कथमन्योन्याभाव. सभवति? भिन्नाश्चेन्निष्पन्ना कथमन्योन्याभावकल्पनेत्युक्तम्।' प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० १०९।

द्वारा भावभेद नही किया जा सकता। यदि पदार्थ अपने कारणोंसे अभिन्न उत्पन्न हुए है, तो अभाव उनमें भेद नही डाल सकता और यदि भिन्न उत्पन्न हुए है, तो अन्योन्याभावकी कल्पना ही व्यर्थ है।'

वे ऊर्ध्वतासामान्य और पर्यायविशेष अर्थात् द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुमें दूषण देते हुए लिखते हैं कि "सामान्य और विशेषमें अभेद माननेपर या तो अत्यन्त अभेद रहेगा या अत्यन्त भेद। अनन्तधर्मात्मक धर्मी प्रतीत नही होता, अत लक्षणभेदसे भी भेद नही हो सकता। दही और ऊँट परस्पर अभिन्न हैं; क्योंकि ऊँटसे अभिन्न द्रव्यत्वसे दहीका तादात्म्य है। अत. स्याद्वाद मिथ्यावाद है[1]।" आदि।

यह ठीक है कि समस्त पदार्थ अपने-अपने कारणोंसे स्वस्वभावस्थित उत्पन्न होते है। 'परन्तु एक पदार्थ दूसरेसे भिन्न है' इसका अर्थ है कि जगत् इतरेतराभावात्मक है। इतरेतराभाव कोई स्वतन्त्र पदार्थ होकर दो पदार्थोंमें भेद नही डालता, किन्तु पटादिका इतरेतराभाव घटरूप है और घटका इतरेतराभाव पटादिरूप है। पदार्थमें दोनो रूप हैं—स्वास्तित्व और परनास्तित्व। परनास्तित्वरूपको ही इतरेतराभाव कहते हैं। दो पदार्थ अभिन्न अर्थात् एकसत्ताक तो उत्पन्न होते ही नही है। जितने पदार्थ है सब अपनी-अपनी धारासे बदलते हुए स्वरूपस्थ है। दो पदार्थोंके स्वरूपका प्रतिनियत होना ही एकका दूसरेमें अभाव है, जो तत्-तत् पदार्थके स्वरूप ही होता है, भिन्न पदार्थ नही है। भिन्न अभावमें तो जैन भी यही दूषण देते है।

द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुमें कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायें परस्पर उपादानोपादेयरूपसे जो अनाद्यनन्त बहती है, कभी भी उच्छिन्न नही होती और न दूसरी धारासे सक्रान्त होती है, इसीको ऊर्ध्वतासामान्य द्रव्य या ध्रौव्य कहते है। अव्यभिचारी उपादान-उपादेयभावका नियामक यही होता है, अन्यथा सन्तानान्त-

---

1. "तेन योऽपि दिगम्बरो मन्यते—नास्माभि. घटपटादिष्वेक सामान्यमिष्यते, तेषामेकान्तभेदात्, किन्त्वपरापरेण पर्यायेणावस्थासङ्क्रान्तिं परिणामि द्रव्यम्, तदेव च सर्वपर्यायानुयायित्वात् सामान्यमुच्यते। तेन युगपदुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सद् इति वस्तुनो लक्षणमिति। तदाह—घटमौलिसुवर्णार्थी · सोऽप्यत्र निराकृत एव द्रष्टव्य, यदि सामान्यविशेषौ वस्तुन्यभ्युपगम्येते अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्। अथ सामान्यविशेषयो. कथञ्चिद् भेद इष्यते। अत्राप्याह—अन्योन्यमित्यादि। सद्भावत्वसाम्यतो सामान्यविशेषयो यदि दध्युष्ट्रयोरन्योन्य परस्पर भेद. तदैकान्तेन तयोर्भेद एव स्यात्...दिगम्बरस्यापि यदि वस्तुन्यभ्युपगम्येते अत्यन्तभेदाभेदौ स्याताम्। मिथ्यावाद एव स्याद्वाद ॥'

—प्र० वा० स्ववृ० टी० पृ० ३३७–४२।

रक्षणके साथ उपादानोपादेयभावको कौन रोक सकता है ? इसमें जो यह कहा जाता कि 'द्रव्यसे अभिन्न होनेके कारण पर्यायें एकरूप हो जाँयगी या द्रव्य भिन्न हो जायगा', सो जब द्रव्य स्वय ही पर्यायरूपसे प्रतिक्षण परिवर्तित होता जाता है, तब वह पर्यायोकी दृष्टिसे अनेक है और उन पर्यायोमे जो स्वधारावद्धता है उस रूपसे वे सब एकरूप ही हैं। सन्तानान्तरके प्रथम क्षणसे स्वसन्तानके प्रथमक्षणमें जो अन्तर है और जिसके कारण अन्तर है और जिसकी वजह स्वसन्तान और परसन्तान विभाग होता है वही ऊर्ध्वतासामान्य या द्रव्य है। "स्वभाव-पर-भावाभ्यां यस्माद् व्यावृत्तिभागिन. ।" (प्रमाणवा० ३।३९) इत्यादि श्लोको-में जो सजातीय और विजातीय या स्वभाव और परभाव शब्दका प्रयोग किया गया है, यह 'स्व-पर' विभाग कैसे होगा ? जो 'स्व' की रेखा है वही ऊर्ध्वता-सामान्य है।

दही और ऊँटमें अभेदकी बात तो निरी कल्पना है, क्योकि दही और ऊँटमें कोई एक द्रव्य अनुयायी नहीं है, जिसके कारण उनमें एकत्वका प्रसंग उपस्थित हो। यह कहना कि 'जिस प्रकार अनुगत प्रत्ययके बलपर कुंडल, कटक आदिमे एक सुवर्णसामान्य माना जाता है उसी तरह ऊँट और दहीमें भी एक द्रव्य मानना चाहिये' उचित नही है; क्योकि वस्तुत द्रव्य तो पुद्गल अणु ही है। सुवर्ण आदि भी अनेक परमाणुओकी चिरकाल तक एक-जैसी बनी रहनेवाली सदृश स्कन्ध-अवस्था ही है और उसीके कारण उसके विकारोमें अन्वय प्रत्यय होता है। प्रत्येक आत्माका अपनी हर्ष, विपाद, सुख, आदि पर्यायोमे कालभेद होनेपर भी जो अन्वय है वह ऊर्ध्वतासामान्य है। एक पुद्गलाणुका अपनी कालक्रमसे होनेवाली अवस्थाओमें जो अविच्छेद है वह भी ऊर्ध्वतासामान्य ही है, इसीके कारण उनमें अनुगत प्रत्यय होता है इनमे उस रूपसे एकत्व या अभेद कहनेमे कोई आपत्ति नही, किन्तु दो स्वतन्त्र द्रव्योमें सादृश्यमूलक ही एकत्वका आरोप होता है, वास्तविक नही। अत. जिन्हे हम मिट्टी या सुवर्ण द्रव्य कहते है वे सब अनेक परमाणुओके स्कन्ध है। उन्हे हम व्यवहारार्थ ही एक द्रव्य कहते हैं। जिन पर-माणुओके स्कन्धमे सुवर्ण जैसा पीला रग, वजन, लचीलापन आदि जुट जाता है उन्हें हम प्रतिक्षण सदृश स्कन्धरूप परिणमन होनेके कारण स्थूल दृष्टिसे 'सुवर्ण' कह देते है। इसी तरह मिट्टी, तन्तु आदिमे भी समझना चाहिये। सुवर्ण ही जब आयुर्वेदीय प्रयोगोसे जीर्णकर भस्म बना दिया जाता है, और वही पुरुषके द्वारा भुक्त होकर मलादि रूपसे परिणत हो जाता है तब भी एक अविच्छिन्न धारा परमाणुओकी बनी ही रहती है, 'सुवर्ण' पर्याय तो भस्म आदि बनकर समाप्त हो जाती है। अत' अनेकद्रव्योमें व्यवहारके लिये जो सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार

होता है वह व्यवहारके लिये ही है। यह सादृश्य बहुतसे अवयवों या गुणोंकी समानता है और यह प्रत्येकव्यक्तिनिष्ठ होता है, उभयनिष्ठ या अनेकनिष्ठ नहीं। गौका सादृश्य गवयनिष्ठ है और गवयका सादृश्य गौनिष्ठ है। इस अर्थमें सादृश्य उस वस्तुका परिणमन ही हुआ, अतएव उससे वह अभिन्न है। ऐसा कोई सादृश्य नहीं है जो दो वस्तुओंमें अनुस्यूत रहता हो। इसकी प्रतीति अवश्य परसापेक्ष है, पर स्वरूप तो व्यक्तिनिष्ठ ही है। अत जैनोके द्वारा माना गया तिर्यक्सामान्य जिससे कि भिन्न-भिन्न द्रव्योंमें सादृश्यमूलक अभेदव्यवहार होता है, अनेकानुगत न होकर प्रत्येकमें परिसमाप्त है। इसको निमित्त बनाकर जो अनेक व्यक्तियोमे अभेद कहा जाता है वह काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। ऐसी दशामें दही और ऊँटमें अभेदका व्यवहार एक पुद्गलसामान्यकी दृष्टिसे जो किया जा सकता है वह औपचारिक कल्पना है। ऊँट चेतन है और दही अचेतन, अतः उन दोनोंमें पुद्गल-सामान्यकी दृष्टिसे अभेद व्यवहार करना असगत ही है। ऊँटके शरीरके और दहीके परमाणुओंसे रूप-रस-गन्ध-स्पर्शवत्त्वरूप सादृश्य मिलाकर अभेदकी कल्पना करके दूषण देना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस प्रकारके काल्पनिक अतिप्रसगसे तो समस्त व्यवहारोका ही उच्छेद हो जायगा। सादृश्यमूलक स्थूलप्रत्यय तो बौद्ध भी मानते ही हैं।

तात्पर्य यह कि जैनी तत्त्वव्यवस्थाको समझे बिना ही यह दूषण धर्मकीर्तिने जैनोको दिया है। इस स्थितिको उनके टीकाकार आचार्य कर्णक गोमिने ताड लिया, अतएव वे वही शंका करके लिखते हैं कि "शंका—जब कि दिगम्बरोका यह दर्शन नहीं है कि 'सर्व सर्वात्मक है या सर्व सर्वात्मक नहीं है' तो आचार्यने क्यो उनके लिये यह दूषण दिया? समाधान—सत्य है, यथादर्शन अर्थात् जैसा उनका दर्शन है उसके अनुसार तो 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' यही दूषण आता है[1] प्रकृत दूषण नहीं।"

बात यह है कि सांख्यका प्रकृतिपरिणामवाद और उसकी अपेक्षा जो भेदाभेद है उसे जैनोपर लगाकर इन दार्शनिकोने जैनदर्शनके साथ न्याय नहीं किया। सांख्य एक प्रकृतिकी सत्ता मानता है। वही प्रकृति दहीरूप भी, बनती है और ऊँट रूप भी, अत एक प्रकृतिरूपसे दही और ऊँटमें अभेदका प्रसग देना उचित हो

---

१. "ननु दिगम्बराणां 'सर्वं सर्वात्मक, न सर्वं सर्वात्मकम्' इति नैतद्दर्शनम्, तत्किमर्थमिद माचार्येणोच्यते? सत्य, यथादर्शन तु 'अत्यन्तभेदाभेदौ च स्याताम्' इत्यादिना पूर्वमेव दूषितम्।"

—प्रमाणवा० स्ववृ० टी० पृ० ३३९।

भी सके, पर जैन तत्त्वज्ञानका आधार बिलकुल जुदा है। वह वास्तव-बहुत्ववादी है और प्रत्येक परमाणुको स्वतन्त्र द्रव्य मानता है। अनेक द्रव्योमें सादृश्यमूलक एकत्व उपचरित है, आरोपित है और काल्पनिक है। रह जाती है एक द्रव्यकी बात, सो उसके एकत्वका लोप स्वयं बौद्ध भी नही कर सकते। निर्वाणमें जिस बौद्धपक्षने चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद माना है उसने दर्शनशास्त्रके मौलिक आधारभूत नियमका ही लोप कर दिया है। चित्तसन्तति स्वयं अपनेमे 'परमार्थसत्' है। वह कभी भी उच्छिन्न नही हो सकती। बुद्ध स्वयं उच्छेदवादके उतने ही विरोधी थे, जितने कि उपनिषत्प्रतिपादित शाश्वतवादके। बौद्धदर्शनकी सबसे बडी और मोटी भूल यह है कि उसके एक पक्षने निर्वाण अवस्थामें चित्तसन्ततिका सर्वथा उच्छेद मान लिया है। इसी भयसे बुद्धने स्वयं निर्वाणको अव्याकृत कहा था, उसके स्वरूपके सम्बन्धमें भाव या अभाव किसी रूपमे उनने कोई उत्तर नही दिया था। बुद्धके इस मौनने ही उनके तत्त्वज्ञानमें पीछे अनेक विरोधी विचारोके उदयका अवसर उपस्थित किया है।

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि और अनेकान्तवाद

विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि[१] (परि० २ ख० २) टीकामे निर्ग्रन्थादिके मतके रूपसे भेदाभेदवादका पूर्वपक्ष करके दूषण दिया है कि "दो धर्म एक धर्मीमें असिद्ध है।" किन्तु जब प्रतीतिके बलसे उभयात्मकता सिद्ध होती है, तब मात्र 'असिद्ध' कह देनेसे उनका निषेध नही किया जा सकता। इस सम्बन्धमे पहिले लिखा जा चुका है। आश्चर्य तो इस बातका है कि एक परम्पराने जो दूसरेके मतके खडनके लिये 'नारा' लगाया, उस परम्पराके अन्य विचारक भी आँख मूँदकर उसी 'नारे' को बुलन्द किये जाते है! वे एक बार भी रुककर सोचनेका प्रयत्न ही नही करते। स्याद्वाद और अनेकान्तके सम्बन्धमें अब तक यही होता आया है।

इस तरह स्याद्वाद और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणामवादमें जितने भी दूषण बौद्धदर्शनके ग्रन्थोमें देखे जाते है वे तत्त्वका विपर्यास करके ही थोपे गये है, और आज भी वैज्ञानिक दृष्टिकोणकी दुहाई देनेवाले मान्य दर्शनलेखक इस सम्बन्धमे उसी पुरानी रूढिसे चिपके हुए है! यह महान् आश्चर्य है!

१. 'सद्भूता धर्मा सत्तादिधर्मै: समाना भिन्नाश्चापि, यथा निर्ग्रन्थादीनाम्। तन्मत न समञ्जसम्। कस्मात्? न भिन्नाभिन्नमतेऽपि पूर्ववत् भिन्नाभिन्नयोर्दोषभावात्।...... उभयोरेकस्मिन् असिद्धत्वात्।' भिन्नाभिन्नकल्पना न सद्भूत न्यायासिद्धं सत्यामासं गृहीतम्।'

—विज्ञप्ति० परि० २ ख० २।

श्री जयराशिभट्ट और अनेकान्तवाद :

तत्त्वोपप्लवसिंह एक खण्डनग्रन्थ है। इसमें प्रमाण, प्रमेय आदि तत्त्वोंका उपप्लव ही निरूपित है। इसके कर्त्ता जयराशि भट्ट है। वे दिगम्बरो द्वारा आत्मा और सुखादिका भेदाभेद माननेमें आपत्ति उठाते है[1] कि "एकत्व अर्थात् एक-स्वभावता। एकस्वभावता माननेपर नानास्वभावता नही हो सकती, क्योकि दोनोमें विरोध है। उसीको नित्य और उसीको अनित्य कैसे कहा जा सकता है? पररूपसे असत्त्व और स्वरूपसे सत्त्व मानना भी उचित नही है; क्योकि—वस्तु तो एक है। यदि उसे अभाव कहते है तो भाव क्या होगा? यदि पररूपसे अभाव कहा जाता है, तो स्वरूपकी तरह घटमें पररूपका भी प्रवेश हो जायगा। इस तरह सब सर्वरूप हो जायेंगे। यदि पररूपका अभाव कहते है, तो जब पररूपका अभाव है तो वह अनुपलब्ध हुआ, तब आप उस पररूपके द्रष्टा कैसे हुए? और कैसे उसका अभाव कर सकते है? यदि कहा जाय कि पररूपसे वस्तु नही मिलती अत. परका सद्भाव नही है, तो अभावरूपसे भी निश्चय नही है अतः परका अभाव नही कहा जा सकता। यदि पररूपसे वस्तु उपलब्ध होती है तो अभावग्राही ज्ञानसे अभाव ही सामने रहेगा, फिर भावका ज्ञान नही हो सकेगा।" आदि।

यह एक सामान्य मान्यता रूढ है कि एक वस्तु अनेक कैसे हो सकती है? पर जब वस्तुका स्वरूप ही असंख्य विरोधोका आकार है तब उससे इनकार कैसे किया जा सकता है? एक ही आत्मा हर्ष, विषाद, सुख, दु ख, ज्ञान, अज्ञान आदि अनेक पर्यायोको धारण करनेवाला प्रतीत होता है। एक कालमें वस्तु अपने स्वरूपसे है यानी उसमें अपना स्वरूप पाया जाता है, परका स्वरूप नही। पररूपका नास्तित्व यानी उसका भेद तो प्रकृत वस्तुमें मानना ही चाहिये, अन्यथा स्व और परका विभाग कैसे होगा? उस नास्तित्वका निरूपण परपदार्थकी दृष्टिसे होता

१ "एकं हीदं वस्तूपलभ्यते। तच्चेदभाव' किमिदानीं भावो भविष्यति? यद्यदि पररूपतया भाव; तदा घटस्य पटरूपता प्राप्नोति। यथा पररूपतया भावत्वेऽङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश तथा अभावत्वेऽप्यङ्गीक्रियमाणे पररूपानुप्रवेश एव, ततश्च सर्वं सर्वात्मकं स्यात्। अथ पररूपस्य भाव, तदविरोधि स्वैकत्व तस्याभाव.। नहि तस्मिन् सति भवान् तस्यानुपलब्धे-र्द्रष्टा, अन्यथा हि आत्मनोऽप्यभावो भवेत्। अथ आत्मसत्ताऽविरोधित्वेन स्वात्मनोऽभावो न भवत्येव; परसत्ताविरोधित्वात् परस्याप्यभावो न भवति। अथापराकारतया नोपलभ्यते तेन परस्य भावो न भवति, अभावाकारतया चानुपलब्धे परस्याभावोऽपि न भवेत्। अथ अभावाकारतया उपलभ्यते; तदा भावोऽन्यो नास्ति, अभावाकारान्तरितत्वात्, अभाव-स्वभावावगाहिना अवबोधेन अभाव एव द्योतितो न भाव.। "

—तत्त्वोप० पृ० ७७–७९।

है, क्योंकि परका ही तो नास्तित्व है। जगत् अन्योऽन्याभावरूप है। घट घटेतर यावत् पदार्थोंसे भिन्न है। 'यह घट अन्य घटोसे भिन्न है' इस भेदका नियामक परका नास्तित्व ही है। पररूप उसका नही है', इसीलिये तो उसका नास्तित्व माना जाता है। यद्यपि पररूप वहाँ नही है, पर उसको आरोपित करके उसका नास्तित्व सिद्ध किया जाता है कि 'यदि घडा पटादिरूप होता, तो पटादिरूपसे उसकी उपलब्धि होनी चाहिये थी।' पर नही होती, अत. सिद्ध होता है कि घडा पटादिरूप नही है। यही 'उसका एकत्व या कैवल्य है जो वह स्वभिन्न परपदार्थ-रूप नही है। जिस समय परनास्तित्वकी विवक्षा होती है; उस समय अभाव ही वस्तुरूप पर छा जाता है, अत वही वही दिखाई देता है, उस समय अस्तित्वादि धर्म गौण हो जाते हैं और जिस समय अस्तित्व मुख्य होता है उस समय वस्तु केवल सद्रूप ही दिखती है, उस समय नास्तित्व आदि गौण हो जाते हैं। यही अन्य भगोमें समझना चाहिए।

तत्त्वोपप्लवकार किसी भी तत्त्वकी स्थापना नही करना चाहते, अत' उनकी यह शैली है कि अनेक विकल्प-जालसे वस्तुस्वरूपको मात्र विघटित कर देना। अन्तमे वे कहते हैं कि इस तरह उपप्लुत तत्त्वोमे ही समस्त जगत्के व्यवहार अविचारितरमणीय रूपसे चलते रहते हैं। परन्तु अनेकान्त-तत्त्वमें जितने भी विकल्प उठाए जाते है, उनका समाधान हो जाता है। उसका खास कारण यह है कि जहाँ वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक एवं अनन्तगुण-पर्यायवाली है वही वह अनन्तधर्मोंसे युक्त भी है। उसमे कल्पित-अकल्पित सभी धर्मोका निर्वाह है और तत्त्वोप्लववादियो जैसे वावदूकोका उत्तर तो अनेकान्तवादसे ही सही-सही दिया जा सकता है। विभिन्न अपेक्षाओसे वस्तुको विभिन्नरूपोमें देखा जाना ही अनेकान्त-तत्त्वकी रूपरेखा है। ये महाशय अपने कुविकल्पजालमें मस्त होकर दिगम्बरोंको मूर्ख कहते हुए अनेक भण्ड वचन लिखनेमें नही चूके।

तत्त्वोपप्लवकार यही तो कहना चाहते हैं कि 'वस्तु न नित्य हो सकती है, न अनित्य, न उभय, और न अवाच्य। यानी जितने एकान्त प्रकारोसे वस्तुका विवेचन करते हैं उन-उन रूपोमे वस्तुका स्वरूप सिद्ध नही हो पाता।' इसका सीधा तात्पर्य यह निकलता है कि 'वस्तु अनेकान्तरूप है, उसमें अनन्तधर्म हैं। अत उसे किसी एकरूपमें नही कहा जा सकता।' अनेकान्तदर्शनकी भूमिका भी यही है कि वस्तु मूलत. अनन्तधर्मात्मक है, उसका पूर्णरूप अनिर्वचनीय है, अत उसका एक-एक धर्मसे कथन करते समय स्याद्वाद-पद्धतिका ध्यान रखना चाहिये, अन्यथा तत्त्वोपप्लववादीके द्वारा दिये गये दूषण आयेंगे। यदि इन्होने वस्तुके

विधेयात्मक रूपपर ध्यान दिया होता, तो वे स्वयं अनन्तधर्मात्मक स्वरूपपर पहुँच ही जाते। शब्दोकी एकधर्मवाचक सामर्थ्यके कारण जो उलझन उत्पन्न होती है उसके निवटारेका मार्ग है स्याद्वाद। हमारा प्रत्येक कथन सापेक्ष होना चाहिए और उसे सुनिश्चित विवक्षा या दृष्टिकोणका स्पष्ट प्रतिपादन करना चाहिये।

श्रीव्योमशिव और अनेकान्तवाद :

आचार्य व्योमशिव प्रशस्तपादभाष्यके प्राचीन टीकाकार हैं। वे अनेकान्त-ज्ञानको मिथ्यारूप कहते समय व्योमवती टीका (पृ० २० ड) में वही पुरानी विरोधवाली दलील देते है कि "एकधर्मीमें विधि-प्रतिषेधरूप दो विरोधी धर्मोकी सम्भावना नही है। मुक्तिमें भी अनेकान्त लगनेसे वही मुक्त भी होगा और वही संसारी भी। इसी तरह अनेकान्तमें अनेकान्त माननेसे अनवस्था दूषण आता है।" उन्हे सोचना चाहिये कि जिस प्रकार एक चित्र-अवयवीमे चित्ररूप एक होकर भी अनेक आकारवाला होता है, एक ही पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियोमे अनुगत होनेके कारण सामान्य होकर भी जलादिसे व्यावृत्त होनेसे विशेष भी कहा जाता है और मेचकरत्न एक होकर भी अनेकाकार होता है, उसी तरह एक ही द्रव्य अनेकान्तरूप हो सकता है, उसमें कोई विरोध नही है। मुक्तमें भी अनेकान्त लग सकता है। एक ही आत्मा, जो अनादिसे बद्ध था, वही कर्मबन्धनसे मुक्त हुआ है, अत. उस आत्माको वर्तमान पर्यायकी दृष्टिसे मुक्त तथा अतीतपर्यायोकी दृष्टिसे अमुक्त कह सकते है, इसमें क्या विरोध है? द्रव्य तो अनादि-अनन्त होता है। उसमें त्रैकालिक पर्यायोकी दृष्टिसे अनेक व्यवहार हो सकते है। मुक्त कर्म-बन्धनसे हुआ है, स्वस्वरूपसे तो वह सदा अमुक्त (स्वरूपस्थित) ही है। अनेकान्तमे भी अनेकान्त लगता ही है[1]। नयकी अपेक्षा एकान्त है और प्रमाणकी अपेक्षा वस्तुतत्त्व अनेकान्तरूप है। आत्मसिद्धि-प्रकरणमे व्योमशिवाचार्य आत्माको स्वसंवेदनप्रत्यक्षका विषय सिद्ध करते है। इस प्रकरणमें जब यह प्रश्न हुआ कि 'आत्मा तो कर्ता है वह उसी समय संवेदनका कर्म कैसे हो सकता है?' तो इन्होंने इसका समाधान अनेकान्तका आश्रय लेकर ही इस प्रकार किया है[2] कि 'इसमे कोई विरोध नही है, लक्षणभेदसे दोनों रूप हो सकते है। स्वतंत्रत्वेन वह कर्ता है

---

१ देखो, यही ग्रन्थ पृ० ५२५।

२ "अथात्मन. कर्तृत्वादेकस्मिन् काले कर्मत्वासंभवेनाप्रत्यक्षत्वम्, तन्न, लक्षणभेदेन तदुपपत्ते·। तथाहि—ज्ञानचिकीर्षाधारत्वस्य कर्तृलक्षणस्योपपत्तेः कर्तृत्वम्, तदेव च क्रियया व्याप्यत्वोपलब्धे· कर्मत्व चेति न दोष·, लक्षणतन्त्रत्वाद् वस्तुव्यवस्थायाः।"

—प्रश० व्यो० पृ० ३९२।

और ज्ञानका विषय होनेसे कर्म है।' अविरोधी अनेक धर्म माननेमें तो इन्हें कोई सीधा विरोध है ही नही।

श्रीभास्कर भट्ट और स्याद्वाद :

ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोमें भास्कर भट्ट भेदाभेदवादी माने जाते है। इनने अपने भाष्यमें शंकराचार्यका खण्डन किया है। किन्तु "नैकस्मिन्नसम्भवात्" सूत्रमें आर्हतमतकी समीक्षा करते समय ये स्वयं भेदाभेदवादी होकर भी शंकराचार्यका अनुसरण करके सप्तभंगीमें विरोध और अनवधारण नामके दूषण देते है। वे कहते है कि "सब अनेकान्तरूप है, ऐसा निश्चय करते हो या नही? यदि हाँ, तो यह एकान्त हो गया, और यदि नही, तो निश्चय भी अनिश्चयरूप होनेसे निश्चय नही रह जायगा। अत. ऐसे शास्त्रके प्रणेता तीर्थङ्कर उन्मत्ततुल्य है।"

आश्चर्य होता है इस अनूठे विवेकपर! जो स्वय जगह-जगह भेदाभेदात्मक तत्त्वका समर्थन उसी पद्धतिसे करते है जिस पद्धतिसे जैन, वे ही अनेकान्तका खण्डन करते समय सब भूल जाते है। मैं पहले लिख चुका हूँ कि स्याद्वादका प्रत्येक भङ्ग अपने दृष्टिकोणसे सुनिश्चित है। अनेकान्त भी प्रमाणदृष्टिसे (समग्रदृष्टिसे) अनेकान्तरूप है और नयदृष्टिसे एकान्तरूप है। इसमें अनिश्चय या अनवधारणकी क्या बात है? एक स्त्री अपेक्षाभेदसे 'माता भी है और पत्नी भी, वह उभयात्मक है' इसमें उस कुतर्कीको क्या कहा जाय, जो यह कहता है कि 'उसका एकरूप निश्चित कीजिये—या तो माता कहिये या फिर पत्नी?' जब हम उसका उभयात्मकरूप निश्चितरूपसे कह रहे है, तब यह कहना कि 'उभयात्मकरूप भी उभयात्मक होना चाहिये, यानी 'हम निश्चित रूपसे उभयात्मक नही कह सकते। उसका सीधा उत्तर है कि 'वह स्त्री उभयात्मक है, एकात्मक नही' इस रूपसे उभयात्मकतामे भी उभयात्मकता है। पदार्थका प्रत्येक अश और उसको ग्रहण करनेवाला नय अपनेमे सुनिश्चित होता है।

अब भास्कर-भाष्य[1] का यह शका समाधान देखिए—

प्रश्न—'भेद और अभेदमें' तो विरोध है?

उत्तर—यह प्रमाण और प्रमेयतत्त्वको न समझनेवालेकी शका है!······जो वस्तु प्रमाणसे जिस रूपमे परिच्छिन्न हो, वह उसी रूप है। गौ, अश्व आदि,

---

१ "यदप्युक्त भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते, अनिरूपितप्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्।·
यत्प्रमाणैः परिच्छिन्नमविरुद्धं हि तत्तथा।
वस्तुजात गवाश्वादि भिन्नाभिन्न प्रतीयते।"—भास्करभा० पृ० १६।

समस्त पदार्थ भिन्नाभिन्न ही प्रतीत होते है ! वे आगे लिखते है कि सर्वथा अभिन्न या भिन्न पदार्थ कोई दिखा नही सकता। सत्ता, ज्ञेयत्व और द्रव्यत्वादि सामान्य-रूपसे सब अभिन्न हैं और व्यक्तिरूपसे परस्पर विलक्षण होनेके कारण भिन्न। जब उभयात्मक वस्तु प्रतीत हो रही है, तब विरोध कैसा ? विरोध या अविरोध प्रमाणसे ही तो व्यवस्थापित किये जाते हैं। यदि प्रतीतिके बलसे एकरूपता निश्चित की जाती है तो द्विरूपता भी जब प्रतीत होती है तो उसे भी मानना चाहिये। 'एकको एकरूप ही होना चाहिये' यह कोई ईश्वराज्ञा नही है।

प्रश्न—शीत और उष्णस्पर्शकी तरह भेद और अभेदमें विरोध क्यो नही है ?

उत्तर—यह आपकी बुद्धिका दोष है, वस्तुमें कोई विरोध नही है ? छाया और आतपकी तरह सहानवस्थान विरोध तथा शीत और उष्णकी तरह भिन्न-देशवर्तित्वरूप विरोध कारणब्रह्म तथा कार्यप्रपंचमें नही हो सकता, क्योकि वह ही उत्पन्न होता है, वही अवस्थित है और वही प्रलय होता है। यदि विरोध होता, तो ये तीनो नही बन सकते थे। अग्निसे अंकुरकी उत्पत्ति आदिरूपसे कार्यकारणसम्बन्ध तो नही देखा जाता। कारणभूत मिट्टी और सुवर्ण आदिसे ही तज्जन्य कार्य सर्वदा अनुस्यूत देखे जाते हैं। अत. आँखें बन्द करके जो यह परस्पर असंगतिरूप विरोध कहा जाता है वह या तो बुद्धि-विपर्यासके कारण कहा जाता है या फिर प्रारम्भिक श्रोत्रियके कानोको ठगनेके लिए। शीत और उष्ण स्पर्श हमेशा भिन्न आधारमें रहते है, उनमें न तो कभी उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध रहा है और न आधाराधेयभाव ही, अत उनमें विरोध हो सकता है। अत. 'शीतोष्णवत्' यह दृष्टान्त उचित नही है। शंकाकार बडी प्रगल्भतासे कहता है कि—

शंका—'यह स्थाणु है या पुरुष' इस संशयज्ञानकी तरह भेदाभेदज्ञान अप्रमाण क्यो नही है ?

उत्तर—परस्परपरिहारवालोका ही सह अवस्थान नही हो सकता। संशय-ज्ञानमें किसी भी प्रमेयका निश्चय नही होता, अत. वह अप्रमाण है। किन्तु यहाँ तो मिट्टी, सुवर्ण आदि कारण पूर्वसिद्ध हैं, उनसे बादमें उत्पन्न होनेवाला कार्य तदाश्रित ही उत्पन्न होता है। कार्य कारणके समान ही होता है। कारणका स्वरूप नष्टकर भिन्न देश या भिन्न कालमें कार्य नही होता। अत. प्रपञ्चको मिथ्या कहना उचित नही है। किसी पुरुषकी अपेक्षा वस्तुमें सत्यता नही आँकी जा सकती कि 'मुमुक्षुओके लिये प्रपञ्च असत्य है और इतर व्यक्तियोंके लिये सत्य है।' रूपको अन्धेके लिये असत्य और आँखवालेको सत्य नही कह सकते। पदार्थ पुरुषकी

इच्छानुसार सत्य या असत्य नही होते। सूर्य स्तुति करनेवाले और निन्दा करने वाले दोनोको ही तो तपाता है। यदि मुमुक्षुओके लिये प्रपञ्च मिथ्या हो और अन्यके लिए तथ्य, तो एक साथ तथ्य और मिथ्यात्वका प्रसंग होता है।' " "अत ब्रह्मको भिन्नाभिन्न रूप मानना चाहिये। कहा भी है—

"कार्यरूपसे अनेक और कारणरूपसे एक है, जैसे कि कुडल आदि पर्यायोसे भेद और सुवर्णरूपसे अभेद होता है।"

इस तरह ब्रह्म और प्रपञ्चके भेदाभेदका समर्थन करनेवाले आचार्य जो एकान्तवादियोको 'प्रज्ञापराध, अनिरूपितप्रमाणप्रमेय' आदि विचित्र विशेषणोसे सम्बोधित करते है, वे स्वयं दिगम्बर—विवसन मतका खडन करते समय कैसे इन विशेषणोसे बच सकते है ?

पृ० १०३ मे फिर ब्रह्मके एक होने पर भी जीव और प्राज्ञके भेदका समर्थन करते हुए लिखा है कि "जिस प्रकार पृथिवीत्व समान होने पर भी पद्मराग तथा क्षुद्र पाषाण आदिका परस्पर भेद देखा जाता है उसी तरह ब्रह्म और जीवप्राज्ञमें भी समझना चाहिये। इसमें कोई विरोध नही है।"

पृ० १६४ में फिर ब्रह्मके भेदाभेद रूपके समर्थनका सिद्धान्त दुहराया गया है। मैंने यहाँ जो भास्कराचार्यके ब्रह्मविषयक भेदाभेदका प्रकरण उपस्थित किया है, उसका इतना ही तात्पर्य है कि 'भेद और अभेदमें परस्पर विरोध नही है, एक वस्तु उभयात्मक हो सकती है' यह बात भास्कराचार्यको सिद्धान्तरूपमे इष्ट है। उनका 'ब्रह्मको सर्वथा नित्य स्वीकार करके ऐसा मानना उचित हो सकता है या नही ?' यह प्रश्न यहाँ विचारणीय नही है। जो कोई भी तटस्थ व्यक्ति उपर्युक्त भेदाभेदविषयक शंका-समाधानके साथ-ही-साथ इनके द्वारा किये गये जैनमतके खडनको पढेगा, वह मतासहिष्णुताके स्वरूपको सहज ही समझ सकेगा !

यह बडे आश्चर्यकी बात है कि स्याद्वादके भगोको ये आचार्य 'अनिश्चय'के खाते में तुरंत खतया देते है। और 'मोक्ष है भी नही भी' कहकर अप्रवृत्तिका दूषण दे बैठते है और दूसरोको उन्मत्त तक कह देते है! भेदाभेदात्मकतत्त्वके समर्थनका वैज्ञानिक प्रकार इस तत्त्वके द्रष्टा जैन आचार्योसे ही समझा जा सकता है। यह परिणामी नित्य पदार्थमें ही संभव है, सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्यमें नही, क्योकि द्रव्य स्वय तादात्म्य होता है, अत पर्यायसे अभिन्न होनेके कारण द्रव्य स्वयं अनित्य होता हुआ भी अपनी अनाद्यनन्त अविच्छिन्न धाराकी अपेक्षा ध्रुव या नित्य होता है। अत भेदाभेदात्मक या उभयात्मक तत्त्वकी जो प्रक्रिया, स्वरूप और समझने-समझानेकी पद्धति आर्हत दर्शनमें व्यवस्थित रूपसे पाई जाती है, वह अन्यत्र दुर्लभ ही है।

श्रीविज्ञानभिक्षु और स्याद्वाद :

ब्रह्मसूत्रके विज्ञानामृत भाष्यमें दिगम्बरोके स्याद्वादको अव्यवस्थित बताते हुए लिखा है[1] कि "प्रकारभेदके बिना दो विरुद्ध धर्म एक साथ नही रह सकते। यदि प्रकारभेद माना जाता है, तो विज्ञानभिक्षुजी कहते है कि हमारा ही मत हो गया और उसमें सब व्यवस्था बन जाती है, अत आप अव्यवस्थित तत्त्व क्यों मानते है ?" किन्तु स्याद्वाद सिद्धान्तमे अपेक्षाभेदसे प्रकारभेदका अस्वीकार कहाँ है ? स्याद्वादका प्रत्येक भग अपने निश्चित दृष्टिकोणमे उस धर्मका अवधारण करके भी वस्तुके अन्य धर्मोकी उपेक्षा नही होने देता। एक निर्विकार ब्रह्ममें परमार्थत प्रकारभेद कैसे बन सकते है ? अनेकान्तवाद तो वस्तुमें स्वभावसिद्ध अनन्तधर्म मानता है। उसमे अव्यवस्थाका लेशमात्र नही है। उन धर्मोका विभिन्न दृष्टिकोणोसे मात्र वर्णन होता है, स्वरूप तो उनका स्वत सिद्ध है। प्रकारभेदसे कही एक साथ दो धर्मोके मान लेनेसे ही व्यवस्थाका ठेका नही लिया जा सकता। अनेकान्ततत्त्वकी भूमिका ही समस्त विरोधोका अविरोधी आधार हो सकती है।

श्रीश्रीकण्ठ[2] और अनेकान्तवाद :

श्रीकण्ठाचार्य अपने श्रीकण्ठभाष्यमें उसी पुरानी विरोधवाली दलीलको दुहराते हुए कहते है कि "जैसे पिंड, घट और कपाल अवस्थाएँ एक साथ नही हो सकती, उसी तरह अस्तित्व और नास्तित्व आदि धर्म भी।" परन्तु एक द्रव्यकी कालक्रमसे होनेवाली पर्यायें युगपत् सम्भव न हो, तो न सही, पर जिस समय घडा स्वचतुष्टयसे 'सत्' है उसी समय उसे पटादिकी अपेक्षा 'असत्' होनेमें क्या विरोध है ? पिंड, घट और कपाल पर्यायोके रूपसे जो पुद्गलाणु परिणत होंगे, उन अणुद्रव्योकी दृष्टिसे अतीतका सस्कार और भविष्यकी योग्यता वर्तमानपर्यायवाले द्रव्यमें तो है ही। आप 'स्यात्' शब्दको ईषदर्थक मानते है। पर 'ईषत्'से स्याद्वादका अभिधेय ठीक प्रतिफलित नही होता। 'स्यात्'का वाच्यार्थ

१ अपरे वेदबाह्या दिगम्बरा एकस्मिन्नेव पदार्थे भावाभावौ मन्यन्ते सत्र वस्त्वव्यवस्थितमेव स्यादस्ति स्यान्नास्ति "अत्रेदमुच्यते; न, एकस्मिन् यथोक्तभावाभावादिरूपत्वमपि। कुत ? असम्भवात्। प्रकारभेदं विना विरुद्धयोरेकदा सहावस्थानस्यानासम्भवात्। प्रकारभेदाभ्युपगमे चास्मन्मतप्रवेशेन सर्वत्र व्यवस्थास्ति कथमव्यवस्थित जगदभ्युपगम्यते भवद्भिरित्यर्थ.।"–विज्ञानामृतभा० २।२।३३।

२ "जैना हि सप्तभङ्गीन्यायेन स्याच्छब्द ईषदर्थे। एतदयुक्तम्, कुत ? एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वनित्यत्वानित्यत्वभेदाभेदादीनामसंभवात्। पर्यायभाविनश्च द्रव्यस्यास्तित्वनास्तित्वादिशब्दबुद्धिविषया. परस्परविरुद्धा पिण्डत्वघटत्वकपालत्वाद्यवस्थावत् युगपन्न सम्भवन्ति। अतो विरुद्ध एव जैनवादः।"—श्रीकण्ठभा० २।२।३३।

है—'सुनिश्चित दृष्टिकोण ।' श्रीकण्ठभाष्यकी टीकामें श्रीअप्पय्यदीक्षित[1]को देश काल और स्वरूप आदि अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म स्वीकार करना अच्छा लगता है और 'अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म स्वीकार करनेमें लौकिक और परीक्षकोको कोई विवाद नही हो सकता ।' यह भी वे मानते हैं, परन्तु फिर हिचककर कहते है कि 'सप्तभगीका यह स्वरूप जैनोको इष्ट नही है ।' वे यह आरोप करते है कि 'स्याद्वादी तो अपेक्षाभेदसे अनेक धर्म नही मानते किन्तु विना अपेक्षाके ही अनेक धर्म मानते है ।' आश्चर्य है कि वे आचार्य अनन्तवीर्य कृत—

"तद्विधानविवक्षाया स्यादस्तीति गतिर्भवेत् ।
स्यान्नास्तीति प्रयोग स्यात्तान्निषेधे विवक्षिते ॥"

इत्यादि कारिकाओको उद्धृत भी करते है और स्याद्वादियोपर यह आरोप भी करते जाते हैं कि 'स्याद्वादी विना अपेक्षाके ही सब धर्म मानते है ।' इन स्पष्ट प्रमाणोके होते हुए भी ये कहते है कि 'दूसरोके गले उतारनेके लिए जैन लोग अपेक्षारूपी गुड चटा देते है, वस्तुत वे अपेक्षा मानते नही हैं, वे तो निरुपाधि सत्त्व और असत्त्व मानना चाहते हैं ।' इस मिथ्या आरोपके लिये क्या कहा जाय ? और इसी आधारपर वे कहते है कि 'स्त्रीमे माता' पत्नी आदि आपेक्षिक व्यवहार न होनेसे स्याद्वादमे लोक-विरोध होगा ।' भला, जो दूषण स्याद्वादी एकान्तवादियोको देते हैं वे ही दूषण जैनोको जबरदस्ती दिये जा रहे हैं, इस अन्धेरका

१ "यद्येव पारिभाषिकोऽय सप्तभङ्गीनय. स्वीक्रियत एव । घटादि. स्वदेशेऽस्ति अन्यदेशे नास्ति, स्वकालेऽस्ति अन्यकाले नास्ति, स्वात्मना अस्ति अन्यात्मना नास्ति, इति देशकालप्रतियोगिरूपोपाधिभेदेन सत्त्वासत्त्वसमावेशे लौकिकपरीक्षकाणा विप्रतिपत्त्यसभवात् । न चैतावता पराभिमतं वस्त्वनैकान्त्यमापद्यते—स्वकाले सदेव, अन्यकाले असदेव इत्यादि नियमस्य भङ्गाभावात् । स देश इह नास्ति, स काल इदानीं नास्तीत्यादिप्रतीतौ देशकालाद्युपाध्यन्तराभावात्, तत्राप्युपाध्यन्तरापेक्षणेऽनवस्थानात् । इतरान् अङ्गीकारयितु पर गुडजिह्विकान्यायेन देशकालाद्युपाधिभेदमन्तर्भाव्य सत्त्वासत्त्वप्रतीतिरुपन्यस्यते । वस्तुतो विमृश्यमाना सा निरुप धिकैव सत्त्वासत्त्वादिसकरे प्रमाणम् । अत एव स्याद्वादिना 'घटोऽस्ति घटो नास्ति पट. सन् पटोऽसन्' इत्यादि प्रत्यक्षप्रतीतिमेव सत्त्वासत्त्वाद्यनैकान्त्ये प्रमाणमुपगच्छन्ति, परस्परविरुद्धधर्मसमावेशे सर्वानुभवसिद्धस्तावदुपाधिभेदो नापह्नोतु शक्यते । लोकमर्यादामनतिक्रममाणेन देशकालादिसत्त्वनिषेधेऽपि देशकालाद्युपाध्यवच्छेद अनुभूयत एव । इहात्माश्रयः, परस्पराश्रय , अनवस्था वा न दोषः, यथा प्रमेयत्वाभिधेयत्वादिवृत्तौ, यथा च बीजाङ्कुरादिकार्यकारणभावे विरुद्धधर्मसमावेशे । सर्वथोपाधिभेद प्रत्याचक्षाणस्य चायमस्या. पुत्रः, अस्या पति , अस्या. पिता, अस्याश्श्वशुर इत्यादिव्यवस्थापि न सिद्धयेदिति कथं तत्र तत्र स्याद्वादे मातृत्वाद्युचितव्यवहारान् व्यवस्थयाऽनुतिष्ठेत् । तस्मात् सर्वबहिष्कार्योऽयमनेकान्तवादः ।"—श्रीकण्ठभा० टी० पृ० १०३ ।

कोई ठिकाना है! जैनोंके [illegible] ग्रन्थ इस स्याद्वाद और सप्तभङ्गीके विविध अपेक्षाओंसे भरे पड़े हैं और उसका वैज्ञानिक विवेचन भी वहीं मिलता है। फिर भी उन्हींके मत्थे ये सब दूषण मढ़े जा रहे हैं और यहाँ तक लिखा जा रहा है कि यह लोकविरोधी स्याद्वाद सर्वत बहिष्कार्य है! किमाश्चर्यमतः परम्!! इसकी लोकविरोधिता आदिकी सिद्धिके लिये इस 'स्याद्वाद और सप्तभङ्गी' प्रकरणमें पर्याप्त लिखा गया है।

श्रीरामानुजाचार्य और स्याद्वाद :

श्री रामानुजाचार्य भी स्याद्वादमें उसी तरह निरुपाधि या निरपेक्ष सत्त्वासत्त्वका आरोप करके विरोध दूषण देते हैं[1]। वे स्याद्वादियोंको समझानेका साहस करते हैं कि "आप लोग प्रकारभेदसे धर्मभेद मानिये।" मानो स्याद्वादी अपेक्षाभेदको नहीं समझते हों, या एक ही दृष्टिसे विभिन्न धर्मोंका सद्भाव मानते हों। अपेक्षाभेद, उपाधिभेद या प्रकारभेदके आविष्कारक आचार्योंको उन्हींका उपदेश देना कहाँ तक शोभा देता है? स्याद्वादका तो आधार ही यह है कि विभिन्न दृष्टिकोणोंसे अनेक धर्मोंको स्वीकार करना और कहना। सच पूछा जाय तो स्याद्वादका आश्रयण किये बिना ये विशिष्टाद्वैतताका निर्वाह नहीं कर सकते हैं।

श्रीवल्लभाचार्य और स्याद्वाद :

श्रीवल्लभाचार्य भी विवसन-समयमें प्राचीन परम्पराके अनुसार विरोध दूषण ही उपस्थित करते हैं[2]। वे कहना चाहते हैं कि "वस्तुतः विरुद्धधर्माश्रयत्व ब्रह्ममें ही प्रमाणसिद्ध हो सकता है।" 'स्यात्' शब्दका अर्थ उन्होंने '[illegible]' किया है। आश्चर्य तो यह है कि ब्रह्मको निर्विकार मानकर भी ये उसमें उभयरूपता वास्तविक मानना चाहते हैं और जिस स्याद्वादमें विरुद्ध धर्मोंकी वस्तुगत सापेक्ष स्थिति बनती है उसमें विरोध दूषण देते हैं! ब्रह्मको अविकारी मानकर भी ये उसका जगत्के रूपमें परिणमन कहते हैं। कुण्डल कटक आदि आकारोंमें परिवर्त

---

1. "[illegible] तद्विरोधप्रयुक्तमपि [illegible] प्रकारभेदात्तया पृथक् पदार्थत्वात् [illegible] ... सुगतमतवत् [illegible] ... न [illegible] प्रकारभेदेनाभ्युपगमे, [illegible] ... तेषाम्भा [illegible] न [illegible] ।"
—[illegible] पृ० [illegible] ।

2. [illegible] अनेकान्त [illegible] ... [illegible] । [illegible] —[illegible] २।२।३३ ।

होकर भी सुवर्णको अविकारी मानना इन्हीकी प्रमाणपद्धतिमे है। भला सुवर्ण जब पर्यायोको धारण करता है तब वह अविकारी कैसे रह सकता है ? पूर्वरूपका त्याग किये बिना उत्तरका उपादान कैसे हो सकता है ? 'ब्रह्मको जब रमण करनेकी इच्छा होती है तब वे अपने आनन्द आदि गुणोका तिरोभाव करके जीवादिरूपसे परिणत होते है।' यह आविर्भाव और तिरोभाव भी पूर्वरूपका त्याग और उत्तरके उपादानका ही विवेचन है। अत. इनका स्याद्वादमे दूषण देना भी अनुचित है।

श्रीनिम्बार्काचार्य और अनेकान्तवाद :

ब्रह्मसूत्रके भाष्यकारोमें निम्बार्काचार्य स्वभावत भेदाभेदवादी है। वे स्वरूपसे चित्, अचित् और ब्रह्मपदार्थमें द्वैतश्रुतियोके आधारसे भेद मानते है। किन्तु चित्, अचित्की स्थिति और प्रवृत्ति ब्रह्माधीन ही होनेसे वे ब्रह्मसे अभिन्न है। जैसे पत्र, पुष्पादि स्वरूपसे भिन्न होकर भी वृक्षसे पृथक् प्रवृत्त्यादि नही करते, अत वृक्षसे अभिन्न है, उसी तरह जगत् और ब्रह्मका भेदाभेद स्वाभाविक है, यही श्रुति, स्मृति और सूत्रसे समर्थित होता है। इस तरह ये स्वाभाविक भेदाभेदवादी होकर भी जैनोके अनेकान्तमे सत्त्व और असत्त्व दो धर्मोको विरोधदोषके भयसे नही मानना चाहते[1], यह बड़े आश्चर्यकी बात है। जब इसके टीकाकार श्रीनिवासाचार्यसे प्रश्न किया गया[2] कि 'आप भी तो ब्रह्ममे भेदाभेद मानते हो, उसमें विरोध क्यो नही आता ? तो वे बडी श्रद्धासे उत्तर देते है कि 'हमारा मानना युक्तिसे नही है, किन्तु ब्रह्मके भेदाभेदका निर्णय श्रुतिमे ही हो जाता है।' यानी श्रुतिसे यदि भेदाभेदका प्रतिपादन होता है, तो ये माननेको तैयार है, पर यदि वही बात कोई युक्तिसे सिद्ध करता है, तो उसमे इन्हें विरोधकी गन्ध आती है। पदार्थके स्वरूपके निर्णयमें लाघव और गौरवका प्रश्न उठाना अनुचित है, जैसे कि एक ब्रह्मको कारण माननेमे लाघव है और अनेक परमाणुओको कारण माननेमे गौरव। वस्तुकी व्यवस्था प्रतीतिसे की जानी चाहिये। 'अनेक समान स्वभाववाले

---

१ "जैना वस्तुमात्रम् अस्तित्व-नास्तित्वादिना विरुद्धधर्मद्वय योजयन्ति, तन्नोपपद्यते, एकस्मिन् वस्तुनि सत्त्वासत्त्वादेर्विरुद्धधर्मस्य छायातपवत् युगपदसभवात् ”
—ब्रह्मसू० नि० भा० २।२।३३।

२ "ननु भवन्मतेऽपि एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मद्वयाङ्गीकारोऽस्ति, तथा सर्वं खल्विद ब्रह्म इत्यादिषु एकत्व प्रतिपाद्यते। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश द्वासुपर्णा इत्यादावनेकत्वञ्च प्रतिपाद्यते, इति चेत्, न, अस्यार्थस्य युक्तिमूलत्वाभावात्, श्रुतिभिरेव परस्पराविरोधेन यथार्थं निर्णीतत्वात् इत्थ जगद्ब्रह्मणोर्भेदाभेदौ स्वाभाविकौ श्रुतिस्मृतिसूत्रसाधितौ भवत., कोऽत्र विरोध.।"—निम्बार्कभा० टी० २.२।३३।

सिद्धोको स्वतन्त्र माननेमें गौरव है और एक सिद्ध मानकर उसीकी उपासना करनेमें लाघव है' यह कुतर्क भी इसी प्रकारका है, क्योकि वस्तुस्वरूपका निर्णय सुविधा और असुविधाकी दृष्टिसे नही होता। फिर जैनमतमें उपासनाका प्रयोजन सिद्धोको खुश करना नही है, वे तो वीतराग सिद्ध है, उनका प्रसाद उपासनाका साध्य नही है, किन्तु प्रारम्भिक अवस्थामें चित्तमें आत्माके शुद्धतम आदर्श रूपका आलम्बन लेकर उपासनाविधि प्रारम्भ की जाती है, जो आगेकी ध्यानादि अवस्थाओमे अपने आप छूट जाती है।

भेदाभेद-विचार :

'अनेक दृष्टियोसे वस्तुस्वरूपका विचार करना' यह अनेकान्तका सामान्य स्वरूप है। भ० महावीर और बुद्धके समयमें ही नही, किन्तु उससे पहले भी वस्तुस्वरूपको अनेक दृष्टियोंसे वर्णन करनेकी परम्परा थी। ऋग्वेदका 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' (२।३।२३,४६) यह वाक्य इसी अभिप्रायको सूचित करता है। बुद्ध विभज्यवादी थे। वे प्रश्नोका उत्तर एकाशमे 'हाँ' या 'ना' में न देकर अनेकाशिक रूपसे देते थे। जिन प्रश्नोको उनने अव्याकृत कहा है उन्हें अनेकाशिक[1] भी कहा है। जो व्याकरणीय है, उन्हे 'एकाशिक—अर्थात् सुनिश्चितरूपसे जिनका उत्तर हो सकता है', कहा है, जैसे दु ख आर्यसत्य है ही। बुद्धने प्रश्नव्याकरण चार प्रकारका बताया है—(दीघनि० ३३ संगीतिपरियाय) एकाशव्याकरण, प्रतिपृच्छा व्याकरणीय प्रश्न, विभज्य व्याकरणीय प्रश्न और स्थापनीय प्रश्न। इन चार प्रश्नव्याकरणोमें विभज्यव्याकरणीय प्रश्नमे एक ही वस्तुका विभाग करके उसका अनेक दृष्टियोसे वर्णन किया जाता है।

बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें (१।४।२०–२१) आचार्य आश्मरथ्य और औडुलोमिका मत आता है। ये भेदाभेदवादी थे, ब्रह्म तथा जीवमें भेदाभेदका समर्थन करते थे। शकराचार्यने बृहदारण्यकभाष्य (२।३।६) में भेदाभेदवादी भर्तृप्रपञ्चके मतका खडन किया है। ये ब्रह्म और जगत्मे वास्तविक एकत्व और नानात्व मानते थे। शकराचार्यके बाद भास्कराचार्य तो भेदाभेदवादीके रूपमें प्रसिद्ध ही है।

साख्य प्रकृतिको परिणामी नित्य मानते है। वह कारणरूपसे एक होकर भी अपने विकारोंकी दृष्टिसे अनेक है, नित्य होकर भी अनित्य है।

---

१. "कतमे च पोट्ठपाद मया अनेकसिका धम्मा देसिता पञ्ञत्ता ? सस्सता लोको ति वा पोट्ठपाद मया अनेकसिको धम्मो देसितो पञ्ञत्तो। असस्सतो लोकोत्ति खो पोट्ठपाद मया अनेकंसिको · "—दीघनि० पोट्ठपादसुत्त।

योगशास्त्रमें इसी तरह परिणामवादका[1] समर्थन है। परिणामका लक्षण भी योगभाष्य (३।१३) में अनेकान्तरूपसे ही किया है। यथा—'अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्ति परिणामः।' अर्थात् स्थिरद्रव्यके पूर्वधर्मकी निवृत्ति होनेपर नूतन धर्मकी उत्पत्ति होना परिणाम है।

भट्ट कुमारिल तो आत्मवाद[2] (श्लो० २८) में आत्माका व्यावृत्ति और अनुगम उभय रूपसे समर्थन करते हैं। वे लिखते है कि 'यदि आत्माका अत्यन्त नाश माना जाता है तो कृतनाश और अकृतागम दूषण आता है और यदि उसे एकरूप माना जाता है तो सुख-दुःख आदिका उपभोग नही बन सकता। अवस्थाएँ स्वरूपसे परस्पर विरोधी है, फिर भी उनमें एक सामान्य अविरोधी रूप भी है। इस तरह आत्मा उभयात्मक है।" (आत्मवाद श्लो० २३-३०)।

आचार्य हेमचन्द्रने वीतरागस्तोत्र (८।८-१०) में बहुत सुन्दर लिखा है कि—

"विज्ञानस्यैकमाकारं नानाकारकरम्बितम्।
इच्छंस्तथागत. प्राज्ञो नानेकान्तं प्रतिक्षिपेत् ॥८॥"

अर्थात् एक ज्ञानको अनेकाकार माननेवाले समझदार बौद्धोको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नही करना चाहिये।

चित्रमेकमनेक च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥९॥"

अर्थात् अनेक आकारवाले एक चित्ररूपको माननेवाले नैयायिक और वैशेपिकको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नही करना चाहिये।

"इच्छन् प्रधान सत्त्वाद्यैर्विरुद्धैर्गुम्फितं गुणैः।
सांख्यः संख्यावतां मुख्यो नानेकान्त प्रतिक्षिपेत् ॥१०॥"

अर्थात् एक प्रधान (प्रकृति) को सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोवाली माननेवाले समझदार सांख्यको अनेकान्तका प्रतिक्षेप नही करना चाहिये।

इस तरह सामान्यरूपसे ब्राह्मणपरम्परा, सांख्य-योग और बौद्धोमें भी अनेक दृष्टिसे वस्तुविचारकी परम्परा होने पर भी क्या कारण है जो अनेकान्तवादीके रूपमें जैनोका ही उल्लेख विशेष रूपसे हुआ है और वे ही इस शब्दके द्वारा पहिचाने जाते हैं?

---

१ "द्वयी चेयं नित्यता—कूटस्थनित्यता, परिणामिनित्यता च। तत्र कूटस्थनित्यता पुरुषस्य, परिणामिनित्यता गुणानाम्।"—योगद० व्यासभा० १।४।३३।

२ तस्मादुभयहानेन व्यावृत्त्यनुगमात्मक।
पुरुषोऽभ्युपगन्तव्य. कुण्डलादिषु सर्पवत् ॥१८॥"—मी० श्लो०।

इसका खास कारण है कि 'वेदान्त परम्परामे जो भेदका उल्लेख हुआ है, वह औपचारिक या उपाधिनिमित्तक है। भेद होने पर भी वे ब्रह्मको निर्विकार ही कहना चाहते हैं। साख्यके परिणामवादमें वह परिणाम अवस्था या धर्म तक ही सीमित है, प्रकृति तो नित्य बनी रहती है। कुमारिल भेदाभेदात्मक कहकर भी द्रव्यकी नित्यताको छोडना नही चाहते, वे आत्मामे भले ही इस प्रक्रियाको लगा गये है, पर शब्दके नित्यत्वके प्रसगमें तो उनने उसकी एकान्त-नित्यताका ही समर्थन किया है। अत अन्य मतोमें जो अनेकान्तदृष्टिका कही-कही अवसर पाकर उल्लेख हुआ है उसके पीछे तात्त्विकनिष्ठा नही है। पर जैन तत्त्वज्ञानकी तो यह आधार-शिला है और प्रत्येक पदार्थके प्रत्येक स्वरूपके विवेचनमे इसका निरपवाद उपयोग हुआ है। इनने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनोको समानरूपसे वास्तविक माना है। इनका अनित्यत्व केवल पर्याय तक ही सीमित नही है किन्तु उससे अभिन्न द्रव्य भी स्वय तद्रूपसे परिणत होता है। पर्यायोको छोडकर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नही है। 'स्याद्वाद और अनेकान्तदृष्टिका कहाँ कैसे उपयोग करना' इसी विषय पर जैनदर्शनमे अनेको ग्रन्थ बने है और उसकी सुनिश्चित वैज्ञानिक पद्धति स्थिर की गई है, जब कि अन्य मतोमें इसका केवल सामयिक उपयोग ही हुआ है। बल्कि इस गठबंधनसे जैनदृष्टिका विपर्यास ही हुआ है और उसके खंडनमें उसके स्वरूपको अन्य मतोके स्वरूपके साथ मिलाकर एक अजीब गुटाला हो गया है।

[1]बौद्ध ग्रन्थोमें भेदाभेदात्मकताके खडनके प्रसगमें जैन और जैमिनिका एक साथ उल्लेख है तथा विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलका एक ही रूपमें निर्देश हुआ है। जैन और जैमिनिका अभाव पदार्थके विषयमे दृष्टिकोण मिलता है, क्योकि कुमारिल भी भावान्तररूप ही अभाव मानते हैं, पर इतने मात्रसे अनेकान्तकी विरासतको सार्वत्रिक निर्वाह करने वालोमें उनका नाम नही लिखा जा सकता।

साख्यकी प्रकृति तो एक और नित्य बनी रहती है और परिणमन महदादि विकारो तक सीमित है। इसलिये धर्मकीर्तिका दही और ऊँटमें एक प्रकृतिकी दृष्टिसे अभेदप्रसगका दूषण जम जाता है, परन्तु यह दूषण अनेकद्रव्यवादी जैनोपर लागू नही होता। किन्तु दूषण देनेवाले इतना विवेक तो नही करते, वे तो सरसरी तौरसे परमतको उखाडनेकी धुनमे एक ही झपट्टा मारते है।

---

१ तेन यदुक्त जैनजैमिनीयै —सर्वात्मकत्मेक स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।"

—प्रमाणवा० स्वबृ० टी० पृ० १४३।

"को नामातिशय· प्रोक्त विप्रनिर्ग्रन्थकापिलै।" —तत्त्वस० श्लो० १७७६।

तत्त्वसंग्रहकारने जो विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलोंको एक ही साथ खदेड़ दिया है, वह भी इस अंशमें कि कल्पनारचित विचित्र धर्म तीनो स्वीकार करते हैं। किन्तु निर्ग्रन्थपरम्परामे धर्मोकी स्थिति तो स्वाभाविक है, उनका व्यवहार केवल परापेक्ष होता है। जैसे एक ही पुरुषमे पितृत्व और पुत्रत्व धर्म स्वाभाविक है, किन्तु पितृव्यवहार अपने पुत्रकी अपेक्षा होता है तथा पुत्रव्यवहार अपने पिताकी दृष्टिसे। एक ही धर्ममें विभिन्न अपेक्षाओंसे दो विरुद्ध व्यवहार किये जा सकते हैं।

इसी तरह वेदान्तके आचार्योंने जैनतत्त्वका विपर्यास करके यह मान लिया कि जैनका द्रव्य नित्य (कूटस्थनित्य) बना रहता है, केवल पर्यायें अनित्य होती हैं, और फिर विरोधका दूषण दे दिया है। सत्त्व और असत्त्व को या तो अपेक्षाभेदके बिना माने हुए आरोपित कर, दूषण दिये गये हैं या फिर सामान्यतया विरोधका खड्ग चला दिया गया है। वेदान्त भाष्योंमें एक 'नित्य सिद्ध' जीव भी मानकर दूषण दिये हैं। जब कि जैनधर्म किसी भी आत्माको नित्यसिद्ध नही मानता। सब आत्माएँ बन्धनोको काटकर ही सादिमुक्त हुए हैं और होंगे।

संशयादि दूषणोका उद्धार :

उपर्युक्त विवेचनसे ज्ञात हो गया होगा कि स्याद्वादमे मुख्यतया विरोध और संशय ये दो दूषण ही दिये गये हैं। तत्त्वसंग्रहमें संकर तथा श्रीकंठभाष्यमें अनवस्था दूषणका भी निर्देश है। परन्तु आठ दूषण एक ही साथ किसी ग्रन्थमें देखनेको नहीं मिले। धर्मकीर्ति आदिने विरोध ही मुख्यरूपसे दिया है। वस्तुत. देखा जाय तो विरोध ही समस्त दूषणोका आधार है।

जैन ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम अकलंकदेवने संशय, विरोध, वैयधिकरण्य, संकर, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति और अभाव इन आठ दूषणोका परिहार प्रमाण-संग्रह (पृ० १०३) और अष्टशती (अष्टसह० पृ० २०६) में किया है। विरोध दूषण तो अनुपलम्भके द्वारा सिद्ध होता है। जब एक ही वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूपसे तथा सदसदात्मक रूपसे प्रतीतिका विषय है तब विरोध नही कहा जा सकता। जैसे मेचकरत्न एक होकर भी अनेक रङ्गोको युगपत् धारण करता है उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी अनेक धर्मोको धारण कर सकती है। जैसे पृथिवीत्वादि अपरसामान्य स्वव्यक्तियोंमें अनुगत होनेके कारण सामान्यरूप होकर भी जलादिसे व्यावर्तक होनेसे विशेष भी हैं, उसी तरह प्रत्येक वस्तु विरोधी दो धर्मोंका स्वभावत आधार रहती है। जिस प्रकार एक ही वृक्ष एक शाखामें चलात्मक तथा दूसरी शाखामे अचलात्मक होता है, एक ही घडा मुँहपर लाल-रङ्गका तथा पेटमे काले रङ्गका होता है, एक प्रदेशमें आवृत तथा दूसरे प्रदेशमें

अनावृत, एक देशसे नष्ट तथा दूसरे देशसे अनष्ट रह सकता है, उसी तरह प्रत्येक वस्तु उभयात्मक होती है। इसमें विरोधको कोई अवकाश नहीं है। यदि एक ही दृष्टिसे विरोधी दो धर्म माने जाते, तो विरोध होता।

जब दोनों धर्मोंकी अपने दृष्टिकोणोंसे सर्वथा निश्चित प्रतीति होती है, तब संशय कैसे कहा जा सकता है? संशयका आकार तो होता है—'वस्तु है या नहीं?' परन्तु स्याद्वादमें तो दृढ निश्चय होता है 'वस्तु स्वरूपसे है ही, पररूपसे नहीं ही है।' समग्र वस्तु उभयात्मक है ही। चलित प्रतीतिको संशय कहते हैं, उसकी दृढ निश्चयमें सम्भावना नहीं की जा सकती।

संकर दूषण तो तब होता, जब जिस दृष्टिकोणसे स्थिति मानी जाती है उसी दृष्टिकोणसे उत्पाद और व्यय भी माने जाते। दोनोंकी अपेक्षाएँ जुदी-जुदी है। वस्तुमें दो धर्मोंकी तो बात ही क्या है, अनन्त धर्मोंका संकर हो रहा है; क्योंकि किसी भी धर्मका जुदा-जुदा प्रदेश नहीं है। एक ही अखंड वस्तु सभी धर्मोंका अविभक्त आम्रेडित आधार है। सबकी एक ही दृष्टिसे युगपत् प्राप्ति होती, तो संकर दूषण होता, पर यहाँ अपेक्षाभेद, दृष्टिभेद और विवक्षाभेद सुनिश्चित है।

व्यतिकर परस्पर विषयगमनसे होता है। यानी जिस तरह वस्तु द्रव्यकी दृष्टिसे नित्य है तो उसका पर्यायकी दृष्टिसे भी नित्य मान लेना या पर्यायकी दृष्टिसे अनित्य है तो द्रव्यकी दृष्टिसे भी अनित्य मानना। परन्तु जब अपेक्षाएँ निश्चित है, धर्मोंमें भेद है, तब इस प्रकारके परस्पर विषयगमनका प्रश्न ही नहीं है। अखंड धर्मीकी दृष्टिसे तो संकर और व्यतिकर दूषण नहीं, भूषण ही है।

इसीलिये वैयधिकरण्यकी बात भी नहीं है, क्योंकि सभी धर्म एक ही आधारमें प्रतीत होते है। वे एक आधारमें होनेसे ही एक नहीं हो सकते, क्योंकि एक ही आकाशप्रदेशरूप आधारमें जीव, पुद्गल आदि छहों द्रव्योंकी सत्ता पाई जाती है, पर सब एक नहीं है।

धर्ममें अन्य धर्म नहीं माने जाते, अतः अनवस्थाका प्रसंग भी व्यर्थ है। वस्तु त्रयात्मक है न कि उत्पादत्रयात्मक या व्ययत्रयात्मक या स्थितित्रयात्मक। यदि धर्मोंमें धर्म लगते तो अनवस्था होती।

इस तरह धर्मोंको एकरूप माननेसे एकान्तत्वका प्रसंग नहीं उठना चाहिये, क्योंकि वस्तु अनेकान्तरूप है, और सम्यगेकान्तका अनेकान्तसे कोई विरोध नहीं है। जिस समय उत्पादको उत्पादरूपसे अस्ति और व्ययरूपसे नास्ति कहेंगे उस समय उत्पाद धर्म न रहकर धर्मी बन जायगा। धर्म-धर्मिभाव सापेक्ष है। जो

अपने आधारभूत धर्मोंकी अपेक्षा धर्म होता है वही अपने आधेयभूत धर्मोंकी अपेक्षा धर्मी बन जाता है।

जब वस्तु उपर्युक्त रूपसे लोकव्यवहार तथा प्रमाणसे निर्बाध प्रतीतिका विषय हो रही है तब उसे अनवधारणात्मक, अव्यवस्थित या अप्रतीत कहना भी साहसकी ही बात है। और जब प्रतीत है तब अभाव तो हो ही नही सकता।

इस तरह इन आठ दोषोका परिहार अकलक, हरिभद्र, सिहगणिक्षमाश्रमण आदि सभी आचार्योने व्यवस्थित रूपसे किया है। वस्तुत- विना समझे ऐसे दूषण देकर जैन तत्त्वज्ञानके साथ विशेषत स्याद्वाद और सप्तभंगीके स्वरूपके साथ बडा अन्याय हुआ है।

भ० महावीर अपनेमे अनन्तधर्मा वस्तुके सम्बन्धमें व्यवस्थित और पूर्ण निश्चयवादी थे। उनने न केवल वस्तुका अनेकान्तस्वरूप ही वताया किन्तु उसके जानने देखनेके उपाय—नयदृष्टियाँ और उसके प्रतिपादनका प्रकार (स्याद्वाद) भी वताया। यही कारण है कि जैनदर्शन ग्रन्थोमे उपेयतत्त्वके स्वरूपनिरूपणके साथ-ही-साथ उपायतत्त्वका भी उतना ही विस्तृत और साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। अत. स्याद्वाद न तो सशयवाद है, न कदाचित्वाद, न किंचित्वाद, न संभव-वाद और न अभीष्टवाद, किन्तु खरा अपेक्षाप्रयुक्त निश्चयवाद है। इसे संस्कृतमें 'कथञ्चित्वाद' शब्दसे कहा है, जो एक सुनिश्चित दृष्टिकोणका प्रतीक है। यह सजयके अज्ञान या विक्षेपवादसे तो हर्गिज नही निकला है, किन्तु संजयको जिन बातोका अज्ञान था और बुद्ध जिन प्रश्नोको अव्याकृत कहते थे, उन सबका सुनिश्चित दृष्टिकोणोसे निश्चय करनेवाला अपेक्षावाद है।

समन्वयकी पुकार :

आज भारतरत्न डॉ० भगवान्दासजी जैसे मनीषी समन्वयकी आवाज बुलन्द कर रहे है। उनने अपने 'दर्शनका प्रयोजन', 'समन्वय' आदि ग्रन्थोमें इस समन्वय-तत्त्वकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। किन्तु वस्तुको अनन्तधर्मा माने विना तथा स्याद्वाद-पद्धतिसे उसका विचार किये विना समन्वयके सही स्वरूपको नही पाया जा सकता।

जैन दर्शनकी भारतीय संस्कृतिको यही परम देन है जो इसने वस्तुके विराट् स्वरूपको सापेक्ष दृष्टिकोणसे देखना सिखाया। जैनाचार्योने इस समन्वय-पद्धतिपर ही संख्यावद्ध ग्रन्थ लिखे है। आशा है इस अहिंसाधार और मानस अहिंसाके अमृतमय प्राणभूत स्याद्वादका जीवनको सवादी बनानेमें यथोचित उपयोग किया जायगा।

११. जैनदर्शन और विश्वशान्ति

विश्वशान्तिके लिये जिन विचारसहिष्णुता, समझौतेकी भावना, वर्ण, जाति रंग और देश आदिके भेदके बिना सबके समानाधिकारकी स्वीकृति, व्यक्तिस्वातन्त्र्य और दूसरेके आन्तरिक मामलोंमें हस्तक्षेप न करना आदि मूलभूत आधारोंकी अपेक्षा है उन्हें दार्शनिक भूमिकापर प्रस्तुत करनेका कार्य जैनदर्शनने बहुत पहलेसे किया है। उसने अपनी अनेकान्तदृष्टिसे विचारनेकी दिशामें उदारता, व्यापकता और सहिष्णुताका ऐसा पल्लवन किया है, जिससे व्यक्ति दूसरेके दृष्टिकोणको भी वास्तविक और तथ्यपूर्ण मान सकता है। इसका स्वाभाविक फल है कि समझौतेकी भावना उत्पन्न होती है। जब तक हम अपने ही विचार और दृष्टिकोणको वास्तविक और तथ्य मानते हैं तब तक दूसरेके प्रति आदर और प्रामाणिकताका भाव ही नहीं हो पाता। अत. अनेकान्तदृष्टि दूसरोंके दृष्टिकोणके प्रति सहिष्णुता, वास्तविकता और समादरका भाव उत्पन्न करती है।

जैनदर्शन अनन्त आत्मवादी है। वह प्रत्येक आत्माको मूलमें समानस्वभाव और समानधर्मवाला मानता है। उनमें जन्मना किसी जातिभेद या अधिकारभेदको नही मानता। वह अनन्त जड़पदार्थोंका भी स्वतन्त्र अस्तित्व मानता है। इस दर्शनने वास्तवबहुत्वको मानकर व्यक्तिस्वातन्त्र्यकी साधार स्वीकृति दी है। वह एक द्रव्यके परिणमनपर दूसरे द्रव्यका अधिकार नहीं मानता। अतः किसी भी प्राणीके द्वारा दूसरे प्राणीका शोषण, निर्दलन या स्वायत्तीकरण ही अन्याय है। किसी चेतनका अन्य जड़पदार्थोंको अपने अधीन करनेकी चेष्टा करना भी अनधिकार चेष्टा है। इसी तरह किसी देश या राष्ट्रका दूसरे देश या राष्ट्रको अपने आधीन करना, उसे अपना उपनिवेश बनाना ही मूलतः अनधिकार चेष्टा है, अतएव हिंसा और अन्याय है।

वास्तविक स्थिति ऐसी होनेपर भी जब आत्माका शरीरसंधारण और समाज-निर्माण जड़पदार्थोंके बिना संभव नहीं है; तब यह सोचना आवश्यक हो जाता है कि आखिर शरीरयात्रा, समाजनिर्माण और राष्ट्रसंरक्षा आदि कैसे किये जाँय? जब अनिवार्य स्थितिमें जड़पदार्थोंका संग्रह और उनका यथोचित विनियोग आवश्यक हो गया, तब यह उन सभी आत्माओंको ही समान भूमिका और समान अधिकार-की चादरपर बैठकर सोचना चाहिये कि 'जगत्के उपलब्ध साधनोंका कैसे विनियोग

हो ?' जिससे प्रत्येक आत्माका अधिकार सुरक्षित रहे और ऐसी समाजका निर्माण सभव हो सके, जिसमे सबको समान अवसर और सबकी समानरूपसे प्रारम्भिक आवश्यकताओकी पूर्ति हो सके। यह व्यवस्था ईश्वरनिर्मित होकर या जन्मजात वर्गसंरक्षणके आधारसे कभी नही जम सकती, किन्तु उन सभी समाजके घटक अंगोकी जाति, वर्ण, रग और देश आदिके भेदके विना निरुपाधि समानस्थितिके आधारसे ही वन सकती है। समाजव्यवस्था ऊपरसे बदलनी नही चाहिये, किन्तु उसका विकास सहयोगपद्धतिसे सामाजिक भावनाकी भूमिपर होना चाहिये, तभी सर्वोदयी समाज-रचना हो सकती है। जैनदर्शनने व्यक्तिस्वातन्त्र्यको मूलरूपमें मानकर सहयोगमूलक समाजरचनाका दार्शनिक आधार प्रस्तुत किया है। इसमें जव प्रत्येक व्यक्ति परिग्रहके सग्रहको अनधिकारवृत्ति मानकर ही अनिवार्य या अत्यावश्यक साधनोके सग्रहमें प्रवृत्ति करेगा, सो भी समाजके घटक अन्य व्यक्तियोको समानाधिकारी समझकर उनकी भी सुविधाका विचार करके ही, तभी सर्वोदयी समाजका स्वस्थ निर्माण संभव हो सकेगा।

निहित स्वार्थवाले व्यक्तियोने जाति, वश और रग आदिके नामपर जो अधिकारोका संरक्षण ले रखा है तथा जिन व्यवस्थाओने वर्गविशेषको संरक्षण दिये है, वे मूलत. अनधिकार चेष्टाएँ है। उन्हे मानवहित और नवसमाजरचनाके लिये स्वय समाप्त होना ही चाहिये और समान अवसरवाली परम्पराका सर्वाभ्युदयकी दृष्टिसे विकास होना चाहिये।

इस तरह अनेकान्तदृष्टिसे विचारसहिष्णुता और परसन्मानकी वृत्ति जग जाने पर मन दूसरेके स्वार्थको अपना स्वार्थ माननेकी ओर प्रवृत्त होकर समझौतेकी ओर सदा झुकने लगता है। जब उसके स्वाधिकारके साथ-ही-साथ स्वकर्त्तव्यका भी भाव उदित होता है, तब वह दूसरेके आन्तरिक मामलोमे जवरदस्ती टाँग नही अडाता। इस तरह विश्वशान्तिके लिये अपेक्षित विचारसहिष्णुता, समानाधिकार-की स्वीकृति और आन्तरिक मामलोमे अहस्तक्षेप आदि सभी आधार एक व्यक्ति-स्वातन्त्र्यके मान लेने से ही प्रस्तुत हो जाते है। और जव तक इन सर्वसमतामूलक अहिंसक आधारोपर समाजरचनाका प्रयत्न न होगा, तब तक विश्वशान्ति स्थापित नही हो सकती। आज मानवका दृष्टिकोण इतना विस्तृत, उदार और व्यापक हो गया है जो वह विश्वशान्तिकी वात सोचने लगा है। जिस दिन व्यक्तिस्वातन्त्र्य और समानाधिकारकी बिना किसी विशेषसरक्षणके सर्वसामान्यप्रतिष्ठा होगा, वह दिन मानवताके मगलप्रभातका पुण्यक्षण होगा। जैनदर्शनने इन आधारोको सैद्धान्तिक रूप देकर मानवकल्याण और जीवनकी मगलमय निर्वाहपद्धतिके

विकासमें अपना पूरा भाग अर्पित किया है। और कभी भी स्थायी विश्वशान्ति यदि संभव होगी, तो इन्हीं मूल आधारों पर ही वह प्रतिष्ठित हो सकती है।

भारत राष्ट्रके प्राण पं० जवाहरलाल नेहरूने विश्वशान्तिके लिये जिन पंचशील या पंचशिलाओंका उद्घोष किया है और बाडुङ्ग सम्मेलनमें जिन्हें सर्वमतिसे स्वीकृति मिली, उन पंचशीलोंकी बुनियाद अनेकान्तदृष्टि—समझौतेकी वृत्ति, सहअस्तित्वकी भावना, समन्वयके प्रति निष्ठा और वर्ण, जाति, रंग आदिके भेदोंसे ऊपर उठकर मानवमात्रके सम-अभ्युदयकी कामनापर ही तो रखी गई है। और इन सबके पीछे है मानवका सन्मान और अहिंसामूलक आत्मौपम्यकी हार्दिक श्रद्धा। आज नवोदित भारतकी इस सर्वोदयी परराष्ट्रनीतिने विश्वको हिंसा, संघर्ष और युद्धके दावानलसे मोड़कर सहअस्तित्व, भाईचारा और समझौतेकी सद्भावनारूप अहिंसाकी शीतल छायामें लाकर खड़ा कर दिया है। वह सोचने लगा है कि प्रत्येक राष्ट्रको अपनी जगह जीवित रहनेका अधिकार है, उसका स्वास्तित्व है, परके शोषणका या उसे गुलाम बनानेका कोई अधिकार नहीं है, परमें उसका अस्तित्व नहीं है। यह परके मामलेमें अहस्तक्षेप और स्वास्तित्वकी स्वीकृति ही विश्वशान्तिका मूलमन्त्र है। यह सिद्ध हो सकती है—अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और जीवनमें भौतिक साधनोंकी अपेक्षा मानवके सन्मानके प्रति निष्ठा होनेसे। भारत राष्ट्रने तीर्थङ्कर महावीर और बोधिसत्त्व गौतमबुद्ध आदि सन्तोंकी अहिंसाको अपने संविधान और परराष्ट्रनीतिका आधार बनाकर विश्वको एक बार फिर भारतकी आध्यात्मिकताकी झाँकी दिखा दी है। आज उन तीर्थङ्करोंकी साधना और तपस्या सफल हुई है कि समस्त विश्व सह-अस्तित्व और समझौतेकी वृत्तिकी ओर झुककर अहिंसकभावनासे मानवताकी रक्षाके लिये सन्नद्ध हो गया है।

व्यक्तिकी मुक्ति, सर्वोदयी समाजका निर्माण और विश्वकी शान्तिके लिये जैनदर्शनके पुरस्कर्ताओंने यही निधियाँ भारतीयसंस्कृतिके आध्यात्मिक कोषागारमें आत्मोत्सर्ग और निर्ग्रन्थताकी तिल-तिल साधना करके संजोई हैं। आज वह धन्य हो गया कि उसकी उस अहिंसा, अनेकान्तदृष्टि और अपरिग्रहभावनाकी ज्योतिने विश्वका हिंसान्धकार समाप्त होता जा रहा है और सब सबके उदयमें अपना उदय मानने लगे हैं।

राष्ट्रपिता पूज्य बापूकी आत्मा इस अंशमें सन्तोषकी साँस ले रही होगी कि उनने अहिंसा संजीवनका व्यक्ति और समाजसे आगे राजनैतिक क्षेत्रमें उपयोग करनेका जो प्रशस्त मार्ग सुझाया था और जिसकी अटूट श्रद्धामें उनने अपने प्राणोंका उत्सर्ग किया, आज भारतने दृढ़तासे उसपर अपनी निष्ठा ही व्यक्त नहीं

की, किन्तु उसका प्रयोग नव एशियाके जागरण और विश्वशान्तिके क्षेत्रमें भी किया है। और भारतकी 'भा' इसीमें है कि वह अकेला भी इस आध्यात्मिक दीपको संजोता चले, उसे स्नेह दान देता हुआ उसीमें जलता चले और प्रकाशकी किरणें बखेरता चले। जीवनका सामंजस्य, नवसमाजनिर्माण और विश्वशान्तिके यही मूलमन्त्र हैं। इनका नाम लिये विना कोई विश्वशान्तिकी बात भी नहीं कर सकता।

●

१२. जैनदार्शनिक साहित्य

इस प्रकरणमें प्रमुख रूपसे उन प्राचीन जैनदार्शनिकों और मूल जैनदर्शन-ग्रन्थोंका नामोल्लेख किया जायगा, जिनके ग्रन्थ किसी भंडारमें उपलब्ध हैं तथा जिनके ग्रन्थ प्रकाशित हैं। उन ग्रन्थों और ग्रन्थकारोंका निर्देश भी यथासंभव करनेका प्रयत्न करेंगे, जिनके ग्रन्थ उपलब्ध तो नहीं है, परन्तु अन्य ग्रन्थोंमें जिनके उद्धरण पाये जाते हैं या निर्देश मिलते हैं। इसमें अनेक ग्रन्थकारोंके समयकी शताब्दी आनुमानिक है और उनके पौर्वापर्यमें कहीं व्यत्यय भी हो सकता है, पर यहाँ तो मात्र इस बात की चेष्टा की गई है कि उपलब्ध और सूचित प्राचीन मूल दार्शनिक साहित्यका सामान्य निर्देश अवश्य हो जाय।

इस पुस्तकके 'पृष्ठभूमि और सामान्यावलोकन' प्रकरणमें जैनदर्शनके मूल बीज जिन सिद्धान्त और आगम ग्रन्थोंमें मिलते हैं उनका सामान्य विवरण दिया जा चुका है, अतः यहाँ उनका निर्देश न करके उमास्वाति (गृद्धपिच्छ) के तत्त्वार्थ-सूत्रसे ही इस सूचीको प्रारम्भ कर रहे हैं।

दिगम्बर आचार्य[1]

उमास्वाति– (वि० १–३ री)	तत्त्वार्थसूत्र	प्रकाशित
समन्तभद्र (वि० २-३री)	आप्तमीमांसा	प्रकाशित
	युक्त्यनुशासन	,,
	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र	,,
	जीवसिद्धि	'पार्श्वनाथचरित' में वादिराज-द्वारा उल्लिखित
सिद्धसेन (वि० ४-५वीं)	सन्मतितर्क (कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ)	प्रकाशित ,,
देवनन्दि (वि० ६वीं)	सारसंग्रह	धवला-टीकामें उल्लिखित

१. श्रीवर्णीग्रन्थमाला, बनारस में संकलित ग्रन्थ-सूचीके आधारसे।

श्रीदत्त (वि० ६वी)	जल्पनिर्णय	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें विद्यानन्दद्वारा उल्लिखित ।
सुमति (वि० ६वी)	सन्मतितर्कटीका	पार्श्वनाथचरितमें वादिराज-द्वारा उल्लिखित
	सुमतिसप्तक	मल्लिषेण-प्रशस्तिमें निर्दिष्ट

[इन्हींका निर्देश शान्तरक्षितके तत्त्वसंग्रहमे 'सुमतेर्दिगम्बरस्य' के रूपमें है]

पात्रकेसरी (वि० ६वी)	त्रिलक्षणकदर्थन	अनन्तवीर्याचार्य द्वारा सिद्धि-विनिश्चय टीकामें उल्लिखित
	पात्रकेसरी-स्तोत्र	प्रकाशित

[इन्हींका मत शान्तरक्षितने तत्त्वसंग्रहमें 'पात्रस्वामि' के नामसे दिया है ।]

वादिसिंह (६-७वी)		वादिराजके पार्श्वनाथचरित और जिनसेनके महापुराणमें स्मृत
अकलंकदेव (वि० ७००)	लघीयस्त्रय (स्ववृत्तिसहित),	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	न्यायविनिश्चय (न्यायविनिश्चय-विवरणसे उद्धृत),	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	प्रमाणसंग्रह,	प्रकाशित (अकलङ्कग्रन्थत्रयमें)
	सिद्धिविनिश्चय (सिद्धिविनिश्चय-टीकासे उद्धृत),	प्रकाशित
	अष्टशती (आप्तमीमांसाकी टीका)	प्रकाशित
	प्रमाणलक्षण (?)	मैसूरकी लाइब्रेरी तथा कोचीनराज पुस्तकालय तिरु-पुणिट्ठणमें उपलब्ध
	तत्त्वार्थवार्तिक (तत्त्वार्थसूत्रकी टीका)	प्रकाशित

[जिनदासने निशीथचूर्णिमें इन्हींके सिद्धिविनिश्चयका उल्लेख दर्शन-प्रभावक शास्त्रोंमे किया है]

	नयविवरण (?) (त० श्लोकवा० का अंश)	प्रकाशित
अनन्तकीर्ति (१०वीं)	जीवसिद्धिटीका	वादिराजके पार्श्वनाथचरितमें उल्लिखित
	बृहत्सर्वज्ञसिद्धि	प्रकाशित
	लघुसर्वज्ञसिद्धि	"
देवसेन (९९० वि०)	नयचक्रप्राकृत	प्रकाशित
	आलापपद्धति	"
वसुनन्दि (१०वीं, ११वीं)	आप्तमीमांसावृत्ति	"
माणिक्यनन्दि (वि० ११वीं)	परीक्षामुख	"
सोमदेव (वि० ११वीं)	स्याद्वादोपनिषत्	दानपत्रमें उल्लिखित, जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८८
वादिराज सूरि (वि० ११वीं)	न्यायविनिश्चयविवरण	प्रकाशित
	प्रमाणनिर्णय	"
माइल्ल धवल (वि० ११वीं)	द्रव्यस्वभावप्रकाश प्राकृत	प्रकाशित
प्रभाचन्द्र (वि० ११-१२वीं)	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड (परीक्षामुख-टीका)	"
	न्यायकुमुदचन्द्र (लघीयस्त्रय-टीका),	"
	परमतझंझानिल	जैन गुरु चित्तापुर आरकाट नायके पास
अनन्तवीर्य (वि० १२वीं)	प्रमेयरत्नमाला (परीक्षामुख-टीका)	प्रकाशित
भावसेन त्रैविद्य (वि० १२-१३वीं)	विश्वतत्त्वप्रकाश	स्याद्वाद विद्यालय बनारस में उपलब्ध
लघुसमन्तभद्र (१३वीं)	अष्टसहस्री-टिप्पण	प्रकाशित

आशाधर (वि० १३वी)	प्रमेयरत्नाकर	आशाधर-प्रशस्तिमें उल्लिखित
शान्तिषेण (वि० १३वी)	प्रमेयरत्नाकर	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
जिनदेव	कारुण्यकालिका	न्यायदीपिकामें उल्लिखित
धर्मभूषण (वि० १५वी)	न्यायदीपिका	प्रकाशित
अजितसेन	न्यायमणिदीपिका (प्रमेयरत्नमाला-टीका)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
विमलदास	सप्तभङ्गितरङ्गिणी	प्रकाशित
शुभचन्द्र	संशयवदनविदारण	,,
	षड्दर्शनप्रमाणप्रमेय-संग्रह	प्रशस्तिसंग्रह, वीरसेवा-मन्दिर, दिल्ली
शुभचन्द्रदेव	परीक्षामुखवृत्ति	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
शान्तिवर्णी	प्रमेयकण्ठिका (परीक्षामुखवृत्ति)	जैन सिद्धान्त-भवन, आरामें उपलब्ध
चारुकीर्ति पंडिताचार्य	प्रमेयरत्नालङ्कार	,, ,,
नरेन्द्रसेन	प्रमाणप्रमेयकलिका	प्रकाशित
सुखप्रकाश मुनि	न्यायदीपावलि टीका	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमृतानन्द मुनि	न्यायदीपावलिविवेक	,, ,,
खण्डनाकन्द	तत्त्वदीपिका	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
जगन्नाथ (१७०३ वि०)	केवलिभुक्तिनिराकरण	जयपुर तेरापंथी मन्दिरमें उपलब्ध
वज्रनन्दि	प्रमाणग्रन्थ	धवलकविद्वारा उल्लिखित
प्रवरकीर्ति	तत्त्वनिश्चय	जैनमठ मूडबिद्रीमें उपलब्ध
अमरकीर्ति	समयपरीक्षा	हुम्मच गाणंगणि पुटप्पामें उपलब्ध
नेमिचन्द्र	प्रवचनपरीक्षा	जैन सिद्धान्त-भवन, आरा
मणिकण्ठ	न्यायरत्न	,,
शुभप्रकाश	न्यायमकरन्दविवेचन	,,
अज्ञातकर्तृक	षड्दर्शन	पद्मनाभशास्त्री मूडबिद्रीके पास उपलब्ध

अज्ञातकर्तृक	श्लोकवार्तिकटिप्पणी	जैनमठ श्रवणबेलगोलामें उपलब्ध
,,	षड्दर्शनप्रपञ्च	जैन भवन मूडबिद्रीमें उपलब्ध
,,	प्रमेयरत्नमालालघुवृत्ति	मद्रास सूची नं० १५७४
,,	अर्थव्यञ्जनपर्याय-विचार	,, ,, १५५७
,,	स्वमतस्थापन	जैनमठ मूडबिद्री
,,	सृष्टिवाद-परीक्षा	,, ,,
,,	सप्तभङ्गी	,, ,,
,,	षण्मततर्क	,, ,,
,,	शब्दखण्डव्याख्यान	,, ,,
,,	प्रमाणसिद्धि	,, ,,
,,	प्रमाणपदार्थ	,, ,,
,,	परमतखण्डन	,, ,,
,,	न्यायामृत	,, ,,
,,	नयसंग्रह	,, ,,
,,	नयलक्षण	,, ,,
,,	न्यायप्रमाणभेदी	जैन सिद्धान्त भवन आरा
,,	न्यायप्रदीपिका	,, ,,
,,	प्रमाणनयग्रन्थ	,, ,,
,,	प्रमाणलक्षण	,, ,,
,,	मतखंडनवाद	,, ,,
,,	विशेषवाद	बम्बई सूची नं० १६१२

श्वेताम्बर आचार्य[1]

उमास्वाति (वि० ३ री)	तत्त्वार्थसूत्र स्वोपज्ञ भाष्य	प्रकाशित
सिद्धसेन दिवाकर	न्यायावतार	प्रकाशित
(वि० ५-६वी)	कुछ द्वात्रिंशतिकाएँ	,,

१. "जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार' के आधारसे।

मल्लवादि (वि० ६वी)	नयचक्र (द्वादशार)	प्रकाशित
	सन्मतितर्कटीका	अनेकान्तजयपताकामें उल्लिखित
हरिभद्र (वि० ८वी)	अनेकान्तजयपताका सटीक,	प्रकाशित
	अनेकान्तवाद प्रवेश,	,,
	षड्दर्शनसमुच्चय,	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चय सटीक,	,,
हरिभद्र	न्यायप्रवेश-टीका,	,,
	धर्मसंग्रहणी,	प्रकाशित
	लोकतत्त्वनिर्णय,	,,
	अनेकान्त प्रघट्ट,	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार सूचीसे
	तत्त्वतरङ्गिणी,	,,
	त्रिभङ्गीसार,	,,
	न्यायावतारवृत्ति,	,,
	पञ्चलिङ्गी,	,,
	द्विजवदनचपेटा	,,
	परलोकसिद्धि	,,
	वेदवाह्यतानिराकरण	,,
	सर्वज्ञसिद्धि	,,
	स्याद्वादकुचोद्यपरिहार	,,
शाकटायन (पाल्यकीर्ति) (वि० ९वी) (यापनीय)	स्त्रीमुक्तिप्रकरण	जैन साहित्य संशोधकमें
	केवलभुक्तिप्रकरण	प्रकाशित
सिद्धर्षि (वि० १०वी)	न्यायावतार-टीका	प्रकाशित
अभयदेव सूरि (वि० ११वी)	सन्मतिटीका (वादमहार्णव)	प्रकाशित
जिनेश्वरसूरि (वि० ११वी)	प्रमालक्ष्म सटीक	प्रकाशित
	पञ्चलिङ्गीप्रकरण	,,

शान्तिसूरि (पूर्णतल्लगच्छीय) (वि० ११वी)	न्यायावतारवार्तिक सवृत्ति	प्रकाशित
मुनिचन्द्रसूरि (वि० २वी)	अनेकान्तजयपताका-वृत्तिटिप्पण	प्रकाशित
वादिदेवसूरि (१२वी सदी)	प्रमाणनयतत्त्वा-लोकालङ्कार	प्रकाशित
	स्याद्वादरत्नाकर	,,
हेमचन्द्र (पूर्णतल्लगच्छ) (वि० १२वी)	प्रमाणमीमांसा	प्रकाशित
	अन्ययोगव्यवच्छेदिका	,,
	वादानुशासन	(अनुपलब्ध)
	वेदांकुश	प्रकाशित
देवसूरि (वीरचन्द्रशिष्य) (वि० ११६२)	जीवानुशासन	प्रकाशित
श्रीचन्द्रसूरि (वि० १२वी)	न्यायप्रवेशहरिभद्र-वृत्तिपञ्जिका	प्रकाशित
देवभद्रसूरि (मलधारि श्रीचन्द्र शिष्य) (त्रि० १२वी)	न्यायावतारटिप्पण	,,
मलयगिरि (वि० १३)	धर्मसंग्रहणीटीका	प्रकाशित
चन्द्रसेन (प्रद्युम्नसूरि शिष्य) (वि० १३वी)	उत्पादादिसिद्धि सटीक	,,
आनन्दसूरि अमरसूरि (सिंहव्याघ्रशिशुक)	सिद्धान्तार्णव	अनुपलब्ध
रामचन्द्रसूरि (हेमचन्द्र शिष्य) (१३ वी)	व्यतिरेकद्वात्रिंशिका	प्रकाशित

मल्लवादि (१३ वी)	धर्मोत्तरटिप्पणक	पं० दलसुखभाईके पास
प्रद्युम्नसूरि (१३ वी)	वादस्थल	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
जिनपतिसूरि (१३ वी)	प्रबोधवादस्थल	,, ,,
रत्नप्रभसूरि (१३ वी)	स्याद्वादरत्नाकरावतारिका	प्रकाशित
देवभद्र (१३ वी)	प्रमाणप्रकाश	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
नरचन्द्रसूरि (देवप्रभ शिष्य) (१३ वी)	न्यायकन्दलीटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
अभयतिलक (१४ वी)	पञ्चप्रस्थन्यायतर्कव्याख्या	,, ,,
	तर्कन्यायसूत्रटीका	,, ,,
	न्यायालंकारवृत्ति	,, ,,
मल्लिषेण (१४ वी)	स्याद्वादमञ्जरी	प्रकाशित
सोमतिलक (वि० १३९२)	षड्दर्शनटीका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
राजशेखर (१५ वी)	स्याद्वादकलिका	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	रत्नाकरावतारिका पञ्जिका	प्रकाशित
	षड्दर्शन समुच्चय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
	न्यायकन्दलीपञ्जिका	
ज्ञानचन्द्र (१५ वी)	रत्नाकरावतारिकाटिप्पण	प्रकाशित
जयसिंहसूरि (१५ वीं)	न्यायसारदीपिका	प्रकाशित

मेरुतुङ्ग (महेन्द्रसूरि शिष्य) (१५ वी)	षड्दर्शननिर्णय	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें सूचित
गुणरत्न (१५ वी)	षड्दर्शनसमुच्चयकी तर्करहस्यदीपिका	प्रकाशित
भुवनसुन्दरसूरि (१५ वीं)	परब्रह्मोत्थापन	जैनग्रन्थग्रन्थकारमे
	लघु-महाविद्याविडम्बन	,,
	जल्पमंजरी	,,
सत्यराज सुधानन्दगणिशिष्य (१६ वी)		
साधुविजय (१६ वीं)	वादविजयप्रकरण	,,
	हेतुदर्शनप्रकरण	,,
सिद्धान्तसार (१६ वी)	दर्शनरत्नाकर	,,
दयारत्न (१७ वी)	न्यायरत्नावली	,,
शुभविजय (१७ वी)	तर्कभाषावार्तिक	जैनग्रन्थग्रन्थकारमें
	स्याद्वादमाला	प्रकाशित
भावविजय (१७वी)	षड्त्रिंशत्जल्प-विचार	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
विनयविजय (१७वी)	नयकर्णिका	प्रकाशित
	षट्त्रिंशत्जल्पसंक्षेप	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
यशोविजय (१८वी)	अष्टसहस्रीविवरण,	प्रकाशित
	अनेकान्तव्यवस्था,	,,
	ज्ञानविन्दु (नव्यशैलीमें),	,,
	जैनतर्कभाषा,	,,
	देवधर्मपरीक्षा,	,,
	द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशतिका,	,,
	धर्मपरीक्षा,	,,
	नयप्रदीप,	,,

	नयोपदेश,	प्रकाशित
	नयरहस्य,	,,
	न्यायखण्डखाद्य (नव्यशैली),	,,
	न्यायालोक, ,,	,,
	भाषारहस्य,	,,
	शास्त्रवार्तासमुच्चयटीका,	,,
	उत्पादव्ययध्रौव्यसिद्धिटीका,	,,
	ज्ञानार्णव,	,,
	अनेकान्त प्रवेश,	,,
	गुरुतत्त्वविनिश्चय,	,,
	आत्मख्याति,	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
	तत्त्वालोकविवरण,	,,
	त्रिसूत्र्यालोक,	,,
	द्रव्यालोकविवरण	,,
	न्यायबिन्दु,	,,
	प्रमाणरहस्य,	,,
यशोविजय	मंगलवाद,	,,
	वादमाला,	,,
	वादमहार्णव,	,,
	विधिवाद,	,,
	वेदान्तनिर्णय,	,,
	सिद्धान्ततर्क परिष्कार,	,,
	सिद्धान्तमञ्जरी टीका,	,,
	स्याद्वादमञ्जूषा,	,,
	(स्याद्वादमञ्जरीकी टीका),	,,
	द्रव्यपर्याययुक्ति	,,
यशस्वत् सागर (१८वी)	जैनसप्तपदार्थी	प्रकाशित
	प्रमाणवादार्थ	जैनग्रन्थ ग्रन्थकारमें
	वादार्थनिरूपण	,,
	स्याद्वादमुक्तावली	प्रकाशित
भावप्रभसूरि (१८वी)	नयोपदेशटीका	प्रकाशित

मयाचन्द्र (१९वी)	ज्ञानक्रियावाद	जैनग्रन्थ ग्रन्थकार
पद्मविजयगणि (१९वी)	तर्कसंग्रहफक्किका	,,
ऋद्धिसागर (२०वी)	निर्णयप्रभाकर	,,

इत्यादि

इस तरह जैनदर्शन ग्रन्थोका विशाल कोशागार है। इस सूचीमें संस्कृत ग्रन्थोका ही प्रमुखरूपसे उल्लेख किया है। कन्नड भाषामें भी अनेक दर्शनग्रन्थोकी टीकाएँ पाई जाती है। इन सभी ग्रन्थोमें जैनाचार्योने अनेकान्तदृष्टिसे वस्तुतत्त्वका निरूपण किया है, और प्रत्येक वादका खडन करके भी उनका नयदृष्टिसे समन्वय किया है। अनेक अजैनग्रन्थोकी टीकाएँ भी जैनाचार्योने लिखी है, वे उन ग्रन्थोके हार्दको बडी सूक्ष्मतासे स्पष्ट करती है। इति।

हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी
२०।९।५३

—महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य

"पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः ॥"

—हरिभद्र

२. ग्रन्थसंकेत विवरण[1]

अकलङ्कग्रन्थ०	अकलङ्कग्रन्थत्रय
अकलंकग्र० टि०	अकलङ्कग्रन्थत्रयटिप्पण
अट्ठशालनी	धम्मसंगणीकी अट्ठकथा
अणुभा०	ब्रह्मसूत्रअणुभाष्य
अनगारध०	अनगारधर्मामृत
अन्ययोगव्य०	अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशतिका
अभिधर्मको०	अभिधर्मकोश
अष्टश० अष्टसह०	अष्टशती अष्टसहस्र्यन्तर्गत
अष्टसह०	अष्टसहस्री
आचा० आचाराङ्गसू०	आचाराङ्गसूत्र
आदिपुराण	महापुराणान्तर्गत
आप्तप०	आप्तपरीक्षा
आप्तमी०	आप्तमीमांसा
आ० नि०	आवश्यकनिर्युक्ति
आप्तस्वरूप	सिद्धान्तसारादिसंग्रहान्तर्गत
ऋग्वेद	ऋग्वेदसंहिता
कठोप०	कठोपनिषत्
काव्या० रुद्र० नमि०	काव्यालङ्कार-रुद्रटकृत-नमिसाधुकृत टीका
गो० जीवकाण्ड, गोम्मटसारजी०	गोम्मटसार जीवकाण्ड
चत्तारि दंडक	दशभक्त्यादिके अन्तर्गत
छान्दो०	छान्दोग्योपनिषत्
जड़वाद अनीश्वरवाद	लक्ष्मणशास्त्री जोशीकृत
जैनतर्कवा०	जैनतर्कवार्तिक
जैनतर्कवा० टि०	जैनतर्कवार्तिकटिप्पण

---

१. इस ग्रन्थके लिखनेमें जिन ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है उनमें जिन ग्रन्थोंके नामोंका 'संकेत' से निर्देश किया है उन्हींका इस सूचीमें समावेश है।

जैनदार्शनिक साहित्यका सिंहावलोकन	प्रो० दलसुखभाई मालवणिया द्वारा लिखित
जैनसाहित्यमे विकार	पं० बेचरदासजी दोशीकृत
जैनेन्द्रव्याकरण	पूज्यपादकृत
तत्त्वसं०	तत्त्वसंग्रह
तत्त्वस० पं०	तत्त्वसंग्रहपञ्जिका
तत्त्वार्थराजवा०, तत्त्वार्थवा० राजवा०	तत्त्वार्थराजवार्तिक
तत्त्वार्थश्लो०, त० श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक
तत्त्वार्थाधि० भा०, तत्त्वार्थभा०	तत्त्वार्थाधिगमभाष्य
त० सू०, तत्त्वार्थसू०	तत्त्वार्थसूत्र
तत्त्वोप०	तत्त्वोपप्लवसिंह
तैत्तिरी०	तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रि० प्रा०	त्रिविक्रमकृत प्राकृतव्याकरण
त्रिलोकप्रज्ञप्ति	तिलोयपण्णत्ति
दर्शनका प्रयोजन	डॉ० भगवानदासकृत
दर्शनदिग्दर्शन	महापंडित राहुल सांकृत्यायनकृत
दीघनि०	दीघनिकाय
द्रव्यसं०	द्रव्यसंग्रह
द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशतिका	यशोविजयकृत
धर्म०	धर्मसंग्रह
धवला टी० सत्प्र०	धवलाटीका सत्प्ररूपणा
धवला प्र० भा०	धवला टीका प्रथम भाग
नन्दीसू० टी०	नन्दीसूत्रटीका
नयविवरण	प्रथमगुच्छकान्तर्गत
नवनीत	नवनीत मासिक पत्र
नाट्यशा०	नाट्यशास्त्र
नियमसा०	नियमसार
न्यायकुमु०	न्यायकुमुदचन्द्र २ भाग
न्यायकुसुमा०	न्याकुसुमाञ्जलि
न्यायदी०	न्यायदीपिका

न्यायबि०	न्यायविन्दु
न्यायबि० टी०	न्यायविन्दुटीका–धर्मोत्तर
न्यायभा०	न्यायभाष्य
न्यायमं०	न्यायमञ्जरी
न्यायवा०	न्यायवार्तिक
न्यायवा० ता० टी०	न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका
न्यायवि०	न्यायविनिश्चय
न्यायसार	भासर्वज्ञकृत
न्यायसू०	न्यायसूत्र
न्यायावता०	न्यायावतार
पत्रप०	पत्रपरीक्षा
पात्रकेसरिस्तोत्र	प्रथमगुच्छकान्तर्गत
परी०	परीक्षामुख
पंचा०	पञ्चास्तिकाय
पात० महाभाष्य	पातञ्जल महाभाष्य
पात० महा० पस्पशा०	पातञ्जल महाभाष्य पस्पशाह्निक
पूर्वी और पश्चिमी दर्शन	डॉ० देवराजकृत
पंचाध्यायी	राजमल्लकृत
प्रमाणनयतत्त्वा०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार
प्रव०	प्रवचनसार
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा
प्रमाणवा० प्र० वा०	प्रमाणवार्तिक
प्रमाणवार्तिकालं०	प्रमाणवार्तिकालंकार
प्रमाणवा० मनोरथ० प्र० वा० मनोर०	प्रमाणवार्तिकमनोरथनन्दिनी टीका
प्रमाणवा० स्ववृ०	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्ति
प्रमाणवा० स्ववृ० टी० प्र० वा०स्ववृत्ति टी०	प्रमाणवार्तिकस्ववृत्तिटीका
प्रमाणसमु०	प्रमाणसमुच्चय
प्रमाणस०	प्रमाणसंग्रह अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत
प्रमेयक०	प्रमेयकमलमार्त्तण्ड

प्रमेयरत्नमाला	अनन्तवीर्यकृत
प्रश० कन्द०	प्रशस्तपादभाष्य-कन्दलीटीका
प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्य
प्रश० भा० व्यो०	प्रशस्तपादभाष्य-व्योमवतीटीका
प्राकृतच०	प्राकृतचन्द्रिका
प्राकृतसर्व०	प्राकृतसर्वस्व
प्राकृतसं०	प्राकृतसंग्रह
वुद्धचर्या	राहुल सांकृत्यायनकृत
वोधिचर्या०	वोधिचर्यावतार
वोधिचर्या० प०	वोधिचर्यावतारपञ्जिका
वृहट्टिपणिका जैन सा० स०	वृहट्टिप्पणिका, जैन साहित्य संशोधकमें प्रकाशित
वृहत्स्व०	वृहत्स्वयम्भूस्तोत्र (प्रथमगुच्छक)
वृहदा० भा० वा०	वृहदारण्यकभाष्यवार्तिक
सम्बन्धवा०	सम्बन्धवार्तिक
वृहद्द्रव्यसं०	वृहद्द्रव्यसंग्रहटीका
ब्रह्मविन्दूप०	ब्रह्मविन्दूपनिषद्
ब्रह्मसू०	ब्रह्मसूत्र
ब्रह्मसू० नि० भा०	ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्य
ब्रह्मसू० शां० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य
ब्रह्मसू० शां० भा० भा०	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यभामतीटीका
भगवतीसूत्र	व्याख्याप्रज्ञप्ति अपर नाम भगवतीसूत्र
भगवद्गी०	भगवद्गीता
भागवत	श्रीमद्भागवत
भारतीयदर्शन	बलदेव उपाध्यायकृत
भास्करभा०	ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य
मज्झिमनिकाय	हिन्दी अनुवाद
मत्स्यपु०	मत्स्यपुराण
माध्यमिककारिका	नागार्जुनीया
महाभा०	महाभारत
मिलिन्दप्रश्न	हिन्दी अनुवाद

मी० श्लो० चोदना०	मीमांसाश्लोकवार्तिकचोदनासूत्र
मी० श्लो० अभाव०	मीमांसश्लोकवार्तिकअभावपरिच्छेद
मी० श्लो० अर्था०	,, अर्थापत्ति ,,
मी० श्लो० उपमान०	,, उपमान ,,
मुण्डको०	मुण्डकोपनिषद्
मूला०	मूलाचार
योगद० व्यासभा०, योगभा०	योगदर्शनव्यासभाष्य
योगदृष्टिस०	योगदृष्टिसमुच्चय
योगसू० तत्त्ववै०	योगसूत्रतत्त्ववैशारदी टीका
रत्नाकरावतारिका	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कारटीका
लघी०, लघीय०	लघीयस्त्रय अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत
लघी० स्व०	लघीयस्त्रयस्ववृत्ति
लोकतत्त्वनिर्णय	हरिभद्रकृत
वाक्यप०	वाक्यपदीय
वाग्भट्टा० टी०	वाग्भटालङ्कारटीका
वादन्या०	वादन्याय
विज्ञप्ति०	विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि
विज्ञानामृतभा०	ब्रह्मसूत्रविज्ञानामृतभाष्य
वेदान्तदीप	रामानुजाचार्यकृत
विशेषा०	विशेषावश्यकभाष्य
वैशे० सू०	वैशेषिकसूत्र
वैज्ञानिक भौतिकवाद	राहुल सांकृत्यायनकृत
वैशे० उप०	वैशेषिकसूत्रउपस्कारटीका
शब्दको०	शब्दकौस्तुभ
शब्दानुशासन	हेमचन्द्रकृत
शाबरभा०	शाबरभाष्य
शास्त्रदी०	शास्त्रदीपिका
श्रीकण्ठभा०	ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्य
श्वेता०, श्वे०	श्वेताश्वतरोपनिषद्
षट् खं० पयडि०	षट्खंडागम-पयडि-अनुयोगद्वार
षट् ख० सत्प्र०	षट्खंडागमसत्प्ररूपणा
षट्द० समु० गुणरत्नटीका	षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमालाके

महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१. मेरी जीवन-गाथा भाग १ : द्वितीय संस्करण
(वर्णीजी द्वारा स्वय लिखित) ८—००

२. ,, ,, भाग २ ,, ,, अप्राप्य

३ वर्णी वाणी : भाग १ (द्वितीय संस्करण)
(वर्णीजीके आध्यात्मिक संदेशोका सकलन) ८—००

४. ,, भाग २ ,, ,, ,, ,, ६—५०

५. ,, भाग ३ ,, ,, ,, ,, ८—५०

६ ,, भाग ४ (वर्णीजीके अध्यात्मपूर्ण पत्रोका संकलन) अप्राप्य

७. जैन साहित्य का इतिहास (पूर्वपीठिका)
पं० कैला
(७५० पृष्ठो में लिखित जैन ... वेषणापूर्ण
अद्वितीय इतिहास-ग्रन्थ ... प्रकाशित) १०—००

८. जैन दर्शन (तृतीय संस्करण . . महेन्द्रकुमारजी जैन
(जैन दर्शनका सागोपाग प्रामाणिक विवेचन) १५—००

९. पंचाध्यायी : मूल—पण्डित राजमल्लजी
हिन्दी रूपान्तर—पं० देवकीनन्दनजी सिद्धान्तशास्त्री
(जैन तत्त्वज्ञानकी विवेचिका अद्वितीय मौलिक कृति) अप्राप्य

१०. श्रावकधर्मप्रदीप : मूल—आचार्य कुन्थुसागर महाराज
हिन्दी-संस्कृत टीका—पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री
(श्रावकाचार-विषयक सरल और विशद रचना) अप्राप्य

११. तत्त्वार्थसूत्र : मूल—आचार्य गृद्धपिच्छ
हिन्दी-विवेचन—पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री
(जैन तत्त्वोका प्रामाणिक और विशद निरूपण) ५—००

१२ द्रव्यसंग्रह-भाषावचनिका : मूल—आचार्य नेमिचन्द्र
देशभाषावचनिका—पं० जयचन्दजी छावड़ा
सम्पादन—प्राध्यापक दरबारीलाल कोठिया
(जैन तत्त्वज्ञानकी प्रतिपादिका मौलिक सरल रचना) ४—००